प्रकाशक
रामकृष्ण शर्मा,
हिन्दी साहित्य ससार
दिल्ली-६

मूल्य
बारह रुपये पचास नये पैसे (१२-५०)

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिग प्रेस,
क्वीन्स रोड, दिल्ली,

स्वर्गीय माता
की
पुण्य-स्मृति में
सादर समर्पित

प्राक्कथन

एक विद्यार्थी के रूप में वाल्मीकि-रामायण और रघुवश के कतिपय सर्गों के अध्ययन के साथ मुझे सस्कृत-साहित्य मे प्रवेश करने का अवसर प्राप्त हुआ। तभी से सस्कृत के महाकाव्यो के अध्ययन में मेरी रुचि वढती गई। हिन्दी-साहित्य के अध्ययन के साथ-साथ मेरा ध्यान हिन्दी के महाकाव्यो की ओर आकृष्ट हुआ और भारतीय महाकाव्य-परम्परा में हिन्दी-महाकाव्यो की विशेषताओ को हृदयगम करने के लिए मै उनके विशेष अध्ययन मे प्रवृत्त हुआ। 'हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य' के रूप में प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध मेरी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

✓ साहित्य की विविध विधाओ में महाकाव्य सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण काव्य-रूप है। उसमें जातिविशेष के जीवन का सर्वागीण चित्र चित्रित रहता है। साहित्य के अन्य रूपो की अपेक्षा महाकाव्य मे युगचेतना, राष्ट्रीय सस्कृति और जातीय आदर्शो की अभिव्यक्ति अधिक सफलता के साथ सभव हो सकती है। उसमें व्यक्तिविशेष—उसके रचयिता—का नही, सम्पूर्ण राष्ट्र का स्वर सुनाई देता है। महाकाव्य जातिविशेष की ज्वलन्त समस्याओ का समाधान प्रस्तुत करता हुआ उसे प्रशस्त मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान करता है। जिस महाकाव्य में जातीय जीवन की विविध भावनाओ और आदर्शो को आत्मसात् करने की जितनी अधिक क्षमता होगी, वह उतना ही उच्चकोटि का महाकाव्य माना जाएगा।

उपर्युक्त दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर ही प्रस्तुत ग्रन्थ में हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यो की विशद विवेचना-द्वारा उनके मूल्याकन का प्रयत्न किया गया है। प्रथम अध्याय मे महाकाव्य के स्वरूप-विधायक तत्वो का विवेचन हुआ है। महाकाव्य-विषयक भारतीय और पाश्चात्य आदर्शो की तुलना करते हुए अन्त मे महाकाव्य-सम्वन्धी आधुनिक मान्यताओ पर समुचित प्रकाश डाला गया है। हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यो की समीक्षा केवल परम्परागत भारतीय लक्षणो अथवा केवल पाश्चात्य आदर्शो को ही ध्यान मे रखकर नहीं की गई है। इस समीक्षा में महाकाव्य-विषयक भारतीय और पाश्चात्य दोनो मान-दण्डो का समुचित सामजस्य प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य आज के युग की नवचेतना और विविध समस्याओ से अनुप्राणित होने पर भी प्राचीन भारतीय महाकाव्य-परम्परा से प्रभावित दृष्टिगत होते हैं। हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यो के सम्यक् मूल्याकन के लिए पृष्ठभूमि के रूप में उनके पूर्ववर्ती सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश और हिन्दी के प्राचीन महाकाव्यो के क्रमवद्ध विकास का

अध्ययन बहुत आवश्यक है। इसीलिए द्वितीय अध्याय में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के और तृतीय अध्याय में हिन्दी के प्राचीन महाकाव्यों पर विहगम दृष्टि डालने एवं उनकी विशेषताओं को प्रकाश में लाने की चेष्टा की गई है।

चतुर्थ अध्याय में हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों की प्रेरक-शक्तियों एवं प्रमुख प्रवृत्तियों की विवेचना तथा उन पर आज की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के प्रभाव की समीक्षा की गई है। प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, वैदेही-वनवास, कृष्णायन-जैसे महाकाव्यों पर आज के युग की नवीन विचारधाराओं के प्रभाव का स्पष्टीकरण प्रत्येक महाकाव्य से सम्बन्धित अध्याय में पृथक्-पृथक् किया गया है, किन्तु इस अध्याय में भी सामूहिक रूप से इन महाकाव्यों पर नवयुग की भावनाओं के प्रभाव का संक्षेप से उल्लेख करना आवश्यक समझा गया है।

हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है —(१) प्रमुख महाकाव्य, (२) अन्य महाकाव्य और (३) तथाकथित महाकाव्य। प्रमुख महाकाव्यों में प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, वैदेही-वनवास, कृष्णायन और साकेत-सन्त की गणना की गई है और प्रत्येक महाकाव्य का विस्तृत विवेचन एक पूरे अध्याय में हुआ है। प्रत्येक महाकाव्य के गुण-दोषों की समीक्षा कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, प्रकृति-वर्णन, रस-परिपाक और भाषा-शैली आदि महाकाव्य-विषयक प्रमुख तत्वों को ध्यान में रखकर की गई है और साथ ही उस पर पूर्ववर्ती कवियों के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए पूर्ववर्ती रचनाओं के साथ तुलना करके उसका वास्तविक मूल्यांकन किया गया है। उदाहरण के लिए प्रियप्रवास की तुलना श्रीमद्भागवत, मेघदूत, सूरसागर, नन्ददास-कृत भ्रमर-गीत आदि विविध रचनाओं से की गई है। इसीप्रकार साकेत की वाल्मीकि-रामायण, रामचरित-मानस एवं रामचन्द्रिका से और कृष्णायन की महाभारत, गीता, सूरसागर, रामचरित-मानस और प्रियप्रवास-जैसी अनेक कृतियों से तुलना करने का प्रयत्न किया गया है।

'अन्य महाकाव्य' इस शीर्षक वाले अध्याय में नूरजहाँ, सिद्धार्थ, दैत्यवंश, अंगराज, वर्द्धमान, रावण, जयभारत, पार्वती, रश्मिरथी, मीराँ, एकलव्य, ऊर्मिला, तारकवध और सेनापति कर्ण-जैसे अन्य महाकाव्यों के गुण-दोषों पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध के कलेवर में विस्तार की आशंका से इस वर्ग के महाकाव्यों का सर्वांगीण विवेचन यहाँ संभव न था। इसलिए महाकाव्य की दृष्टि से प्रत्येक की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत की गई है। 'तथाकथित' महाकाव्यों में उन कृतियों को स्थान दिया गया है जिनको उनके लेखकों तथा कुछ विद्वानों ने महाकाव्य कहा है, किन्तु हमारी सम्मति में जो महाकाव्य के प्रमुख तत्वों के निर्वाह के अभाव में महाकाव्य कहलाने के अधिकारी नहीं है। परिशिष्ट के भाग १ और ३ में क्रमशः पाश्चात्य और बंगला के प्रमुख महाकाव्यों की संक्षिप्त समीक्षाएँ प्रस्तुत की गई हैं, जोकि हिन्दी के महाकाव्यों की विशेषताओं को समझने में सहायक सिद्ध होंगी।

पाश्चात्य समीक्षकों ने महाकाव्य के संकलनात्मक (Epic of Growth) और

कलात्मक (Epic of Art) ये दो भेद स्वीकार किए हैं। हिन्दी के प्राय सभी महाकाव्य कलात्मक महाकाव्यो की परिधि में आते हैं। रामायण और महाभारत-जैसे विशालकाय सकलनात्मक महाकाव्यो की रचना आज के युग में सम्भव नही। इसलिए हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यो की विवेचना केवल रामायण और महाभारत-जैसी रचनाओ के विशिष्ट गुणो को ध्यान मे रखकर नही की जा सकती। आज के हिन्दी-महाकाव्य प्राचीन कलात्मक महाकाव्यो की परम्परा में आते हैं। सस्कृत के आचार्यो ने रघुवश, किरातार्जुनीय और शिशुपालवध-जैसे कलात्मक महाकाव्यो को ध्यान मे रखकर महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किए हैं और इन्ही परम्परागत लक्षणो को आदर्श मानकर आज के अधिकाश हिन्दी-महाकाव्यों का निर्माण हुआ है। हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य कलात्मक महाकाव्यो की प्राचीन परम्परा से प्रभावित होकर भी आज की युगचेतना और नवीन समस्याओ को आत्मसात् किए हुए हैं। उनकी विवेचना करते हुए हमारी दृष्टि उनके गुणो की ओर अधिक रही है। कतिपय त्रुटियो के होने के कारण ही हमने किसी कृति को सर्वथा त्याज्य नही माना है, अपितु महाकाव्य-सम्बन्धी प्रमुख तत्वो को ध्यान में रखकर उसका मूल्याकन करना उचित समझा है।

रामचरित-मानस और कृष्णायन से जो उद्धरण दिए गए है, उनका निर्देश पाद-टिप्पणी मे दोहा-सख्या-द्वारा किया गया है। मानस की दोहा-सख्या उसकी परवर्ती पक्तियो और कृष्णायन की दोहा-सख्या उसकी पूर्ववर्ती पक्तियो को सूचित करती है।

आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यो के विवेचनात्मक अध्ययन का मेरा यह प्रयास कहाँ तक सफल रहा है, यह मैं नही कह सकता। हाँ, मुझे इतना सन्तोष अवश्य है कि मातृ-भाषा के मन्दिर में प्रस्तुत प्रवन्ध के रूप में मुझे अपनी पुष्पाजलि भेंट करने का अवसर मिला है। यदि हिन्दी-महाकाव्य-विषयक ज्ञान की वृद्धि मे इससे थोडी-बहुत भी सहायता साहित्य के विद्यार्थियो को मिल सकी तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूँगा।

हिन्दी महाकाव्यो से सम्बन्धित दो ग्रन्थ—डा० प्रतिपालसिंह का 'बीसवी शताब्दी के महाकाव्य' और डा० शम्भूनाथसिंह का 'हिन्दी-महाकाव्य का स्वरूप-विकास'—अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। इन दोनो कृतियो से मुझे अपने प्रबन्ध में पर्याप्त सहायता मिली है, इसलिए मैं इनके लेखको के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

डा० प्रतिपालसिंह के 'बीसवी शताब्दी के महाकाव्य' मे हिन्दी-महाकाव्यो के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री वर्तमान है पर उसमें आधुनिक महाकाव्यो के सूक्ष्म सर्वांगीण एव तुलनात्मक विवेचन का विशेष प्रयत्न नही किया गया है। साथ ही रावण, जयभारत, पार्वती, रश्मिरथी, मीरां, एकलव्य, ऊर्मिला और तारकवध-जैसे आधुनिकतम रचनाओ को उसमें स्थान नही मिल सका है। डा० शम्भूनाथसिंह ने अपने ग्रन्थ मे 'आल्हखण्ड' को हिन्दी के प्राचीन महाकाव्यो मे स्थान दिया है और वर्तमान युग के महाकाव्यो में केवल कामायनी को ही महाकाव्य स्वीकार किया है। एक ओर महाकाव्योचित महती काव्य-प्रतिभा-प्रसूत न होने पर भी 'आल्हखण्ड' को महाभारत-जैसे महाकाव्यो की

श्रेणी में स्थान देना और दूसरी ओर महाकाव्य-विषयक कतिपय त्रुटियो के अस्तित्व में प्रियप्रवास, साकेत, वैदेही-वनवास और कृष्णायन-जैसी कृतियो को महाकाव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत करना हमारी सम्मति में युक्तिसगत नही है। सुसम्बद्ध कथानक, चरित्र-चित्रण-गत गम्भीरता, वैविध्यपूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति, भाषा-शैली की उदात्तता एव महा-काव्योचित काव्य-सौन्दर्य के अभाव में हमने 'आल्हखण्ड' को साहित्यिक महाकाव्यो की परिधि मे स्थान देना उचित नही समझा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पजाब विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। डाक्टर इन्द्रनाथ मदान, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, पजाब विश्वविद्यालय, का मै हृदय से आभारी हूँ, जिनके निर्देशन मे प्रस्तुत प्रबन्ध पूर्ण हो सका है और जिन्होने समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव और परामर्श देकर मेरा उत्साह बढाया है। मेरे प्रिय बन्धु डा० सरनदास भनोत, पजाब विश्वविद्यालय, और सहयोगी मित्र डा० भोलानाथ तिवारी ने उपयोगी सुझावो के रूप मे मुझे जो सहायता दी है, उसके लिए मै उनका हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ।

दिल्ली
स्वतन्त्रता-दिवस,
१५ अगस्त, १९५९

गोविन्दराम शर्मा

विषयानुक्रमणिका

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

66-85.

आठवाँ अध्याय

नवाँ अध्याय

दसवाँ अध्याय

ग्यारहवाँ अध्याय

बारहवाँ अध्याय

उपसंहार

परिशिष्ट १

परिशिष्ट २

परिशिष्ट ३

परिशिष्ट ४

: १ :

महाकाव्य का स्वरूप

साहित्य क्या है ?

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहता है, समाज के अन्य व्यक्तियो के सम्पर्क में आता है और उनके सहयोग से अपने जीवन की सामग्री जुटाता है। समाज में रहकर वह अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए नए-नए साधन ढूंढ निकालता है। शीत, आतप और वर्षा से बचने के लिए वह मकान बनाता है, भूख मिटाने के लिए भोजन-सामग्री एकत्रित करता है, और शरीर ढांपने के लिए वस्त्र-निर्माण करता है। ज्यो-ज्यो उसका सामाजिक जीवन सश्लिष्ट (Complex) होता जाता है, त्यो-त्यो उसकी आवश्यकताएँ भी बढती जाती है। सामाजिक मनुष्य की इन आवश्यकताओ को हम दो भागो में विभक्त कर सकते है—(१) भौतिक अथवा शारीरिक, और (२) मानसिक अथवा आध्यात्मिक। भोजन, मकान, वस्त्र आदि से उसकी भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति होती है। परन्तु केवल भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति से ही वह सतुष्ट नही होता। वह अपने हृदय की सन्तुष्टि के लिए—उसे आनन्द देने के लिए—कुछ और चाहता है। अपने जीवन से सम्बन्ध रखने वाली सारी वस्तुओ में उपयोगिता के साथ-साथ वह सौन्दर्य भी देखना चाहता है। मनुष्य की इसी सौन्दर्य-भावना से प्रेरित होकर उसके मस्तिष्क ने हृदय की तृप्ति के लिए ललित कलाओ को जन्म दिया है। सभ्यता और सस्कृति के विकास के साथ-साथ मनुष्य की यह सौन्दर्य-भावना भी परिष्कृत होती जाती है। साहित्य के सृजन के मूल में आत्माभिव्यजन की इच्छा और सौन्दर्य-प्रियता ये दो प्रवृत्तियां प्रमुख रूप में कार्य करती है। सौन्दर्य का पुजारी सामाजिक मनुष्य आत्माभिव्यक्ति के साधन (माध्यम) में भी सौन्दर्य देखना चाहता है। इस प्रकार हृदय को आनन्द देने के लिए सुन्दर भाषा में आत्मा की अभिव्यक्ति साहित्य का रूप धारण कर लेती है। मनुष्य की आत्मा की इस भूख को मिटाने के लिए जितने भी साधन है, उन सब मे साहित्य का प्रमुख स्थान है। सामाजिक मनुष्य जितना ही अधिक शिक्षित और सुसस्कृत होगा, उसके मस्तिष्क से उत्पन्न साहित्य भी उतना ही उत्कृष्ट और भव्य होगा और उसमे हृदय को आनन्द-विभोर करने की क्षमता भी उतनी ही अधिक होगी।

साहित्य मनुष्य के मस्तिष्क की महत्वपूर्ण उपज है। सामाजिक मनुष्य सोचता है और अपने विचारो तथा अनुभवो को दूसरो के सामने रखता है। वह सामाजिक जीवन मे सुख-दुख, हर्ष-शोक, आशा-निराशा, मान-अपमान आदि का अनुभव करता है तथा दूसरे

व्यक्तियो के सुख-दु ख आदि से स्वय भी प्रभावित होता है। उसके हृदय तथा मस्तिष्क पर सामाजिक जीवन के नाना रूपो और कार्य-कलापो का प्रभाव पडता है। मानव-जीवन की इन अनुभूतियो की भाषा के माध्यम से सशक्त और कलापूर्ण अभिव्यजना ही साहित्य है।

साहित्य को हम चाहे 'ज्ञानराशि का सचित कोष'[1] कहे या 'मानव-जीवन की व्याख्या'[2] माने अथवा 'भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति'[3] स्वीकार करें, इसमें कोई भी सन्देह नही कि साहित्य का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह जीवन की सशक्त अभिव्यजना है। साहित्य जीवन की विविध भावनाओ और अनुभूतियों से अनुप्राणित रहता है। उसमें साहित्यकार के वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ समाज या जाति का जीवन भी प्रतिविम्बित होता है। साहित्य और समाज के बीच निकटतम सम्बन्ध की स्थापना व्यक्ति-विशेष साहित्यकार के माध्यम से होती है। साहित्य-स्रष्टा समाज का ही एक अश होता है और वह साहित्य में अपने समाज का प्रतिनिधित्व करता हुआ अपने व्यक्तिगत भावो, अनुभूतियो तथा विचारो को भी व्यक्त करता है। इस प्रकार साहित्य में समाज या जाति विशेष के उत्थान-पतन, रहन-सहन, आचार-विचार तथा सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक दशाएँ प्रतिफलित हो जाती है। सामाजिक या जातीय जीवन सदा एक-सा नही रहता, उसमें परिवर्तन आता रहता है और यह परिवर्तन साहित्य में भी प्रतिबिम्बित होता है। इसीलिए साहित्य समाज या जाति विशेष की विविध-कालीन भिन्न-भिन्न दशाओ का सच्चा परिचायक होता है।

साहित्यकार अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति काव्य, नाटक, उपन्यास आदि अनेक रूपो में करता है। वह अपने चारो ओर की परिस्थितियो को देखता है। उसके मानस-पट पर विविध परिस्थितियो के स्पष्ट चित्र अकित होते है और वह इन चित्रो को अपनी कृतियो में चित्रित करता हुआ जीवन के विविध रूपो के प्रति समाज के आदर्श भी निश्चित करता है। साहित्यकार इस दृष्टि से केवल एक कलाकार ही नही होता, वह समाज-नियन्ता तथा उसका समुन्नायक भी होता है। उसकी कृतियाँ समाज को प्रेरणा प्रदान करने की क्षमता रखती है, उसकी प्रगति में सहयोग देती है और उसकी परिस्थितियो को बदलने तथा सुधारने मे भी हाथ बँटाती है। साहित्यकार की सब से बडी विशेषता यह है कि वह अपने तथा समाज के अन्य व्यक्तियों के अन्यथा नश्वर भावो को कविता, नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि विविध साहित्यिक कृतियो के रूप में अमर बनाने की क्षमता रखता है। वह समाज के मूक भावो को वाणी प्रदान करता है, उसके

१ महावीरप्रसाद द्विवेदी—'साहित्य की महत्ता' शीर्षक लेख।

२ 'Literature is the criticism of life'—Mathew Arnold

३ 'It (literature) is fundamentally an expression of life through the medium of language'—Henry Hudson

अस्थिर भावो को स्थायी वना देता है। साहित्यकारों की विविध रचनाओ की समष्टि ही साहित्य के रूप में हमारे सम्मुख आती है।

साहित्य में काव्य का स्थान

साहित्य के अन्तर्गत काव्य, नाटक, उपन्यास, निवन्ध आदि अनेक प्रकार की रचनाएँ सम्मिलित की जाती है। सस्कृत में साहित्य शब्द का प्रयोग वर्तमान व्यापक अर्थ में नही हुआ। वहाँ मूलत साहित्य शब्द साहित्य-शास्त्र का वोधक था, किन्तु धीरे-धीरे वह काव्य का पर्यायवाची हो गया[1]। सस्कृत में नाटक, उपन्यास जैसी गद्यमयी रचनाओ को भी काव्य के अन्तर्गत ही माना गया है। सस्कृत के जिस युग में 'साहित्य' शब्द का काव्य के अर्थ मे प्रयोग हुआ, उस समय साहित्य मे पद्यमय काव्यरूप का ही प्राधान्य था और गद्यमयी रचनाओ की सख्या वहुत कम थी तथा उनमें भी काव्य के तत्त्व प्रचुर मात्रा में पाए जाते थे। इसलिए गद्य-पद्यमयी दोनो प्रकार की रचनाओ को काव्य कहा गया। वर्तमान युग मे साहित्य उस समस्त वाङ्मय का वोधक है, जिसमें गद्य-पद्यमयी विविध विषयो से सम्वन्ध रखने वाली रचनाए सम्मिलित रहती है और काव्य अथवा कविता से केवल उन रचनाओ का वोध होता है, जो रसमयी तथा मनोवेगो को तरगित करने वाली होने के साथ-साथ छन्दोवद्ध भी हो।

काव्य साहित्य का प्रमुख तथा प्राचीनतम अग है। ससार की सभी भाषाओ में साहित्य का प्रारम्भिक स्वरूप कविता में ही पाया जाता है। यह मानवीय भावनाओ, उद्गारो तथा विचारो की अभिव्यक्ति का सवसे अधिक प्रभावशाली माध्यम है। दि साहित्य को जाति-विशेष का सर्वागसम्पन्न शरीर मानें तो काव्य को उसकी ात्मा कहना अत्युक्ति न होगी। साहित्य के अन्य रूपो की अपेक्षा कविता में हृदय को भावित करने की शक्ति अधिक मात्रा में पाई जाती है। जिन भावो को नाटक, कहानी, वन्ध आदि माध्यमो से प्रकट करने पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता, वे भी काव्यरूप धिक हृदयस्पर्शी हो जाते है। काव्य निर्जीव में भी जीवन-शक्ति का सचार कर ता है, कठोर से कठोर हृदय को दया-द्रवित करने की क्षमता रखता है और उसमें नुभूति, प्रेम आदि सद्भावो को जाग्रत कर सकता है। यही कारण है कि काव्य को त्य में मुख्य स्थान दिया जाता है।

य का स्वरूप

"कविता क्या है ?" इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास प्राचीन काल से अव नेकानेक विद्वानो ने किया है, किन्तु अभी तक कविता की कोई ऐसी दोष-रहित भी दृष्टियो से पूर्ण परिभाषा निश्चित नही हो सकी है जिससे सभी विद्वान् सहमत रिभाषा के इस अभाव के दो कारण है। एक तो, कविता का क्षेत्र इतना विस्तृत

---

१ साहित्य-सगीत-कला-विहीन. साक्षात्पशु पुच्छविषाणहीन ।
—भर्तृहरि, नीतिशतक, ११

और व्यापक है कि उसे एक नपी-तुली परिभाषा में बांधना बहुत ही कठिन कार्य है। और दूसरे, आरम्भ मे जब मनुष्य ने अपने भावो की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में कविता को जन्म दिया तब से लेकर अब तक वह अगणित दशाओ मे अगणित रूपो को अपनाती रही है।

काव्य-शास्त्र की विवेचना करने वाले आचार्यो तथा कवियो ने अपनी-अपनी पहुँच तथा अपने युग की विचार-धाराओ के अनुसार काव्य की अनेक परिभाषाएँ की है, परन्तु उन सब की परिभाषाओ में भिन्नता है। कविता के स्वरूप का विवेचन उन्होने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से किया है और इसीलिए अब तक की गई परिभाषाओ मे एक-रूपता नही पाई जाती। सूक्ष्म विवेचना करने पर इन परिभाषाओ में कुछ तो अधूरी जान पडती है, कुछ परस्पर-विरोधी है और कुछ ऐसी है जिन्हे हम काव्य की 'परिभाषा' न कहकर केवल 'व्याख्या' कह सकते है। फिर भी अब तक कविता का सुनिश्चित और सर्वसम्मत लक्षण स्थिर न हो सकने का अर्थ यह नही कि अब तक कविता के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा करने वाले विद्वानो का प्रयत्न निष्फल ही रहा है। भिन्नता, विषमता और अपूर्णता के होते हुए भी ये लक्षण उनके निर्माता लक्षणकारो के दृष्टिकोण तथा उनके समय में प्रचलित ककिता के स्वरूपो के अनुसार समचीन ही प्रतीत होते है। इन परिभाषाओ मे कविता के यथार्थ स्वरूप को व्यक्त करने की पूरी योग्यता भले ही न हो, वे कविता के स्वरूप को समझने मे सहायक अवश्य सिद्ध होती है।

भारतीय विद्वानो ने काव्य के स्वरूप की विवेचना विविध ग्रन्थो तथा भिन्न-भिन्न युगो मे की है। उनका काव्य-सम्बन्धी विवेचन शास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। काव्य-स्वरूप-विवेचना में भारतीय विद्वानो ने काव्य के भावपक्ष और कलापक्ष दोनो की ओर ध्यान दिया है। मुख्यत 'काव्य की आत्मा क्या है?' इस प्रश्न की विवेचना से ही उनकी परिभाषाओ का सम्बन्ध है। पहले काव्य के बाह्य स्वरूप (शब्द-अर्थ) को समझने की चेष्टा की गई और धीरे-धीरे उसकी आत्मा (रस) तक पहुँचने का प्रयत्न हुआ। काव्य की परिभाषा के साथ-साथ काव्य के तत्वो का भी निरूपण किया गया है।

भारतीय आचार्यो में भामह बहुत प्राचीन है। उन्होंने 'सहित' (सम्मिलित) शब्द और अर्थ को काव्य कहा है[1]। पर वास्तव में शब्द और अर्थ काव्य के शरीर-मात्र है। इसलिए दण्डी ने काव्य-स्वरूप-विवेचन में काव्य के शब्दार्थ-रूपी शरीर को सजाने वाले अलकारो को महत्ता दी है[2]। वामन ने रीति (शैली) को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया

---

१ शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।

—भामह, काव्यालकार

२ तै शरीर च काव्यानामलकाराश्च दर्शिता।
शरीर तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली॥

—दण्डी, काव्यादर्श

है[1]। आनन्दवर्धन ने ध्वनि को ही काव्य की आत्मा कहा है[2]। कुन्तक ने वक्रोक्ति (विदग्धतापूर्ण अभिव्यजना-शैली) को ही काव्य का प्राण माना है[3]। मम्मट ने दोषरहित, गुणवाली, अलकार-युक्त तथा कभी-कभी अलकार-रहित शब्दार्थमयी रचना को काव्य कहा है[4]। विश्वनाथ के मत में रसात्मक वाक्य ही काव्य है[5]। जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य माना है[6]। इसी प्रकार विविध विद्वानो ने वहुत सी और परिभाषाएं भी दी है[7]।

उपर्युक्त काव्य-लक्षणो की सूक्ष्म आलोचना यहाँ अपेक्षित नही। इन परिभाषाओ के आधार पर यह निश्चित होता है कि सस्कृत में काव्य-तत्त्वो का विवेचन करने वाल आचार्यो के मुख्यत पाँच सम्प्रदाय (वर्ग) थे—(१) रस-सम्प्रदाय, (२) अलकार-

---

१. रीतिरात्मा काव्यस्य।

—वामन, अलकार-सूत्र

२ काव्यस्यात्मा ध्वनि.।

—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक

३ वक्रोक्ति. काव्यजीवितम्।

—कुन्तक, वक्रोक्ति-जीवित

४ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन. क्वापि।

—मम्मट, काव्य-प्रकाश

५ वाक्य रसात्मक काव्यम्।

—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण

६ रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द. काव्यम्।

—जगन्नाथ, रसगगाधर

७ (क) संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली,
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोष-वर्जितम्।

—अग्निपुराण

(ख) ननु शब्दार्थौ काव्यम्—

—रुद्रट, काव्यालकार

(ग) निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलकृतम्। रसान्वितं ।

—भोज, सरस्वती-कठाभरण

(घ) अदोषौ सगुणौ सालकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।

—हेमचन्द्र, काव्यानुशासन

(ङ) निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुण-भूषिता।
सालकार-रसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्॥

—जयदेव, चन्द्रालोक

सम्प्रदाय, (३) रीति-सम्प्रदाय, (४) ध्वनि-सम्प्रदाय, और (५) वक्रोक्ति-सम्प्रदाय। इन पाँचो सम्प्रदायो में से रस-सम्प्रदाय के मुख्य आचार्य भरतमुनि और विश्वनाथ है। अलकार-सम्प्रदाय में भामह और दडी प्रसिद्ध है। रीति-सम्प्रदाय के मुख्य प्रवर्त्तक वामन और ध्वनि-सम्प्रदाय के आनन्दवर्धन माने गए है। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय से कुन्तक का मुख्य सम्बन्ध है। इन पाँचो सम्प्रदायो मे रस और ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वाले दो सम्प्रदाय काव्य के भाव-पक्ष को विशेष महत्त्व देते है, जबकि अलकार, रीति और वक्रोक्ति को काव्य का मुख्य तत्त्व मानने वाले कला-पक्ष को प्रधानता देते है। रस और ध्वनि का विवेचन सस्कृत ग्रन्थो में बडे विस्तार से किया गया है। सक्षेप में हम कविता से प्राप्त होनेवाले अलौकिक आनन्द को 'रस' कह सकते है। जहाँ वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) की अपेक्षा प्रतीयमान (व्यग्य) अर्थ में अधिक चमत्कार पाया जाता है, वहाँ ध्वनि का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। वास्तव में ध्वनि-सिद्धान्त का विकसित रूप ही रस सिद्धान्त है। इन दोनो सिद्धान्तो का मुख्य सम्बन्ध काव्य के भाव-पक्ष के निरूपण से है।

अलकार, रीति और वक्रोक्ति इन तीनो सिद्धान्तो का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। काव्य के शब्द-अर्थ-रूपी शरीर की शोभा वढाने वाले घर्मो (गुणो) को अलकार कहा जाता है[1]। रीति भावों की अभिव्यक्ति का ढग है, जिसे हम शैली भी कह सकते है[2]। भावो की अभिव्यक्ति के चमत्कारपूर्ण ढग को वक्रोक्ति कहा गया है[3]। इस प्रकार अलकार, रीति और वक्रोक्ति तीनो सिद्धान्त काव्य के वाह्य स्वरूप कला-पक्ष से सम्वन्धित है। इन भिन्न-भिन्भ सिद्धान्तो की समीक्षा से यह सिद्ध होता है कि भारतीय प्राचीन आचार्यो का काव्य-सम्वन्धी ज्ञान जितना ही वढता गया, काव्य की परिभाषाओ का विवेचन भी गहन और व्यापक रूप धारण करता गया।

हिन्दी-साहित्य में काव्य के अगो का विवेचन रीति-काल में प्रारम्भ हुआ। इस काल के अनेक आचार्य-कवियो ने रस, अलकार, छन्द आदि पर लक्षण-ग्रन्थ लिखे। हिन्दी-साहित्य में लक्षण-ग्रन्थो की परम्परा सस्कृत के लक्षण-ग्रन्थो के आधार पर ही प्रचलित हुई। हिन्दी के इन लक्षण-ग्रन्थो में कही-कही कुछ लेखको ने काव्य के स्वरूप पर अपने विचार प्रकट किये है और काव्य की कतिपय परिभाषाएँ भी दी है। किन्तु इन विचारो तथा परिभापाओ में कोई नवीनता या मौलिकता नही दिखाई देती। केशवदास ने कविता में अलकारो को प्रधानता देते हुए कहा है —

---

१ काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलकारान् प्रचक्षते।

—दण्डी, काव्यादर्श

२ विशिष्टा पदरचना रीति.।

—वामन, काव्यालकार-सूत्र

३ वक्रोक्तिरेव वैदग्घ्यभगीभणितिरुच्यते।

—कुन्तक, वक्रोक्ति-जीवित

"जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न विराजई, कविता, वनिता, मित्त[1] ॥"

चिन्तामणि त्रिपाठी ने 'कवि-कुल-कल्पतरु' मे कविता का यह लक्षण दिया है —

"सगुन अलंकारनसहित दोष-रहित जो होइ।
शब्द अर्थ वारो कवि विबुध कहत सब कोइ ॥"

वास्तव मे यह मम्मट के काव्य-लक्षण[2] का अनुवादमात्र है। अन्तर केवल यही है कि मम्मट ने कभी-कभी अलकार-रहित शब्द और अर्थ को भी काव्य माना है, परन्तु चिन्तामणि ने अलकार-सहित शब्द और अर्थ को ही काव्य की परिभाषा में स्थान दिया है।

कुलपति मिश्र ने काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है '—

"जग ते अद्भुत सुख-सदन शब्दरु अर्थ कवित्त[3] ।"

उसके मत में लोकोत्तर (जग ते अद्भुत) आनन्द के देने वाले शब्द और अर्थ ही काव्य का निर्माण करते है।

सुरति मिश्र ने 'काव्य-सिद्धान्त' में काव्य की परिभाषा इस प्रकार की है —

"बरनन मनरंजन जहाँ रीति अलौकिक होय।
निपुन कर्म कवि कौ जु तिहि काव्य कहत सब कोय ॥"

इस परिभाषा में रस, गुण, अलकार आदि प्राय सभी तत्त्व आ जाते है।

श्रीपति ने काव्य की यह परिभाषा दी है —

"शब्द अर्थ बिन दोष, गुन, अलकार रसवान।
ताको काव्य बखानिए, श्रीपति परम सुजान[4] ॥"

उसने दोपरहित तथा गुण-अलकार-रसयुक्त शब्द और अर्थ को काव्य माना है।

✓ इस प्रकार हम देखते है कि काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में हिन्दी के आचार्यों तथा कवियो का अपना कोई निश्चित मत नही है। काव्यस्वरूप-विवेचन मे उनके विचारो पर सस्कृत के लक्षण-ग्रन्थो का गहरा प्रभाव पडा है।

काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में हिन्दी के आधुनिक विद्वानो के विचार भी भिन्न-भिन्न है। स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है —

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इस मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते है[5]।"

---

१ कवि-प्रिया, १, ५
२ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।—काव्य-प्रकाश, १, १
३ रस-रहस्य, १, १६
४ काव्य-सरोज, दल १
५. चिन्तामणि, भाग १, पृष्ठ १४१

महादेवी वर्मा कविता के सम्बन्ध में कहती हैं —

"मनुष्य स्वय एक सजीव कविता है। कवि की कृति तो उस सजीव कविता का शब्दचित्र-मात्र है, जिससे उसका व्यक्तित्व और संसार के साथ उसकी एकता जानी जाती है[१]।"

"सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है[२]।"

आधुनिक हिन्दी-कविता में छायावाद और प्रगतिवाद का विशेष आदर है। वर्तमान कवियो तथा लेखको की काव्य-स्वरूप-विषयक धारणाएँ मुख्यतया छायावादी और प्रगतिवादी दृष्टि-कोणो से प्रभावित हैं। छायावादी कवि कविता में आदर्शवाद को और प्रगतिवादी यथार्थवाद को प्रधानता देते हैं। छायावादी दृष्टिकोण कविता में व्यक्तित्व, कल्पना और अभिव्यक्ति-सौष्ठव को विशेष महत्त्व देता है किन्तु प्रगतिवादी कवि काव्य मे सामुदायिक जीवन की अभिव्यक्ति, यथार्थता और व्यावहारिकता देखना चाहते हैं। वास्तव में प्राचीन काल से लेकर अब तक भारत में काव्य स्वरूप-सम्बन्धी धारणाएँ अनिश्चित-सी चली आ रही हैं। काव्य के स्वरूप के परिवर्तन-शील होने के कारण इन धारणाओ में अनिश्चितता का होना स्वाभाविक भी है।

पाश्चात्य विद्वानो ने भी काव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए काव्य की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ निश्चित की हैं। उनमें से कुछ परिभाषाएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं —

जानसन के मत में कविता **'छन्दोबद्ध रचना'** है[३]। कारलायल **'सगीतमय विचार'** को कविता मानते हैं[४]। शेली का कथन है—**'साधारण अर्थ में कल्पना की अभिव्यक्ति को कविता कहा जा सकता है[५]।'** हेज़लिट के विचार में **'कविता कल्पना और भावनाओं की भाषा है[६]।'** वर्डस्वर्थ का कथन है—**'कविता प्रबल मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह है[७]।'** मेथ्यू-आर्नल्ड के अनुसार **'कविता मूलत जीवन की व्याख्या है[८]।'** रस्किन के मत में **'कविता**

---

१ **महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ ४१**

२ **महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १।**

३ poetry is metrical composition.—Johnson

४ Poetry we will call musical thought —Carlyle

५ Poetry in a general sense may be defined as the expression of imagination —Shelley

६ It (Poetry) is the language of the imagination and passions —Hazlitt

७ Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings —Wordsworth

८ Poetry is at bottom a criticism of life —Mathew Arnold.

कल्पना द्वारा उदात्त मनोवेगों के लिए सुन्दर क्षेत्र प्रस्तुत करती है[१]।'

इसी प्रकार सिडनी तथा मिल्टन आदि अन्य विद्वानो ने भी अनेकानेक प्रकार से काव्य को परिभाषा में बांधने का प्रयास किया है[२]।

पाश्चात्य विद्वानो ने काव्य के चार तत्व माने हैं—(१) भाव-तत्व (Emotional Element), (२) बुद्धि-तत्व (Intellectual Element), (३) कल्पना-तत्व (Element of Imagination) और (४) शैली-तत्व (Element of Style)। इन चारो तत्वो की उपस्थिति मे ही कविता सच्ची कविता कहलाई जा सकती है। भाव-तत्व कविता के प्राण स्वरूप रस (अलौकिक आनन्द) से सम्बन्ध रखता है। बुद्धि-तत्व का सम्बन्ध उन विचारो से है, जिनके कारण-कविता में सत्य का अश सुरक्षित रहता है। कल्पना-तत्व काव्यगत विचारो को सुन्दर और प्रभावशाली बनाने में समर्थ होता है। शैली-तत्व मे गुण, रीति, अलकार आदि सम्मिलित है। शैली-तत्व से कविता के कला-पक्ष में सौन्दर्य का सृजन होता है।

भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो प्रकार के उपर्युक्त काव्य-लक्षणो की सूक्ष्म विवेचना करने पर यह निश्चित किया जाता है कि भिन्न-भिन्न विद्वानों ने काव्य की परिभाषा करते समय काव्य के सभी तत्वो की ओर ध्यान नही दिया है। किसी ने भाव को, किसी ने कल्पना और किसी ने अभिव्यजना-शैली को अपने-अपने लक्षण मे प्रधानता दी है। यदि किसी ने अलकारो पर बल दिया है, तो दूसरो ने रस को काव्य का आवश्यक तत्त्व माना है। वास्तव

---

१. Poetry is the suggestion by the imagination of noble grounds for the noble emotions —Ruskin

२ (a) Poetry is an art of imitation ···to speak metaphorically a speaking picture: with this end, to teach and delight —P Sidney

(b) (Poetry must be) simple, sensuous and passionate—Milton

(c) Poetry is the art of uniting pleasure with truth, by calling imagination to the help of reason —Johnson

(d) (Poetry is) the utterance of a passion for truth, beauty and power, embodying and illustrating its conception by imagination and fancy—Hunt

(e) Music when combined with a pleasurable idea is poetry—Poe

(f) (Poetry is) the concrete and artistic expression of the human mind in emotional and rhythmical language—Watts Dunton.

में काव्य की अभी तक कोई परिभाषा ऐसी नहीं हो सकी है, जो सब लोगों को सब देशों और सब युगों में मान्य हो, और ऐसी परिभाषा संभवतः संभव भी नहीं है।

काव्य के भेद

भारतीय परम्परा के अनुसार काव्य के मुख्यतया दो भेद माने गए हैं—(१) दृश्य-काव्य, और (२) श्रव्य-काव्य। जिन काव्यों की रचना मुख्यतया रंग-मंच पर अभिनीत होने के लिए होती है, वे दृश्य-काव्य कहलाते हैं। ऐसे काव्यों का अभिनय आँखों से देखा जाता है, इसीलिए उन्हें 'दृश्य-काव्य' कहा जाता है। दूसरी ओर जो काव्य श्रवण-मात्र से श्रोताओं के हृदय को आनन्द-प्रदान करते हैं, उनको श्रव्य-काव्य माना गया है। प्राचीन काल में काव्य अधिकतर सुने जाते थे, पुस्तक के रूप में उन्हें पढ़ने की प्रथा नहीं थी, इसलिए श्रवणेन्द्रिय-द्वारा मन को आनन्द पहुँचाने वाले काव्य 'श्रव्य-काव्य' की श्रेणी में रखे गए। आजकल श्रव्य-काव्य पढ़े भी जाते हैं, इसलिए उन्हें 'पाठ्य-काव्य' भी कहा जा सकता है। श्रव्य-काव्यों के ससान दृश्य-काव्य भी पढ़े और सुने जा सकते हैं किन्तु उनसे वास्तविक आनन्द की प्राप्ति रंगमंच पर उनके अभिनय को देखकर ही संभव होती है।

दृश्य-काव्य के दो भेद हैं—रूपक और उपरूपक। दृश्य-काव्य के लिए आजकल 'नाटक' शब्द अधिक प्रचलित है किन्तु प्राचीन काल में दृश्य-काव्य का बोध कराने के लिए 'रूपक' शब्द का अधिक प्रयोग होता था।

श्रव्य-काव्य के तीन भेद हैं—(१) गद्य, (२) पद्य, और (३) चम्पू। छन्द-रहित रचना को गद्य कहते हैं। छन्दोबद्ध रचना को पद्य और गद्य-पद्यमयी मिश्रित रचना को चम्पू कहा गया है।

भारतीय विद्वानों ने काव्य के विविध लक्षणों में छन्द को काव्य का आवश्यक अंग नहीं माना है। उन्होंने रस, गुण, अलंकार आदि से युक्त गद्यमयी रचना को भी काव्य स्वीकार किया है। आजकल तो उपन्यास जैसी गद्यमयी रचनाओं का काव्य से पृथक् निश्चित स्थान है। छन्द कविता के लिए अनिवार्य भले ही न हों, छन्द के साथ कविता का घनिष्ठ सम्बन्ध बहुत प्राचीनकाल से चला आ रहा है। छन्दोबद्ध होने के कारण कविता में संगीतमयता और नाद-सौन्दर्य की सृष्टि होती है और ऐसी कविता हृदय पर अधिक प्रभाव डालने की शक्ति रखती है। छन्दोजनित नाद-सौन्दर्य कविता को अधिक प्रभावशाली और स्थायी बनाने में सहायक होता है। छन्दोबद्ध होने के कारण ही हमारे प्राचीन काव्य बहुत दिनों तक लिपिबद्ध न होने पर भी लोगों की जिह्वा पर जीवित रह सके हैं। आधुनिक काल के जो कवि छन्दों को कविता के लिए बन्धन समझते हैं, उनकी कविता भी छन्दों से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाई है। उसमें मात्राओं तथा अक्षरों के नियम का पालन न होने पर भी लय और गति का ध्यान अवश्य रखा जाता है।

पद्य-काव्य के दो भेद माने जाते हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध-काव्य में पद्य परस्पर सापेक्ष रहते हैं। इसके पद्य किसी कथासूत्र अथवा क्रमबद्ध-वर्णन से सम्बद्ध होते हैं। वे सम्बद्ध अथवा सामूहिक रूप में अपने विषय का ज्ञान कराते हैं और रसोद्रेक में समर्थ होते हैं।

मुक्तक-काव्य में प्रत्येक पद्य की स्वतन्त्र सत्ता रहती है और वह स्वतन्त्र रूप में अपना भाव व्यक्त करता है। साहित्य-दर्पण में विश्वनाथ ने 'पद्य' और 'मुक्तक' का लक्षण इस प्रकार किया है—

"छन्दोवद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्[1]।"

प्रवन्ध-काव्य के भी विषय के परिमाण के आधार पर दो भेद किए जाते हैं—(१) महाकाव्य, और (२) खंडकाव्य।

✓ महाकाव्य का विषय वहुत व्यापक होता है। उसमें कथावस्तु किसी प्रसिद्ध महापुरुष से सम्बन्ध रखती है; और उस कथा के आधार पर जीवन के विविध अंगों पर प्रकाश डाला जाता है। महाकाव्य के आकार-सम्बन्धी लक्षण संस्कृत-ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक दिए गए हैं। संस्कृत में रामायण, महाभारत, रघुवंश आदि महाकाव्य माने गए हैं। हिन्दी में तुलसीदास का 'रामचरित्मानस' मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' और जयशंकरप्रसाद की 'कामायनी' आदि प्रसिद्ध महाकाव्य हैं। महाकाव्य के स्वरूप का विस्तृत विवेचन हम आगे चलकर करेंगे।

खण्ड-काव्य में जीवन के किसी एक पहलू अथवा किसी एक घटना को प्रमुख स्थान दिया जाता है। इसमें अन्य बातें महाकाव्य-जैसी ही होती हैं किन्तु उसका आकार महाकाव्य के समान विशाल नहीं होता। मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ-वध', रत्नाकर का 'गंगावतरण', श्यामनारायण पाण्डेय-कृत 'हल्दीघाटी' जैसी रचनाएँ खण्ड-काव्यों की श्रेणी में आती हैं।

महाकाव्य और खण्डकाव्य

संस्कृत के आचार्यों ने खण्ड-काव्य के स्वरूप का विवेचन विस्तार के साथ नहीं किया है। विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में खण्डकाव्य के विषय में केवल इतना ही कहा है कि महाकाव्य के एक अंश (देश) का अनुसरण करने वाली काव्य-कृति को खण्डकाव्य कहते हैं[2]।

महाकाव्य में जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति होती है किन्तु खण्ड-काव्य में जीवन के एक ही पक्ष का चित्रण होता है। खण्डकाव्य का आकार महाकाव्य की तरह विशाल न होकर भी अपने में पूर्ण होता है। गद्य के क्षेत्र में उपन्यास और कहानी में जो अन्तर माना जाता है, वही कविता के क्षेत्र में महाकाव्य और खण्डकाव्य के बीच भी है। जिस प्रकार उपन्यास और कहानी में केवल आकार का ही नहीं, प्रकार या शिल्पविधि का भी अन्तर है, इसी प्रकार महाकाव्य और खण्डकाव्य में भी आकार तथा प्रतिपाद्य विषय दोनों ही तरह का भेद दिखाई देता है। महाकाव्य की तरह खण्डकाव्य का कथानक वहुत व्यापक

---

१. साहित्यदर्पण, परि० ६, ३१६

२. खंड-काव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।

—साहित्यदर्पण, परि० ६, ३२९

या विस्तृत नहीं होता। आदि से लेकर अन्त तक उसमें एक ही कथा को स्थान दिया जाता है। प्रासंगिक कथाओं या घटनाओं का उसमें प्रायः अभाव ही रहता है। महाकाव्य की तरह खण्डकाव्य की कथा भी किसी महान् चरित्र से सम्बन्ध रखती है किन्तु खण्डकाव्य में उस महान् चरित्र के सम्पूर्ण जीवन पर नहीं, उसके किसी एक पक्ष पर ही प्रकाश डाला जाता है। महाकाव्य की तरह विषय. चरित्र और उद्देश्य की महानता खण्डकाव्य के लिए आवश्यक नहीं।

संस्कृत के आचार्यो ने महाकाव्य की तरह खण्डकाव्य का सर्गवद्ध होना आवश्यक नहीं माना है, फिर भी अनेक खण्डकाव्यों में कथानक का विभाजन सर्गो में भी उपलब्ध होता है। कथानक के अधिक व्यापक और विस्तृत न होने के कारण खण्डकाव्य में सर्गो की संख्या सीमित ही रहती है। जहाँ खण्डकाव्य में कथानक जीवन के किसी एक अंग तक ही सीमिति न होकर व्यापक रूप धारण कर लेता है, वहाँ वह महाकाव्य के अधिक निकट आ जाता है। ऐसी दशा में खण्डकाव्य और महाकाव्य में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती।

मुक्तक-काव्य के भी दो भेद किए जाते हैं—(१) पाठ्य, और (२) गेय। जिन मुक्तक कविताओं को हम केवल पढ़ सकते हैं और पढ़कर ही उनका आनन्द ले सकते हैं, उन्हें पाठ्य-मुक्तक कहा जाता है। बिहारी के दोहे, देव, भूषण आदि के कवित्त इसी कोटि में आते हैं। पाठ्य-मुक्तक को भी हम दो भागों में विभक्त करते हैं—रसमय और सूक्ति। जो मुक्तक किसी रस या भाव का उद्रेक करते हैं—हमारे हृदय को किसी भाव में लीन कर देते हैं—उन्हें हम रसमय कहेंगे। पर जिनमें केवल कथन के ढंग की विचित्रता होती है या कोई चमत्कारमात्र रहता है, उन्हें सूक्ति ही कहा जायेगा। हिन्दी में रहीम और वृन्द के दोहे, गिरिधरदास की कुंडलियाँ और दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियाँ सूक्ति-मुक्तक की श्रेणी में स्थान पा सकेंगी।

गेय-मुक्तक को प्रगीत या गीति-काव्य भी कहते हैं। जिस मुक्तक कविता की रचना गीतों के रूप में होती है, उसे गेय मुक्तक कहा जाता है। इसमें संगीत और काव्य-मुक्तक कला का सुन्दर समन्वय रहता है। गेय-मुक्तक या गीति-काव्य में भावावेश के क्षणों में कवि-हृदय के स्वतः निस्सृत उद्गारों की संगीतमयी शब्दावली में अभिव्यंजना होती है। भावमयता, तल्लीनता और कवि-हृदय की सच्ची अनुभूति इसमें पाई जाती है। पाठ्य-की अपेक्षा गेय-मुक्तक अधिक प्रभावशाली और हृदयस्पर्शी होते हैं। संस्कृत मे कालिदास का मेघदूत और जयदेव का गीत-गोविन्द गीति-काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। हिन्दी में सूरदास, तुलसीदास और मीराँ के पद तथा प्रसाद, पन्त और महादेवी के गीत गेय-मुक्तक माने जाते हैं।

गद्य-पद्य-मयी मिश्रित रचना को संस्कृत के आचार्यों ने 'चम्पू' नाम दिया है[1]।

---

१. गद्य-पद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।—साहित्यदर्पण, परि० ६, ३३६

ऐसे गद्य-पद्य-मय काव्य को 'मिश्र-काव्य' कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। चम्पू-काव्य का संस्कृत-साहित्य में पर्याप्त आदर रहा है किन्तु हिन्दी में इस प्रकार के काव्यों की ओर कवियों का ध्यान बहुत कम गया है। गुप्तजी की यशोधरा, प्रसाद की उर्वशी जैसी रचनाओं को हम चम्पू-काव्य कह सकते हैं, क्योंकि उनमें गद्य और पद्य दोनों का संमिश्रण दिखाई देता है। वास्तव में जिस शैली को लेकर संस्कृत के चम्पू-काव्य विकसित हुए हैं, उसका हिन्दी में अभाव ही है। संस्कृत का चम्पू-काव्य महाकाव्य की तरह सर्गबद्ध होता है। उसमें किसी कथा के आधार पर प्रबन्धात्मकता भी होती है। उसमें पद्य और गद्य दोनों का प्रयोग रसोद्रेक करने में समर्थ होता है। कथा का प्रवाह पद्य से गद्य में और गद्य से पद्य में होता हुआ निरन्तर बहता हुआ दीख पड़ता है। यह बात हिन्दी के इस श्रेणी के काव्यों में नहीं पाई जाती।

महाकाव्य और उपन्यास

आज के कुछ समीक्षक महाकाव्य और उपन्यास दोनों में कोई तात्त्विक भेद स्वीकार नहीं करते। उनके मत में पद्य में जिसे महकाव्य कहा जाता है, गद्य में वही रचना उपन्यास नाम से अभिहित होती है। महाकाव्य और उपन्यास में अन्तर केवल माध्यम का है; प्रतिपाद्य विषय दोनों का एक ही है। जीवन का सर्वांगीण चित्र दोनों में एक-जैसा ही चित्रित होता है। कथावस्तु और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी महाकाव्य और उपन्यास दोनों में समानता रहती है। पर वास्तव में महाकाव्य और उपन्यास दोनों के मौलिक तत्त्वों की समीक्षा करने पर इन दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है। महाकाव्य और उपन्यास में निकटतम सम्बन्ध के होते हुए भी तात्त्विक अन्तर है।

महाकाव्य और उपन्यास दोनों में वैविध्य-पूर्ण जीवन का चित्रण होता है किन्तु महाकाव्यकार जीवन की जिस गहराई में उतरता है, वहाँ तक उपन्यास-लेखक की पहुँच नहीं होती। उपन्यास-लेखक जीवन के बाह्य स्वरूप को ही मुख्य रूप में व्यक्त करता है, जब कि महाकाव्यकार जीवन के गहन अन्तस्तल में प्रवेश करने की क्षमता रखता है। उपन्यास में जीवन के यथार्थ चित्र को किन्तु महाकाव्य में उसके आदर्श रूप को प्रमुख स्थान प्राप्त होता है। यदि उपन्यास में जीवन की घटनाओं का अनुकरण होता है तो महाकाव्य में जीवन का भव्य रूप प्रस्तुत किया जाता है। महाकाव्य की कथावस्तु महान् होती है और उसमें महान् चरित्रों की अवतारणा होती है किन्तु उपन्यास में कथावस्तु और चरित्रों की महानता आवश्यक नहीं होती। साधारण कथानक और साधारण चरित्रों को लेकर भी उपन्यास की रचना हो सकती है। महाकाव्य का कथानक प्राचीन, लोक-विश्रुत या ऐतिहासिक होना चाहिए। किसी काल्पनिक कथानक को लेकर महाकाव्य का निर्माण संभव नहीं। महाकाव्य के रचयिता कवि की दृष्टि अधिकतर अतीतोन्मुख होती है। अतीत से सम्बद्ध कथानक में कवि-कल्पना को विचरण करने के लिए अधिक स्वतन्त्रता रहती है। दूसरी ओर उपन्यास का कथानक प्राचीन और ऐतिहासिक ही नहीं, आधुनिक—समसामयिक—और काल्पनिक भी हो सकता है। उपन्यास लेखक की दृष्टि अतीत की अपेक्षा वर्तमान में अधिक

रमती है। महाकाव्यकार को प्राचीन कथानक के आधार पर जितनी सफलता मिल सकती है, उतनी आधुनिक या अपने समय के विषय को अपनाने में नहीं। उपन्यास के कथानक में विस्तार और कुतूहल उत्पन्न करने की क्षमता आवश्यक होती है, किन्तु महाकाव्य का कथानक संक्षिप्त भी हो सकता है। महाकाव्यकार अपने कथानक के मार्मिक स्थलों को चुनकर उनका ऐसा वर्णन प्रस्तुत करता है जोकि पाठकों को रसमग्न करने में समर्थ हो। मार्मिक प्रसंगों तथा प्राकृतिक दृश्यों के विस्तृत और मर्मस्पर्शी वर्णनों की महाकाव्य में प्रचुरता रहती है, जब कि उपन्यास में इनका वर्णन सीमित मात्रा में ही अभीष्ट होता है। उपन्यासकार का ध्यान तो विविध वर्णनों के बीच भी कथावस्तु के विकास की ओर ही अधिक रहता है। उपन्यास में विविध वर्णन मुख्यतया देश-काल के अनुरूप समाज का वातावरण प्रस्तुत करने के लिए होते हैं किन्तु महाकाव्य में उनका मुख्य उद्देश्य रसोद्रेक करना होता है।

उपन्यास में कथोपकथन-नामक तत्त्व को प्रमुख रूप में स्थान दिया जाता है, जब कि महाकाव्य में इसका विशेष महत्त्व नहीं समझा जाता। उपन्यास में भाषा-शैली की अपेक्षा विषय-सामग्री का अधिक महत्त्व रहता है; उसकी भाषा-शैली सीधी-सादी और सरल होती है, किन्तु महाकाव्य के लिए उदात्त, गंभीर और अलंकृत भाषा-शैली आवश्यक मानी गई है। महाकाव्य में रचना-कौशल उपन्यास की अपेक्षा अधिक अपेक्षित है। रसात्मकता भी महाकाव्य के लिए अधिक आवश्यक है। उसमें मर्मस्पर्शी भावाभिव्यक्ति और रसव्यंजना प्रमुख तत्त्व के रूप में वर्तमान रहती है, जब कि उपन्यास में केवल रोचकता और कुतूहल की सृष्टि से ही लेखक का काम चल जाता है।

विषय, चरित्र और शैली की महानता के साथ-साथ महाकाव्य का उद्देश्य भी महान् होता है। उपन्यास का मुख्य उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करना है पर महाकाव्य का लक्ष्य पाठक को रस-विभोर करते हुए उसके हृदय का परिष्कार और उसके नैतिक स्तर को ऊपर उठाना है। महाकाव्य के लिए युगानुरूप नवीन और स्थायी सन्देश प्रस्तुत करना आवश्यक है किन्तु उपन्यास में सन्देश की महत्ता आवश्यक नहीं है। महाकाव्यकार सम्पूर्ण युग को वाणी प्रदान करता है। वह युग-द्रष्टा ही नहीं, युग-निर्माता भी होता है किन्तु उपन्यास-लेखक केवल युगदर्शक के रूप में ही पाठकों के समक्ष आता है। विश्वजनीन, चिरन्तन सत्य और रहस्य का उद्घाटन महाकाव्य में उपन्यास की अपेक्षा अधिक संभव होता है।

इस प्रकार महाकाव्य और उपन्यास में केवल बाह्य आकार का ही नहीं, आन्तरिक तत्त्वों की दृष्टि से भी भेद दिखाई देता है। महाकाव्य एक असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न महाकवि की कृति होती है और साहित्य में उसका स्थान उपन्यास से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और ऊँचा है।

पाश्चात्य विद्वानों ने व्यक्ति और वाह्यजगत् अथवा व्यष्टि और समष्टि के आधार पर काव्य के दो भेद किए हैं—(१) विषयिगत (Subjective), और विषयगत (Objective)। जो काव्य कवि के व्यक्तित्व से—उसके निजी भावों और अनुभूतियों से—सम्बन्ध

रखते हैं, उन्हें विषयिगत, भाव-प्रधान अथवा स्वानुभूति-निरूपक काव्य कहा जाता है और जिन काव्यों में वाह्य-जगत् के कार्य-कलापों तथा समाज अथवा जाति-विशेष की मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति रहती है, उन्हें विषय-गत, अथवा वाह्यार्थ-निरूपक काव्य माना जाता है। पहले प्रकार के काव्यों में प्रगीत या गीतिकाव्य (Lyric) को तथा दूसरे प्रकार के काव्यों में महाकाव्य (Epic) को प्रमुख स्थान दिया जाता है। भाव-प्रधान काव्यों में कवि-दृष्टि अन्तर्मुखी (Introvert) रहती है, पर विषय-प्रधान काव्यों में वह वहिर्मुखी (Extrovert) होती है। भावप्रधान काव्यों में कवि अपने हृदय को—अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को हमारे समक्ष उपस्थित करता है, जबकि विषय-प्रधान काव्यों में वाह्य-जगत् अथवा जातिविशेष का चित्र चित्रित रहता है।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार काव्य का यह विभाजन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आश्रित है। पर वास्तव में कवि की निजी अनुभूतियों और वाह्यजगत् के कार्य-कलापों के आधार पर काव्य का यह विभाजन सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। भाव-प्रधान काव्य का कवि के व्यक्तित्व के साथ-साथ वाह्य-जगत् से भी सम्बन्ध किसी न किसी रूप में रहता ही है। इसी प्रकार विषय-प्रधान काव्य में वाह्य-जगत् के चित्रण के साथ-साथ कवि का व्यक्तित्व भी छिपा रहता है। वस्तुतः कवि संसार में अपने आपको और अपने आप में संसार को देखता है। वह संसार के सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि को अपनाने की योग्यता रखता है और उसकी निजी अनुभूतियाँ संसार के दूसरे व्यक्तियों की अनुभूतियों से सर्वथा भिन्न भी नहीं होतीं। विषय-प्रधान काव्य में भी वाह्य-वस्तुओं के वर्णन पर कवि के व्यक्तित्व की छाप वनी रहती है और भाव-प्रधान काव्य में भी कवि की निजी अनुभूति संसार की अनुभूति से मिश्रित रहती है। यही कारण है कि तुलसी के रामचरितमानस-जैसे विषय-प्रधान काव्य में पाठक समाज के हृदय के साथ ही तुलसी के भक्ति-प्रवण हृदय को भी टटोलता है और उसके विनय-पत्रिका-जैसे भाव-प्रधान गीति-काव्य में पाठक कवि की अनुभूतियों में अपनी अनुभूतियों का प्रतिविम्व भी देखता है।

यथार्थ में भाव-प्रधान (Subjective) और विषय-प्रधान (Objective) काव्य के ये दो भेद स्थूल दृष्टि से किए गए हैं। उनमें क्रमशः कवि के व्यक्तित्व और वाह्य जगत् के चित्रण की प्रधानता रहती है। जिन काव्यों में कवि के व्यक्तिगत भावों की प्रधानता हो और शेष सृष्टि के व्यापारों को गौण स्थान दिया गया हो, उन्हें भावप्रधान काव्य कहा जायेगा। दूसरी ओर जिन काव्यों में सांसारिक कार्य-कलापों की प्रधानता रहती है और कवि का व्यक्तित्व उनमें अप्रत्यक्ष रूप से छिपा रहता है, उन्हें विषय-प्रधान काव्य कहना उचित है।

महाकाव्य-विषयक भारतीय आदर्श

हम यह पहले वता चुके हैं कि भारतीय परम्परा के अनुसार पद्य-काव्य के प्रवन्ध और मुक्तक ये दो मुख्य भेद माने गए हैं। महाकाव्य प्रवन्ध-काव्य का मुख्य रूप है। काव्य

के विविध रूपों में 'महाकाव्य' का स्थान सर्वोपरि है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार काव्य के भाव-प्रधान (Subjective) और विषय-प्रधान (objective) ये दो मुख्य भेद हैं और विषय-प्रधान काव्यों में महाकाव्य का प्रमुख स्थान है। महाकाव्य का सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष से नहीं, वाह्य-जगत् से रहता है। महाकाव्य में कवि केवल निजी व्यक्तिगत भावनाओं में लीन न रह कर वाह्य-जगत् के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता हुआ दिखाई देता है। यहाँ कवि व्यक्तिगत सत्ता को त्याग कर सामुदायिक या समष्टिगत जीवन के साथ अपने जीवन का सामंजस्य देखता है। वह एक व्यक्ति-विशेष के रूप में नहीं, समाज अथवा जाति का प्रतिनिधि बनकर हमारे सामने आता है। जहाँ गीति-काव्य जैसी भाव-प्रधान कविता में कवि अपनी भावना में लीन होकर संसार से अलग एकान्तसेवी बनकर आत्मानन्द का अनुभव करता है, वहाँ महाकाव्य में वह जनता या समाज के योग-क्षेम की भावना को लिए हुए उसके सुख-दुःख में हाथ बँटाता है। महाकाव्य में कवि जन-वाणी में अपनी वाणी और लोक सत्ता में अपनी सत्ता को मिला देता है।

महाकाव्य वर्ग-विशेष या जाति-विशेष के अनुभवों, भावनाओं और विचारों को सुरक्षित रखता है। वह व्यक्ति-परक न होकर सामाजिक जीवनके विविध अंगों पर प्रकाश डालता है। उसमे जातीय जीवन का चित्र अंकित रहता है। वह कवि के निजी विचारों तथा भावनाओं को न अपना कर जातीय भावनाओं और आदर्शो को प्रधानता देता है। महाकाव्य में कोई इतिहास-प्रसिद्ध कथानक होता है। उसका नायक कोई लब्ध-प्रतिष्ठ महान् व्यक्ति होता है। वह एक व्यक्ति-विशेष के रूप में नहीं, अपितु जाति या समाज के प्रतिनिधि के रूप में हमारे सामने आता है। महाकाव्य का विषय महान् तथा व्यापक होता है और उसके आधार पर जीवन का सर्वांगीण चित्र अंकित किया जाता है।

महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन संस्कृत के अनेक आचार्यो ने अपने लक्षण-ग्रन्थों में किया है। महाकाव्य का सर्व प्रथम विवेचन भामह के काव्यालंकार में मिलता है[1]।

---

१. सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च तत्।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालंकारं सदाश्रयम्॥
मन्त्र-दूत - प्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्।
पंचभिः सन्धिभियुक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्॥
चतुवर्गाभिधानेपि भूयसार्थोपदेशकृत्।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्॥
नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभि.।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया॥
यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते।
न चाभ्युदयभावतस्य मुधादौ ग्रहणस्तवौ॥
—भामह, काव्यालंकार, परि० १, १९-२३

भामह के अनुसार महाकाव्य एक सर्गबद्ध रचना होती है। उसमें महान् चरित्रों को स्थान दिया जाता है और अलंकारों से समृद्ध शिष्ट भाषा का प्रयोग होता है। यथार्थ अथवा सच्ची घटनाओं से उसका कलेवर पुष्ट होता है। उसमें राजदरबार दूत, आक्रमण, युद्ध आदि का वर्णन विस्तार के साथ किया जाता है। उसमें नायक के अभ्युदय का वर्णन होता है और किसी अन्य व्यक्ति का उत्कर्ष दिखाने की इच्छा से नायक का वध नहीं दिखाया जाता। नाटक की सारी सन्धियाँ उसमें रहती हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों वर्गों को उसमें स्थान दिया जाता है किन्तु प्रधानता 'अर्थ' को ही प्राप्त होती है।

भामह के पश्चात दण्डी,[1] रुद्रट,[2] हेमचन्द्र[3] और विश्वनाथ ने महाकाव्य के स्वरूप की विवेचना की है। पर इन सभी आचार्यों के विवेचन में कोई विशेष नवीनता नहीं दिखाई देती। दण्डी, रुद्रट और हेमचन्द्र ने संक्षेप से किन्तु विश्वनाथ ने विस्तार के साथ महाकाव्य के लक्षणों का निरूपण किया है[4]।

साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने महाकाव्य के स्वरूप का निरूपण इस प्रकार

---

१. सर्ग-बन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रिया-वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्॥
इतिहास - कथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्त-नायकम्॥
नगरार्णव - शैलर्तु - चन्द्रार्कोदय - वर्णनैः।
उद्यानसलिलक्रीड़ामधुपानरतोत्सवैः॥
विप्रलम्भै - विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
मंत्रदूतप्रयाणाजि - नायकाभ्युदयैरपि॥
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः॥
सर्वत्र भिन्न-वृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजनम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति॥
न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदंगैः काव्यं न दुष्यति।
यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः॥
—दण्डी, काव्यादर्श, परि० १, १४-२०

२. काव्यालंकार (रुद्रट), परि० १६, ७-१९

३. काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), अध्याय ८, पृष्ठ ३३०

४. सर्ग-बन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त-गुणान्वितः॥
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।
शृंगारवीरशान्तानामेकोऽंगी रस इष्यते॥

किया है :—

(१) महाकाव्य की कथा सर्गों में विभाजित होती है।

(२) इसका नायक कोई देवता अथवा धीरोदात्त गुणों से युक्त कोई उच्च-कुलोत्पन्न क्षत्रिय होना चाहिए। एक ही वंश में उत्पन्न अनेक राजा भी इसके नायक हो सकते हैं।

(३) इसमें शृंगार, वीर और शान्त इन तीन रसों में से कोई एक रस प्रधान होना चाहिए और अन्य रस उसके सहायक होने चाहिएँ।

(४) इसमें नाटक की सारी सन्धियां (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, उपसंहृति) को स्थान दिया जाता है।

(५) महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक होता है और यदि ऐतिहासिक न हो तो किसी सज्जन व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाला होना चाहिए।

(६) इस में चार वर्गों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में से कोई एक फल रूप मे होना चाहिए।

(७) इसके आरम्भ मे नमस्कार, आशीर्वचन अथवा मुख्य कथा की ओर संकेत के रूप मे मंगलाचरण वर्तमान रहता है।

(८) इसमें कहीं-कहीं दुष्टों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा होती है।

अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक-संधयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्॥
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा॥
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां वा गुणकीर्तनम्।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः॥
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्॥
सन्ध्या-सूर्येन्दु-रजनी-प्रदोष-ध्वान्तवासराः।
प्रातर्मध्याह्न-मृगया-शैलर्तुवन-सागराः॥
संयोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः।
रणप्रयाणोपयम-मंत्र-पुत्रोदयादयः॥
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा॥
नामास्य, सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु।

—साहित्यदर्पण, परि० ६, ३१५-२५

(९) इसके सर्गों की संख्या आठ से अधिक होनी चाहिए और इन सर्गों का आकार बहुत छोटा अथवा बहुत बड़ा भी नहीं होना चाहिए। प्रायः प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग होता है और सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन उचित है। कहीं-कहीं किसी सर्ग में विविध छन्दों का प्रयोग भी हो सकता है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगे आने वाली कथा की सूचना होनी चाहिए।

(१०) इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, युद्ध, युद्ध-यात्रा, विवाह, मंत्रणा, पुत्रोत्पत्ति आदि का यथावसर सांगोपांग वर्णन होना चाहिए।

(११) महाकाव्य का नामकरण कवि, कथावस्तु, नायक अथवा किसी अन्य व्यक्ति के नाम के आधार पर होना चाहिए और सर्गों के नाम सर्गगत कथा के अधार पर होने चाहिएँ।

इस प्रकार संस्कृत के आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षण संस्कृत में प्रचलित महाकाव्यों के आधार पर निश्चित किए हैं। संस्कृत के अधिकांश महाकाव्य—विशेषकर परवर्ती महाकाव्य—इन्हीं लक्षणों को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं। महाकाव्य-सम्बन्धी इन नियमों का अक्षरशः पालन हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यकारों ने नहीं किया है। मंगलाचरण, नायक, सर्ग और छन्द-सम्बन्धी कठोर नियमों की आजकल उपेक्षा होने लगी है।

महाकाव्य-विषयक पाश्चात्य आदर्श

पाश्चात्य-साहित्य में महाकाव्य को 'एपिक' नाम दिया गया है। एपिक (Epic) शब्द ईपोस (Epos) से बना है, जिसका अर्थ है 'शब्द'। धीरे-धीरे इसका प्रयोग किसी वक्तव्य, कहानी अथवा गीत के लिए होने लगा और अन्त में यह 'एपिक' शब्द एक ऐसे वीरकाव्य का बोधक हो गया जिसमें किसी महान् घटना का भव्य शैली में वर्णन हो।

पाश्चात्य विद्वानों में से अरस्तू ने त्रासदी (ट्रेजेडी) और महाकाव्य की तुलना करते हुए महाकाव्य के सिद्धान्तों का विवेचन किया है। अरस्तू के अनुसार महाकाव्य में किसी गंभीर, पूर्ण और उदात्त व्यापार की काव्यमय अनुकृति होती है। उसकी भाषा, शैली मनोरम तथा अलंकृत होती है और उसमें आदि से लेकर अन्त तक एक ही छन्द का प्रयोग होता है। उसमें आदि, मध्य और अन्त से युक्त कार्य की एकता होती है। व्यापक कथानक और महान् चरित्रों को उसमें स्थान दिया जाता है। त्रासदी और महाकाव्य की तुलना करते हुए अरस्तू ने उन दोनों का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

"जहां तक शब्दों के माध्यम से महान् चरित्रों और उनके कार्यों के अनुकरण का सम्बन्ध है, महाकाव्य और त्रासदी में समानता पाई जाती है, किन्तु कुछ बातों में महाकाव्य त्रासदी से भिन्न होता है। महाकाव्य में आदि से लेकर अन्त तक एक ही छन्द का प्रयोग होता है, वह प्रकथनात्मक होता है और उसके कार्य-व्यापार में समय की कोई सीमा नहीं रहती, जबकि त्रासदी का कार्य-व्यापार लगभग २४ घण्टे तक

ही सीमित रहता है[१]।"

पश्चिम के अन्य समालोचकों ने भी महाकाव्य (Epic) के स्वरूप का विशद विवेचन किया है। लार्ड केम्स (Lord Kames) के मत में 'वीरतापूर्ण कार्यों का उदात्त शैली में वर्णन ही महाकाव्य है[२]।' प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् ल बस्सु (Le Bossu) महाकाव्य को एक ऐसा रूपक स्वीकार करते हैं, जिसमें प्राचीन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का छन्दोवद्ध वर्णन हो[3]। हाब्स (Hobbes) के मत में वीरतापूर्ण प्रकथनात्मक कविता ही महाकाव्य है[४]।

पाश्चात्य समीक्षकों ने महाकाव्य (Epic) के दो भेद स्वीकार किए हैं---संकलनात्मक महाकाव्य (Epic of Growth) और कलात्मक महाकाव्य (Epic of Art)। इन्हीं दो भेदों को क्रमशः प्रामाणिक (Authentic) और साहित्यिक (Literary) महाकाव्य भी कहा गया है। संकलनात्मक महाकाव्य (Epic of Growth) साधारणतया एक व्यक्ति की रचना न होकर अनेक व्यक्तियों की रचनाओं का सुसम्वद्ध साहित्यिक रूप होता है[५]। कभी-कभी ऐसे महाकाव्य में एक ही लेखक जनता में प्रचलित विविध कथाओं

---

१. "Epic poetry agrees so for with tragic as it is imitation of great charactors and actions by means of words; but in this it differs, that it makes use of only one kind of metre throughout, and that it is narrative. It also differs in length, for tragedy endeavours, as for as possible, to confine its actions within the limit of a single revolution of the sun, or nearly so; but the time of epic action is indefinite."

—Dometrius—Aristotle's poetics, P. 13.

२. As to the general taste there is a little reason to doubt that a work where heroic actions are related in an elevated style will, without further requisite, be deemed an epic poem.

—M. Dixon—English Epic and Heroic Poetry, P. 18.

३. Le Bossu defined epic, therefore, as "a composition in verse intended to form the manners by instructions disguised under the allegories of an important action."–Ibid, P. 2.

४. "The heroic poem narrative is called an epic poem" said. Hobbes, "the heroic poem dramatic is tragedy." —Ibid, P. 22.

५. In it (authentic epic) the student diacovers not the mind of one skilful artist only, but the minds of many previous makers.

—M. Dixon—English Epic and Heroic Poetry, P. 27.

को एक सूत्र में गूँथ कर उन्हें सुन्दर काव्योचित रूप प्रदान करता है। संकलनात्मक महाकाव्य की रचना मुख्यतया सुनने-सुनाने के लिए होती है[१]। यह वास्तव में श्रव्य-काव्य माना जाता है। इस में वीर-पुरुषों की वीर-गाथाओं का वर्णन स्वाभाविक, सीधी-सादी शैली में होता है। होमर के इलियड और ओडिसी जैसे महाकाव्यों को संकलनात्मक महाकाव्य कहा जाता है। संस्कृत के महाभारत और रामायण की गणना भी ऐसे ही महाकाव्यों में की जा सकती है।

कलात्मक महाकाव्य (Epic of Art or Literary Epic) व्यक्ति-विशेष की साहित्यिक रचना होती है। इस में स्वाभाविकता के स्थान पर कृत्रिमता रहती है[२]। मुख्यतया पढ़ने के लिए ही इसकी रचना होती है। इसीलिए इसे हम श्रव्य न कह कर पाठ्य-काव्य कह सकते हैं। इसकी रचना जन-साधारण के लिए नहीं, अपितु विद्वानों के लिए होती है। काव्य के निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर इसका निर्माण होता है। इस में काव्य के कलापक्ष की प्रधानता रहती है। इस में कवि का ध्यान मुख्यतया भाषा-शैली की सुन्दरता की ओर रहता है और इसीलिए इस में काव्य-कला का उत्कृष्ट, निखरा हुआ रूप पाया जाता है। वर्जिल के इनियड, और मिल्टन के पैराडाइज लोस्ट जैसी रचनाओं को कलात्मक महाकाव्य माना जाता है। कालिदास के रघुवंश तथा कुमारसंभव जैसे महाकाव्यों को हम इसी श्रेणी में स्थान दे सकते हैं।

पाश्चात्य आचार्यों के अनुसार महाकाव्य—वह चाहे संकलनात्मक हो अथवा कलात्मक—के प्रधान लक्षणों को हम साधारणतया इन शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं:—

१—महाकाव्य का कथानक महत्वपूर्ण, लोकविश्रुत और विशाल होना चाहिए।[3] कथानक की आधारभूत घटनाओं के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं।

---

१. The first (authentic) epics are intended for recitations, the literary epic is meant to be read.

—L. Abercrombie—The Epic, P. 39.

२. In the first place, a poem constructed out of ballads composed semehow or other, by the folk, ought to be more "natural" than a work of deliberate art–a literary epic.

—Ibid, P. 28.

३. To do this he takes some great story which has been absoorbed into the prevailing consciousness of his people. As a rule, though not quite invariably, the story will be of things which are, or seem, so far back in the past, that anything may credibly happen in it; so imagination has its freedom, and so significance is displayed.

—L. Abercrombie—The Epic, P. 48.

केम्स (Kames) ने प्राचीन, लुकन (Lucan) ने अर्वाचीन और तैस्सो (Tasso) ने 'नाति-प्राचीन और नाति-अर्वाचीन' घटनाओं को महाकाव्य के विषय के लिए उपयुक्त समझा है[१]। एवरक्राम्बी का कथन है कि महाकाव्य की कथा-सामग्री सच्ची अथवा लोक-विश्रुत होनी चाहिए। कवि की कोरी कल्पना के आधार पर उसका निर्माण उचित नहीं है[२]। महाकाव्य के कथानक के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद के होते हुए भी अधिकांश विद्वान् यही स्वीकार करते हैं कि महाकाव्य का कथानक प्राचीन, परम्परा से प्रतिष्ठित और महत्व-व्यंजक होना चाहिए।

२—महाकाव्य का नायक कोई शौर्य-गुण-सम्पन्न, विजयी, महापुरुष होना चाहिए। कभी-कभी महाकाव्य में एक से अधिक नायक भी हो सकते हैं किन्तु साधारणतया महाकाव्य के कथानक का सम्बन्ध एक ही नायक से रहता है। महाकाव्य के नायक को विजयी दिखाना आवश्यक है, क्योंकि वह सारे राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है और उसकी विजय में सारे राष्ट्र की विजय निहित होती है[3]। नायक के अतिरिक्त महाकाव्य के अन्य-पात्र भी असाधारण प्रकृति के होते हैं।

३—पाश्चात्य समीक्षकों ने महाकाव्य में अलौकिक शक्तियों को प्रमुख स्थान दिया है। इलियड, ओडिसी, इनीयड और पैराडाइज लॉस्ट जैसे पाश्चात्य महाकाव्यों में देवता, भूत-प्रेत आदि अलौकिक पात्रों का समावेश दिखाई देता है। ये अलौकिक पात्र घटनाओं के तटस्थ दर्शकों के रूप में ही नहीं, वरन् मानव-चरित्रों के कार्य-व्यापार में प्रत्यक्ष-रूप में भाग लेते हैं। इस प्रकार अतिमानवीय—अलौकिक—शक्तियों तथा पात्रों का प्रयोग पाश्चात्य महाकाव्य का अपरिहार्य तत्त्व माना जाता है। संभवतः महाकाव्य के कार्य-कलाप की सीमा बढ़ाने और कथानक को अधिक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली बनाने

---

१. देखिए—M. Dixon—English Epic and Heroic Poetry, pp 2-3

२. The prime material of the epic-poet, then, must be real and not invented.·········The reality of the central subject is, of course, to be understood broadly. It means that the story must be founded deep in the general experience of men.

—L. Abercrombie—The Epic, P. 55.

३. Epic, for instance, one notices, usually depicts a victorious hero. It cannot well do otherwise. For in such a poem the interest is rather national than individual. The hero represents a country or a cause which triumphs with his triumph, whose honour would suffer from his defeat.

—M. Dixon—English Epic and Heroic Poetry, P.21

के लिए पाश्चात्य विद्वानों ने महाकाव्य में अलौकिक तत्वों का समावेश आवश्यक समझा है[१]।

४—महाकाव्य के कथानक में नाटक की जैसी धारावाहिकता नहीं होती। वह मन्थर गति से आगे बढ़ता है। महाकाव्यकार गौण चरित्रों की अवतारणा, विविध घटनाओं की सृष्टि, उपाख्यानों की योजना और विविध दृश्यों के चित्रण-द्वारा अपने कथानक को समृद्ध बनाता हुआ पाठकों के हृदय को मुग्ध करता है[२]। कथा-प्रवाह में तीव्र वेग के न होते हुए भी कथानयक की विविध घटनाओं में एक-सूत्रता रहती है, वे सारी एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होती हैं।

५—महाकाव्य में आदि से लेकर अन्त तक एक ही छन्द का प्रयोग होता है और उसकी भाषा-शैली असाधारण गरिमा को लिए हुए होती है[3]। महाकाव्य की सफलता के लिए कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार, भाव-व्यंजना में पटुता, अद्भुत कल्पना-शक्ति और वर्णन-कौशल अपेक्षित है।

---

१. Other things, which epics have been required to contain, besides much that is not worth mentioning are a descent into hell and some supernatural machinery. Both of these are obviously devices for enlarging scope of action.

—L. Abercrombie—The Epic, P. 65.

And it is plain that it must greatly assist the epic purpose to surround the action with immortals who are deeply implicated in it; nothing could more certainly liberate, or atleast more appropriately decorate, the significant force of the subject.

—Ibid, P.67.

२. ... .Whereas in epic the action moves slowly, with a kind of unhurried stateliness and can only achieve elevation, grandeur, by the mass or volume of its interests. It may seek to enlarge the volume of these interests by the introduction of numerous subsidiary characters, or by the diversity of its minor incidents, or by the variety of its episodes, or by the romantic charm of its scenery—by any or all of these.

—M. Dixon—English Epic and Heroic Poetry, P.22.

३. It will tell its tale both largely and intensely, and the diction will be carried on the volume of a powerful flowing metre.

—L. Abercrombie—The Epic, P. 61.

महाकाव्य-विषयक पाश्चात्य और भारतीय आदर्शों की तुलना

महाकाव्य-विषयक पाश्चात्य और भारतीय सिद्धान्तों में मूलतः कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। दोनों सिद्धान्तों के अनुसार महाकाव्य एक विशाल-कार्य, प्रकथन-प्रधान, छन्दोबद्ध रचना होती है। इसका विषय बहुत व्यापक और महान् होना चाहिए। पाश्चात्य और भारतीय दोनों समीक्षकों के अनुसार महाकाव्य का कथानक लोक-विश्रुत अथवा ऐतिहासिक होना चाहिए। हाँ, पाश्चात्य महाकाव्यों का कार्य कतिपय दिनों तक सीमित रहता है, जब कि भारतीय महाकाव्यों में समय का कोई बन्धन नहीं दिखाई देता। होमर के इलियड और ओडिसी जैसे वृहत्काय महाकाव्यों में कथानक केवल कतिपय दिनों तक ही सीमित है, किन्तु रामायण और महाभारत जैसे भारतीय महाकाव्यों में कई वर्षों की घटनाओं को स्थान दिया गया है।

महाकाव्य के नायक के सम्बन्ध में भी पाश्चात्य तथा भारतीय धारणाएँ सामान्यतया एक-जैसी ही हैं। दोनों के अनुसार महाकाव्य का नायक कोई लब्ध-प्रतिष्ठ महान् चरित्र होता है और वह जातीय भावनाओं और आदर्शों का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखता है। भारतीय महाकाव्यों में आदर्श की प्रधानता रहती है। लोक-कल्याण उनका मुख्य लक्ष्य है। इसीलिए उनमें नायक का आदर्श चरित्र अंकित रहता है। वह सर्वदा महान् कार्यों के लिए प्रयत्नशील दिखाई देता है और अन्त में सत् की असत् पर, न्याय की अन्याय पर विजय दिखाने के लिए नायक की विजय निश्चित होती है। दूसरी ओर पाश्चात्य महाकाव्यों में उसका चरित्र गिरा हुआ भी हो सकता है और अन्त में उसकी पराजय भी संभव हो सकती है, जैसा कि मिल्टन के पैराडाइज लॉस्ट में दिखाई देता है।

भारतीय महाकाव्यों में शृंगार, वीर और शान्त इन तीनों रसों में से एक को प्रधानता दी जाती है, किन्तु पाश्चात्य महाकाव्यों में केवल वीर रस को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। पाश्चात्य आचार्यों ने इसीलिए महाकाव्य (Epic) को वीर-काव्य (Heroic Poetry) भी कहा है। युद्ध वास्तव में पाश्चात्य महाकाव्यों का केन्द्रीय तत्व है, उनमें संघर्ष का प्राधान्य है। जहाँ होमर के इलियड मे एकिलिस-जैसे नायक के बाहुबल की महत्ता बताई गई है, वहां रामायण और महाभारत जैसे भारतीय महाकाव्यों में शारीरिक बल की अपेक्षा धर्म-बल को अधिक महत्व दिया गया है। राम और युधिष्ठिर की वीरता उनके शौर्य, पराक्रम और बाहु-बल में नहीं, अपितु सत्य-निष्ठा, आत्म-त्याग और उदारता में लक्षित होती है। भारतीय महाकाव्यों में पर्याप्त युद्ध-व्यापार के होते हुए भी वीररस को अधिक महत्व नहीं दिया गया है। इसीलिए रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों का अन्त नायक की विजय-जन्य प्रसन्नता में नहीं, अपितु शान्ति में दीख पड़ता है। पाश्चात्य महाकाव्य संघर्ष-प्रधान पाश्चात्य जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं, जब कि भारतीव महाकाव्य त्याग और वैराग्य-प्रधान भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं। युद्ध और संघर्ष के प्रचुर परिमाण में वर्तमान होते हुए भी भारतीय महाकाव्यों में नीति-तत्वों का समावेश दिखाई देता है।

पाश्चात्य आचार्यों ने महाकाव्य में देवता, भूत-प्रेत आदि अलौकिक तत्वों का समावेश अनिवार्य माना है पर भारतीय विद्वानों ने अलौकिक तत्वों का प्रयोग आवश्यक नहीं समझा। हाँ, नियति को पाश्चात्य तथा भारतीय दोनों महाकाव्यों में प्रमुख स्थान मिला है, पर नियति के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण भिन्न दिखाई देता है। दैवी शक्ति का हाथ पाश्चात्य महाकाव्यों में प्रत्यक्ष रूप में, किन्तु भारतीय महाकाव्यों में अप्रत्यक्ष रूप में लक्षित होता है। जहाँ होमर के इलियड और ओडिसी में देवता मानव-चरित्रों के कार्य-व्यापार में प्रत्यक्षतः हस्तक्षेप करते हैं, वहाँ रामायण और महाभारत में देवता स्वर्ग से ही पुष्प वरसा कर और आँसू बहाकर नायक के सुख-दुःख में हाथ बँटाते हैं।

पाश्चात्य समीक्षकों ने महाकाव्य में जातीय भावनाओं के समावेश पर विशेष वल दिया है। भारतीय आचार्यों ने जातीय भावनाओं की अभिव्यक्ति का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं किया है, पर उन्होंने महाकाव्य के नायक का जो आदर्श स्वरूप निश्चित किया है, वह जातीय भावनाओं को व्यक्त करने की पूरी क्षमता रखता है। भारतीय महाकाव्य के नायक के महत्वपूर्ण कार्य-कलाप में जातीय आदर्शों की व्यंजना भली-भाँति हो जाती है।

पाश्चात्य महाकाव्य में आदि से लेकर अन्त तक एक ही प्रकार के छन्द का प्रयोग उचित समझा गया है पर भारतीय विद्वानों ने एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग समीचीन माना है। जहाँ तक अलंकृत और उदात्त भाषा-शैली तथा विविध वर्णनों का सम्बन्ध है, पश्चात्य तथा भारतीय दोनों विद्वानों ने उन्हें महाकाव्य में समान रूप से महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया है।

इस प्रकार महाकाव्य के विषय की व्यापकता, चरितनायक की महानता, विविधतापूर्ण मानव-जीवन की अभिव्यक्ति, जातीय आदर्शों तथा भावनाओं की व्यंजना और भाषा-शैली, की गरिमा को पाश्चात्य और भारतीय दोनों ही विद्वान् स्वीकार करते हैं।

महाकाव्यों की रूपरेखा और रचना-शैली में थोड़ा-बहुत अन्तर होने पर भी पाश्चात्य और भारतीय महाकाव्यों के मौलिक सिद्धान्त एक-जैसे ही हैं। मैकनेल डिक्सन ने ठीक हीं कहा है :—

"महाकाव्य सब देशों में एक जैसा होता है। वह चाहे पूर्व का हो अथवा पश्चिम का, उत्तर का हो अथवा दक्षिण का, उसकी आत्मा और प्रकृति सर्वत्र एक जैसी होती है। सच्चा महाकाव्य, वह चाहे कहीं भी निर्मित हो, एक प्रकथनात्मक काव्य होता है, उसकी रचना सुसंगठित होती है, उसका सम्बन्ध महान् चरित्रों और उनके महान् कार्यों से रहता है, उसकी शैली उसके विषय की गरिमा के अनुकूल होती है, उसमें चरित्रों और उनके कार्य-कलाप को आदर्श रूप देने का प्रयास होता है और उपाख्यानों तथा वर्णन-विस्तार से उसके कथानक की रक्षा तथा समृद्धि होती है[1]।"

---

१. Yet heroic poetry is one; whether of East or West, the North, or South, its blood and temper are the same, and the true epic,

महाकाव्य-विषयक अर्वाचीन सिद्धान्त

भामह, दण्डी, विश्वनाथ आदि भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य के जो लक्षण दिए हैं, वे संस्कृत के प्राचीन महाकाव्यों को ध्यान में रख कर निश्चित किए गए हैं। इसी प्रकार पाश्चात्य समीक्षकों ने भी होमर के इलियड, ओडिसी जैसे प्राचीन पाश्चात्य महाकाव्यों को आधार मान कर ही महाकाव्य के सिद्धान्तों का निरूपण किया है। हिन्दी के अर्वाचीन महाकाव्यों का विकास संस्कृत के महाकाव्यों से निरक्षेप होकर नहीं हुआ, फिर भी उनका निर्माण आज की परिस्थितियों के अनुरूप कतिपय विशेषताएँ भी लिए हुए है। आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यकारों ने महाकाव्य-सम्बन्धी परम्परागत लक्षणों का अक्षरशः पालन नहीं किया है। महाकाव्य के कथानक, नायक, रस और छन्द-सम्बन्धी प्राचीन नियमों में आजकल नवयुग की माँग के अनुसार संशोधन और परिष्कार हो रहा है। संस्कृत से प्रभावित होने पर भी हिन्दी के महाकाव्य विकासोन्मुखी स्वतन्त्र काव्य-चेतना से अनुप्राणित दिखाई देते हैं। महाकाव्य सम्बन्धी प्राचीन भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों की विवेचना करने पर तथा अर्वाचीन हिन्दी-महाकाव्यगत विशेषताओं को ध्यान में रख कर महाकाव्य के स्वरूप-विधायक तत्वों का विश्लेषण हम इस प्रकार कर सकते हैं:—

१—विषय की व्यापकता

महाकाव्य का विषय महान् और व्यापक होना चाहिए। उसकी कथावस्तु लोक-विश्रुत अथवा ऐतिहासिक होनी चाहिए। विषय के महान् और व्यापक होने से महाकाव्य में जीवन के विविध स्वरूपों और परिस्थितियों की अभिव्यक्ति संभव होती है और कथा-वस्तु के लोक-प्रसिद्ध होने पर उसमें जनता के हृदय में स्थान पाने की अधिक क्षमता आ सकती है। प्रसिद्ध कथावस्तु के अपनाने से महाकाव्यकार पाठक की पहले से ही बँधी हुई मनोवृत्ति को आकृष्ट तथा प्रभावित करने में अधिक सफल हो सकता है।

२—सम्बन्ध-निर्वाह

महाकाव्य की कथावस्तु का विविध प्रासंगिक घटनाओं के साथ पूर्ण सामंजस्य अर्थात् सम्वन्ध-निर्वाह आवश्यक है। महाकाव्य की कथावस्तु की गति में अनेक मनोरम विराम या मोड़ भी आते हैं। ऐसे स्थलों पर कथावस्तु में धारावाहिकता के न होने पर भी उसका सूत्र खंडित नहीं होना चाहिए। कहीं-कहीं विविध घटनाओं के वर्णन में विस्तार के होते हुए भी वे मुख्य कथा से सम्वद्ध होनी चाहिएँ।

---

wherever created, will be a narrative poem, organic in structure, dealing with great actions and great characters, in a style commensurate with the lordliness of its theme, which tends to idealise these characters and actions and to sustain embellish its subject by means of episode and amplifications·

—M. Dixon—English Epic and Heroic Poetry, P. 24.

३—नायक

कथावस्तु के अनन्तर महाकाव्य के तत्वों में नायक नामक तत्व को प्रमुख स्थान दिया जाता है। वस्तुत: नायक के रूप में एक महान् चरित्र की सृष्टि के लिए ही कवि महाकाव्य की रचना में प्रवृत्त होता है। महाकाव्य में प्रधान चरित्र (नायक) की महत्ता प्रतिपादित करते हुए श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है :—

"मन में जब एक वेगवान अनुभव का उदय होता है, तब कवि उसे गीति-काव्य में प्रकाशित किए बिना नहीं रह सकते। इसी प्रकार मन में जब एक महत् व्यक्ति का उदय होता है, सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना-राज्य पर अधिकार आ जमाता है, मनुष्य-चरित्र का उदार महत्व मनश्चक्षुओं के सामने अधिष्ठित होता है, तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर, उस परम पुरुष की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए, कवि भाषा का मन्दिर निर्माण करते हैं। उस मन्दिर की भित्ति पृथ्वी के गंभीर अन्तर्देश में रहती है, और उसका शिखर मेघों को भेदकर आकाश में उठता है। उस मन्दिर में जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है, उसके देवभाव से मुग्ध और उसकी पुण्य किरणों से अभिभूत हो कर, नाना दिग्देशों से आ-आकर, लोग उसे प्रणाम करते हैं। इसी को कहते हैं महाकाव्य[1]।"

महाकाव्य का नायक कोई महान् व्यक्ति होना चाहिए जो कि जातीय भावनाओं और आदर्शों का प्रतिनिधि बन सके। नायक की महानता उच्चकुल में जन्म लेने के कारण नहीं, प्रत्युत उसके उदात्त गुणों पर आश्रित होनी चाहिए। प्राचीन महाकाव्यों में कोई महान् पुरुष ही नायक के पद पर प्रतिष्ठित होता था किन्तु अर्वाचीन महाकाव्यों में नारी को भी अपनी चारित्रिक महत्ता के कारण महाकाव्य में प्रधान पात्र (नायिका) बनने का अधिकार मिलने लगा है। महाकाव्य के नायक में मानवोचित दुर्बलताओं के होते हुए भी उसे किसी महान् कार्य के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

४—चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण महाकाव्य का एक प्रमुख तत्व है। महाकाव्य में कथानक का सम्बन्ध नायक के अतिरिक्त अन्य कई पात्रों से रहता है। इन पात्रों की चरित्रगत सबलताओं और दुर्बलताओं का अंकन ही चरित्र-चित्रण कहलाता है। महाकाव्य में भले-बुरे और विभिन्न प्रकृति के अनेक पात्रों की सृष्टि की जाती है। संसार में भले-बुरे, उच्च-नीच, धनी-निर्धन, विद्वान्-मूर्ख, स्वार्थी-परोपकारी आदि अनेक प्रकार के व्यक्ति मानव-जाति का निर्माण करते हैं और महाकाव्य में मानव-जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति मुख्यतया इन विविध पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा संभव हो सकती है। महाकाव्य के विविध पात्रों का चरित्रांकन स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक तथा आदर्शोन्मुख होना चाहिए। प्राचीन

---

१. मेघनाथ-वध (हिन्दी-अनुवाद), चिरगाँव (झाँसी), संवत् २००८, भूमिका-भाग, पृष्ठ १२७

भारतीय महाकाव्यों में चरित्र-चित्रण में आदर्श की प्रधानता रहती थी, किन्तु आधुनिक महाकाव्यों में यथार्थ की ओर कवियों का ध्यान अधिक दिखाई देता है।

५—वस्तु-वर्णन

महाकाव्य में जीवन के अनेक प्रसंगों और प्रकृति के विविध रूपों का विस्तृत, कलात्मक और प्रभावशाली वर्णन होता है। महाकाव्य में यह वर्णन-विविधता युग-जीवन का सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करने में समर्थ होती है। महाकाव्य में नाना प्रकार के वर्णन भावोद्रेक तथा रसाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। वे इतिवृत्तात्मक घटनाओं से ऊबे हुए पाठक के हृदय को रमाने की क्षमता रखते हैं। महाकाव्यकार कवि अपने अद्भुत वर्णन-कौशल-द्वारा नीरस इतिवृत्तात्मक अंशों को भी अधिक आकर्षक बना देता है। वह कथा-वस्तु के उपयुक्त स्थलों को चुन कर उनका ऐसा मार्मिक तथा भाव-पूर्ण वर्णन प्रस्तुत करता है, जिसमें पाठक की मनोवृत्ति रम सके।

६—मार्मिक प्रसंगों की सृष्टि

महाकाव्य में मार्मिक प्रसंगों को समुचित स्थान मिलना चाहिए। महाकाव्यकार जीवन के मार्मिक प्रसंगों का पारखी होता है। वह अपनी कथावस्तु के मर्मस्पर्शी अंशों को चुन कर उनका मनोरम चित्र प्रस्तुत करता हुआ पाठकों के हृदय को मुग्ध करने में समर्थ होता है। इतिवृत्त-मात्र के निर्वाह से महाकाव्य सफल नहीं हो सकता। उसकी विविध घटनाओं के अन्दर ऐसी मर्मस्पर्शी परिस्थितियों का रसात्मक चित्रण आवश्यक है, जो मानव-हृदय की रागात्मक प्रवृत्ति को जाग्रत कर सकें।

७—रसात्मकता

भावोद्रेक तथा रसाभिव्यक्ति महाकाव्य का एक प्रमुख तत्त्व है। महाकाव्य में रसात्मकता होनी चाहिए। वैसे तो रस को प्रत्येक वर्ग के काव्य की आत्मा माना गया है फिर भी महाकाव्य में रस का अविरल प्रवाह आवश्यक है। भारतीय आचार्यों ने शृंगार, वीर और शान्त इन रसों में से किसी एक को महाकाव्य में प्रधानता दी है और अन्य रसों का अस्तित्व अंगरूप में स्वीकार किया है। रस-सम्बन्धी इस नियम का पालन आजकल आवश्यक नहीं समझा जाता। उपर्युक्त तीन रसों के अतिरिक्त करुण-जैसे अन्य रसों को भी महाकाव्य में प्राधान्य मिल सकता है। महाकाव्य में विविध भावों और रसों की व्यंजना इस ढंग से होनी चाहिए, जिससे पाठकों के हृदय में निरन्तर रसानुभूति हो सके। दण्डी-जैसे आचार्यों ने भी रसाभावनिरन्तरता को महाकाव्य का आवश्यक तत्व माना है[१]। महाकाव्य में विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा रस की विशद व्यंजना होनी चाहिए। महाकाव्य में अनेक इतिवृत्तात्मक स्थलों का भी अस्तित्व रहता है किन्तु ऐसे स्थल भी उसमें रस की अनुभूति के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करते हैं।

---

१. अलंकृतमसंक्षिप्तम् रसभावनिरन्तरम्।—काव्यादर्श, परि० १, १८.

८–मानव-जीवन की अभिव्यक्ति

महाकाव्य में विविधतापूर्ण मानव-जीवन की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। मानव-जीवन अनेक समस्याओं से परिपूर्ण है। जो महाकाव्य इन समस्याओं को जितनी अधिक मात्रा में आत्मसात् कर सकेगा वह महाकाव्य की कसौटी पर उतना ही खरा उतरेगा। जीवन के विविध अंगों और परिस्थितियों की मार्मिक व्यंजना मानों महाकाव्य की आत्मा है।

९–चिरन्तन सत्य

महाकाव्य में सार्व-भौम मनोभावों को समुचित स्थान मिलना चाहिए। मानव-हृदय सृष्टि के आरम्भ से ही सब देशों मे एक-सा चला आ रहा है। मानव-मन में आशा-निराशा, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि जो भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, उनके स्वाभाविक वर्णन में ही चिरन्तन सत्य निहित रहता है। मानव-मन से सम्बन्धित सत्य प्रकृत सत्य की तरह अस्थायी न होकर शाश्वत और चिरन्तन होता है। एक सफल महाकाव्यकार मानव-जीवन के अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर शाश्वत सत्य की खोज करता है। वह विश्व के समस्त मानवों के हृदयगत शाश्वत मनोवेगों, भावनाओं और अनुभूतियों को व्यक्त करने की क्षमता रखता है। इस दृष्टि से महाकाव्य पर किसी देश-विशेष का ही नहीं, वरन् सारे संसार का अधिकार सम्भव हो सकता है। रामायण, महाभारत, इलियड, ओडिसी जैसे महाकाव्यों में विश्वजनीन चिरन्तन भावराशि की व्यंजना दीख पड़ती है; उनमें विश्व-हृदय का स्पन्दन देखने को मिलता है। इसी चिरन्तन सत्य की प्रतिष्ठा से महाकाव्य अपने समय, देश और जाति तक ही सीमित न होकर आने वाले युगों, अन्य देशों और अन्य जातियों को भी प्रभावित करते हैं। वे चिर-पुराण होने पर भी चिरनूतन बने रहते हैं[1]।

१०–सांस्कृतिक-चेतना

महाकाव्य जातीय भावनाओं और आदर्शों का प्रतिनिधित्व करता है। उसमें कवि की व्यक्तिगत विचारधाराएें जातीय संस्कारों में लीन हो जाती है। एक सफल महाकाव्य देश-विशेष की सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित रहता है। वह राष्ट्रीय भावनाओं, युग-धर्म और जातीय आदर्शों को आत्मसात् कर लेता है। इसीलिए प्रत्येक देश के महाकाव्यों में उस देश का सांस्कृतिक इतिहास भी वर्तमान रहता है।

११–उदात्त भाषा-शैली

महाकाव्य मे भाषा-शैली की गरिमा आवश्यक है। विषय की महानता के साथ-

---

१. सर्वत्र भिन्न-वृत्तान्तैरुपेतं लोक-रंजनम्।
काव्यम् कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलंकृति॥

—दण्डी, काव्यादर्श, परि० १, १९

साथ महाकाव्य में उदात्त भावों का सन्निवेश होता है। इसलिए महान् विषय के प्रतिपादन और उदात्त भावों की उत्कृष्ट व्यंजना के लिए महाकाव्य की भाषा और शिल्प-विधान में भी गरिमा अपेक्षित है। महाकाव्य की भाषा भावानुसारिणी, सशक्त, प्रौढ़ और प्रवाहमयी होनी चाहिए और भावों को अभिव्यक्ति करने की शैली उत्कृष्ट व्यंजना-शक्ति तथा अलंकारों से समृद्ध होनी चाहिए। महाकाव्यकार का भाषा पर पूर्ण अधिकार और भावानुरूप छन्दोयोजना तथा अलंकारों के प्रयोग में अद्‌भुत कौशल आवश्यक है।

१२—सर्ग-रचना तथा छन्दोबद्धता

महाकाव्य एक छन्दोबद्ध प्रकथनात्मक (Narrative) रचना होती है। उसका सर्ग-बद्ध होना कोई आवश्यक नहीं। उसकी कथावस्तु का विभाजन अनेक काण्डों, पर्वों, खंडों, समयों, प्रकाशों या अन्य समुचित शीर्षकों में भी हो सकता है। महाकाव्य में जीवन की विविध परिस्थितियों तथा आधिकारिक कथावस्तु के साथ-साथ अनेक प्रासंगिक कथाओं का समावेश रहता है। इसलिए सम्पूर्ण कथा का अनेक खंडों में विभाजन महाकाव्यकार के लिए आवश्यक हो जाता है। हाँ, महाकाव्य की कथावस्तु के प्रत्येक अंश को 'सर्ग' नाम देना आवश्यक नहीं। आवश्यक तो यही है कि प्रत्येक खंड के प्रतिपाद्य विषय में एकता और पूर्णता होनी चाहिए। छन्दोबद्धता तो महाकाव्य के लिए अनिवार्य है। हाँ, उसमें प्राचीन परम्परागत छन्दों के स्थान पर नवीन स्वच्छन्द छन्दों का भी प्रयोग हो सकता है किन्तु छन्दों का सर्वथा परित्याग करके महाकाव्य का निर्माण सम्भव नहीं।

१३—महान् उद्देश्य

किसी महान् उद्देश्य को लेकर महाकाव्य का निर्माण आवश्यक है। भारतीय आचार्यों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (चतुर्वर्ग) में से किसी एक की प्राप्ति को महाकाव्य का उद्देश्य स्वीकार किया है[1]। महाकाव्य का यह उद्देश्य आज के युग में उसी रूप में नहीं अपनाया जा सकता। फिर भी आत्मा का परिष्कार करते हुए मानव-जीवन का उत्थान ही महाकाव्य का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। महाकाव्यकार की कला केवल कला के लिए न होकर जीवन के लिए होती हैं। महाकाव्य की रचना कवि (व्यक्ति-विशेष) की आत्मतृप्ति के लिए ही नहीं, प्रत्युत समष्टि या सम्पूर्ण जाति के कल्याण के लिए होती है। सत् की असत् पर, न्याय की अन्याय पर, पुण्य की पाप पर विजय दिखाता हुआ महाकाव्यकार लोकमंगल को ही अपना साध्य समझता है।

एक आदर्श महाकाव्य में उपर्युक्त सभी तत्वों का समावेश होना चाहिए, किन्तु भारतीय साहित्य में ही नहीं, विश्व-साहित्य में भी ऐसे महाकाव्यों की संख्या बहुत कम है जो इन सभी तत्वों की कसौटी पर खरे उतर सकें। भारतीय साहित्य में रामायण,

---

१. चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युः तेष्वेकं फलं भवेत्।

—विश्वनाथ, साहित्य-दर्पण, परि० ६, ३१८

महाभारत और रामचरितमानस जैसे महाकाव्य ही इस दृष्टि से सफल कहे जा सकते हैं। इतना होते हुए भी उपर्युक्त तत्वों में से कतिपय के अभाव में भी किसी कृति को महाकाव्यों की परिधि में स्थान दिया जा सकता है, यदि उसमें अन्य आवश्यक तत्वों का निर्वाह हुआ हो। संस्कृत के आचार्यों ने भी महाकाव्य के सभी लक्षणों का निर्वाह प्रत्येक महाकाव्य के लिए आवश्यक नहीं माना है[1]।

महाकाव्य के स्वरूप-विधायक तत्वों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उनको ध्यान में रखकर कतिपय नपे-तुले शब्दों में हम महाकाव्य की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं:—

"महाकाव्य एक ऐसी छन्दोबद्ध प्रकथनात्मक रचना होती है, जिसमें विषय की व्यापकता और नायक की महानता के साथ-साथ कथावस्तु की एकसूत्रता, छलकता हुआ रस-प्रवाह, वर्णन-विशदता, उदात्त भाषा-शैली, जीवन का यथासाध्य सर्वांगीण चित्रण और जातीय भावनाओं तथा संस्कृति की सुन्दर अभिव्यक्ति हो।"

---

१. न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदंगैः काव्यं न दुष्यति।
यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः॥

—दण्डी, काव्यादर्श परि० १, २०

: २ :

संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के महाकाव्य

हिन्दी के महाकाव्यों पर संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के महाकाव्यों का प्रभाव पड़ा है। उनमें से संस्कृत के महाकाव्यों का प्रभाव बहुत अधिक है, अपभ्रंश का उससे कम और प्राकृत का सबसे कम। ऐसी स्थिति में हिन्दी के महाकाव्यों और उनकी परम्परा के सम्यक् अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि इन पूर्ववर्ती भाषाओं के महाकव्यों पर विहंगम दृष्टि डाल ली जाय। इस अध्याय में क्रमशः संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के महाकाव्य लिए जा रहे हैं।

(क) संस्कृत के महाकाव्य

पीछे संकेत किया जा चुका है कि महाकाव्य दो प्रकार के होते हैं—(१) संकलनात्मक और (२) कलात्मक। संस्कृत में ये दोनों प्रकार के महाकाव्य पाये जाते हैं। रामायण तथा महाभारत संकलनात्मक महाकाव्य हैं और बाद के कुमारसंभव तथा रघुवंश आदि कलात्मक। यहाँ दोनों ही प्रकार के महाकाव्य लिए जा रहे हैं।

संस्कृत के प्राचीन महाकाव्यों में रामायण और महाभारत का महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय परम्परा के अनुसार रामायण को आदिकाव्य और इसके रचयिता महर्षि वाल्मीकि को आदि-कवि कहा जाता है। भारतीय विद्वानों ने महाभारत को महाकाव्य न कहकर 'इतिहास' अथवा 'आख्यान' कहा है[१]। पाश्चात्य विद्वान् महाभारत की गणना प्राचीन महाकाव्यों में करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महाभारत में महाकाव्य के तत्व प्रचुर मात्रा में वर्तमान है। इस महाकाव्य में अनेक ऐसे उपाख्यान पाये जाते हैं जिनमें उच्चकोटि का कवित्व वर्तमान है। नल-दमयन्ती, सावित्री-सत्यवान् और शकुन्तला-दुष्यन्त जैसे उपाख्यानों ने केवल भारतीय जनता को ही नहीं, पाश्चात्य विद्वानों को भी प्रभावित किया है। ऐसे उपाख्यानों को पाश्चात्य विद्वानों ने महाकाव्य के अन्दर महाकाव्य (Epic within Epic) स्वीकार किया है।

संस्कृत-साहित्य में रामायण और महाभारत से पहले भी महाकाव्य किसी-न-किसी रूप में प्रचलित रहे होंगे, यह इन महाकाव्यों के विकसित रूप और परिमार्जित

१. आचख्युः कवयः केचित् सम्प्रत्याचक्षतेऽ परे।
आख्यास्यन्ति चैवान्ये इतिहासमिमं भुवि॥

—महाभारत, आदिपर्व, सर्ग १, २६

शैली से ही सिद्ध होता है। फिर भी निश्चित रूप से महाकाव्यों के प्रारम्भिक विकास का ठीक-ठीक पता लगाना बहुत कठिन है। वैसे तो ऋग्वेद के सम्वाद-सूक्तों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के कथानकों में महाकाव्य के बीज पाये जाते हैं, किन्तु इनके आधार पर वैदिक-काल में महाकाव्यों का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। संस्कृत के परवर्ती महाकाव्यों पर रामायण और महाभारत का प्रभाव स्पष्ट है किन्तु इनके पूर्ववर्ती महाकाव्यों का इतिहास अभी तक अन्धकार में लीन है। इतना तो अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि रामायण और महाभारत जैसे विशालकाय महाकाव्य प्रारम्भिक कृतियाँ नहीं हो सकतीं। महाभारत के ही अन्दर अनेक ऐसे प्रमाण मिलते हैं जोकि यह सिद्ध करते हैं कि महाभारत-जैसी रचनाएँ उससे पहले भी वर्तमान थीं।

रामायण

भारतीय महाकाव्य-परम्परा का आरम्भ वाल्मीकि-रामायण से होता है। महाभारत के समान यह अनेक व्यक्तियों की नहीं, एक ही कवि की रचना है। प्रक्षिप्त अंशों की सम्भावना इसमें भी है किन्तु साधारणतया इस रचना में एक ही कवि का कौशल दिखाई देता है। इसके विविध सर्गों की रचना सुसंगठित है और इस की मुख्य-कथा के साथ अन्य घटनाओं का सामंजस्य है। भाषा-शैली में एकरूपता है।

रामायण की मुख्य-कथा के अन्दर कई सुन्दर उपाख्यान गुंथे हुए हैं जिनमें विष्णु के वामनावतार, कुमार की उत्पत्ति, गंगावतरण, समुद्रमन्थन और ययाति तथा नहुष आदि से सम्बन्धित उपाख्यान महत्वपूर्ण हैं।

रामायण का मुख्य विषय मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र के चरित्र का वर्णन है। महर्षि वाल्मीकि ने राम को मनुष्य के रूप में देखा है, देवता के रूप में नहीं। इसीलिए हम राम के जीवन में अपने जीवन का प्रतिबिम्ब देखते हैं। राम के व्यापक जीवन के साथ हम जीवन की सभी दशाओं से परिचय प्राप्त करते हैं। रामायण में प्राचीन पाश्चात्य महाकाव्यों की तरह युद्ध-व्यापार की प्रधानता नहीं है। राम-रावण का युद्ध इसका मुख्य विषय नहीं। वह तो राम के चरित्र को उज्ज्वल रूप देने में सहायक-मात्र है।

भारतीय समाज में गृहस्थाश्रम का महत्वपूर्ण स्थान है। रामायण में इसी गृहस्थ की महत्ता प्रतिपादित की गई है। इसमें पारिवारिक जीवन के उच्च आदर्शों की मनोहर व्याख्या है। आदर्श परिवार केवल व्यक्तिगत सुख की साधना नहीं करता, वह सारे समाज के हित और कल्याण की इच्छा करता है। रामायण में पारिवारिक जीवन का आदर्श रूप वर्तमान है। दशरथ, राम, लक्ष्मण, भरत, कौशल्या, सुमित्रा और सीता आदर्श परिवार का निर्माण करते हैं। उनके सुख-दुःख, हर्ष-शोक, आशा-निराशा और राग-विराग में हम गार्हस्थ्य-जीवन की विविध परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब देखते हैं। राम की कर्तव्य-परायणता, लक्ष्मण और भरत का भ्रातृ-प्रेम तथा सीता का सतीत्व गृह-जीवन को उदात्त रूप प्रदान करने की क्षमता रखते हैं। यदि रामायण का विषय पारिवारिक जीवन न होकर कोई काल्पनिक वीरचरित होता तो इस महाकाव्य के पात्रों के प्रति हमारी

इतनी श्रद्धा न होती, उनके सुख-दुःख हमारे निजी सुख-दुःख न होते।

काव्यकला की दृष्टि से रामायण एक उत्कृष्ट महाकाव्य सिद्ध होता है। कवि ने इस रचना में मानव-प्रकृति का विश्लेषण बहुत अच्छा किया है। उन्होंने अपने पात्रों के चरित्र के विभिन्न परिस्थितियों में सजीव चित्र खींचे हैं। मानव-हृदय की विविध वृत्तियों के अध्ययन में उनकी असाधारण शक्ति लक्षित होती है। राम, लक्ष्मण, भरत, दशरथ, सीता, कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी आदि पात्रों का चरित्र-चित्रण उनके स्वभाव और विविध परिस्थितियों के अनुकूल हुआ है।

रामायण के भावपक्ष और कलापक्ष दोनों में स्वाभाविक सौन्दर्य है। भाषा भावों के अनुकूल है। वाल्मीकि की शैली सरल, अलंकृत और परिष्कृत है। सरल और अतिप्रचलित शब्दों के प्रयोग से उनकी भाषा में स्वाभाविक सौन्दर्य वर्तमान है। अलंकारों का प्रयोग भी स्वाभाविक ढंग से हुआ है। उपमा, स्वभावोक्ति और रूपक आदि अलंकारों की योजना अतिसुन्दर रीति से हुई है। इस महाकाव्य में प्रायः सभी रसों का समुचित परिपाक दिखाई देता है। विविध दृश्यों के वर्णन में कवि की उत्कृष्ट वर्णन-शक्ति का परिचय मिलता है। प्रकृति-वर्णन को इस काव्य में विशेष स्थान मिला है। प्रकृति के अनेक सुन्दर चित्र इस में पाए जाते हैं। कवि की प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्ति अपूर्व है। किष्किन्धा-काण्ड में वर्षा और शरद ऋतु का वर्णन बहुत सुन्दर और सजीव बन पड़ा है। इसी प्रकार वन-प्रदेश, आश्रम, युद्ध और नगर आदि के सजीव, प्रभावशाली वर्णन इस रचना में उपलब्ध होते है। काव्यशैली की जो स्वाभाविक सुन्दरता इस काव्य में पाई जाती है, वह संस्कृत के परवर्ती महाकाव्यों में नहीं मिलती। संस्कृत साहित्य के पश्चात्कालीन महाकाव्यों में उक्तिवैचित्र्य और श्रम-साध्य काव्यकौशल की प्रधानता है। वे स्वाभाविकता, सरलता और सरसता में इस महाकाव्य की समानता नहीं कर सकते हैं।

महाभारत

महाभारत एक विशालकाय महाकाव्य है। भारतीय जनता महर्षि व्यास को इसका रचयिता मानती है। पर यह जिस रूप में आज हमें प्राप्त है, वह एक व्यक्ति की रचना नहीं हो सकती। इसकी रचना अनेक कवियों ने भिन्न-भिन्न समय में की है। समय-समय पर अनेक प्रक्षिप्त अंश इसमें मिलते रहे हैं। इन प्रक्षिप्त अंशों में महाभारत का मौलिक रूप इस प्रकार विलीन हो गया है कि उसे प्रक्षिप्त अंशों से पृथक् करना बहुत कठिन कार्य है। यही कारण है कि अब तक महाभारत का कोई प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत नहीं हो सका है।

कौरव और पाण्डवों के युद्ध का विस्तृत वर्णन इस काव्य का मुख्य विषय है। इसका कथानक अठारह पर्वो में विभाजित है। महाभारत की मुख्य-कथा के साथ अनेक उपाख्यान इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि मुख्य-कथा का प्रवाह स्थान-स्थान पर अवरुद्ध-सा प्रतीत होता है। मुख्य कथा मन्थर गति से आगे बढ़ती है। समय-समय पर पाठक का

ध्यान मुख्य-कथा से हटकर उपाख्यानों की ओर खिंच जाता है। मुख्य-कथा तथा विविध घटनाओं के बीच अन्विति का अभाव-सा दिखाई देता है।

महाभारत के चरित्र हिन्दू-समाज के जीते-जागते व्यक्ति हैं। इसमें एक नहीं, अनेक, नायक-नायिकाएँ हैं। युधिष्ठिर, अर्जुन, कृष्ण, द्रौपदी, कुन्ती, गान्धारी आदि प्रमुख चरित्र स्वतन्त्र नायक और नायिकाओं के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। महाभारत के चरित्र अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ-साथ जातीय आदर्शों और विचारों को भी अभिव्यक्त करते हैं। युधिष्ठिर सत्य, न्याय और धर्म का अवतार है, अर्जुन क्षत्रियोचित वीरता का प्रतीक है, कृष्ण राजनीति कुशल नेता है, द्रौपदी प्रेम, आत्मगौरव और सहिष्णुता की प्रतिमा है। दुर्योधन के चरित्र में पाप, हिंसा और अत्याचार की पराकाष्ठा है। महाभारत के पात्रों का चारित्रिक विकास स्वाभाविक ढंग से हुआ है। उनमें स्वाभाविक वीरता, साहस और धैर्य है, उन्होंने जीवन की कठिन परिस्थितियों के बीच अपने लिये स्वयं मार्ग बनाया है। उनमें सजीवता और मौलिकता है। वे जातीय आदर्शों की छाप को लिए हुए हिन्दू-जाति के सच्चे प्रतिनिधि बन कर हमारे सामने आते हैं।

महाभारत अपने युग की समुन्नत सभ्यता और संस्कृति का आधार-स्तम्भ है। इस महाकाव्य में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों के सजीव चित्र अंकित हैं। इसमें समाज की विविध परिस्थितियों और जीवन की विविध समस्याओं की व्याख्या है। जीवन की जितनी भव्य और सर्वांगीण अभिव्यक्ति इस रचना में हुई है, उतनी अन्य किसी महाकाव्य में दुर्लभ है। इसकी रचना एक व्यक्ति या वर्ग के लिए नहीं, सारी जाति और सारे देश के लिए हुई है। यह सारी जाति के विचारों और अनुभवों का भण्डार है। भारतीय नर-नारी महाभारत में अपने ही जीवन का प्रतिबिम्ब देखते हैं और उसके आदर्श चरित्रों के अनुकरणीय जीवन से प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

महाभारत का विषय व्यापकता और विविधता को लिए हुए है। इसमें राजनीति धर्म-शास्त्र, इतिहास, दर्शन-शास्त्र, विज्ञान आदि से सम्बन्ध रखने वाले विविध विषयों की व्याख्या है। यह एक महाकाव्य ही नहीं, विविध विषयों का विश्वकोष भी है। इसी लिए इसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है:—

"यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्[1] ।"

रामायण और महाभारत इन दोनों महाकाव्यों का हमारे जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। राम और युधिष्ठिर, सीता और द्रौपदी आदि पात्र भारतीय जनता के लिए आदर्श अनुकरणीय चरित्र हैं। हमारे जीवन पर ही नहीं, हमारे सारे साहित्य पर इन दोनों महाकाव्यों की छाप है। रामायण और महाभारत के अनन्तर इनके समकक्ष विशालकाय महाकाव्यों की रचना संस्कृत में नहीं हो सकी। ये दोनों महाकाव्य हमारे साहित्य के प्रेरणा-स्रोत बने रहे हैं। अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष

---

१. महाभारत, आदि-पर्व, सर्ग ६२, २६

आदि संस्कृत के परवर्ती महाकाव्यकारों की अधिकांश कृतियों का आधार ये दोनों महाकाव्य हैं।

बुद्धचरित

आदि-कवि महर्षि वाल्मीकि के पश्चात् संस्कृत के महाकाव्यों में कलात्मकता अधिक आती गई और स्वाभाविकता का धीरे-धीरे ह्रास होता गया। कालिदास के महाकाव्यों तक तो स्वाभाविकता और कलात्मकता दोनों विशेषताओं को समान रूप से संस्कृत के महाकाव्यों में स्थान मिलता रहा, परन्तु कालिदास के परवर्ती महाकाव्यों में कलात्मकता को ही प्रधानता मिलने लगी और स्वाभाविकता क्रमशः कम होती गई। कालिदास के काव्यों में महाकाव्य-शैली का चरम विकास दिखाई देता है। इस चरम सीमा तक पहुँचने से पहले अनेक कवियों ने इस शैली को विकसित करने में सहयोग दिया होगा, यह तो निश्चित ही है। पर अभी तक कालिदास के पूर्ववर्ती महाकाव्यकारों का इतिहास प्रायः अज्ञात ही है। उनमें से केवल अश्वघोष ही एक ऐसे कवि हैं जिनके दो सुन्दर महाकाव्य—बुद्धचरित और सौन्दरनन्द—आज हमें उपलब्ध होते हैं।

अश्वघोष का बुद्धचरित एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। बुद्धचरित का जो संस्करण आजकल उपलब्ध होता है, उसमें तेरह सर्ग और चौदहवें सर्ग के चार पद्य पाए जाते हैं। चीनी और तिब्बती भाषा में सुरक्षित इसके अनुवादों के आधार पर इसके सर्गों की संख्या २८ मानी जाती है। इसमें महात्मा बुद्ध के जन्म से लेकर निर्वाण-प्राप्ति तक की कथा है, पर संस्कृत में इस काव्य का जो रूप वर्तमान है, उसमें बुद्ध के मार-विजय और ज्ञान-प्राप्ति तक की कथा है।

बुद्धचरित में महाकाव्य-सम्बन्धी सारी विशेषताएँ वर्तमान हैं, कथानक का विकास स्वाभाविक ढंग से हुआ है। नायक के चरित्र-चित्रण में कवि ने पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। इस काव्य में शान्त रस की प्रधानता है, शृंगार और वीर उसके अंग बन गये हैं। कवि ने विविध दृश्यों के सजीव और प्रभावोत्पादक चित्र खींचे हैं। राजकुमार सर्वार्थसिद्ध की नगर-यात्रा, सुन्दर युवतियों की कामक्रीड़ा और काम के साथ राजकुमार के युद्ध का वर्णन बहुत ही हृदय-ग्राही है। यद्यपि सारे काव्य में बुद्ध के वैराग्य को प्रधानता मिली है, फिर भी संसार के मनोहर चित्रों की इसमें कमी नहीं है।

सौन्दरनन्द

अश्वघोष का दूसरा महाकाव्य सौन्दरनन्द है। बुद्धचरित की अपेक्षा सौन्दरनन्द में कवित्व-शक्ति का अधिक निखरा हुआ और परिपक्व रूप वर्तमान है। इसकी भाषा-शैली अधिक प्रौढ़ और परिमार्जित है। इसलिए यह स्वीकार किया जाता है कि यह बुद्धचरित के बाद की रचना है।

सौन्दरनन्द का मुख्य विषय बुद्ध के उपदेश से उसके सौतेले भाई नन्द का संन्यास-ग्रहण है। नन्द अपनी स्त्री सुन्दरी से प्रेम करता हुआ सांसारिक सुखोपभोग से विरक्त

नहीं होना चाहता, किन्तु अन्त में बुद्ध की प्रेरणा से सुन्दरी का प्रेम छोड़कर वह वैराग्य को अपना लेता है। इसकी सम्पूर्ण कथा अठारह सर्गों में विभक्त है।

महाकाव्य की दृष्टि से सौन्दरनन्द भी एक उच्चकोटि की रचना सिद्ध होती है। इसमें भी शान्त रस प्रधान है। नन्द के चरित्र के विकास में कवि ने अच्छा कौशल दिखाया है। उसके हृदय में दो विरोधी भावनाओं का संघर्ष बहुत मार्मिक शब्दों में व्यक्त हुआ है। बुद्ध उसे वैराग्य की ओर खींचता है और सुन्दरी का प्रेम उसे सांसारिक सुखों की ओर ले जाता है। नन्द के चरित्र में यहाँ अन्तर्द्वन्द्व इन शब्दों में व्यक्त हुआ है :—

"तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः[1] ॥"

सुन्दरी के साथ उसका अगाध प्रेम है, किन्तु यह प्रेम वासनाजन्य है, इसमें चंचलता है, अस्थिरता है। अप्सराओं को देख कर वह सुन्दरी को भूल जाता है।

नन्द के बौद्ध-धर्म-ग्रहण की साधारण कथा को कवि ने अपनी अद्भुत सृजन-शक्ति द्वारा महाकाव्य के लिए उपयुक्त विषय बनाया है। इस काव्य में कथा का निर्वाह अच्छा हुआ है, कथानक में अन्विति और वेग है।

अश्वघोष की काव्य-शैली नैसर्गिक सौन्दर्य और सुकुमारता को लिए हुए है। भाषा में सरलता है, प्रवाह है और भावों को व्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है। कवि ने वैदर्भी रीति को अपनाया है, उसमें दीर्घ, समस्त-पदों और अप्रचलित दुरूह शब्दों और क्लिष्ट कल्पना का अभाव है। भाषा प्रसादगुण से युक्त है।

अश्वघोष के काव्यों में स्वभाव-सुन्दर अलंकारों की छटा देखने को मिलती है। कविता कहीं भी अनावश्यक अलंकारों से लदी हुई नहीं दिखाई देती। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार नैसर्गिकता को लिए हुए हैं। उनकी उपमाएँ उपयुक्त और मनोहर हैं। कहीं-कहीं अनुप्रास-जैसे शब्दालंकारों का प्रयोग भी हुआ है, पर वहाँ भी भावों की रक्षा पूर्णतया हुई है। चमत्कारपूर्ण आश्चर्यजनक घटनाओं के वर्णन में भी कवि ने पाण्डित्य-प्रदर्शन की चेष्टा न करके संयम से काम लिया है।

बुद्धचरित और सौन्दरनन्द के अध्ययन से पता चलता है कि अश्वघोष के समय तक महाकाव्य के वर्णनीय विषयों और सिद्धान्तों की परम्परा निश्चित हो चुकी थी और कवि ने उन सबका अन्तर्भाव अपने काव्यों में किया है।

कुमारसंभव

संस्कृत साहित्य के पाँच प्रसिद्ध महाकाव्यों में कालिदास के कुमारसंभव की गणना की जाती है[2]। कालिदास के रघुवंश को इन महाकाव्यों में सर्वोच्च स्थान मिला

---

१. सौन्दरनन्द, सर्ग ४, ४२

२. वे पाँच महाकाव्य—कुमारसंभव, रघुवंश, किरातार्जुनीय, शिशुपाल-वध और नैषधीयचरित हैं।

है। कुमारसंभव कालिदास की रघुवंश से पहले की रचना मानी जाती है। रघुवंश-जैसा काव्य-कौशल इसमें भले ही न हो, महाकाव्य सम्बन्धी अनेक विशेषताएँ इस रचना में वर्तमान हैं और इसीलिए संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों में इसका महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है।

कुमारसंभव में सत्रह सर्ग पाये जाते हैं। इसके प्रथम आठ सर्गों की प्रामाणिकता तो निश्चित ही है, परन्तु अन्तिम नौ सर्गों को भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वान् कालिदास की रचना नहीं मानते। प्रथम आठ सर्गों में काव्य-कला का जो उत्कृष्ट रूप उपलब्ध होता है, वह अन्तिम नौ सर्गों में नहीं दिखाई देता। इस महाकाव्य के 'कुमारसंभव' नाम से यह सिद्ध होता है कि इसका मुख्य विषय कुमार की उत्पत्ति है, पर पहले आठ सर्गों तक ऐसा नहीं दिखाई देता। इसलिए कालिदास की यह रचना अधूरी ही जान पड़ती है। कालिदास के इस काव्य को अधूरा ही रख छोड़ने का कारण अभी तक अज्ञात है।

कुमारसंभव की रचना काव्य-शास्त्र में प्रतिपादित महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार हुई है। जहाँ तक प्रथम आठ सर्गों का सम्बन्ध है, उनमें कथावस्तु का सुसंगठित रूप वर्तमान है। इन सर्गों में शिव और पार्वती नायक-नायिका के रूप में हमारे सामने आते हैं, जबकि उनका पुत्र कुमार इस काव्य का नायक होना चाहिए था। सर्ग-रचना, छन्दों का प्रयोग, प्रकृति-वर्णन आदि महाकाव्य की निश्चित शैली के अनुसार हैं। रघुवंश के समान कवि की महाकाव्य-शैली का सर्वांगीण विकास और परिपक्व रूप इस काव्य में नहीं दीख पड़ता। प्रथम आठ सर्गों को काव्य के प्रतिपाद्य विषय की भूमिका-मात्र कहा जा सकता है।

इस काव्य में भारतीय गृहस्थ जीवन में पति-पत्नी के आदर्श प्रेम की मनोहर व्याख्या हुई है। जो प्रेम केवल बाह्य सौन्दर्य पर आश्रित है, जो तपोवन में तपस्या करते हुए यतियों की समाधि में बाधा पहुँचा सकता है, उससे भारतीय गृहस्थ की शोभा नहीं बढ़ती; उससे समाज का कल्याण नहीं हो सकता। दूसरी ओर जो प्रेम त्याग, तपस्या, साधना आदि आन्तरिक गुणों का आश्रय लिए रहता है, जो समाज की मर्यादा का ध्यान रख कर समाज का कल्याण चाहता है, वही सच्चा और स्थायी प्रेम है। कालिदास ने कुमारसंभव में वासना-जन्य कलुषित प्रेम को साधना-निष्ठ उज्ज्वल प्रेम में परिणत किया है। पहले पार्वती काम की सहायता से अपना अपूर्व सौन्दर्य प्रदर्शित करती हुई शिव को वश में करने का प्रयत्न करती है, किन्तु उसका यह प्रयत्न सफल नहीं होता। कामदेव शिव की क्रोधाग्नि में भस्म हो जाता है और पार्वती निराश होकर अपने रूप की निन्दा करती हुई घर लौट आती है। इस वासना-जन्य प्रेम की असफलता का चित्रण करते हुए आगे चल कर इस कलुषित प्रेम को कवि ने तपस्या और साधना की अग्नि में शुद्ध करके पवित्र, उज्ज्वल और मंगलमय रूप प्रदान किया है। जहाँ तृतीय सर्ग में पार्वती वसन्त-पुष्पों के आभरणों से सुसज्जित, सुन्दर नवयुवती के रूप में शिव के हृदय में स्थान न पा सकी, वहाँ पंचम सर्ग में तपःकृश शरीर को लिए हुए भी वह योगिराज महादेव को अपने वश में कर लेती

हैं[1]। इस प्रकार कुमारसंभव में कालिदास ने प्रेम का वह शान्त और संयत रूप दिखाया है जिस पर भारतीय गृहस्थ जीवन का गौरव अवलम्बित है।

प्रथम सर्ग में कवि की प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। इसमें हिमालय का बहुत स्वाभाविक और सजीव चित्र अंकित हुआ है। हिमालय की सुन्दर प्राकृतिक शोभा, उसके हिमाच्छादित शिखरों, उस पर बहने वाली सुगन्धित, शीतल, पवन, वहाँ विचरते हुए मृगों, रात्रि को प्रकाश देने वाली ओषधियों गंगातट तथा शान्तिमय आश्रम-जीवन का चित्रण बहुत ही कलात्मक और प्रभावशाली है। हिमालय के वर्णन के अतिरिक्त वसन्त-शोभा-सम्पन्न महादेव के आश्रम का वर्णन, रतिविलाप और पार्वती की तपस्या का वर्णन कुमारसंभव में कवि की उत्कृष्ट वर्णन-शक्ति का परिचय देते हैं। काव्यगत विविध वर्णन कथावस्तु के प्रवाह को आगे बढ़ाने की क्षमता रखते हैं।

कुमारसंभव में शिव और पार्वती के चरित्र पर कवि ने अच्छा प्रकाश डाला है। शिव के चरित्र में कठोरता और कोमलता, अनुराग और विराग का अद्भुत संम्मिश्रण दिखाया गया है। शिव का चरित्र प्रारम्भ में अलौकिक होकर भी अन्त में मानवीय हो गया है। पार्वती के चरित्र का विकास स्वाभाविक ढंग से हुआ है। उसमें जहाँ साधारण, स्त्री-स्वभाव-सुलभ चंचलता है, वहाँ संयम और गम्भीरता भी है। कवि ने उसके चरित्र के स्वाभाविक विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उपस्थित कीं हैं। प्रारम्भ से लेकर पार्वती को सखियों के साथ रख कर उसके चरित्र के स्वाभाविक विकास के लिए उपयुक्त वातावरण की सृष्टि की गई है। बाल्यावस्था में पिता के घर पर, महादेव के आश्रम में और उस तपोवन में, जहाँ वह कठिन तपस्या में प्रवृत्त होती है, सर्वत्र सखियाँ उसके साथ दिखाई देती हैं[2]। पार्वती के हृदय में सच्चा प्रेम है, उसमें त्याग की भावना है, लज्जा, धैर्य, और संयम है।

रघुवंश

कुमारसंभव के पश्चात् कालिदास ने रघुवंश की रचना की। संस्कृत के कलात्मक महाकाव्यों में रघुवंश का स्थान सबसे ऊँचा है। उन में सबसे अधिक लोक-प्रियता इसी को प्राप्त हुई है। संस्कृत-साहित्य में प्रवेश करने के इच्छुक साधारण विद्यार्थी से लेकर धुरन्धर विद्वानों तक सब के हृदय में इस ग्रन्थ का आदर है।

रघुवंश में रघुवंशी राजाओं की जीवन-कथा १९ सर्गों में वर्णित है। इस की

---

१. अद्यप्रभृत्यवनतांगि तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।—सर्ग ५, ८५.

२. देखिए—रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनाम्०,—सर्ग १, २९; तस्याःसखीभ्याम०,—सर्ग ३, ६१; सख्योः समक्ष०,—सर्ग ३, ७५; सखी तदीया तमुवाच०,—सर्ग ५,५२; निवार्यतामालि०,—सर्ग ५, ८३; कदाचिदासन्नसखीमुखेन सा०,—सर्ग ५, ६

की मुख्य कथा का आधार वाल्मीकि-रामायण है, किन्तु साथ ही कवि ने अन्य पुराणों से भी अपने काव्य की सामग्री एकत्रित की है। इसमें रघुवंशी अनेक राजाओं का वर्णन होने पर भी प्रधानता राम के चरित्र को ही दी गई है। राम ही इसके नायक हैं। आरम्भ में शिव-पार्वती की वन्दना के रूप में मंगलाचरण है। इसका नामकरण इसमें प्रतिपादित विषय के अनुसार हुआ है। इसमें वीर रस प्रधान है, शृंगार, करुण, शान्त आदि अन्य रस उसके सहायक हैं। इसके सर्गों की संख्या आठ से अधिक उन्नीस है। प्रत्येक सर्ग का नामकरण उसमें वर्णित मुख्य विषय के आधार पर किया गया है। महाकाव्य के निश्चित लक्षणों के अनुसार ही इसमें संयोग, वियोग, युद्ध, विवाह, नगर, ऋतु, दिग्विजय आदि का वर्णन है। छन्दों का प्रयोग भी महाकाव्य-विषयक नियमों के अनुकूल ही हुआ है।

रघुवंश में कालिदास ने वर्णाश्रम-धर्म-सम्मत भारतीय जीवन का सजीव चित्र खींचा है। भारतीय जीवन में त्याग, तपस्या, आत्म-संयम, दया, उदारता, सहिष्णुता, धैर्य, नम्रता आदि गुणों की प्रधानता है। दिलीप, रघु, अज, दशरथ और राम के चरित्र में इन गुणों की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। इनके चरित्र में भोग और वैराग्य, ऐश्वर्य और त्याग, वीरता और नम्रता का अद्‌भुत समन्वय पाया जाता है। राजवंशीय होने पर भी ये साधारण जीवन की विविध परिस्थितियों में घूमते हुए दीख पड़ते हैं।

कालिदास ने स्व-स्व-धर्मनिरत चारों वर्णों से सुसंगठित भारतीय समाज की प्रतिष्ठा रघुवंश में की है और जीवन में चारों आश्रमों की उपयोगिता तथा महत्ता दिखाई है। रघुवंशी राजाओं के जीवन के विषय में उन्होंने कहा है:—

"शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्[1] ॥"

वे बाल्यावस्था में विद्याभ्यास करते थे, युवावस्था में विषयोपभोग को अपनाते थे और वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति धारण कर अन्त में योग द्वारा शरीर त्याग करते थे।

आदर्श भारतीय जीवन इसी प्रकार का होता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों फलों की प्राप्ति भारतीय जीवन का लक्ष्य रहा है और यही बात रघुवंशी राजाओं के चरित्र में पाई जाती है। जन्मान्तरवाद में भारतीय जनता की अटूट श्रद्धा है। रघुवंश के पात्र भी जन्मान्तर में आस्था रखते हैं। इन्दुमती की मृत्यु पर अज स्वयं भी शरीर त्याग कर दूसरे जन्म में पुनः इन्दुमती को प्राप्त करना चाहता है। राम के स्वर्गारोहण पर सीता भी उनकी अनुगामिनी होना चाहती है। वास्तव में रघुवंश में भारतीय जीवन के विविध अंगों पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला गया है।

रघुवंश का विषय बहुत विशाल और व्यापक है। इस विषय के लिए कालिदास महर्षि वाल्मीकि के ऋणी हैं। परन्तु कई स्थलों पर उन्होंने इस परम्परागत विषय में

---

१. रघुवंश, सर्ग १, ८

मौलिकता की सृष्टि की है। अपने अद्भुत कौशल से उन्होंने असम्बद्ध कथानक-समूह को सुसंगठित, कलात्मक रूप देकर इस महाकाव्य में स्थान दिया है। रघुवंश में परम्परागत विषय को नवीन चित्रों की योजना द्वारा उज्ज्वल रूप दिया गया है। कथावस्तु के संगठन में कवि ने अपूर्व निपुणता प्रदर्शित की है। विविध वर्णनों के बीच भी कथा का प्रवाह स्वाभाविक वेग को लिए हुए है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में कवि ने मानव-स्वभाव के सूक्ष्म अध्ययन का परिचय दिया है। विविध परिस्थितियों में पात्रों की मनोदशाओं और व्यक्तिगत विशेषताओं की अभिव्यक्ति बहुत अच्छे ढंग से हुई है। रघुवंश के पात्रों का जीवन विविध परिस्थितियों में गुजरता हुआ उत्कर्ष को प्राप्त हुआ है। इन्दुमती के साथ विवाह के पश्चात् सुखोपभोग में निरत राजा अज इन्दुमती की आकस्मिक मृत्यु से शोक-विह्वल दिखाई देता है। सीता के पाणिग्रहण के पश्चात् राज्याभिषेक की तैयारी होने पर भी राम अचानक वन को प्रस्थान करते हुए दीख पड़ते हैं। लंका से लौटने पर राम के साथ सुखमय जीवन का स्वप्न देखती हुई सीता अचानक वन में निस्सहाय छोड़ दी जाती है। वास्तव में रघुवंश के पात्रों के चरित्र में विरोधी परिस्थितियों की सुन्दर योजना हुई है।

कुमारसंभव में कालिदास की काव्यकला का अधिक विकसित, निखरा हुआ रूप नहीं पाया जाता किन्तु रघुवंश में उनकी कला चरम विकास को लिए हुए है। इसकी भाषा परिमार्जित, प्रौढ़, प्रांजल और विषय के अनुकूल है। भावों की अभिव्यक्ति में स्वाभाविकता है। इसमें क्लिष्ट-कल्पना का अभाव है। विविध वर्णनों में भावमयता और सजीवता है। कवि ने वैदर्भी रीति और प्रसाद गुण को अपनाया है। छन्दों की विविधता रघुवंश के कथानक को मनोरम रूप प्रदान करने में समर्थ है। छन्दों का प्रयोग प्रसंगों के अनुसार हुआ है। विविध छन्दों में इन्द्रवज्रा छन्द को रघुवंश में प्रमुख स्थान मिला है।

इस प्रकार रघुवंश महाकाव्य-सम्बन्धी सारी विशेषताओं को लिए हुए है। इसमें आदि से लेकर अन्त तक कवि का अद्भुत कौशल दिखाई देता है। रामायण और महाभारत जैसे प्राचीन महाकाव्यों की-सी सरलता और पश्चात्कालीन महाकाव्यों की कलात्मकता का सुन्दर समन्वय इसमें वर्तमान हैं। वास्तव में रघुवंश के पश्चात् संस्कृत की महाकाव्य-परम्परा अवनति की ओर अग्रसर होती दिखाई देती है।

किरातार्जुनीय

कालिदास के रघुवंश के पश्चात् संस्कृत की महाकाव्य-परम्परा में भारवि के किरातार्जुनीय का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। कालिदास के महाकाव्यों तक महाकाव्य-शैली का चरम विकास हो चुका था, अब उसका ह्रास अवश्यम्भावी था। धीरे-धीरे महाकाव्यों में स्वाभाविकता का स्थान कृत्रिमता ने, सरलता का स्थान दुरूहता ने और कवित्व का स्थान पाण्डित्य-प्रदर्शन ने ले लिया। भारवि के किरातार्जुनीय में उसके

पूर्ववर्ती कवियों की स्वाभाविकता के साथ-साथ परवर्ती कवियों की कृत्रिम शैली भी पूर्णरूप में अभिव्यक्त हुई है।

भारवि के किरातार्जुनीय का कथानक महाभारत के वनपर्व से लिया गया है। इसमें अठारह सर्ग हैं। महाभारत में जो कथानक बहुत साधारण रूप में वर्तमान है, किरातार्जुनीय में भारवि ने उसमें यत्र-तत्र सुधार करके नवीनता लाने का प्रयत्न किया है। प्रथम सर्ग में युधिष्ठिर के गुप्तचर का प्रवेश कवि की अपनी कल्पना है। द्वितीय सर्ग में भीम ओजस्विनी भाषा में द्रौपदी का समर्थन करता हुआ युधिष्ठिर को युद्ध के लिए प्रेरित करता है। यहाँ भी भीम की वाक्पटुता में कवि ने मौलिक रचना-शक्ति का परिचय दिया है। चतुर्थ सर्ग से लेकर ग्यारहवें सर्ग तक विविध प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में भी कवि ने अपनी स्वतन्त्र कल्पना-शक्ति से काम लिया है। काव्य के अन्त में स्कन्द के सेनापतित्व में शिव की सेना के साथ अर्जुन के युद्ध का वर्णन भी कवि की निजी उद्भावना है। इस प्रकार नवीन उद्भावनाओं द्वारा कवि ने प्राचीन कथानक को सुन्दर काव्योचित रूप प्रदान किया है।

भारतीय विद्वानों की सम्मति में किरातार्जुनीय में अर्थगौरव की प्रधानता है[1]। इस अर्थ-गौरव के होते हुए भी किरातार्जुनीय में क्लिष्टता नहीं आने पाई है। भारवि की शैली गम्भीरता और ओजस्विता को लिए हुए है। उसकी भाषा में दीर्घ, समस्त पदों का अभाव है। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन तथा अप्सराओं के सुन्दर चित्र खींचने में कवि ने अपनी उत्कृष्ट वर्णन-शक्ति तथा कल्पना-कुशलता का परिचय दिया है। इस रचना में शुद्ध व्याकरण-सम्मत भाषा के प्रयोग में कवि का असाधारण व्याकरण-ज्ञान प्रस्फुटित हुआ है। भारवि कवि ही नहीं, उच्चकोटि का वैयाकरण भी है। पाणिनि के व्याकरण-सम्बन्धी नियमों का पालन सर्वत्र किया गया है। व्याकरण-ज्ञान में वह संभवतः अपने पूर्ववर्ती कालिदास और परवर्ती माघ से भी आगे बढ़ गया है।

किरातार्जुनीय में वीररस की प्रधानता है। शृंगार, शान्त आदि अन्य रस उस में गौण हैं। प्रायः सभी रसों का चित्रण यहाँ अच्छा हुआ है। कतिपय स्थलों को छोड़कर प्रायः सर्वत्र अलंकार भावाभिव्यक्ति में सहायक प्रतीत होते हैं। भारवि के अनेक पद्यों में सरल भाव-व्यंजना और स्वाभाविकता पाई जाती है। इसीलिए उसकी कई उक्तियों ने संस्कृत-समाज में लोकोक्तियों का रूप धारण कर लिया है। कुछ उदाहरण देखिए:—

'नहि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः[2]।'
'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः[3]।'

---

१. उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

२. किरातार्जुनीय, सर्ग १, २

३. किरातार्जुनीय, सर्ग १, ४

'व्रजन्ति ते मूढ़धियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः[1] ।'
'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः[2] ॥'

किरातार्जुनीय में चरित्र-चित्रण बहुत अच्छा हुआ है। विशेषकर द्रौपदी, भीम और अर्जुन के चरित्र में उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं की अभिव्यक्ति अच्छे ढंग से हुई है। महाभारत में द्रौपदी एक सती, साध्वी, सहनशीला नारी के रूप में हमारे सामने आती है, किन्तु किरातार्जुनीय में उसका चरित्र आत्माभिमान, वीरता और प्रतिहिंसा की भावना को लिए हुए है। वह अपनी दुर्दशा नहीं देख सकती और युधिष्ठिर को दुर्योधन के साथ शीघ्र ही युद्ध करने के लिए प्रेरित करती है। वह एक सच्ची वीरांगना के रूप में यहाँ चित्रित हुई है। द्रौपदी के चरित्रांकन में भारवि ने अपनी प्रतिभा का अद्भुत कौशल दिखाया है। जब अर्जुन तपस्या करने के लिए विदा होता है, वह ओजस्विनी भाषा में एक सच्ची वीरांगना की भाँति अर्जुन को समयोचित उपदेश देकर सहर्ष विदा करती है। भीम भी महाभारत में एक युद्ध-प्रिय पराक्रमी शूरवीर व्यक्ति के रूप में अंकित हुआ है किन्तु इस कृति में वह वीरता के साथ राजनीति-कुशलता को भी लिए हुए है। वह केवल गदा चलाने में ही सिद्धहस्त नहीं, राजनीति-कुशल वक्ता भी है। अर्जुन के चरित्र में त्याग, शौर्य, संयम, आत्मगौरव, सहिष्णुता, गम्भीरता आदि गुणों का सुन्दर सामंजस्य दिखाया गया है।

महाकाव्य की दृष्टि से किरातार्जुनीय एक उच्चकोटि की रचना सिद्ध होती है। इसकी रचना महाकाव्य की निश्चित प्रणाली के अनुसार हुई है। तत्कालीन महाकाव्य-शैली का उत्कृष्ट रूप इस काव्य में वर्तमान है।

रावण-वध (भट्टिकाव्य)

रावण-वध (भट्टि-काव्य) को भी संस्कृत के महाकाव्यों में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। इसके रचयिता भट्टि कवि माने जाते हैं और उन्हीं के नाम पर यह काव्य 'भट्टि-काव्य' नाम से प्रसिद्ध है।

भट्टि-काव्य का विषय वही प्राचीन राम-कथा है जोकि वाल्मीकि-रामायण में वर्तमान है। यह कथा बाईस सर्गों में विभक्त है। यद्यपि इस काव्य में व्याकरण के नियमों की सोदाहरण व्याख्या करना ही कवि का मुख्य उद्देश्य है, फिर भी मुख्य-कथा में नीरसता नहीं आने पाई है। सारे काव्य में कथा का प्रवाह निरन्तर बहता चला जाता है। व्याकरण-सम्बन्धी पाण्डित्य और कवित्व का सुन्दर समन्वय इस में वर्तमान है। कवि की शैली में लालित्य और सरसता की कमी भले ही हो, उसमें व्याकरण-जैसे शुष्क विषय को रोचक बनाने की पूर्ण क्षमता है। दीर्घ, समस्त पदों और क्लिष्ट भावों को काव्य में बहुत

---

१. किरातार्जुनीय, सर्ग १, ३०
२. किरातार्जुनीय, सर्ग २, ३०

कम स्थान मिला है। अलंकारों के प्रयोग में भी कवि ने अपना काव्यशास्त्र-सम्बन्धी कौशल प्रदर्शित किया है। अलंकारों के उदाहरणों में स्थान-स्थान पर कृत्रिमता आ गई है। शब्दालंकारों के प्रयोग में भावों की व्यंजना को गौण स्थान प्राप्त हुआ है। कई जगह विद्वत्ता ने कवि की अनुभूतियों को दबा दिया है। फिर भी भट्टि-काव्य में कई ऐसे स्थल वर्तमान हैं, जहाँ व्याकरण के असाधारण विद्वान् भट्टि हमें एक उत्कृष्ट कवि के रूप में दिखाई देते हैं। जहाँ-कहीं अवसर मिला है कवि ने अपनी कवित्व-शक्ति का पूर्ण चमत्कार दिखाया है। उदाहरण के लिए भट्टि के इस पद्य में कितनी सरलता और भाव-मयता वर्तमान है :—

"रामोऽपि दाराहरणेन तप्तो वयं हतैर्बन्धुभिरात्मतुल्यैः।
तप्तेन तप्तस्य यथायसो नः सन्धिः परेणास्तु विमुंच सीताम्[1] ॥"

भट्टि-काव्य में श्लोक, इन्द्रवज्रा, पुष्पिताग्रा, मालिनी, वंशस्थ आदि अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ है, किन्तु कवि ने प्रधानता श्लोक छन्द को ही दी है। श्लोक-जैसे छोटे से छन्द के अधिक प्रयोग से कवि ने अपनी शैली को जटिल और दुरूह होने से बचा लिया है। व्याकरण-जैसे गूढ़ विषय को सरल काव्यमयी शैली में सफलता के साथ व्यक्त करना भट्टि का ही कार्य है। व्याकरण तथा अलंकार-शास्त्र के विद्यार्थियों तथा विद्वानों के लिए भट्टि-काव्य एक महत्वपूर्ण रचना है।

शिशुपाल-वध

माघ कवि के शिशुपाल-वध की गणना संस्कृत के तीन बड़े महाकाव्यों (बृहत्त्रयी) में की जाती है। इसके रचयिता माघ को संस्कृत-विद्वन्मंडली में विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। कई विद्वानों ने तो माघ को कालिदास और भारवि से भी ऊँचा स्थान दिया है[2]।

माघ के शिशुपाल-वध में बीस सर्ग हैं। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की समाप्ति पर कृष्ण द्वारा चेदी के राजा शिशुपाल का वध ही काव्य का मुख्य विषय है। भारवि के किरातार्जुनीय की तरह इसका विषय भी महाभारत से लिया गया है। महाभारत में यह कथा बहुत साधारण रूप में वर्णित है, किन्तु माघ ने इस काव्य में अपनी अद्भुत कवि-प्रतिभा और रचना-शक्ति से इस साधारण कथा को मौलिकता प्रदान की है और उसे अधिक हृदयग्राही बनाया है। महाभारत की यह कथा महाकाव्य के विषय के लिए पर्याप्त नहीं थी। कवि ने विविध दृश्यों के मनोरम वर्णनों की योजना से विषय को महाकाव्य के लिए उपयुक्त बनाया है। इस काव्य के प्रायः सभी वर्णनों में मौलिकता है। प्रथम सर्ग में कृष्ण और नारद का सम्वाद और द्वितीय सर्ग में कृष्ण, बलराम और उद्धव का राजनीति-

---

१. भट्टि-काव्य, सर्ग १२, ४०

२. 'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः॥'
'तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्यनोदयः। उदिते तु पुनर्माघे भारवेर्भारवेरिव॥'

विषयक वाद-विवाद कवि की निजी उद्भावनाएँ हैं। माघ ने इस रचना के अन्तिम भाग में भी पर्याप्त मौलिकता प्रदर्शित की है। महाभारत में राजसूय यज्ञ में कृष्ण को अर्घ्य दिए जाने पर शिशुपाल कुपित होकर युद्ध के लिए तैयार हो जाता है, किन्तु यहाँ दूतों द्वारा शिशुपाल और पाण्डवों के बीच समझौते का प्रयत्न किया जाता है और जब शिशुपाल समझौते की एक भी बात नहीं मानता तब कृष्ण और शिशुपाल का युद्ध होता है। सन्धि-वार्ता की आयोजना भी यहाँ कवि की अपनी कल्पना है। अन्त में कृष्ण और शिशुपाल के युद्ध के विस्तृत वर्णन में भी कवि-प्रतिभा की मौलिकता लक्षित होती है।

दण्डी के काव्यादर्श और विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में दिए गए महाकाव्य के लक्षणों की चरितार्थता इस काव्य में पूर्ण रूप से पाई जाती है। इसका कथानक इतिहास-प्रसिद्ध है। कृष्ण इसका नायक है, जिसे हम धीरोदात्त नायक कह सकते हैं। वीररस की इसमें प्रधानता है। कथा बीस सर्गों में विभक्त है। प्रायः प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है और सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन होता है। चतुर्थ सर्ग में छन्दों की विविधता है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में भावी कथा की सूचना पाई जाती है। द्वारका, रैवतक, पर्वत, ऋतुओं, जलकेलि, सूर्योदय, युद्ध आदि के वर्णनों की इस काव्य में प्रचुरता है।

संस्कृत के पंडितों ने शिशुपालवध में उपमा, अर्थ-गौरव और पदलालित्य इन तीनों गुणों का सामंजस्य स्वीकार किया है और इन तीनों गुणों के आधार पर माघ को भारवि तथा कालिदास से भी ऊपर उठाने की चेष्टा की है[1]। शिशुपालवध के पद्यों में यत्र-तत्र सुन्दर उपमाएँ मिल सकती हैं, कतिपय पद्यों में अर्थ-गौरव और पदलालित्य भी मिल सकता है; किन्तु इन गुणों की उसमें प्रधानता नहीं है।

माघ के शिशुपाल-वध में पाण्डित्य और कवित्व का अद्भुत समवन्य दिखाई देता है। भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार लक्षित होता है। व्याकरण-सम्मत शब्दावली के प्रयोग में वे निपुण हैं। व्याकरण के अतिरिक्त काव्यशास्त्र, राजनीति, दर्शन, उपनिषद, पुराण, स्मृति आदि विविध विषयों से उनका प्रगाढ़ परिचय प्रतीत होता है। उनके काव्य में उक्ति-वैचित्र्य, अलंकार-सौन्दर्य और कल्पनाओं का अद्भुत चमत्कार वर्तमान है। द्वितीय सर्ग में कृष्ण, बलराम और उद्धव की राजनीति-विषयक उक्ति-प्रत्युक्तियों में तर्कपूर्ण शैली की अभिव्यंजना हुई है। काव्य का कथानक साधारणतया सुसंगठित है, किन्तु विविध वर्णनों के बीच वह धीरे-धीरे अग्रसर होता दीख पड़ता है। वास्तव में माघ उन कवियों में से हैं, जो कथानक की उपेक्षा कर सकते हैं किन्तु विशेष प्रसंगों के वर्णन की इच्छा को रोक नहीं सकते। वर्णनों की विविधता तथा प्रचुरता कथानक के विकास की दृष्टि से दोष-पूर्ण भले ही हो, उनमें कवि-प्रतिभा का अद्भुत कौशल वर्तमान है।

साधारणतया शिशुपाल-वध में पाण्डित्य-प्रकाशन की चेष्टा अनेक स्थलों पर की

---

१. उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

गई है। उपमा, रूपक, श्लेष और अनुप्रास का चमत्कार स्थान-स्थान पर दिखाई देता है। कहीं-कहीं भावों में दुरूहता भी आ गई है। इतना होते हुए भी ऐसे पद्यों की शिशुपाल-वध में कमी नहीं है, जिनमें स्वाभाविकता, मधुरता और सौन्दर्य की मात्रा पर्याप्त है। कथावस्तु के समुचित विकास और चरित्रचित्रण की स्वाभाविकता की ओर कवि का ध्यान कम गया है, किन्तु परिपुष्ट और परिमार्जित काव्य-शैली का विकास शिशुपाल-वध में सर्वत्र दिखाई देता है।

जानकी-हरण

/ संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा में जानकीहरण का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इसके रचयिता सिंहल के बौद्ध कवि कुमारदास माने जाते हैं। जानकी-हरण का अक्षरशः अनुवाद सिंहलभाषा में पाया जाता है। दक्षिण भारत में इस काव्य की कतिपय हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई है। जिनके आधार पर जानकीहरण काव्य वर्तमान रूप में हमारे सामने आता है। इसके रचयिता कवि कुमारदास ने भारत में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त की थी और उनकी गणना कालिदास, भारवि और माघ की श्रेणी में की जाती थी। कालिदास के रघुवंश का जानकीहरण पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। कुमारदास की काव्य-कला के सौन्दर्य से प्रभावित होकर ही भारतीय पण्डितों ने उन्हें कालिदास का समकक्ष कवि स्वीकार किया है। कुमारदास के विषय में राजशेखर की यह उक्ति प्रसिद्ध है:—

"जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति ।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः ।।"

रघुवंश की उपस्थिति में जानकीहरण की रचना का साहस कवि कुमारदास ही कर सकते थे। जानकीहरण के कई पद्य पश्चात्कालीन सुभाषित-संग्रहों तथा अलंकार-ग्रन्थों में उद्धृत किए गए हैं। इससे जानकीहरण की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है।

जानकीहरण की कथावस्तु २५ सर्गों में विभक्त है। इसका मुख्य आधार वाल्मीकि रामायण ही है। कालिदास के रघुवंश की रचना भी इसी कथा को लेकर हुई हैं। परम्परा-प्राप्त प्राचीन कथा को लेकर भी कवि ने इस रचना में स्थान-स्थान पर अपनी मौलिक कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है।

जानकीहरण में कुमारदास एक उच्चकोटि के कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। इस के विषय तथा शैली पर वाल्मीकि और कालिदास का प्रभाव स्पष्ट है। इसके कई पद्यों में वाल्मीकि और कालिदास के पद्यों की छाया वर्तमान है, किन्तु फिर भी उनमें कवि ने अपना निजी कौशल पर्याप्त मात्रा में दिखाया है। कालिदास के कुमारसंभव और रघुवंश की शब्दावली तथा भावाभिव्यक्ति की शैली जानकीहरण में कई स्थलों पर अपनाई गई है। कुमारदास के राम-सीता के शृंगार-वर्णन में कुमारसंभव गत शिव-पार्वती के शृंगार-वर्णन की छाया दिखाई देती है। भारवि और माघ का प्रभाव भी कुमारदास

पर पर्याप्त पड़ा है। इतना सब कुछ होने पर भी कुमारदास ने अन्धानुकरण की प्रवृत्ति कहीं नहीं दिखाई है। //

जानकीहरण में अलंकारों के प्रयोग में भी कवि का विलक्षण कौशल झलकता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तिरन्यास आदि अलंकार पर्याप्त मात्रा में इस रचना में वर्तमान हैं। अनुप्रास कवि का सबसे अधिक प्रिय अलंकार सिद्ध होता है। इसका प्रयोग काव्य में अपेक्षाकृत अधिक हुआ है, किन्तु अनुप्रास-प्रधान पद्यों में भी शाब्दिक चमत्कार के साथ-साथ भावमयता पाई जाती है। भावों की उपेक्षा करके केवल शब्दजन्य चमत्कार दिखाने के लिए कवि ने अनुप्रास को कहीं नहीं अपनाया है।

कवि ने जानकीहरण में विविध दृश्यों का वर्णन बड़ी योग्यता से किया है। विविध वर्णनों में अयोध्या का वर्णन, राजा-दशरथ की अपनी रानियों के साथ जलक्रीड़ा का वर्णन, राक्षसों के साथ राम के युद्ध का वर्णन, वर्षा, शरद्, सूर्योदय, सूर्यास्त और रात्रि आदि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन जानकीहरण में विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इन सब वर्णनों में कवि ने तत्कालीन परम्परागत शैली को ही अपनाया है। उनमें कहीं-कहीं कृत्रिमता के होते हुए भी सजीवता है। वे कवि की वर्णन-शक्ति के परिचायक हैं।

कुमारदास का विविध विषयों का ज्ञान प्रशंसनीय है। वे व्याकरण के प्रकांड पण्डित थे। उनके काव्य में कई अप्रचलित शब्दों का प्रयोग हुआ है, किन्तु व्याकरण की दृष्टि से इनकी शुद्धता असंदिग्ध है। पाणिनि, पतंजलि, और काशिकाकार जयादित्य के व्याकरण-ग्रन्थों से उनका प्रगाढ़ परिचय सिद्ध होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्य में व्याकरण-सम्बन्धी पांडित्य दिखाने की चेष्टा बहुत कम स्थलों पर हुई है। उनका व्याकरण-ज्ञान कवित्व-शक्ति की अभिव्यक्ति में सहायक ही सिद्ध होता है, बाधक नहीं।

इसी प्रकार छन्दों के प्रयोग में भी कवि ने अपनी कुशलता दिखाई है। जानकीहरण के विविध सर्गों में इन्द्रवज्रा, रथोद्धता, द्रुतविलम्बित, प्रमिताक्षरा आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। भाषा पर भी कवि का पूरा अधिकार दीख पड़ता है। साधारणतया कवि ने वैदर्भी शैली को अपनाया है, किन्तु स्वाभाविकता और सरलता के साथ-साथ काव्य में कृत्रिमता पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। फिर भी ऐसे पद्यों की जानकीहरण में कमी नहीं है, जिनमें सरलता, मौलिक कवि-कल्पना और मनोहर भाव-व्यंजना पाई जाती है।

महाकाव्यों की परम्परागत शैली के आधार पर जानकीहरण की रचना हुई है। प्रतिपाद्य विषय का विकास, नायक का चरित्र-चित्रण, रसों का निर्वाह, सर्गों की रचना, छन्दों का प्रयोग और प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन महाकाव्य के निश्चित लक्षणों के अनुसार हुआ है। राम और सीता का चरित्र-चित्रण साधारण नायक-नायिका के रूप में किया गया है। यहाँ तक कि राम-सीता की कामक्रीड़ा के वर्णन में किसी प्रकार संकोच कवि ने नहीं दिखाया है। विविध दृश्यों के वर्णन में उच्चकोटि का कवित्व अवश्य है किन्तु कथा-वस्तु के विकास में उनका सहयोग बहुत कम दिखाई देता है। ऐसी त्रुटियाँ संस्कृत के तत्कालीन महाकाव्यों में साधारणतया पाई जाती हैं। कालिदास की कृतियों को आदर्श मान

कर भी कवि ने जानकीहरण में अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा का परिचय दिया है। वास्तव में संस्कृत के महाकाव्यकारों में कालिदास, भारवि और माघ के पश्चात् कुमारदास को महत्वपूर्ण स्थान मिलना उचित ही है।

नैषधचरित

संस्कृत साहित्य में अन्तिम महत्वपूर्ण महाकाव्य नैषधचरित है। इसके रचयिता कन्नौज के राजा जयचन्द के आश्रित श्रीहर्ष माने जाते हैं। संस्कृत के विद्वत्समाज में नैषधचरित ने पर्याप्त आदर प्राप्त किया है और उसने श्रीहर्ष को कालिदास, भारवि और माघ की श्रेणी में स्थान दिया है।

नैषध-चरित की कथा २२ सर्गों में वर्णित है। इसका आधार महाभारत का प्रसिद्ध नलोपाख्यान है। महाभारत के एक छोटे से उपाख्यान को कवि ने अपनी अद्भुत कल्पना द्वारा महाकाव्य के लिए उपयुक्त विषय बनाया है। एक साधारण कथा को लेकर बाईस सर्गों के महाकाव्य की रचना एक प्रतिभाशाली कवि का ही काम है। नैषधचरित में महाभारत का कथानक अपनी नैसर्गिक सरलता और सुन्दरता को खो बैठा है। कवि ने दुरूह कल्पनाओं के चक्कर में पड़कर कथा के स्वाभाविक विकास की ओर ध्यान नहीं दिया है। चरित्र-चित्रण भी नैषधचरित में अच्छा नहीं हुआ है। नल और दमयन्ती के चरित्र-में व्यक्तिगत विशेषताओं की अभिव्यक्ति बहुत कम हुई है। उनको कवि ने साधारण प्रेमी और प्रेमिका के रूप में ही अंकित किया है।

नैषधचरित में कवि की विलक्षण प्रतिभा का परिचय मिलता है। कामशास्त्र, तर्कशास्त्र, व्याकरण और अलंकार-शास्त्र का उन्हें अच्छा ज्ञान था। सशक्त शब्दावली के विन्यास, प्रौढ़ भाव-व्यंजना, कल्पना की ऊँची उड़ान और प्रकृति के सजीव चित्र अंकित करने में श्रीहर्ष का अद्भुत कौशल झलकता है। उनकी भाषा में नैसर्गिक सौन्दर्य के अभाव में भी पर्याप्त मधुरता और कोमलता है। अलंकारों का प्रयोग नैषधचरित में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। श्लेष और यमक को कई स्थलों पर महत्ता दी गई है। अलंकारों के प्रयोग में कवि-प्रतिभा का कौशल अवश्य झलकता है किन्तु काव्य में स्वाभाविक सौन्दर्य की सृष्टि करने में कवि असमर्थ ही प्रतीत होता है। इस काव्य में छन्दों का प्रयोग भी परम्परागत काव्य-प्रणाली के अनुसार हुआ है। सारे काव्य में १९ छन्दों को स्थान मिला है, जिनमें उपजाति और वंशस्थ को कवि ने प्रधानता दी है।

उपर्युक्त महाकाव्यों के अतिरिक्त संस्कृत में अन्य भी कई महाकाव्य लिखे गये, जिनमें रत्नाकर का 'हरविजय' और कविराज का 'राघव-पाण्डवीय' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'हरविजय' में शिव द्वारा अन्धकासुर के वध की कथा ५० सर्गों में वर्णित है। 'राघवपाण्डवीय' में रामायण और महाभारत की कथा श्लेष द्वारा एक साथ ही कही गई है। वास्तव में संस्कृत के महाकाव्यों की रचना बारहवीं शताब्दी तक होती रही किन्तु परवर्ती महाकाव्यों में काव्य-कला का धीरे-धीरे ह्रास होता गया। रामायण और महाभारत—जिनकी गणना हम संकलनात्मक महाकाव्यों में करते हैं—के पश्चात् सारे

महाकाव्यों में कलापक्ष की ओर कवियों का विशेष ध्यान गया। इसलिए इन सब महाकाव्यों को हम कलात्मक महाकाव्य ही स्वीकार करते हैं। कालिदास के महाकाव्यों में जो सहज लालित्य, भावों की विशद-व्यंजना, भाषा की सुकुमारता, शैली का सुन्दर संगठन, अलंकारों का मनोरम सौन्दर्य और रसों का दिव्य परिपाक देखने को मिलता है, वह धीरे-धीरे परवर्ती महाकाव्यों में कम होता गया। इन परवर्ती महाकाव्यकार कवियों ने काव्य के भावपक्ष की उपेक्षा करके कलापक्ष को समृद्ध करना उचित समझा। इन्होंने अपने महाकाव्यों को विद्वत्ता और कवित्व-शक्ति के प्रदर्शन का साधन बना दिया। कथानक के बहाने परम्परागत विषयों के वर्णन में कवि-कौशल व्यक्त होता गया। उपर्युक्त महाकाव्यों के अतिरिक्त अन्य महाकाव्यों की रचना भी संस्कृत-साहित्य में होती रही किन्तु अधिक प्रसिद्धि न मिलने के कारण वे जीवित न रह सके। संस्कृत साहित्य ने उच्चकोटि के महाकाव्यों को ही सुरक्षित रखा। अन्य साधारण रचनाएँ समय के प्रवाह में विलीन होती गई। फिर भी महाकाव्यों के रूप में जितना साहित्य आज संस्कृत में उपलब्ध होता है, उस पर हम अभिमान कर सकते हैं।

हिन्दी के महाकाव्यों पर संस्कृत के महाकाव्यों का प्रभाव

हिन्दी-महाकाव्यों की रचना सर्वथा स्वतन्त्र रूप से प्रारंभ नहीं हुई। उन पर संस्कृत के महाकाव्यों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। वाल्मीकि-रामायण और महाभारत ने केवल संस्कृत के परवर्ती महाकाव्यों को ही नहीं, हिन्दी के भी अनेक महाकाव्यों को प्रभावित किया है। चन्दवरदाई के पृथ्वीराज-रासो पर महाभारत का प्रभाव व्यूह वर्णन-जैसे प्रसंगों में यत्र-तत्र लक्षित होता है। तुलसी के रामचरितमानस की मूल-कथा वाल्मीकि-रामायण पर ही आधारित है। आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में से साकेत, वैदेही-वनवास और साकेत-सन्त पर वाल्मीकि-रामायण का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। कृष्णायन पर महाभारत, किरातार्जुनीय और शिशुपाल-वध की छाप दृष्टिगोचर होती है। श्री अनूप शर्मा ने बुद्धचरित का अनुसरण करते हुए सिद्धार्थ की रचना की है। श्री आनन्द कुमार ने अंगराज के कथानक की सामग्री महाभारत से ली है। श्री हरदयालु सिंह ने रघुवंश से प्रेरणा पाकर दैत्य-वंश की रचना की है। दैत्य-वंश पर रघुवंश का गहरा प्रभाव पड़ा है। रावण की कथावस्तु के पुनर्निर्माण में भी कवि ने वाल्मीकि-रामायण से पर्याप्त सहायता ली है। गुप्त जी ने जय-भारत की रचना में महाभारत के ही कथानक को अपनाया है। श्री रामानन्द तिवारी ने कुमारसंभव की कथा-वस्तु को लेकर पार्वती महाकाव्य की रचना की है। पार्वती पर कुमारसंभव का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। श्री दिनकर के 'रश्मिरथी' और डाक्टर रामकुमार वर्मा के 'एकलव्य' का आधार महाभारत ही है।

हिन्दी के महाकाव्यों पर संस्कृत-महाकाव्यों के प्रभाव का विवेचन हम यथास्थान विविध महाकाव्यों से सम्बन्धित अध्यायों में करेंगे। यहां हम केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि हिन्दी महाकाव्यों का विकास संस्कृत के महाकाव्यों की

परम्परा से सर्वथा निरपेक्ष हो कर नहीं हुआ। उनके शिल्प-विधान और स्वरूप-निर्माण में आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन और परिष्कार के होते हुए भी उनमें संस्कृत के महाकाव्यों की चेतना का स्पन्दन दृष्टिगत होता है।

(ख) प्राकृत तथा अपभ्रंश की महाकाव्य-परम्परा

जिस प्रकार संस्कृत के रीतिबद्ध महाकाव्यों के विषय प्रायः रामायण, महाभारत अथवा पुराणों से लिए गए उसी प्रकार प्राकृत और अपभ्रंश में भी रामकथा, कृष्ण-कथा अथवा किसी पौराणिक कथानक को लेकर महाकाव्यों की रचना होती रही। संस्कृत में जो महाकाव्य-परम्परा चली आ रही थी, वह प्राकृत और अपभ्रंश में भी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही। संस्कृत के परवर्ती महाकाव्यों में प्रचीन परम्परा की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति लक्षित होने लगी थी। प्राकृत और अपभ्रंश में महाकाव्यों की रचना तो अवश्य हुई, किन्तु रामायण, महाभारत, रघुवंश, किरातार्जुनीय और शिशुपाल-वध जैसे उच्चकोटि के महाकाव्यों की सृष्टि उनमें संभव न हो सकी। संस्कृत के आचार्यों ने महाकाव्यों को शास्त्रीय लक्षणों की शृंखला में ऐसा जकड़ दिया था कि उनके आधार पर एक सफल महाकाव्य की रचना कठिन कार्य हो गया। फिर भी प्राकृत और अपभ्रंश में संस्कृत के महाकाव्यों की शैली पर अनेक महाकाव्य लिखे गए जिनमें से कुछ ही अब तक मिल सके हैं।

प्राकृत में प्रवरसेन का सेतुबन्ध (रावण-वध) और श्रीकृष्ण-लीला-शुक का 'श्री-चिन्हकाव्य' (सिरि चिंघकव्व) ये दो महाकाव्य आजकल उपलब्ध होते हैं। सेतुबन्ध या रावण-वध की कथा १५ आश्वासों में विभक्त है। राम के रणप्रस्थान से लेकर रावण-वध के पश्चात् अयोध्या आगमन तक की परम्परागत राम-कथा इसमें वर्णित है। श्री-चिन्ह-काव्य की रचना कृष्ण-कथा को लेकर हुई है। संस्कृत में भट्टि-काव्य की तरह श्री-चिन्ह-काव्य भी एक द्वाश्रय काव्य है। इसमें बारह सर्गों में कृष्ण-कथा के वर्णन के साथ-साथ त्रिविक्रम के प्राकृत-सूत्रों की व्यवस्था की गई है। इन दो कृतियों के अतिरिक्त प्राकृत में वाक्पतिराज का 'गौड़बहो' और रामपाणिवाद का 'उषानिरुद्ध' जैसे प्रबन्ध-काव्य भी मिलते हैं, पर उन्हें महाकाव्यों की श्रेणी में स्थान नहीं दिया जा सकता।

अपभ्रंश-साहित्य में भी अनेक महाकाव्यों की रचना हुई। संस्कृत के विश्वनाथ-जैसे आचार्यों ने महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का निरूपण करते हुए प्राकृत और अप-भ्रंश में महाकाव्यों का अस्तित्व स्वीकार किया है[1]। अपभ्रंश में जैन कवियों ने अनेक

---

१. प्राकृतै र्निमितेऽस्मिन् सर्गा आश्वास-संज्ञकाः।
छन्दसा स्कन्दकेनैतत् क्वचिद्गलितकैरपि॥
अपभ्रंश-निबद्धेऽस्मिन् सर्गाः कुडवकाभिधाः।
तथापभ्रंशयोग्यानि छन्दांसि विविधान्यपि॥
—साहित्यदर्पण, परि० ६, ३२६-२७

पुराणों, चरित काव्यों और कथात्मक काव्यों का निर्माण किया। उनमें से कुछ ऐसी रचनाएँ हैं, जिन्हें उच्चकोटि के महाकाव्यों में स्थान दिया जा सकता है।

स्वयंभू का पउम-चरिउ (पद्मचरित या रामायण) अपभ्रंश-साहित्य में एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। इसकी कथा पाँच काण्डों में (विद्याधर, अयोध्या, सुन्दर, युद्ध और उत्तर) और कुल ९० सन्धियों में विभक्त है। सन्धि के लिए इसमें कहीं-कहीं सर्ग (सरग) शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। स्वयंभू एक जैन कवि थे। उन्होंने परम्परागत राम-कथा को धार्मिक दृष्टि से देखा है। वाल्मीकि-रामायण को आधार मानकर भी उन्होंने रामकथा में अपने धार्मिक दृष्टिकोण के अनुकूल यत्र-तत्र परिवर्तन किया है। पउम-चरिउ में महाकाव्योचित विपय-विस्तार वर्तमान है। विविध घटनाओं और प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में सजीवता और सरसता है। प्रकृति-वर्णन अधिकांश में प्राचीन परम्परा को लिए हुए है। भापा भावनुसारिणी, सरल और प्रवाहमयी है। यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति आदि अलंकारों का प्रयोग सफलता से किया गया है।

पुप्पदन्त-रचित महापुराण या तिसट्ठि-महापुरिस-गुणालंकार भी अपभ्रंश का एक प्रमुख महाकाव्य है। यह तीन खंडों और कुल १०२ सन्धियों में विभक्त है। इसमें ६३ महापुरुषों का चरित्र वर्णित है। ग्रन्थारम्भ में संस्कृत-महाकाव्यों के अनुरूप सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा और नम्रतापूर्ण आत्मनिवेदन को स्थान दिया गया है। इसका कथानक वहुत विस्तृत है। इसमें अनेक उपाख्यानों का अन्तर्भाव भी दिखाई देता है। कथा-सूत्र की समुचित रक्षा इसमें नहीं हो पाई है। कथानक के बहुत विस्तृत और विशृंखल होने पर भी इसमें अनेक सरस और हृदयहारी प्रसंग वर्तमान हैं। सूर्योदय, चन्द्रोदय, संध्या, नदी, सरोवर, ऋतु आदि के वर्णन महाकाव्योचित मनोरमता को लिए हुए हैं। इसके तीन खण्डों में क्रमशः शृंगार, वीर और शान्त इन तीन रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है।

अपभ्रंश-साहित्य में धनपालकृत भविस्सयत्त-कहा की गणना भी महाकाव्यों में की जा सकती है। इसका कथानक लौकिक है। एक वैश्यपुत्र भविस्सयत्त को यहाँ नायक के पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। श्रुतपंचमी का माहात्म्य प्रदर्शित करने के लिए यह कथा कही गई है। इसका कथानक भी तीन खण्डों में विभक्त है और इसमें क्रमशः शृंगार, वीर और शान्त रस की प्रधानता है। वस्तुवर्णन, प्रकृति-चित्रण, रसपरिपाक और भापा-सौष्ठव की दृष्टि से यह एक सफल महाकाव्य कहा जा सकता है।

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त अपभ्रंश में अनेक जीवनगाथात्मक ऐसे चरित-काव्य भी लिखे गये हैं, जिनमें किसी तीर्थंकर अथवा महापुरुप का चरित्र किसी विशेप धार्मिक दृष्टि से अंकित किया गया है। पुप्पदन्त-रचित णायकुमार-चरिउ (नागकुमार-चरित) और जसहर चरिउ (यशोधर-चरित) तथा कनकामर मुनि-कृत करकंड चरिउ (करकंडु-चरित) इसी प्रकार के काव्य है। इन चरित काव्यों में महाकाव्य के कतिपय तत्वों का समावेश होने पर भी इन्हें हम महाकाव्यों की परिधि में स्थान देना उचित नहीं

समझते। इन काव्यों में महाकाव्योचित उदात्त भाषा-शैली और जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति नहीं पाई जाती।

इस प्रकार अपभ्रंश-साहित्य में अनेक महाकाव्यों की रचना हुई। संस्कृत के महाकाव्यों की शैली का अनुसरण करने पर भी अपभ्रंश के महाकाव्य कतिपय निजी प्रवृत्तियों को लिए हुए हैं। उनमें सामान्य वर्ग के पुरुषों को नायक का पद मिलने लगा, शृंगार और वीर से परिपुष्ट शांत रस को प्रधानता और वर्णिक वृत्तों के स्थान पर मात्रिक छन्दों को अधिक महत्व दिया गया। अपभ्रंश के अधिकांश महाकाव्यों में धार्मिक विचारधाराओं की प्रचुरता है। जैन कवियों की धर्म-प्रचार-भावना की प्रधानता के कारण उनका काव्य-सौन्दर्य कुछ दबा हुआ-सा दीख पड़ता है। धार्मिक वातावरण के संकुचित क्षेत्र में विचरण करने से इन कवियों की प्रतिभा का स्वतन्त्र विकास इन महाकाव्यों में नहीं हो सका। अपभ्रंश-महाकाव्यों में घटनाओं की संकुलता, कथा-प्रवाह में शिथिलता और उपदेशात्मकता उनकी ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति की सूचना देते हैं। संस्कृत के महाकाव्यों की शैली पर लिखे जाने पर भी अपभ्रंश महाकाव्यों में सर्ग और छन्द-सम्बन्धी नियमों की उपेक्षा होने लगी थी[1]।

हिन्दी-महाकाव्यों पर अपभ्रंश का प्रभाव

अपभ्रंश के महाकाव्यों का हिन्दी के प्राचीन महाकाव्यों पर थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य दिखाई देता है। हिन्दी साहित्य में पृथ्वीराज-रासो, पद्मावत और रामचरित-मानस ये तीन प्राचीन महाकाव्य हैं और तीनों अपभ्रंश की महाकाव्य-परम्परा से प्रभावित हैं। पृथ्वीराज-रासो-जैसा वीर रस-प्रधान महाकाव्य अपभ्रंश में अभी तक प्राप्य नहीं है, फिर भी उसमें 'सन्देशरासक' और 'उपदेश-रसायन-रास'-जैसे अनेक प्रबन्ध और मुक्तक काव्य रास या रासो नाम से उपलब्ध होते हैं। संभवतः रासो नामक काव्यों की जो परम्परा अपभ्रंश में प्रचलित रही, वही आगे चलकर हिन्दी में रासो नामक वीर-गाथाओं के रूप में विकसित हो गई। पृथ्वीराज-रासो की भाषा-शैली पर अपभ्रंश-काव्यों का गहरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है और इसी प्रभाव के आधार पर कुछ विद्वान् तो पृथ्वीराज-रासो को हिन्दी का नहीं, अपभ्रंश का ही काव्य स्वीकार करते हैं।

जायसी का पद्मावत भी अपभ्रंश की महाकाव्य शैली से प्रभावित दिखाई देता है। पद्मावत की जैसी प्रेमकथाओं को लेकर अपभ्रंश में 'भविस्सयत्त-कहा' जैसे महा-

---

१. विश्वनाथ ने संभवतः अपभ्रंश के महाकाव्यों की इसी प्रवृत्ति को ध्यान में रख कर यह स्वीकार किया है कि अपभ्रंश के महाकाव्यों में सर्ग को कुडवक कहा जाता है और उनमें अपभ्रंश के अनुकूल विविध छन्दों का प्रयोग भी होता है:—

अपभ्रंश-निबद्धेऽस्मिन् सर्गाः कुडवकाभिधाः।
तथा पभ्रंशयोग्यानि छन्दांसि विविधान्यपि॥

—साहित्यदर्पण, परि० ६, ३२७

काव्य लिखे गए। लौकिक प्रेम-कथाओं पर आश्रित भविस्सयत्त-कहा-जैसे अपभ्रंश-महाकाव्यों और पद्मावत में कथानक, नायक-नायिका, वस्तुवर्णन, रसनिर्वाह और छन्दोयोजना सम्बन्धी पर्याप्त समानता पाई जाती है। भविस्सयत्त-कहा और पद्मावत दोनों में नायक सिंहलद्वीप की सुन्दरी की प्राप्ति के लिए समुद्र-यात्रा करते हैं। दोनों महाकाव्यों में समुद्र, नगर, नखशिख-सौन्दर्य आदि के वर्णन भी बहुत-कुछ साम्य रखते हैं। दोनों में ही शृंगार और वीर का पर्यवसान शान्त में दिखाई देता है। यदि भविस्सयत्त-कहा में श्रुतपंचमी के माहात्म्य (धार्मिक भावना) को स्पष्ट करने के लिए लौकिक प्रेम-कथा अपनाई गई है तो पद्मावत में भी लौकिक प्रेमकथा-द्वारा आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यंजना हुई है। 'भविस्सयत्त कहा'—जैसे अपभ्रंश-महाकाव्यों की घत्ता-शैली भी पद्मावत की चौपाई-दोहा-पद्धति से मिलती-जुलती है। इस साम्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि अपभ्रंश-महाकाव्यों की घत्ता-पद्धति ही आगे चलकर हिन्दी-महाकाव्यों की चौपाई-दोहा-पद्धति में परिणत हो गई। /

स्वयंभू के पउम-चरिउ (रामायण) का तुलसी के रामचरितमानस पर पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। स्वयंभू ने पउम-चरिउ के आरम्भ में जिस प्रकार मंगलाचरण, सज्जन-प्रशंसा, खल-निन्दा और आत्मविनय को स्थान दिया है, उसी प्रकार इस प्रणाली का अनुसरण करते हुए तुलसी ने रामचरितमानस की रचना की है। मंगलाचरण, सज्जन-प्रशंसा, खल-निन्दा और आत्मविनय की यह परिपाटी संस्कृत के महाकाव्यों में भी अपनाई जाती थी किन्तु रामचरितमानस में वह सीधे संस्कृत से नहीं, प्राकृत और अपभ्रंश में होती हुई आई है। पद्मावत की तरह रामचरितमानस की चौपाई-दोहा-पद्धति भी अपभ्रंश की घत्ता-पद्धत्ति से प्रभावित है। पउम-चरिउ में स्वयंभू के समान मानस में तुलसी ने भी रामकथा का वर्णन एक सरोवर या नदी के रूप में किया है[1]।

इस प्रकार स्वयंभू की रामायण तथा मानस में कतिपय ऐसी समानताएँ हैं, जिनके आधार पर यह सिद्ध होता है कि मानस की रचना में तुलसी स्वयंभू से प्रभावित थे।

---

१. वड्ढमाण मुह कुहर विणिग्गय राम कहाणइ एह कमागय।
अक्खर पास जलोह मणोहर सुअलंकार सद्द मछोहर।
× × ×
एह रामकह-सरि सोहंती गणहर देवहिं दिट्ठ वहंती।
—पउम-चरिउ, १, २

सप्तप्रबन्ध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मनमाना॥
रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोई बरबारि अगाधा॥
राम सीय जल सलिल सुधा सम। उपमा बीचि बिलास मनोरम॥
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई॥
—मानस, बालकांड, दोहा ३६

: ३ :

हिन्दी के प्राचीन महाकाव्य

भारतीय महाकाव्यों की जो परम्परा संस्कृत में विकास की चरम सीमा को प्राप्त कर चुकी थी, वह ह्रासोन्मुखी होकर भी प्राकृत और अपभ्रंश में अक्षुण्ण बनी रही। आगे चलकर हिन्दी के प्राचीन महाकाव्यों के रूप में वह महाकाव्य-परम्परा पुनः नव-चेतना से अनुप्राणित होकर परिवर्तित युग की समस्याओं का समाधान करती हुई दृष्टि-गोचर हुई। पृथ्वीराज-रासो, पद्मावत और रामचरितमानस इन तीन रचनाओं की गणना हम हिन्दी के प्राचीन महाकाव्यों में करते हैं।

पृथ्वीराज-रासो

हिन्दी साहित्य का आदि-काल राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक उथल-पुथल का युग था। भारतीय राजपूत राजाओं की शक्ति अन्तर्विरोध के कारण क्षीण होती जा रही थी और मुसलमानों के आक्रमणों से सारे देश की शान्ति भंग हो चुकी थी। ऐसी परिस्थितियों में राजाओं, सामन्तों और उनके सैनिकों तथा साधारण जनता में वीरता की भावना जाग उठी थी। यह काल वास्तव में शौर्य, पराक्रम और उत्साह का युग था। महाकाव्य की रचना के लिए इस युग की परिस्थितियाँ बहुत ही अनुकूल थीं, पर हिन्दी भाषा के अभी सुविकसित और व्यवस्थित रूप धारण न करने के कारण इन अनुकुल परिस्थितियों में भी महाकाव्यों की रचना अधिक संख्या में संभव न हो सकी। इस युग में चारण कवियों ने अनेक वीरगाथाओं की रचना की, किन्तु उनमें चन्दवरदाई-कृत पृथ्वीराज-रासो ही एक ऐसी रचना है, जिसे हम महाकाव्यों की श्रेणी में स्थान दे सकते हैं।

रासो का महाकाव्यत्व

पृथ्वीराज-रासो हिन्दी-साहित्य का प्रथम महाकाव्य है। इसका कथानक ऐति-हासिक तथा लोक-प्रसिद्ध हैं। क्षत्रिय-कुलभूषण महाराज पृथ्वीराज इसके नायक हैं। इसका कथानक ६९ सर्गो (समयों) में विभक्त है। वीर-रस की इसमें प्रधानता है। शृंगार, शान्त, रौद्र आदि अन्य रसों को गौण-रूप में अपनाया गया है। दोहा, गाथा, पद्धरि, तोमर, रोला, त्रोटक, भुजंगप्रयात, कवित्त, छप्पय आदि विविध छन्दों का प्रयोग इस रचना में हुआ है। विविध युद्धों, यात्राओं और प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों को इसमें पर्याप्त स्थान मिला है। महाकाव्योचित वीरभावों की सुन्दर अभिव्यक्ति, काव्य-सौष्ठव और रसात्मकता

में पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। इस प्रकार साधारणतया पृथ्वीराज-रासो में महाकाव्य सामान्य लक्षणों का निर्वाह हो जाता है।

संस्कृत के महाभारत के समान हम पृथ्वीराजरासो को 'संकलनात्मक महाकाव्य' ह सकते हैं। महाभारत के समान पृथ्वीराज-रासो का जो रूप आजकल हमें उपलब्ध ता है उसे एक ही व्यक्ति की रचना मानना सन्देहास्पद है। मूल काव्य से प्रक्षिप्त शों का निकाल देना भी संभव नहीं। वस्तुतः इसकी रचना में एक नहीं, अनेक चारण-वियों का हाथ लक्षित होता है। इसमें तत्कालीन जातीय भावनाओं और आदर्शों का दर चित्रण है। प्राचीन राजपूत वीरों की आदर्श वीरता, स्वामि-भक्ति और कर्तव्य-ायणता तथा क्षत्रिय वीरांगनाओं के अनुपम साहस, त्याग और सतीत्व की सुन्दर ाख्या इस काव्य में हुई है। जातीय जीवन के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक ों पर इसमें यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बारहवीं ताब्दी के भारत का इसमें सजीव चित्र वर्तमान है। साहित्य और समाज की तत्कालीन वृत्तियों से जानकारी प्राप्त करने में इस महाकाव्य का विशेष महत्व है। इसमें जायसी पद्मावत का-सा कथा-निर्वाह और काव्यसौष्ठव नहीं है। रामचरितमानस की-सी ोकहित-भावना और मानव जीवन की सर्वांगीण व्याख्या का भी इसमें अभाव है। पर र्णन-कौशल, रसपरिपाक और उदात्त भावों की व्यंजना की दृष्टि से यह एक उच्चकोटि ा महाकाव्य सिद्ध होता है। कलापक्ष की रमणीयता के अभाव में भी यह रचना अपनी सर्गिक छटा से काव्य-रसिकों को मुग्ध करने में पूर्णतया समर्थ है।

थावस्तु

चन्दवरदाई का पृथ्वीराज-रासो एक विशालकाय महाकाव्य है। जन्म से लेकर रण तक महाराज पृथ्वीराज के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं को इसमें प्रमुख ान दिया गया है। संक्षेप में रासो की कथावस्तु इस प्रकार है:—

आबू के अग्निकुंड से चौहान आदि चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति हुई। इसी ौहान वंश में पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर का जन्म हुआ। सोमेश्वर अजमेर में राज्य रते थे। उनका विवाह दिल्ली के राजा अनंगपाल की कन्या कमला देवी से हुआ और सी की कोख से पृथ्वीराज ने जन्म लिया। अनंगपाल की दूसरी कन्या सुन्दरी थी, उसका ववाह कन्नौज के राजा विजयपाल से हुआ। इसी सुन्दरी के गर्भ से विजयपाल का पुत्र ायचन्द उत्पन्न हुआ। अनंगपाल ने अपने दौहित्र पृथ्वीराज को गोद ले लिया। इस कार पृथ्वीराज का अजमेर और दिल्ली दोनों स्थानों पर अधिकार हो गया। कन्नौज ा राजा जयचन्द पृथ्वीराज की इस बढ़ती हुई शक्ति को न देख सका। उसने राजसूय ज्ञ किया। इस अवसर पर पृथ्वीराज को निमंत्रित न करके जयचन्द ने अपनी पुत्री योगिता का स्वयंवर निश्चित कर दिया। स्वयंवर का निमंत्रण न पाने से कुपित होकर थ्वीराज ने बलपूर्वक संयोगिता का अपहरण कर लिया। परिणामस्वरूप जयचन्द ने ापने साथी अन्य राजाओं की सहायता पाकर पृथ्वीराज से कई बार युद्ध किया किन्तु

पृथ्वीराज के अतुल-बलविक्रम के सामने उसे हार माननी पड़ी। इसी अवसर पर शहाबुद्दीन गोरी ने भारत पर आक्रमण किया। शहाबुद्दीन एक सुन्दरी से प्रेम करता था किन्तु वह अपने प्रेमी हुसेनशाह के साथ पृथ्वीराज के यहां पहुँच गई। पृथ्वीराज ने उसे शरण देकर शहाबुद्दीन से शत्रुता मोल ले ली। फलतः शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज का युद्ध हुआ। पृथ्वीराज ने कई बार युद्ध में शहाबुद्दीन को परास्त किया, किन्तु अन्त में शहाबुद्दीन की ही विजय हुई। वह पृथ्वीराज को बन्दी बना कर गज़नी ले गया। चन्दवरदाई भी कुछ दिन पश्चात् गज़नी पहुँच गए। वहां चन्द की सहायता से पृथ्वीराज ने शब्दवेधी बाण-द्वारा शहाबुद्दीन का अन्त कर दिया। इस घटना के पश्चात् पृथ्वीराज और चन्दवरदाई ने भी आत्महत्या करके जीवन-लीला समाप्त की।

रासो की कथावस्तु सुसंगठित नहीं है। मुख्य कथा के साथ प्रासंगिक घटनाओं की अन्विति बहुत कम दिखाई देती है। विस्तृत वर्णनों के बीच कथानक का प्रवाह कई स्थलों पर अवरुद्ध-सा प्रतीत होता है। हाँ, साधारणतया इसकी सारी घटनाओं का सम्बन्ध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में इसके नायक पृथ्वीराज से ही है। इसमें वर्णित विविध युद्ध भी एक ही महायुद्ध के अंग हैं।

प्रामाणिकता

पृथ्वीराज-रासो की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों का मतभेद है। रासो में वर्णित पृथ्वीराज के जन्म-सम्बन्धी घटनाओं और उसमें दिए गए सम्वतों का ऐतिहासिक घटनाओं और सम्वतों के साथ मेल न होने तथा इसकी भाषा में एकरूपता न होने के कारण कुछ विद्वानों ने पृथ्वीराज के समकालीन चन्द कवि की रचना मानने में सन्देह प्रकट किया है और रासो को सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में लिखा हुआ एक जाली ग्रंथ स्वीकार किया है। रासो को अप्रामाणिक रचना मानने वाले विद्वानों में गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डाक्टर बूलर, डाक्टर ग्रियर्सन और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल विशेष उल्लेखनीय हैं।

दूसरी ओर मिश्रबन्धु, बाबू श्यामसुन्दरदास और पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या आदि विद्वानों ने रासो की प्रामाणिकता के विषय में अनेक युक्तियां दी हैं। पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने अनन्द सम्वत् की कल्पना की है जो कि विक्रम सम्वत् से ९० वर्ष पीछे पड़ता है। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि रासो में विक्रम सम्वत् का उल्लेख नहीं, वरन् विक्रम सम्वत् से ९० वर्ष पीछे पड़ने वाले अनन्द सम्वत् का प्रयोग हुआ है।

रासो की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता के विषय में निश्चितरूप से कुछ कहना बहुत कठिन है। दोनों मतों की पुष्टि में कई युक्तियाँ दी जाती हैं। इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन यहाँ अपेक्षित नहीं। हमारे विचार में रासो अपने मूल रूप में चन्दवरदाई की ही रचना है। वह इतिहास नहीं, एक काव्य है। उसकी कई घटनाएँ अतिरंजित या कल्पित हो सकती हैं। चन्द ने अपने आश्रयदाता पृथ्वीराज के जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन कुछ चढ़ा-बढ़ा कर किया होगा, यह स्वाभाविक ही है। रासो के वर्णनों में सजीवता है और कवि की प्रत्यक्ष अनुभूतियों की झलक है। इसमें कुछ प्रक्षिप्त अंशों का

सम्मिलित हो जाना संभव है। यह काव्य भाटों की अजीविका का साधन बना रहा, इस लिए कई हाथों से गुजरने के कारण इसमें प्रक्षिप्त अंशों का मिल जाना स्वाभाविक भी है। संस्कृत के महाभारत के समान इसमें भी समय-समय पर प्रक्षिप्त अंश का समावेश होता रहा है। इस प्रक्षिप्त अंश से रासो के मौलिक अंश को पृथक् करना कठिन कार्य हो गया है। संभवतः इसी प्रक्षिप्त अंश के कारण भाषा-सम्बन्धी तथा ऐतिहासिक विषमताएँ इस ग्रन्थ में दिखाई देती हैं।

चरित्र-चित्रण

पृथ्वीराज-रासो में चरित्रचित्रण की ओर कवि ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। रासो की कथा का मुख्य सम्बन्ध पृथ्वीराज के चरित्र से ही है। पृथ्वीराज धीरोदात्त नायक है। धीरोदात्त नायक के सामान्य गुणों की अभिव्यक्ति पृथ्वीराज के चरित्र में हुई है पर उनकी वैयक्तिक विशेषताओं को प्रकाश में लाने का प्रयास चन्द ने बहुत कम किया है। पृथ्वीराज शूर-शिरोमणि आदर्श योद्धा हैं। उनके चरित्र में राजपूत जाति की आदर्श वीरता झलकती है। दीन-दुखियों और अबलाओं के लिए उनके हृदय में दया है। आत्माभिमान, धर्मपरायणता, कठिन संयम और त्याग आदि गुणों से उनकी वीरता अधिक उज्ज्वल रूप धारण कर लेती है। शरणागत शत्रु को अभयदान देकर उन्होंने प्रशंसनीय उदारता दिखाई है। इन सब गुणों से युक्त पृथ्वीराज का चरित्र जातीय विशेषताओं का ही प्रतिनिधित्व करता हैं।

पृथ्वीराज-रासो में पृथ्वीराज के अतिरिक्त अनेक वीर चरित्रों को स्थान मिला है, किन्तु पृथ्वीराज के अतिरिक्त अन्य किसी के चरित्र का समुचित विकास उसमें नहीं हो सका है। शहाबुद्दीन, जयचन्द, संयोगिता, इंच्छिनी, शशिव्रता, पद्मावती, आदि पात्र भी रासो में सामान्य की ओर झुके हुए हैं। उनकी व्यक्तिगत सबलताओं तथा दुर्बलताओं का उद्घाटन रासो में बहुत कम हो सका है। विविध पात्रों के चरित्र का शृंखला-बद्ध विकास रासो में नहीं पाया जाता। हाँ, विविध परिस्थितियों में उनके कार्यकलापों और हाव-भावों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक ढंग से अवश्य हुई है।

वस्तु-वर्णन

महाकाव्यों में विविध वर्णनों को विशेष स्थान दिया जाता है। रासो में भी इस प्रकार के वर्णन प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होते हैं। इन वर्णनों में प्रक्षिप्त अंश का होना स्वाभाविक ही है। वे आज जिस रूप में हमें दिखाई देते हैं, संभवतः चन्दरवदाई की मौलिक रचना में वे इस रूप में न रहे होंगे। जो कुछ भी हो, इन वर्णनों में कवि की विलक्षण वर्णन-कुशलता का परिचय मिलता है। रासो के विविध वर्णनों में व्यूहवर्णन, युद्धवर्णन, नगर-वर्णन, विवाह-वर्णन, ऋतु-वर्णन, नख-शिख-वर्णन, संयोग-वियोग-वर्णन आदि विशेष महत्त्व रखते हैं। कवि ने पृथ्वीराज की सेना के अनेक व्यूहों का विशद वर्णन किया है। इन व्यूहों में चक्रव्यूह, मयूर-व्यूह और गिद्ध-व्यूह प्रसिद्ध हैं। मयूर-व्यूह का वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

'देषि फौज सुरतान दल, मति मंडे रन साज।
मोरव्यूह मति मंडिकै, तब सज्जौ प्रथिराज ॥
आरध वेस नरिंद, छत्र वर मुक्ख कहि गढ्ढै।
सबै सेन प्रथिराज, मोरव्यूहं रचि ढढ्ढै ॥
चोंच राव चामंड, जैत द्रिग वंधि प्रमानं।
नष पिंडी पुंडीर, सेन उभ्भौ सुरतानं ॥
वर कंध बंध बंधी न्रिपति, पुंछि वीर कूरंम रचि।
अरुनेव उदै उद्दिल सुभर, महन रंभ दोउ दीन मचि[1] ॥"

महाभारत में इस प्रकार के विविध व्यूहों का वर्णन मिलता है। संभवतः चन्द-बरदाई का महाभारत के व्यूहों से अच्छा परिचय रहा होगा और उन्हीं को आधार मान कर उन्होंने रासो में व्यूहों का वर्णन प्रस्तुत किया है।

युद्धों के वर्णन में कवि की वर्णन-शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। रासो के युद्ध-वर्णनों में सजीवता और स्वाभाविकता है। घग्घर नदी के युद्ध का वर्णन करते हुए कवि ने रणभूमि का चित्र इस प्रकार अंकित किया है:—

त्रोटक—"हुअ सद्द सुसद्दह नद्द भरं, घन घेरिक कोय सु फौज वरं।
लष, लष्ष मिले दल संमिलयं, नर भद्दव बाहल संमिलियं ॥
सुअग्गें हथनारि अपार सजं, तिन देषत कायर दूर भजं।
तिन पिट्ठ हजारउ मत्त चलें, छहरित्त झरंत करी तिहले[2] ॥"

—

भुजंगी—"मचे कूह कूहं वहै सार सारं, चमक्कै-चमक्कै करारं सुधारं।
भभक्कै-भभक्कै वहै रत्तधारं, सनक्कै-सनक्कै बहै वान भारं[3] ॥"

इसी प्रकार रासो में नगर, विवाह आदि के वर्णन भी कवि की अद्भुत वर्णन-शक्ति के परिचायक हैं। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा आदि छः ऋतुओं का वर्णन समय ६१ (छन्द ६–७२) में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। इस वर्णन में भिन्न-भिन्न ऋतुओं की विशेषताएं अच्छी तरह व्यक्त हुई हैं। वसन्त-वर्णन का एक उदाहरण लीजिए:—

"मवरि अंब फुल्लिग, कदंब रयनी दिघ दीसं।
भवरं भाव भुल्लै, भ्रमंत मकरंद वरीसं ॥
वहत वात उज्जलति, मोर अति विरह अगनि किय।
कुहकुहंत कल कंठ, पत्र राषस रति अग्गिय ॥

---

१. पृथ्वीराज-रासो, समय ६४, छन्द २४६-४७
२. पृथ्वीराज-रासो, समय २६, छन्द १५-१६
३. पृथ्वीराज-रासो, समय २६, छन्द ३१

पय लग्गि प्रानपति वीनवौं, नाह नेह मुझ चित धरहु।
दिन-दिन अवद्धि जुव्वन घटै, कंत वसंत न गम करहु[1] ॥"

यह वर्णन केवल उद्दीपन विभाव के रूप में हुआ है। कवि ने प्रत्येक ऋतु का स्वाभाविक चित्र अंकित करने की चेष्टा की है। शृंगार और नख-शिख-वर्णन में नारी-सौन्दर्य के सुन्दर चित्र मिलते हैं। इंच्छिनी के सौन्दर्य का मनोरम चित्र यहाँ अंकित किया गया है:—

"नयन सुकज्जल रेष तष्षि निष्छल छवि कारिय।
श्रवनन सहज कटाच्छ चित्त कर्षन नर-नारिय॥
भुज मृनाल कर कमल-उरज अंवुज कलिय कल।
जंघ रंभ कटि सिंघ गमन दुति हंस करी छल॥
देव अरु जष्षि नागिनि नरिय गरहि गर्व दिष्षत नयन।
इंछिनी अंखि लज्जा सहज कितक सक्ति कव्विय वयन[2] ॥"

इस प्रकार के अनेक वर्णन रासो में वर्तमान हैं। उनमें से कुछ तो मुख्य कथानक के विकास में सहायक न होकर वाधक ही प्रतीत होते हैं। हाँ, कवित्व की दृष्टि से उनका विशेष महत्व है।

रस-व्यंजना

पृथ्वीराज-रासो एक युद्ध-प्रधान महाकाव्य है। इसलिए वीर-रस की इसमें प्रधानता है। वीररस का परिपाक रासो में वहुत अच्छा हुआ है। पृथ्वीराज तथा उसके सैनिकों की आदर्श वीरता के चित्रण में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की अनुकूल योजना कई स्थलों पर वीर रस की अभिव्यंजना में सफल हुई है। वीर रस के साथ-साथ रौद्र और वीभत्स रस को भी सहायक रसों के रूप में स्थान मिला है। युद्ध-वर्णनों में वीररस के साथ रौद्र और वीभत्स का अच्छा संमिश्रण पाया जाता है। रौद्ररस के स्थायीभाव क्रोध की अभिव्यक्ति युद्धकाल के सभी प्रसंगों में हुई है। युद्धभूमि में भूत-प्रेतों का रुधिर पीना, गीधों का चिल्लाना, कवन्धों से रुधिर का वहना आदि दृश्यों के वर्णन में वीभत्स की अभिव्यंजना पाई जाती है। शृंगार रस को भी रासो में पर्याप्त स्थान मिला है। रासो के अधिकांश युद्धों का सम्वन्ध रूपवती स्त्रियों से है। उनके नख-शिख-वर्णन में तथा संयोग-वियोग-सम्वन्धी विविध दशाओं के चित्रण में शृंगार रस की अभिव्यक्ति हुई है। परिणय के पश्चात् संयोगिता के साथ पृथ्वीराज की प्रेम-क्रीड़ा के वर्णन में संयोग-शृंगार का अच्छा परिपाक हुआ है। शहावुद्दीन गोरी से युद्ध करने के लिए घर से विदा होते समय पृथ्वीराज के विरह में संयोगिता की व्याकुलता का मार्मिक चित्र रासो में पाया जाता है। शृंगार के अतिरिक्त कहीं-कहीं

१. पृथ्वीराज-रासो, समय ६१, छन्द १०
२. पृथ्वीराज-रासो, समय १४, छन्द १५६

प्रसिद्ध है। राजा रतनसेन इसमें कुलीन, क्षत्रिय नायक है, उसमें धीरोदात्त नायक के गुण वर्तमान हैं। शृंगाररस की इस काव्य में प्रधानता है, करुण, वीर, शान्त आदि अन्य रस भी उसके अंगरूप में इसमें वर्तमान हैं। नाटक की मुख, प्रतिमुख आदि सभी सन्धियाँ भी इसमें मिल जाती हैं। सारे काव्य में दोहा और चौपाई इन दोनों छन्दों का प्रयोग हुआ है। सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन तथा कहीं-कहीं विविध छन्दों का प्रयोग इसमें नहीं मिलता। इसका नामकरण नायिका के नाम पर हुआ है। संस्कृत महाकाव्यों के समान इसमें भी सूर्य, चन्द्र, प्रातःकाल, नगर, वन, पर्वत, ऋतु, समुद्र, विवाह, संयोग, वियोग, युद्ध आदि के वर्णन वर्तमान है। इस प्रकार पद्मावत में महाकाव्य के स्वरूप-विषयक प्रायः अधिकांश लक्षणों का समावेश हो जाता है। इतना होते हुए भी केवल इन बाह्य लक्षणों के आधार पर ही हम इसे महाकाव्य नहीं मानते। महाकाव्य में वैविध्य-पूर्ण मानव-जीवन की व्याख्या, असाधारण कवित्व-शक्ति और विश्वजनीन भावनाओं को तरंगित करने की क्षमता आवश्यक है। उसमें जीवन का साधारण चित्रण ही नहीं, उसकी निगूढ़ अनुभूतियों और मानवीय उच्च आदर्शों की उदात्त व्यंजना भी होनी चाहिए। महाकाव्य-सम्बन्धी ये सारी विशेषताएँ पद्मावत में वर्तमान हैं और मुख्यतया इन्ही विशेषताओं की कसौटी पर परख कर उसे हम एक सफल महाकाव्य कहते हैं।/

कथानक-समीक्षा

पद्मावत में चित्तौड़ के राजा रतनसेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती की प्रेम-कथा का वर्णन है। इस सम्पूर्ण काव्य को दो भागों में विभक्त किया जाता है—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। राजा रतनसेन का पद्मावती को प्राप्त करके चित्तौड़ लौट आने तक की कथा पूर्वार्द्ध से सम्बन्ध रखती है और राघवचेतन के निकाले जाने पर अलाउद्दीन के आक्रमण तथा नागमती और पद्मावती के सती हो जाने तक की कथा उत्तरार्द्ध में सम्मिलित हैं। पद्मावत का पूर्वार्द्ध कविकल्पित है परन्तु उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार को लिए हुए है।

पद्मावत का कथानक पर्याप्त विस्तृत और व्यापक है। उसमें कल्पना और इतिहास का सुन्दर सम्मिश्रण पाया जाता है। पूर्वार्द्ध का कथानक संभवतः जनता में प्रचलित प्रेमकथा पर आश्रित है। अवध में पद्मिनी रानी और हीरामन तोते की कहानी आज भी लोगों की जिह्वा पर जीवित है। जायसी ने इस प्रचलित प्रेमकहानी का सम्बन्ध इतिहास-प्रसिद्ध रतनसेन और पद्मावती से जोड़कर उसे अपनी अद्‌भुत कल्पना-शक्ति-द्वारा काव्योपयोगी स्वरूप दिया है। उत्तरार्द्ध का कथानक ऐतिहासिक घटनाओं पर आश्रित है, परन्तु कवि ने काव्योपयोगी बनाने के लिए उसमें पर्याप्त हेरफार किया है। राघवचेतन से पद्मावती के सौन्दर्य की चर्चा सुनकर अलाउद्दीन का चित्तौड़ को घेरना, अलाउद्दीन द्वारा रतनसेन का वन्दी वनाया जाना, गोरा-बादल की सहायता से पद्मावती का रतनसेन को वन्धन से छुड़ाना, देवपाल के साथ युद्ध करते हुए रतनसेन का शरीर-त्याग करना और नागमती तथा पद्मावती का सती होना, पद्मावत के उत्तरार्द्ध की

मुख्य घटनाएँ है। इन घटनाओं को कल्पना का पुट देकर कवि ने मनोहर कथानक के रूप में उपस्थित किया है। इस काव्य में राघवचेतन की अवतारणा कवि की निजी उद्भावना है। चित्तौड़ घेरने के पश्चात् अलाउद्दीन ने जो सन्धि की शर्तें उपस्थित की हैं, वे भी कवि की निजी कल्पना पर आधारित हैं। अलाउद्दीन को दर्पण में अचानक पद्मावती की छाया दीख पड़ना, रतनसेन का अलाउद्दीन के शिविर में नहीं, दिल्ली में बन्दी किया जाना, देवपाल का पद्मावती के पास दूती को भेजना और रतनसेन का देवपाल के साथ युद्ध में मारा जाना, ये सारी घटनाएँ कविकल्पित हैं। इस प्रकार कवि ने अपने कथानक से सम्बन्धित अनेक ऐतिहासिक घटनाओं में यत्र-तत्र यथोचित परिवर्तन किया है। यह परिवर्तन कहीं नायक रतनसेन के चरित्र को गौरावन्वित करते हैं, कहीं नायिका पद्मावती के सतीत्व को उज्ज्वल बनाता है और कहीं कथानक को सरस तथा मर्मस्पर्शी बनाने में सहायक सिद्ध होता है।

पद्मावत का कथानक साधारणतया स्वाभाविक प्रवाह को लिए हुए है। विविध घटनाओं का मुख्य कथा के साथ सुन्दर सामंजस्य दिखाई देता है। प्रासंगिक तथा आधिकारिक दोनों प्रकार की कथाओं में पूरी अन्विति वर्तमान है। प्रासंगिक कथाएँ प्रायः मुख्यकथा के विकास में सहायक प्रतीत होती हैं। कथावस्तु के विकास में कहीं-कहीं विविध वर्णनों में आवश्यक विस्तार के कारण शिथिलता अवश्य आ गई है। पद्मावत के कथानक की विवेचना से यह सिद्ध होता है कि कवि ने विविध घटनाओं को किसी निश्चित दिशा की ओर मोड़ने का प्रयत्न न करते हुए उन्हें उनके स्वाभाविक प्रवाह में अग्रसर होने का अवसर प्रदान किया है।

चरित्र-चित्रण

पद्मावत में जायसी का ध्यान पात्रों के स्वाभाविक चरित्र-चित्रण की ओर कम गया है। पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं को प्रकाश में लाने में वे प्रायः असमर्थ ही रहे हैं। पद्मावत के प्रमुख पात्र रतनसेन, पद्मावती और नागमती हैं। इनके चरित्र में कोई व्यक्तिगत विशेषताएँ कवि ने नहीं दिखाई हैं। इनका चरित्र पद्मावत में क्रमशः साधारण प्रेमी, प्रेमिका और पत्नी के रूप में अंकित किया गया है। रतनसेन एक आदर्श प्रेमी है। उसके चरित्र में सहनशीलता, साहस, धैर्य, त्याग, नम्रता, शौर्य आदि गुणों की व्यंजना अच्छी हुई है। कहीं-कहीं अदूरदर्शिता, अधीरता, लोभ और अविमृश्यकारिता आदि दुर्बलताएँ भी उसके चरित्र में लक्षित होती हैं। पर इन सब विशेषताओं और दुर्बलताओं का मुख्य कारण उसका आदर्श प्रेम है। पद्मावती एक आदर्श प्रेमिका है। वह एक चतुर गृहिणी, बुद्धिमती वीरांगना और आदर्श सती के रूप में भी हमारे सम्मुख आती है। सिंहलद्वीप में राजा रतनसेन को शूली पर चढ़ाने की सूचना पाकर वह स्वयं भी प्राण त्यागने का निश्चय कर अपने सच्चे प्रेम का परिचय देती है। समुद्र-यात्रा में रतनसेन के सब कुछ गँवा देने पर पद्मावती उन रत्नों को राजा को सौंप देती है जो विदा होते समय लक्ष्मी ने उसे दिये थे। इस अवसर उसके चरित्र में उस संचय-बुद्धि का आभास मिलता है

जो एक आदर्श गृहिणी में पाई जाती है। रतनसेन द्वारा राघवचेतन के देश से निकाले जाने पर पद्मावती राघवचेतन को दान द्वारा प्रसन्न करने का प्रयत्न करती है और इस गम्भीर परिस्थिति में अपनी बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता का परिचय देती है। अलाउद्दीन के बन्दीगृह से राजा रतनसेन को मुक्त कराने के प्रयत्न में उसकी असाधारण वीरता झलकती है। देवपाल द्वारा युद्ध में रतनसेन की मृत्यु का समाचार पाकर वह राजा के साथ ही चिता पर जल कर अपने सतीत्व का परिचय देती है। पर पद्मावती के चरित्र की प्रायः सारी विशेषताएँ उस की व्यक्तिगत विशेषताएँ न होकर क्षत्रिय नारी की जातीय विशेषताएँ ही प्रतीत होती हैं। नागमती एक पतिव्रता नारी है। उसे अपने रूप पर गर्व है। रतनसेन के प्रति उसका प्रगाढ़ प्रेम है। अपनी सपत्नी पद्मावती के प्रति उसके हृदय में ईर्ष्या अवश्य दिखाई देती है किन्तु वह कभी भी उसके विरुद्ध विद्रोह नहीं करती। वह पति के हित में ही अपना हित समझती है। राघवचेतन के हृदय में अहंकार, दुष्टता, लोभ और कृतघ्नता आदि दुर्गण भरे पड़े हैं। विद्वान् होने पर भी वह चरित्र-हीन है, दंभी है, निर्लज्ज है; वह एक वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व करता है। अला-उद्दीन के चरित्र में उसके बल-विक्रम, अभिमान और भोग-लालसा की अभिव्यक्ति, अच्छे ढंग से हुई है। गोरा-बादल आदर्श क्षत्रिय वीर हैं। उनकी स्वामिभक्ति, वीरता, दूरदर्शिता, आत्माभिमान और त्याग प्रशंसनीय है। इस प्रकार जायसी अपने चरित्रों की सामान्य विशेषताओं को ही अधिकतर व्यक्त कर सके हैं। विविध परिस्थितियों में पात्रों की सूक्ष्म मनोवृत्तियों की व्यंजना पद्मावत में नहीं हो सकी। मानव-प्रकृति के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्र पद्मावत में बहुत कम पाए जाते हैं।

प्रेम-तत्व

जायसी ने पद्मावत में प्रेम का उज्जवल स्वरूप उपस्थित किया है। रतनसेन और पद्मावत के पारस्परिक प्रेम द्वारा कवि ने उस प्रेम-भावना की व्यंजना की है जिसका बीज मनुष्यमात्र के हृदय में वर्तमान रहता है और जो उच्च-नीच और हिन्दू-मुसलमान के भेद-भाव को नहीं जानता। रतनसेन और पद्मावती का प्रेम लौकिक होकर भी अन्त में दिव्य अलौकिक रूप धारण कर लेता है। हीरामन तोते के मुख से पद्मावती के रूप की प्रशंसा सुन कर राजा का उसके प्रति अनुरक्त होना कुछ अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है। पर भारतीय साहित्य में यह कोई नई बात नहीं है। नल-दमयन्ती और अनिरुद्ध-उषा के–जैसे कई उदाहरण भारतीय साहित्य में वर्तमान हैं, जहाँ नायक-नायिका के समागम से पूर्व ही केवल गुण-श्रवण या चित्र-दर्शन द्वारा नायक-नायिका के हृदय में एक-दूसरे के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ है। पद्मावती के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन सुनकर रतनसेन के हृदय में जो प्रेम अंकुरित हुआ, वह धीरे-धीरे उदात्त और व्यापक रूप धारण करता हुआ सारी सृष्टि में व्याप्त हो जाता है। रतनसेन को सारे संसार में उस प्रेम के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु सुन्दर नहीं दिखाई देती:—

"तीनि लोक चौदह खंड सबै परै मोहिं सूझि।
प्रेम छाँड़ि नहिं लोन किछु, जो देखा मन बूझि[1] ॥"

प्रेम का यह मार्ग कठिनाइयों से भरा पड़ा है। प्रेमी अपनी प्रियतमा को प्राप्त करने के लिए कठिन प्रयत्न करता है और अनेक कष्ट सहता है। इस प्रेम में दुःख अवश्य है, किन्तु उस दुःख में भी प्रेमी एक प्रकार का आनन्द अनुभव करता है। उस दुःख की आँच में उसके हृदय की कलुषता धुल जाती है और वह अपनी प्रेयसी को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। यह दुःख तो तभी तक है जब तक प्रियतमा से भेंट नहीं होती, उसके मिलने पर तो जन्म-जन्म का दुःख मिट जाता है। रतनसेन के इन शब्दों में कवि ने इस आदर्श प्रेम की व्याख्या इस प्रकार की है:—

"भलेहि पेम है कठिन दुलेहा। दुइ जग तरा पेम जेइ खेला ॥
दुख भीतर जो पेम-मधु राखा। जग नहिं मरन सहै जो चाखा ॥
जो नहि सीस पेम-पथ लावा। सो प्रिथिमी महँ काहे क आवा ?
× × ×
तौ लगि दुख पीतम नहिं भेंटा। मिलै तो, जाइ जनम-दुख मेटा[2] ॥"

पद्मावती के हृदय में रतनसेन के प्रति प्रथम दया उत्पन्न होती है। जब गंधर्व-सेन रतनसेन को शूली पर चढ़ाने की आज्ञा देता है तब पद्मावती उसके कष्टों की सूचना पाकर उस पर दया करती है। यह दया का भाव ही धीरे-धीरे परिपक्व प्रेम में परिणत हो जाता है। रतनसेन और पद्मावती का प्रेम प्रारम्भिक अवस्था में एकांगी होकर भी अन्त में तुल्यानुराग का रूप धारण कर लेता है। जायसी उस आदर्श प्रेम के उपासक थे जो मनुष्य को देवत्व की ओर अग्रसर करता है और जिसमें मनुष्य अपनी पृथक् सत्ता को मिटा कर अपने प्रिय में लीन होने की प्रबल इच्छा रखता है। इसी प्रेम की गूढ़ व्यंजना पद्मावत में हुई है। रतनसेन और पद्मावती की प्रेम-कथा के सहारे कवि ने उस विशुद्ध प्रेम की व्यंजना की है, जो मनुष्य को परमात्मा से मिलाने वाला है।

आध्यात्मिकता

जायसी का पद्मावत लौकिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों को लिए हुए है। लौकिक पक्ष में रतनसेन और पद्मावती साधारण प्रेमी और प्रेयसी के रूप में हमारे सामने आते हैं, परन्तु आध्यात्मिक पक्ष में रतनसेन और पद्मावती क्रमशः जीवात्मा और परमात्मा का प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं। एक लौकिक कथा द्वारा कवि कई स्थलों पर परोक्ष सत्ता की ओर भी संकेत करता है। पद्मावत के अन्त में कवि स्वयं कह देता है कि यह कथा अन्योक्ति के रूप में कही गई है:—

"मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा ॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माहीं ॥

---

१. पद्मावत, राजा-सुआ-संवाद-खंड, दो० ५
२. पद्मावत, राजा-सुआ-संवाद-खंड, दो० ७

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल, बुधि पदमिनि चीन्हा।।
गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ?
नागमती यह दुनिया-धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।।
राघव दूत सोई संतानू। माया अलाउदीं सुलतानू।।
प्रेम-कथा एहि भाँति विचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु[1] ।।"

इन पंक्तियों में कवि ने अपनी कथा के आध्यात्मिक पक्ष की ओर संकेत किया है। इस कथन के अनुसार चित्तौड़ शरीर, रतनसेन मन, सिंहल हृदय, पद्मावती बुद्धि का प्रतीक, सुआ पथप्रदर्शक गुरु, नागमती सांसारिक वन्धन, राघवचेतन शैतान और अलाउद्दीन माया का प्रतिनिधि है।

पद्मावत में लौकिक और आध्यात्मिक इन दोनों पक्षों में से प्रस्तुत कौन है और अप्रस्तुत कौन ? इस विषय में विद्वानों का मतभेद है। कुछ विद्वान् लौकिक पक्ष को अप्रस्तुत और अध्यात्मपक्ष को प्रस्तुत मानते हुए इस कथा को अन्योक्ति मानते हैं। दूसरे लौकिक पक्ष को प्रस्तुत और आध्यात्मपक्ष को अप्रस्तुत मानकर इस कथा को समासोक्ति का उदाहरण बताते हैं। हमारे विचार में पद्मावत में लौकिक पक्ष ही प्रधान है, इसलिए उसी को प्रस्तुत मानना उचित है। आध्यात्मिक पक्ष अप्रधान होने के कारण अप्रस्तुत है। रतनसेन और पद्मावती को आत्मा और परमात्मा का प्रतीक मानने पर भी पद्मावत की सारी कथा मुख्यतया लौकिक पक्ष से ही सम्बन्ध रखती है। जायसी ने परोक्ष सत्ता की ओर कहीं-कहीं संकेत किया है, सारे काव्य में उसका आभासमात्र मिलता है, सर्वत्र उसके प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होते। पद्मावत के पूर्वार्द्ध में—विशेष कर प्रेम-खंड तक—तो आध्यात्मिकता कई स्थलों पर प्रस्फुटित हुई है, परन्तु उत्तरार्द्ध में वह लुप्त सी दीख पड़ती है। पद्मावत के प्रेम-खंड में रहस्यवाद की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। पद्मावती के प्रेम में विह्वल राजा रतनसेन की दशा में परमात्मा को प्राप्त करने के लिए उत्सुक जीवात्मा की विरह-दशा की स्पष्ट प्रतीति होती है:—

"सुनि सो बात राजा मन जागा। पलक न मार, पेम चित लागा।।
नैनन्ह ढरहिं मोति औ मूँगा। जस गुर खाइ रहा होइ गूँगा।।
हिय के जोति दीप यह सूझा। यह जो दीप अँधियारा बूझा[2] ।।"

राजा के चित्त के प्रेम में अनुरक्त हो जाने पर उस की आँखों से आँसुओं के रूप में मोती और मूँगे ढरने लगे। वह अपने हृदय की अनुभूति को गूँगे के गुड़ के समान व्यक्त करने में असमर्थ हो गया। उसे अपने हृदय में जो परम ज्योति दीख पड़ी उसके सामने वाह्य प्रकाशमान जगत शून्य दिखाई देने लगा।

ऐसे स्थलों पर जायसी एक सच्चे रहस्यवादी कवि के रूप में हमारे सामने आते

---

१. पद्मावत, उपसंहार, दो० १
२. पद्मावत, प्रेम-खंड, दो० ७

हैं। राजा-सुआ-संवाद-खंड और नखशिख-खंड में भी कहीं-कहीं कवि ने रहस्यमयी परोक्ष सत्ता की ओर संकेत किया है। जायसी के काव्य के आध्यात्मिक पक्ष पर भारतीय अद्वैतवाद और सूफ़ीमत दोनों का प्रभाव पड़ा है। उन्होंने आत्मा को रतनसेन और परमात्मा को पद्मावती के रूप में अंकित करके उनके रागात्मक सम्बन्ध द्वारा जीव और ब्रह्म की एकता प्रतिपादित की है। पर पद्मावत में इस रहस्यमयी भावना की अभिव्यक्ति सर्वत्र नहीं दीख पड़ती। ऐसे स्थल पद्मावत में बहुत कम हैं जिनका दोहरा अर्थ निकलता है। जहाँ-कहीं जायसी ने परोक्ष सत्ता की ओर संकेत किया है, वहाँ उनके काव्य का आध्यात्मिक पक्ष प्रकाश में आ जाता है, पर प्रधानता उसके लौकिक पक्ष की ही प्रतीत होती है।

वस्तु-वर्णन

महाकाव्य में विविध वर्णनों को प्रमुख स्थान दिया जाता है। एक महाकाव्यकार प्रतिभाशाली कवि में असाधारण वर्णन-शक्ति का होना आवश्यक है। जायसी ने भी पद्मावत में अपनी अद्भुत वर्णन-शक्ति का परिचय दिया है। पद्मावत में सिंहलद्वीप-वर्णन, जलक्रीड़ा-वर्णन, सिंहलद्वीप-यात्रा-वर्णन, समुद्र-वर्णन, विवाह-वर्णन, युद्ध-वर्णन, नख-शिख-वर्णन आदि अनेक वर्णन वर्तमान है। इन सब वर्णनों में कवि का असाधारण कौशल झलकता है। सिंहलद्वीप-वर्णन में उद्यानों, सरोवरों, कुओं, नगर, हाट और गढ़ आदि का वर्णन सम्मिलित है। उद्यान, सरोवर आदि के वर्णन में पर्याप्त सजीवता है और कवि की प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। सिंहलद्वीप के पनघट का वर्णन करते हुए कवि ने पनघट पर आने-जाने वाली सुन्दरियों के रूप तथा हाव-भावों का मार्मिक चित्र खींचा है। नगर, हाट और गढ़ के वर्णनों में नगर की समृद्धि तथा राजकीय ऐश्वर्य और प्रताप की अच्छी व्यंजना हुई है। मानसरोदक-खंड में पद्मावती की जल-क्रीड़ा का मनोरम चित्र खींचा गया है। जैसे:—

"सरवर तीर पदमिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई ॥
ससि-मुख, अंग मलयगिरि वासा। नागिन झाँपि लीन्ह चहुँ पासा ॥
ओनई घटा परी जग छाहाँ। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहाँ ॥
छपि गै दिनहि भानु कै दसा। लेइ निसि नखत चाँद परगसा ॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ-घटा महँ चंद देखावा[1] ॥"

सात समुद्रों के वर्णन में पर्याप्त स्वाभाविकता पाई जाती है। किलकिला समुद्र की दुस्तरता और भीषणता का चित्रण अच्छा बन पड़ा है। रतनसेन और पद्मावती के विवाह के वर्णन में हिन्दुओं में प्रचलित विवाह-पद्धति का पूर्णतया अनुसरण किया गया है। युद्ध-वर्णन में युद्ध का सजीव चित्रण दिखाई देता है। युद्ध-क्षेत्र में सैनिकों की मुठभेड़, शस्त्रों की झनकार, हाथी-घोड़ों का पारस्परिक संघर्ष, शस्त्रप्रहार से वीरों के सिर और

---

१. पद्मावत, मानसरोदक-खंड, दो० ४

धड़ों का गिरना, रक्त का बहना आदि युद्ध-सम्बन्धी घटनाओं की योजना में कवि ने पर्याप्त मौलिक-शक्ति दिखाई है। पद्मावत में सिंहलगढ़ और चित्तौड़गढ़ इन दो गढ़ों का वर्णन है। दोनों वर्णनों में पर्याप्त समानता पाई जाती है। सिंहलगढ़ का वर्णन पहले किया गया है, इसलिए उसमें सजीवता और मौलिकता है। इसके पश्चात् चित्तौड़-गढ़ के वर्णन में कोई विशेष नवीनता नहीं दिखाई देती ; वह साधारण कोटि का सिद्ध होता है। ऋतु-वर्णन उद्दीपन विभाव के रूप में हुआ है। उसमें प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का चित्रण सजीवता लिए हुए है। नखशिख-वर्णन में कवि ने अद्भुत कल्पना-शक्ति और वर्णन-कौशल दिखाया है। पद्मावती के विविध अंगों के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति बड़े मनोहर ढंग से हुई है। यद्यपि यहां कवि ने परम्परागत उपमानों की ही योजना की है, फिर भी कवि-कल्पना में पर्याप्त मौलिकता और सजीवता पाई जाती है। इसप्रकार पद्मावत में विविध वर्णनों का महत्वपूर्ण स्थान है। उनमें कहीं-कहीं अनावश्यक विस्तार के होते हुए भी रसात्मकता वर्तमान है। यद्यपि उद्यान-वर्णन में विविध फूलों और पक्षियों की नामावली उपस्थित करना, विवाह-वर्णन में भोज के अवसर पर नाना पकवानों और व्यंजनों की गणना, युद्धयात्रा के वर्णन में घोड़ों की विविध जातियों का इतिवृत्तात्मक विवरण इत्यादि बातें कला की दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं रखतीं, फिर भी एक विशाल महाकाव्य में ऐसी त्रुटियाँ उपेक्षणीय ही समझी जायेंगी।

रस-परिपाक

पद्मावत में श्रृंगाररस की प्रधानता है। करुण, वीर, शान्त, वीभत्स आदि अन्य रसों का समावेश भी इस में पाया जाता है। श्रृंगाररस का परिपाक इस में बहुत अच्छा हुआ है। संयोग और वियोग दोनों प्रकार के श्रृंगार के चित्र जायसी ने खींचे है, पर संयोग-श्रृंगार की अपेक्षा वियोग-श्रृंगार के वर्णन में उन्हें अधिक सफलता मिली है। रतनसेन और नागमती तथा रतनसेन और पद्मावती को आलम्बन मान कर कवि ने संयोग-श्रृंगार के कुछ चित्र उपस्थित किए हैं। पद्मावत में षट्ऋतु-वर्णन संयोग-श्रृंगार के उद्दीपन विभाव के रूप में हुआ है। नागमती और रतनसेन के संयोग का एक छोटा-सा चित्र चित्तौड़-आगमन-खंड में मिलता है। इस चित्र में नागमती के मान और रतनसेन की मीठी-भर्त्सना की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। रतनसेन और पद्मावती के संयोग का वर्णन कई स्थलों पर हुआ है। विवाह के पश्चात् पद्मावती और रतनसेन के समागम का चित्र पद्मावती-रतनसेन-भेंट-खंड में अंकित है। इस प्रसंग में वाक्चातुर्य और मधुर परिहास की व्यंजना बहुत सुन्दर हुई है। संयोग से पहले राजा की कठिनाइयों का वर्णन सुनकर पद्मावती रानी और भिखारी के सम्बन्ध की अयोग्यता इन हास्यपूर्ण शब्दों में व्यक्त करती है:—

"अपने मुँह न बड़ाई छाजा। जोगी कतहुं होहि नहिं राजा॥
हौं रानी तू जोगि भिखारी। जोगिहि भोगिहि कौन चिन्हारी?
जोगी सबै छन्द अस खेला। तू भिखारि तेहि माहिं अकेला[1]॥"

---

१. पद्मावत, पद्मावती-रतनसेन-भेंट-खंड, दो० १७

पद्मावती का यह मीठा परिहास संयोग-शृंगार के लिए अधिक अनुकूल वातावरण उपस्थित करता है। संयोग-शृंगार के अन्य चित्र भी पद्मावत में मिलते हैं, पर इन चित्रों में अनुभावों और संचारीभावों की विशद व्यंजना बहुत कम हुई है। इन में स्वाभाविकता और मार्मिकता की न्यूनता है और कल्पना का अंश अधिक है।

विरह-वर्णन में जायसी की कवि-प्रतिभा का उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। पद्मावत में नागमती का विरह-वर्णन एक महत्वपूर्ण अंश है। जायसी का हृदय प्रेम की पीर से परिपूर्ण था। उनके हृदय की यही पीड़ा नागमती के विरह-वर्णन में व्यक्त हुई है। पद्मावत में संयोग-शृंगार का मुख्य आलम्बन पद्मावती है पर वियोग का प्रधान आश्रय नागमती है। जायसी ने नागमती के विरह का वर्णन मुख्यतया भारतीय पद्धति पर किया है। वह कहीं-कहीं अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी संयत और परिष्कृत है। उसमें गंभीरता और विरह-व्यथा की सच्ची अनुभूति वर्तमान है। रतनसेन के राजपाट को छोड़ कर सिंहल-द्वीप की ओर प्रस्थान करने पर नागमती विरह की आग में गीली लकड़ी की तरह जलती है, रोती है और रक्त के आँसू बहाती है :—

"कुहुकि-कुहुकि जस कोइल रोई। रकत-आँसु घुंघची बन बोई॥
भइ करमुखी नैन तन राती। को सरोव ? विरहा दुख ताती॥
जहँ-जहँ ठाढ़ि होइ बनवासी। तहँ-तहँ होइ घूँघुचि कै रासी[1] ॥"

वह रानी नहीं, वनवासिनी होकर वन-वन में भटकती फिरती है। जड़-चेतन सारा जगत् उस की विरह-ज्वाला में झुलसता दीख पड़ता है। उसकी विरहाग्नि के धुएँ से भौंरे और कौवे काले पड़ गए हैं। नागमती उनके द्वारा प्रियतम तक संदेश पहुँचाना चाहती है :—

"पिउ सौं कहेहु संदेसड़ा, हे भौंरा ? हे काग ?
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहिक धुवाँ हम्ह लाग[2] ॥"

नागमती की विरह-वेदना की अनुभूति पेड़, पक्षी, सूर्य, चन्द्र, पर्वत, समुद्र आदि सभी को होती है। वह सबको अपना दुखड़ा सुनाती है, सबके सामने अपना हृदय खोल कर रख देती है। जायसी ने यहां नागमती को उस दशा में लाकर उपस्थित किया है, जहां वह जड़-चेतन सारी सृष्टि को अपना समझने लगती है। अब वह अपने रूप पर गर्व करने वाली रानी के रूप में नहीं, सारे विश्व से प्रेम करने वाली उदार नारी के रूप में हमारे सामने आती है। उसकी विरह-व्यथा का मार्मिक चित्र ऐसी पंक्तियों में अंकित हुआ है :—

"यह तन जारौं छार कै, कहौं कि 'पवन, उड़ाव'।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कन्त धरे जहँ पाव[3] ॥"

---

१. पद्मावत, नागमती-वियोग-खंड, दो० १६
२. पद्मावत, नागमती-वियोग-खंड, दो० ६
३. पद्मावत, नागमती-वियोग-खंड, दो० १२

"हाड़ भए सब किंगरी, नसैं भई सब ताँति।
रोवँ-रोवँ तें धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति १ ॥"

पद्मावत का बारहमासा वियोग-शृंगार के उद्दीपन विभाव के रूप में वर्तमान है। उसमें नागमती की विरह-दशा प्रकृति में प्रतिबिम्बित दीख पड़ती है। नागमती के विरह-वर्णन में कवि ने अधिकतर विरहतापजन्य हृदय की वेदना की ही व्यंजना की है। यह वर्णन स्वाभाविक, मर्मस्पर्शी और सरस है। नागमती के विरह के अतिरिक्त रतनसेन और पद्मावती के वियोग का वर्णन भी पद्मावत में पाया जाता है, किन्तु जितनी सफलता कवि को नागमती के विरह-चित्रण में हुई है, उतनी अन्यत्र नहीं।

पद्मावत में करुण और वीर रस का चित्रण भी अच्छा हुआ है। करुणरस के कई प्रसंग पद्मावत में मिलते हैं। रतनसेन के चित्तौड़ से सिंहल को विदा होते समय उस की माता तथा अन्य रानियों की शोकाकुल दशा का वर्णन करुणरस का अच्छा उदाहरण है। सिंहल से रतनसेन की विदाई के अवसर पर भी करुणरस की व्यंजना हुई है। सती-खंड में करुण-रस का परिपाक अच्छा हुआ है। राजा-बादशाह-खंड, गोरा-बादल-युद्ध-खंड और रतनसेन-देवपाल-युद्ध-खंड में वीर-रस की अभिव्यक्ति अच्छी हुई है। लक्ष्मी-समुद्र-खंड में भयानक रस पाया जाता है। शांत-रस की योजना भी पद्मावत में वर्तमान है। काव्य के आरम्भ और अन्त में शान्त-रस का चित्रण अच्छा हुआ है। यद्यपि जायसी मुख्यतया विप्रलम्भ-शृंगार के ही कवि हैं; फिर भी उसके अतिरिक्त अन्य रसों का निर्वाह भी पद्मावत में अच्छा हुआ है।

अलंकार-योजना

जायसी ने विविध अलंकारों की योजना से अपने काव्य के कला-पक्ष को समृद्ध किया है। जानबूझ कर अलंकार-प्रदर्शन की चेष्टा जायसी ने नहीं की है। उन्होंने अधिकतर सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग किया है। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है। इन में भी उत्प्रेक्षा अलंकार की ओर कवि की विशेष रुचि लक्षित होती है। उत्प्रेक्षा के अनेक सुन्दर उदाहरण पद्मावत में वर्तमान हैं। पद्मावती के रूप का वर्णन करते हुए कवि ने उसके दाँतों की शोभा इस प्रकार उत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा व्यक्त की है:—

"ससिमुख जबहिं कहै किछु बाता। उठत ओठ सूरुज जस राता॥
दसन-दसन सौं किरिन जो फूटहिं। सब जग जनहुँ फुलझरी छूटहिं॥
जानहुँ ससि महँ बीजु देखावा। चौंधि परै किछु कहै न आवा २ ॥"

नागमती के विरह-वर्णन तथा नखशिख-वर्णन में हेतूत्प्रेक्षा की योजना कई स्थलों पर हुई है। पद्मावती के ललाट की शोभा का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है:—

१. पद्मावत, नागमती-संदेश-खंड, दो० २
२. पद्मावत, पद्मावतीरूप-चर्चा-खंड, दो० २

"सहस किरिन जो सुरुज दिपाई। देखि लिलार सोउ छपि जाई[1] ॥"

यहां पद्मावती के ललाट को देखकर सूर्य के छिप जाने में अहेतु को हेतु मानने के कारण हेतूत्प्रेक्षा है।

इसी प्रकार पद्मावती के अधरों की सुन्दरता का वर्णन इन शब्दों में किया गया है:—

"अधर सुरंग अमीरस भरे। विम्व सुरंग लाजि वन फरे[2] ॥"

यहां पद्मावती के अधरों से लज्जित होकर विम्व फल का वन में प्रकट होना कहा गया है। अधरों से लज्जित होना, वास्तविक हेतु नहीं है, उसमें हेतु की संभावना होने से हेतूत्प्रेक्षा है।

जायसी ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों में प्राय: परम्परागत उपमानों को ही अपनाया है। पर उनमें से अधिकांश उपमान भावोद्रेक में सहायक प्रतीत होते हैं। उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त व्यतिरेक, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, विभावना, प्रत्यनीक आदि अर्थालंकार भी पद्मावत में पाए जाते हैं। व्यतिरेक का एक उदाहरण देखिए :—

"का सरवरि तेहि देउँ मयंकू। चाँद कलंकी, वह निकलंकू ॥
औ चांदहि पुनि राहु गरासा। वह विनु राहु सदा परगासा[3] ॥"

जायसी की अतिशयोक्तियों में कहीं-कहीं अस्वाभाविकता अवश्य आ गई है। अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों का प्रयोग भी पद्मावत में पाया जाता है, पर कहीं भी कवि ने जानबूझ कर शब्दों के साथ खेलवाड़ करने का प्रयास नहीं किया है। जायसी के अधिकांश अलंकार रस-परिपाक में सहायक होते हुए काव्य के सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं।

भाषा-सौष्ठव

पद्मावत की रचना ठेठ अवधी में हुई है। जायसी जनता के कवि थे, इसलिए उन्होंने जनसाधारण में प्रचलित अवधी को अपनाया। दोहे-चौपाइयों-वाली प्रवन्ध-पद्धति के लिए अवधी भाषा उपयुक्त सिद्ध हो चुकी थी। जायसी से पहले मंझन और कुतवन ने मधुमालती और मृगावती में अवधी का ही प्रयोग किया था; किन्तु जितना सौष्ठव जायसी की भाषा में वर्तमान है, उतना उनके पूर्ववर्ती अन्य कवियों की भाषा में नहीं दिखाई देता। तुलसी ने भी रामचरितमानस की रचना अवधी में की है, किन्तु उनकी और जायसी की अवधी में पर्याप्त अन्तर है। जायसी की भाषा बोलचाल की ठेठ अवधी है, उसमें देहातीपन है, परन्तु तुलसी ने मानस में साहित्यिक, संस्कृतगर्भित अवधी का

१. पद्मावत, नख-शिख-खंड, दो० ३
२. पद्मावत, नख-शिख-खंड, दो० ८
३. पद्मावत, नख-शिख-खंड, दो० ३

प्रयोग किया है। तुलसी की भाषा में पाण्डित्य झलकता है, पर जायसी की भाषा लोक-भाषा का मौलिक रूप लिए हुए है। जायसी की ठेठ अवधी में कुछ पुराने पच्छिमी रूप भी आ गए हैं, जिनके कारण भाषा कहीं-कहीं अव्यवस्थित सी दीख पड़ती है। इतना होते हुए भी उन्होंने शब्दों को तोड़-मरोड़ कर विकृत नहीं किया है। उनकी भाषा में दीर्घ, समस्त पदों का अभाव है। उसमें मधुरता और सरसता पर्याप्त है। भावों की व्यंजना में वह पूर्णतया समर्थ है, उसमें स्वाभाविकता और सरलता है। कहीं-कहीं मुहावरों के प्रयोग से उसमें अधिक सजीवता भी आ गई है।

पद्मावत का स्थान

इस प्रकार महाकाव्य की दृष्टि से पद्मावत एक सफल रचना सिद्ध होती है। हिन्दी की महाकाव्य-परम्परा में रामचरितमानस के पश्चात् दूसरा स्थान पद्मावत को ही प्राप्त होना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रामचरितमानस का क्षेत्र बहुत व्यापक और विस्तृत है। उसमें जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं का सर्वांगीण चित्र वर्तमान है। तुलसी की अपेक्षा जायसी का क्षेत्र सीमित है। पद्मावत में प्रेमतत्व की ही प्रधानता है। प्रेमतत्व के साथ-साथ जीवन की अन्य वृत्तियों को भी पद्मावत में स्थान मिला है किन्तु उनकी व्यंजना में कवि की दृष्टि अधिक नहीं रमी है। मानस और पद्मावत दोनों महाकाव्यों की रचना-शैली और भाषा में बहुत कुछ समानता है। तुलसी की रचना में अद्भुत सृजन-शक्ति अभिव्यक्त हुई है। तुलसी की जैसी व्यापक अन्तर्दृष्टि जायसी में भले ही न हो, उनमें वह प्रबन्धपटुता, वर्णन-कुशलता और विलक्षण कल्पनाशक्ति पाई जाती है, जोकि एक सफल महाकाव्यकार कवि में होनी चाहिए।

रामचरितमानस

गोस्वामी तुलसीदास-रचित रामचरितमानस हिन्दी-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। जिस रामकथा को लेकर संस्कृत में आदि-कवि वाल्मीकि ने अपने अमर महाकाव्य रामायण की रचना की थी, उसने पश्चात्कालीन अनेक महाकाव्यकार कवियों को आकृष्ट किया। राम-कथा में महाकाव्य के अनुरूप जीवन के विविध पक्षों के उद्घाटन की क्षमता थी, इसलिए संस्कृत के अतिरिक्त अन्य विविध भारतीय भाषाओं में भी अनेक कवियों ने इस कथा को लेकर महाकाव्यों की रचना करने का प्रयत्न किया है। इसी प्राचीन राम-कथा को लेकर अपभ्रंश में स्वयंभू ने 'पउम-चरिउ' (रामायण) के रूप में एक उत्कृष्ट महाकाव्य हमारे सामने प्रस्तुत किया। आगे चलकर हिन्दी में तुलसी ने इसी राम-कथा के आधार पर रामचरितमानस की रचना की है। रामचरितमानस में हिन्दी-महाकाव्य-शैली का चरम उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है।

मानस का महाकाव्यत्व

तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना में महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों का अनुसरण किया है। महाकाव्य के निश्चित लक्षणों के अनुसार रामचरितमानस की

कथावस्तु का विभाजन सर्गो में होना चाहिए था किन्तु तुलसी ने उसे सात काण्डों में विभक्त किया है। महाकाव्य की कथावस्तु का सर्गो में विभाजन आवश्यक नहीं। अपभ्रंश के महाकाव्यों में भी सर्ग के स्थान पर सन्धि, कुडवक आदि अन्य नामों का प्रयोग होने लग गया था। ग्रन्थारम्भ में कवि ने देवताओं की वन्दना की है और दुष्टों की निन्दा और सज्जनों की स्तुति को स्थान दिया है। क्षत्रिय-कुलोद्भव राम इसके धीरोदात्त नायक हैं। शृंगार, शान्त और वीर-रस में से इस काव्य में शान्त-रस को प्रधानता मिली है। करुण, रौद्र, वात्सल्य, अद्भुत आदि अन्य रसों को भी इसमें स्थान दिया गया है। महाकाव्यों की परम्परागत परिपाटी के अनुसार इस रचना में नगर, वन, पर्वत, ऋतु, विवाह, संयोग, वियोग, युद्ध आदि के सुन्दर वर्णन वर्तमान हैं। जनकपुरी, अयोध्या और लंका के वर्णन नगर-वर्णन के सुन्दर उदाहरण हैं। चित्रकूट-वर्णन में वन और पर्वतों के मनोहर दृश्य उपस्थित किए गए हैं। वर्षा और शरद-ऋतु का मनोरम वर्णन भी मानस में पाया जाता है। छन्दों का प्रयोग भी मानस में महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार हुआ है। प्रत्येक काण्ड में मुख्यतया दोहे-चौपाइयों की योजना की गई है। प्रायः प्रत्येक काण्ड के अन्त में हरिगीतिका का प्रयोग करके कवि ने सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन के नियम का पालन भी किया है। अरण्यकाण्ड में दोहे-चौपाइयों के अतिरिक्त हरिगीतिका, भुजंगप्रयात, त्रोटक, नाराच आदि विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है। प्रत्येक काण्ड का नामकरण इसमें वर्णित विषय के अनुकूल ही हुआ है। इस रचना का मुख्य लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से धर्म (लोक-धर्म) की प्रतिष्ठा करना है। मुख, प्रतिमुख, गर्भ आदि पाँचों सन्धियों का समावेश भी मानस में पाया जाता है। बाल-काण्ड के आरम्भ में राक्षसों के अत्याचार से पीड़ित पृथ्वी और देवताओं का ब्रह्मा के पास जाना तथा भगवान् का आकाशवाणी द्वारा उन्हें सान्त्वना देना इन दो प्रसंगों में मुखसन्धि है। राम के वनगमन से लेकर सुमंत्र के लौटने तक की कथा में प्रतिमुखसन्धि पाई जाती है। राम के अरण्यनिवास से लेकर सीतापहरण तक गर्भसन्धि है। राम-सुग्रीव-मित्रता, सीता की खोज के लिए वानरों का प्रयत्न, हनुमान का सीता का पता लगा कर लंका से लौटना, और युद्ध की तैयारी जैसे प्रसंगों में विमर्शसन्धि है और रावण-वध से लेकर रामराज्य-वर्णन तक निर्वहण सन्धि पाई जाती है। इस प्रकार रामचरितमानस में महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण घट जाते हैं।

संस्कृत के अधिकांश महाकाव्यकारों ने अपनी कृतियों में पाण्डित्य-प्रदर्शन की चेष्टा की है। जन-सामान्य के जीवन का चित्र उनके काव्यों में नहीं मिलता। मानस में तुलसी ने जीवन का सर्वांगीण चित्र उपस्थित किया है। संस्कृत के कवियों की तरह तुलसी ने वर्णनों को अनुचित महत्व देकर कथानक की उपेक्षा नहीं की है। संस्कृत के पश्चात्कालीन महाकाव्यों की कृत्रिम शैली का अनुसरण न करके तुलसी ने घटनाओं और वर्णनों के बीच सुन्दर अन्विति दिखाई है। मानस के कथानक में व्यापकता और सम्पूर्ण जीवन को आत्मसात् करने की क्षमता है। नायक का चरित्र भी महाकाव्योचित महानता को लिए हुए है, उसमें भारतीय जीवन और संस्कृति का सर्वांग-सुंदर चित्र चित्रित हुआ है। व्यक्तिगत

सुख को त्याग कर लोक-हित की प्रतिष्ठा ही मानस का महान् उद्देश्य है। इसप्रकार मानस में वे सारी विशेषताएँ वर्तमान है जो कि एक उच्चकोटि के महाकाव्य में होनी चाहिएं। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार महाकाव्य के जो संकलनात्मक और कलात्मक दो भेद किए जाते है, उन दोनों प्रकार के महाकाव्यों की विशेषताओं का विलक्षण समन्वय रामचरितमानस में दृष्टिगत होता है। मानस में जहां अपने युग की सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ जातीय जीवन की अभिव्यक्ति हुई है, वहां काव्य-कला का उत्कृष्ट रूप भी देखने को मिलता है।

कथानक-समीक्षा

रामचरित-मानस का मूल कथानक वाल्मीकि-रामायण से लिया गया है। उस की स्थूल रूप-रेखा वाल्मीकि-रामायण पर आधारित है। पर तुलसी ने उस कथानक में स्थान-स्थान पर कलात्मकता और मौलिकता की सृष्टि की है। वाल्मीकि-रामायण में उपकथाओं और प्रासंगिक घटनाओं का विस्तार के साथ वर्णन मिलता है पर तुलसी ने उनको संक्षिप्त तथा कलात्मक रूप देकर मुख्यकथा से सम्बद्ध किया है। वाल्मीकि-रामायण में राम के जन्म की कथा (घटना) साधारण रूप में वर्णित है जब कि तुलसी के मानस में राम का जन्म शुभ मुहूर्त में अनुकूल वातावरण में हुआ है। तुलसी ने जन्म के समय राम के अलौकिक ऐश्वर्य और प्रताप का सुन्दर चित्र खींचा है[1]। वाल्मीकि ने बाल्यावस्था में राम के विद्याभ्यास का वर्णन विस्तार के साथ किया है। तुलसी ने इस प्रसंग को बहुत संक्षिप्त करके मानस में स्थान दिया है[2]। तुलसी राम को ईश्वर का अवतार मानते हैं। इसलिए साधारण शिष्य के रूप में उनका विद्याभ्यास करना तुलसी को अनुचित दिखाई दिया है। मानस में राम के विवाह से पूर्व जनक की फुलबाड़ी में राम और सीता के प्रथम मिलन की योजना करके कवि ने पूर्वानुराग का स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया है। वाल्मीकि ने इस पूर्वमिलन की ओर कोई संकेत नहीं किया है। इस अवसर पर राम के साथ लक्ष्मण और सीता के साथ उसकी सखियों को दिखा कर तुलसी ने मर्यादा और शिष्टता का पालन किया है। वाल्मीकि-रामायण में परशुराम राम को विवाह के पश्चात् अयोध्या को लौटते समय मार्ग में मिलते हैं और राम का अतुल पराक्रम देख कर अपना धनुष उन्हें देकर वहीं से विदा हो जाते हैं। मानस में राम द्वारा शिव-धनुष के टूट जाने पर परशुराम शीघ्र ही यज्ञशाला में प्रवेश करते हैं। मानस में राम-परशुराम-सम्वाद और लक्ष्मण-परशुराम-सम्वाद की आयोजना करके इस प्रकरण को सुन्दर, नाटकीय रूप दिया गया है। वाल्मीकि-रामायण में राम के राज्य

---

१. भए प्रकट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारीमुनिमनहारी अदभुत रूप निहारी॥
—मानस, बाल-काण्ड, दो० १९

२. गुरुगृह गए पढ़न रघुराई। अलप काल विद्या सब पाई॥
—मानस, बाल-काण्ड, दो० २०

भिषेक का प्रस्ताव दशरथ ने राज्यपरिषद् के सामने रखा, पर मानस में दशरथ केवल वसिष्ठ की सम्मति लेकर राम के राज्याभिषेक की तैयारी करते हैं। यह परिवर्तन तुलसी ने संभवत: अपने समय की राज्य-व्यवस्था को ध्यान में रखकर किया है। मानस में राम-केवट-सम्वाद में तुलसी ने अपनी मौलिक रचना-शक्ति प्रदर्शित की है। इसी प्रकार चित्रकूट के मार्ग में भरत को सेना-सहित जाते देख कर निषादराज की युद्ध की तैयारी का वर्णन तुलसी ने बहुत स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। चित्रकूट में समाजसहित जनक के पहुँचने की घटना वाल्मीकि-रामायण में नहीं है। तुलसी ने इस प्रसंग की उद्भावना करके अयोध्या और मिथिला दोनों राजधानियों में राम और सीता के वनगमन के कारण विक्षुब्ध परिस्थिति की ओर संकेत किया है। जब स्वर्णमृग के रूप में मारीच का अनुसरण करते हुए राम दूर निकल जाते हैं, तब राम के बाण से आहत होकर मारीच ने "हा लक्ष्मण ?" यह शब्द किया और इसे सुन कर सीता ने व्याकुलता प्रदर्शित की। इस घटना का वर्णन वाल्मीकि और तुलसी दोनों ने भिन्न-भिन्न ढंग से किया है। वाल्मीकि-रामायण में सीता ने लक्ष्मण के लिए 'नृशंस', 'कुलपांसन', आदि कठोर शब्दों का प्रयोग किया है और लक्ष्मण ने भी 'धिक्त्वामद्य प्रणश्य त्वं यन्मामेवं विशंकसे' इन शब्दों में सीता को धिक्कार दिया है[1]। तुलसी ने इस प्रसंग में ऐसी कटूक्तियों का प्रयोग न करके उसे अनौचित्य दोष से बचा लिया है[2]। वर्षा और शरद ऋतु का वर्णन राम के प्रवर्षण-प्रवास के समय वाल्मीकि और तुलसी दोनों ने किया है। वाल्मीकि का वर्णन विस्तृत है, किन्तु तुलसी का संक्षिप्त। जहां वाल्मीकि ने इस प्रकरण में प्रकृति के विविध रूपों का कलात्मक, सजीव चित्र खींचा है, वहां तुलसी का वर्णन प्रकृति के सुन्दर चित्रों के साथ-साथ उपदेशात्मकता को भी लिए हुए है। मानस में हनुमान सीता से फल खाने की आज्ञा पाकर रावण की अशोक-वाटिका को विध्वस्त करता है, पर वाल्मीकि-रामायण में सीता की आज्ञा का उल्लेख नहीं है। वाल्मीकि-रामायण में हनुमान द्वारा वाटिका-विध्वंस का समाचार पाकर रावण ने हनुमान को पकड़ने के लिए पहले अनेक सेनापतियों तथा मन्त्रिपुत्रों को भेजा और जब वे सब मारे गए तब अक्षयकुमार वहां पहुँचा। मानस में केवल अक्षयकुमार ही हनुमान को पकड़ने के लिए जाता है। इसीप्रकार शरणागत विभीषण और राम का सम्वाद तथा अंगद और रावण

---

१. अब्रवीत् परुषं वाक्यं लक्ष्मणं सत्यवादिनम्।
अनार्याकरुणारम्भ नृशंस कुलपांसन॥
—वा० रा०, अरण्य-काण्ड, सर्ग ४५, २१
न्यायवादी यथान्यायमुक्तोऽहं परुषं त्वया।
धिक्त्वामद्य प्रणश्य त्वं यन्मामेवं विशंकसे॥
—वा० रा०, अरण्य-काण्ड, सर्ग ४५, ३२

२. देखिए—मानस, अरण्य-काण्ड, दो० २७

का सम्वाद भी दोनों काव्यों में भिन्न प्रकार से हुआ है। राक्षसों और वानरों के युद्ध का जितना विस्तृत वर्णन वालमीकि-रामायण में मिलता है, उतना मानस में नहीं। उत्तरकाण्ड में तुलसी ने सीता-निर्वासन की कथा को अपने काव्य में स्थान नहीं दिया है। संभवतः यहां रामभक्त तुलसी ने मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र के चरित्र को सती-साध्वी सीता के निर्वासन-जनित कलंक से मुक्त रखने की चेष्टा की है। वास्तव में मानस में कथा-वस्तु की योजना कई स्थलों पर वालमीकि-रामायण से भिन्न दिखाई देती है। दोनों रचनाओं के प्रमुख प्रसंगों की पारस्परिक तुलना से यह सिद्ध होता है कि तुलसी ने उनमें बहुत-कुछ परिवर्तन किया है। यह परिवर्तन विशेषकर विविध प्रसंगों में कलात्मकता लाने के लिए हुआ है। मुख्य कथानक के स्वाभाविक विकास की ओर तुलसी ने पूरा ध्यान दिया है। विविध घटनाओं तथा उपकथाओं का मुख्य कथानक के साथ पूरा सामंजस्य रामचरितमानस में दिखाई देता है।

चरित्र-चित्रण

रामचरित-मानस में तुलसी ने अपने पात्रों के चरित्रांकन में मानव-प्रकृति के सूक्ष्म अध्ययन का परिचय दिया है। विविध पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं की अभिव्यक्ति मनोवैज्ञानिक ढंग से हुई है। राम मानस के धीरोदात्त नायक हैं। संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों में धीरोदात्त नायक के जो गुण बताए गए हैं, वे सब राम में वर्तमान हैं[1]। पर तुलसी ने उन परम्परागत गुणों के साथ-साथ राम के चरित्र में व्यक्तिगत विशेषताओं को भी सफलतापूर्वक व्यक्त किया है। तुलसी के राम वालमीकि के राम से भिन्न हैं। वालमीकि ने राम को एक आदर्श मानव के रूप में चित्रित किया है। तुलसी ने मानस में राम के चरित्र में देवत्व और मनुष्यत्व दोनों का सामंजस्य दिखाया है। राम के चरित्र में सत्य-प्रियता, नम्रता, दृढ़ता, गम्भीरता, दानशीलता और धर्मपरायणता आदि उदात्त गुणों की अभिव्यक्ति सुन्दर ढंग से हुई है। उन के हृदय में गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, भाइयों के प्रति अगाध प्रेम, माता-पिता के प्रति आदर-भाव और दीन-दुखियों के लिए दया तथा सहानुभूति भरी पड़ी है। अपनी विमाता कैकेयी के प्रति भी उन्होंने प्रेमपूर्ण व्यवहार दिखाया है। चित्रकूट में भरत के साथ माताओं के पहुँचने पर वे सर्वप्रथम कैकेयी से भेंट करके उसे सान्त्वना प्रदान करते हैं। भरत के लिए राम का हृदय निश्छल प्रेम से परिपूर्ण है। शत्रुओं तक के लिए उनके हृदय में सद्भावना है। शूर्पणखा के प्रति उनका अशिष्ट व्यवहार और वालि के वध में छल-कपट का प्रयोग उनके चरित्र की दुर्बलता को व्यक्त करता है, पर यही दुर्बलता उन्हें देवत्व से मनुष्यत्व की ओर लाती है।

मानस में भरत का चरित्र सर्वोत्कृष्ट है। भरत के सामने अन्य सारे चरित्र छोटे प्रतीत होते हैं। उसके के हृदय में राम के प्रति अगाध प्रेम है। वह अयोध्या का राज्य त्याग

---

१. अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्वः।
स्थेयान्निगूढ़मानो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः कथितः॥

—साहित्यदर्पण, परि० ३, ३२

कर अपने आदर्श भ्रातृप्रेम का परिचय देता है। चित्रकूट में राम के साथ भरत की बातचीत में तुलसी ने भरत के चरित्र की विशेषताओं को मनोवैज्ञानिक ढंग से व्यक्त किया है। भरत का त्याग, उस की निष्ठा और साधना उसके चरित्र को अत्यधिक उज्ज्वल बना देते हैं। ननिहाल से लौटने पर पिता की मृत्यु और राम के वन-गमन का समाचार पाकर भरत की आत्मग्लानि का मार्मिक चित्र तुलसी ने अंकित किया है।

लक्ष्मण का चरित्र राम और भरत के चरित्र से भिन्न है। राम और भरत के समान लक्ष्मण में भी उत्साह, दृढ़ता, सत्यनिष्ठा, सरलता और उदारता है, किन्तु उस में राम और भरत की सी गम्भीरता, नम्रता और सहनशीलता नहीं है। वह सत्यवादी, साहसी और निर्भीक है। मानस के दशरथ आदर्श पिता हैं, कौशल्या और सुमित्रा आदर्श माताएँ हैं और सीता आदर्श पत्नी है। सीता लज्जाशील, सती-साध्वी कुलवधू है। वह पति की सहधर्मिणी है। गुरुजनों के प्रति उस का सेवा-भाव प्रशंसनीय है। कैकेयी का चरित्र निन्दनीय अवश्य है किन्तु पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर ही उस ने राम को वन में भेजा है। अन्त में तुलसी उसे पश्चाताप, आत्मग्लानि और आन्तरिक व्यथा की अग्नि में शुद्ध करके उज्ज्वल बना देते हैं। उस का चरित्र घृणास्पद नहीं, दयनीय है। रावण दुष्ट, दंभी, अभिमानी और हठी है। उस के चरित्र का विकास भी स्वाभाविक ढंग से हुआ है। अंगद-रावण-सम्वाद में अंगद के मुख से रावण के लिए अपमानजनक शब्दों का प्रयोग कराते हुए तुलसी ने रावण के ऐश्वर्य और मान-मर्यादा को क्षति अवश्य पहुँचाई है। केवट, हनुमान, और विभीषण के चरित्र में तुलसी की आदर्श भक्ति-भावना प्रस्फुटित हुई है। इस प्रकार मानस में तुलसीदास ने सुन्दर चरित्रों की सृष्टि की है। उनके चारित्रिक विकास में उनकी चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी प्रतिभा का कौशल दृष्टिगत है। उनके चरित्र हमारे मानसिक स्तर को ऊपर उठाने में पूर्णतया समर्थ हैं।

समाज का चित्र

रामचरित-मानस में भारतीय समाज का आदर्श रूप उपस्थित किया गया है। वर्णाश्रम-धर्म की महत्ता मानस में बड़े सुन्दर ढंग से प्रतिपादित की गई है। तुलसी के मत में समाज की उन्नति वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था पर ही अवलम्बित है। उन्होंने ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धा दिखाई है, वे ब्राह्मणों के उत्तरदायित्व को अच्छी तरह जानते थे। चरित्र-हीन ब्राह्मणों की उन्होंने निन्दा भी की है। वर्णव्यवस्था के समर्थक होते हुए भी तुलसी ने भक्ति के क्षेत्र में ऊँच-नीच और जाति-पाँति का भेद स्वीकार नहीं किया है। तुलसी के राम ने केवट और शवरी के प्रति जो प्रेम दिखाया है, उससे यह स्पष्ट है। समाज की सुव्यवस्था के लिए तुलसी ने जनता का शास्त्रों के अनुशासन में रहना आवश्यक समझा है। भारतीय जीवन के चार आश्रमों में से तुलसी ने गृहस्थाश्रम को विशेष महत्व दिया है। भारतीय समाज का मुख्य आधार गृहस्थाश्रम ही है। मानस के राम-परिवार में उन्होंने आदर्श हिन्दू-परिवार की सृष्टि की है। मानस में चित्रित परिवार के सारे सदस्य अपने-अपने कर्तव्य के पालन में तत्पर दिखाई देते हैं। दशरथ एक आदर्श पिता हैं। उनकी सत्य-

चित्रकूट में सीता के साथ राम-लक्ष्मण को देख कर कैकेयी की आत्मग्लानि इन शब्दों में व्यक्त हुई है:—

"लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥
अवनि जमहि जाचति कैकेई। महि न बीचु, विधि मीचु न देई [1]॥"

इस प्रकार मानस में घृणा, उल्लास, विस्मय, उत्साह, आशा, निराशा आदि नाना भावों की मर्मस्पर्शी और स्वाभाविक व्यंजना हुई है।

रस-निर्वाह

मानस में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, शान्त आदि सभी रसों को स्थान मिला है, पर शान्त-रस की प्रधानता के कारण अन्य सभी रस उसके अंग बन गए हैं। शृंगार-रस का वर्णन तुलसी ने बहुत संयत और स्वाभाविक ढंग से किया है। पुष्पवाटिका में राम और सीता के प्रथम साक्षात्कार के प्रसंग में संयोग शृंगार का अच्छा चित्र खींचा गया है:—

"कंकन किंकिनि नूपुरधुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदभी दीनी। मानसा विस्व विजय कहँ कीनी॥
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा। सिय मुख ससि भए नयन चकोरा॥
भए बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दिगंचल॥
देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत वचन न आवा [2]॥"

यहां राम के प्रेम (रति) का आलम्बन सीता है। कंकण और पायलों की ध्वनि उद्दीपन विभाव है। राम का टकटकी लगाकर देखना, सीता के सौन्दर्य की सराहना करना अनुभाव हैं। उत्सुकता, लज्जा, जड़ता आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारीभावों से परिपुष्ट रति यहां शृंगार-रस में परिणत हुई है।

सीता के विरह में राम की व्याकुलता बहुत मार्मिक शब्दों में व्यक्त हुई है और इसी मानव-सुलभ व्याकुलता के कारण भगवान् राम हमारे हृदय के अधिक निकट आ जाते हैं। इस प्रसंग में विप्रलम्भ-शृंगार का अच्छा परिपाक दीख पड़ता है। जैसे:—

"लछिमन देखु विपिन कइ सोभा। देखत केहि कर मन नहिं छोभा॥
नारि-सहित सब खग मृग वृन्दा। मानहुँ मोरि करत हहिं निन्दा॥
हमहिं देख मृग निकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं॥
तुम आनन्द करहु मृग जाए। कंचन मृग खोजन ए आए [3]॥"

---

१. मानस, अयो०, दो० २५१.
२. मानस, बाल०, दो० २२६,
३. मानस, अरण्य०, दो० ३६

राम के वन-गमन पर दशरथ की मृत्यु, लक्ष्मण की मूर्च्छा, रावण की मृत्यु पर मन्दोदरी का विलाप आदि प्रसंगों में करुण-रस का अच्छा परिपाक हुआ है। वीर-रस का वर्णन मानस में कई स्थलों पर हुआ है। वीररस के चारों भेदों (युद्धवीर, दानवीर, धर्मवीर और दयावीर) में से तुलसी ने युद्धवीर को ही मानस में प्रमुख स्थान दिया है। हास्यरस की व्यंजना मानस में कई प्रसंगों में हुई है। मानस के आरम्भ में नारद-मोह-प्रकरण में और शिव-विवाह-प्रसंग में हास्य की सुन्दर छटा वर्तमान है। इसी प्रकार परशुराम-लक्ष्मण-सम्वाद, केवट-राम-सम्वाद तथा अंगद-रावण-सम्वाद में भी कवि ने हास्य के सुन्दर उदाहरण उपस्थित किए हैं। मानस-जैसे विशाल-काय महाकाव्य में रौद्र, भयानक, वात्सल्य और शान्त रस के भी अनेक उत्कृष्ट उदाहरण वर्तमान हैं।

कला-पक्ष

तुलसी के काव्य का कलापक्ष भी बहुत उभरा हुआ है। कलापक्ष का सम्बन्ध रीति, गुण, अलंकार, भाषा-शैली आदि से होता है। मानस में रीति, गुण, अलंकार आदि की अनुकूल योजना से काव्यसौष्ठव की सृष्टि सुन्दर बन पड़ी है। माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीनों गुणों का यथा-स्थान प्रयोग मानस में हुआ है। साधारणतया शृंगार, करुण और शान्त रस को उभारने वाले प्रसंगों में माधुर्य गुण पाया जाता है। वीर, रौद्र और बीभत्स रसों के परिपाक में ओजगुण दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार प्रसादगुण भी मानस-जैसे महाकाव्य में भरा पड़ा है। अर्थ की सहज अभिव्यक्ति में इस गुण की सत्ता स्वीकार की जाती है। ऐसे स्थलों की मानस में प्रचुरता है, जहां पद्यों का अर्थ सरलता से हृदयंगम हो जाता है। तुलसी के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उन्होंने माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीनों गुणों का प्रयोग रसों की अनुकूलता को ध्यान में रख कर किया है। इसलिए ये तीनों गुण विविध-रसों के उत्कर्ष को बढ़ाने में पूर्णतया समर्थ हैं। तुलसी के समय तक काव्य की जितनी भी शैलियां प्रचलित थीं उन सब का प्रयोग तुलसी ने अपनी रचनाओं में किया है, किन्तु मानस में दोहा-चौपाई-वाली शैली को प्रधानता दी गई है। प्रबन्ध-काव्य के लिए यह शैली बहुत ही उपयुक्त सिद्ध हुई है।

(१) अलंकार

तुलसी ने मानस में अलंकारों की योजना स्वाभाविक ढंग से की है। मानस में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों प्रकार के अलंकारों का प्रयोग हुआ है। शब्दालंकारों की ओर तुलसी ने विशेष रुचि नहीं दिखाई है। जहां-कहीं अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार मानस में दिखाई देते हैं, वहां उनमें स्वाभाविकता पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। अर्थालंकारों में से प्रायः सभी अलंकार मानस में मिल सकते हैं। उनमें से भी उत्प्रेक्षा, रूपक और उदाहरण ये तीनों अलंकार कवि ने अधिक मात्रा में अपनाए हैं। इन अलंकारों की योजना के लिए कवि ने किसी प्रकार का प्रयास नहीं किया है। ऐसे स्थल मानस में बहुत ही कम मिलेंगे जहां कवि ने जानबूझकर अलंकार-प्रदर्शन की चेष्टा की हो। उत्प्रेक्षा अलंकार का एक उदाहरण लीजिए :—

"लताभवन तें प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग विमल विधु, जलद पटल विलगाइ[1]॥"

रूपक अलंकार के प्रयोग में तुलसीदास ने विशेष कौशल दिखाया है। सांग, निरंग और परम्परित तीनों प्रकार के रूपक प्रचुर मात्रा में मानस में पाए जाते हैं। परम्परित रूपक के सुन्दर उदाहरण कई पद्यों में वर्तमान है। जैसे:—

"उदित उदय गिरि मंच पर, रघुवर बाल-पतंग।
विकसे सन्त सरोज सब, हरषे लोचन-भृंग॥
नृपन्ह केरि आसा निसि नासी। बचन-नखत-अवली न प्रकासी॥
मानी महिप कुमुद सकुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने॥
भए विसोक कोक मुनि देवा। बरसहिं सुमन जनावहिं सेवा[2]॥"

रूपक अलंकार पर तुलसी का असाधारण अधिकार लक्षित होता है। लम्बे-लम्बे सांग रूपकों की योजना में भी सादृश्य का निर्वाह अच्छा हुआ है।

इसप्रकार अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग से तुलसी के काव्य का सौन्दर्य और भी निखर आया है। मानस में अलंकार भावों और मनोवेगों के चित्रण में सहायक प्रतीत होते हैं। समतामूलक अलंकारों की मानस में प्रचुरता है। तुलसी की उपमाएँ भी अनूठी हैं। प्रतीप, अपह्नुति, व्यतिरेक, विभावना आदि अन्य विविध अलंकारों के प्रयोग में भी तुलसी ने सफलता प्राप्त की है। उनके अलंकार कहीं भावों में तीव्रता उत्पन्न करते हैं और कहीं गम्भीर विषयों को सरस और हृदयंगम बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं।

(२) भाषा

मानस में तुलसीदास का भाषा पर पूरा अधिकार लक्षित होता है। ब्रजभाषा और अवधी दोनों में उन्होंने अपने काव्यों की रचना की है, पर रामचरितानस में उन्होंने अवधी को ही स्थान दिया है। उनसे पहले प्रेमगाथाकार सूफ़ी कवियों ने इस भाषा को अपनाया था किन्तु उनकी भाषा में शुद्ध साहित्यिकता की कमी बनी रही। तुलसी ने मानस में अवधी को शुद्ध साहित्यिक रूप दिया है। उन्होंने संस्कृत की कोमल-कान्त-पदावली से अवधी के सौन्दर्य की वृद्धि की है। पूर्वी हिन्दी की बघेली और छत्तीसगढ़ी आदि बोलियों का भी मानस की भाषा पर प्रभाव पड़ा है। बघेली और छत्तीसगढ़ी के अनेक शब्द मानस में प्रयुक्त हुए हैं। तुलसी के समय तक मुसलमानों के सम्पर्क से कई अरबी-फ़ारसी के शब्द भी हिन्दी में मिल चुके थे। मानस की भाषा भी अरबी-फ़ारसी के शब्दों से सर्वथा अछूती न रह सकी। शुद्ध साहित्यिक भाषा के पक्षपाती होकर भी तुलसी जन-साधारण में प्रचलित अरबी-फ़ारसी के शब्दों की उपेक्षा न कर सके। परिणाम यह हुआ कि साहिब, गरीब, लायक, खबरि, फौज, जहान, निसान, दरबार, तरकस आदि अरबी-

१. मानस, बाल०, दो० २३२
२. मानस, बाल०, दो० २५४.

फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग भी मानस में यत्र-तत्र पाया जाता है। पर तुलसी ने अरबी-फ़ारसी के शब्दों को उनके अपने शुद्ध रूप में न अपना कर अवधी के व्याकरण और उच्चारण के अनुकूल बना कर अपने काव्य में स्वीकार किया है।

तुलसी की भाषा का सौन्दर्य उसकी सरलता, सुबोधता और लालित्य पर अवलम्बित है। मानस की भाषा प्रवाहमयी, परिष्कृत और आडम्बरहीन है। उस में स्वाभाविकता और सजीवता है। वाक्य-रचना सीधी-सादी और सरल है। वाक्यों में शब्द यथा-स्थान जड़े हुए प्रतीत होते हैं। उनके अर्थ को समझने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती। भाषा और भाव दोनों में सुन्दर सामंजस्य दिखाई देता है। विषय के अनुसार मानस की भाषा कहीं सरल, कहीं मधुर और कहीं ओजस्विनी दिखाई देती है। विविध रसों और भावों को व्यक्त करने की उसमें पूर्ण क्षमता है। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी मानस में यथा-स्थान हुआ है। इनके प्रयोग से भाषा में पर्याप्त सजीवता और व्यावहारिकता आगई है। यही कारण है कि मानस की कई उक्तियाँ आज सूक्तियों और लोकोक्तियों के रूप में बोलचाल में प्रयुक्त होती हैं। तुलसी के समय तक हिन्दी भाषा को जनता उपेक्षा की दृष्टि से देखती थी। विशेषकर भगवान के गुण-गान के लिए वह अनुपयुक्त समझी जाती थी। तुलसी ने इसी लोकभाषा में रामचरित-मानस-जैसे महाकाव्य की रचना करके उसे गौरवान्वित किया है। मानस की भाषा साहित्यिक होकर भी सरल, सहज और जन-सुलभ है। उसमें वह वेग और प्रवाह है जो कि एक जीवित भाषा में होना चाहिए। मानस की भाषा की इस सरलता और सुबोधता के कारण ही तुलसी भारतीय जनता के हृदय में स्थान बना सके हैं।

(३) छन्द

तुलसी ने मानस में प्रबन्ध-काव्य के अनुकूल छन्दों की योजना की है। उनसे पहले प्रबन्ध-काव्य की रचना के लिए प्रेमगाथाकार सूफ़ी कवियों ने दोहा-चौपाई-वाली शैली को अपनाया था और यह शैली प्रबन्ध-काव्य के लिए उपयुक्त सिद्ध हो चुकी थी। मानस में इसी शैली को प्रमुख स्थान मिला है। दोहा-चौपाई के अतिरिक्त तुलसी ने हरिगीतिका, त्रिभंगी, प्रमाणिका, तोमर, तोटक, भुजंग-प्रयात आदि अन्य छन्दों का भी यथा-स्थान प्रयोग किया है। मानस के आरम्भ में अनुष्टुप, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, मालिनी, वंशस्थ आदि संस्कृत के छन्द प्रयुक्त हुए हैं। प्रत्येक काण्ड के आरम्भ में मंगलाचरण संस्कृत के छन्दों में हुआ है। प्रायः प्रत्येक काण्ड के अन्त में छन्द-परिवर्तन के नियम का पालन किया गया है। साधारणतया आठ अर्द्धालियों के पश्चात् एक दोहा अथवा सोरठा प्रयुक्त हुआ है, पर इस नियम का सर्वत्र निर्वाह नहीं दिखाई देता। कहीं-कहीं सात, नौ, दस या इनसे भी अधिक अर्द्धालियों के पश्चात् एक दोहा या सोरठा पाया जाता है। चौपाइयों में कथा का अविरल प्रवाह बहता हुआ दीख पड़ता है। बीच-बीच में दोहा अथवा सोरठा का प्रयोग पाठक को विश्राम प्रदान करता है तथा कथानक को नीरस होने से बचाता है। हरिगीतिका छन्द का भी मानस में कई जगह प्रयोग हुआ है।

किसी दृश्य अथवा परिस्थिति के चित्र को प्रभावशाली बनाने के लिए इस छन्द की उपयोगिता सिद्ध होती है। प्रायः प्रत्येक काण्ड की समाप्ति पर इस छन्द की योजना हुई है। चौपइया, त्रिभंगी, प्रमाणिका, भुजंगप्रयात और तोटक का प्रयोग कतिपय स्थलों पर हुआ है। इन छन्दों के प्रयोग में भी रमणीयता वर्तमान है। युद्धप्रसंगों में तोमर का प्रयोग उपयुक्त ही प्रतीत होता है। इसप्रकार मानस में छन्दों की योजना प्रायः वर्ण्य विषय के अनुकूल ही सिद्ध होती है।

मानस का महत्व

रामचरितमानस में तुलसी की काव्य-प्रतिभा का परमोज्ज्वल प्रकाश देखने को मिलता है। इसमें भारतीय जीवन, उसकी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ चित्रित हुआ है। मनुष्य के जीवन में आनेवाली सारी दशाओं और परिस्थितियों का मर्मस्पर्शी चित्रण मानस में पाया जाता है। जन्म-मरण, उत्थान-पतन, हर्ष-शोक, आशा-निराशा, प्रेम-घृणा, विस्मय-उत्साह, आदि जीवन की सभी दशाओं को हम इस महाकाव्य में प्रतिबिम्बित देखते है। जीवन की प्रत्येक स्थिति में मानस हमारा साथ देता है। दुःख और निराशा के समय वह हमारे हृदय को सान्त्वना पहुँचाता है और कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के लिए बल प्रदान करता है।

यद्यपि तुलसी ने मानस की रचना 'स्वान्तः सुखाय' की है, पर फिर भी तुलसी के अन्तःकरण का सुख भारतीय जनता के हृदयगत सुख से भिन्न नहीं है। मानस की रचना से केवल कवि-हृदय की पिपासा ही शान्त नहीं हुई; उसने सारी भारतीय जनता के तृषित हृदय को भी तृप्त किया है। तुलसीदास कोरे कलावादी कवि नहीं थे। उन्होंने कला को जीवन के लिए अपनाया है। उनकी कृति मानस में मानव-कल्याण की भावना वर्तमान है; इसमें लोक-संग्रह का भाव है। समाज की मर्यादा की रक्षा का ध्यान तुलसी ने मानस में सर्वत्र रखा है। मानस के आरम्भ में उन्होंने स्वयं कहा है :—

"कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि-सम सब कहँ हित होई[1] ॥"

वास्तव में उनकी यह रचना सुरसरि के समान सबका कल्याण करने वाली है। मानस में जिस आदर्श समाज की प्रतिष्ठा की गई है, उसमें किसी वर्ग-विशेष का नहीं, समग्र विश्व का कल्याण निहित है। मानस में तुलसीदास एक साथ ही कवि, भक्त, कलाकार, दार्शनिक और समाज-सुधारक नेता के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। इसमें हम अपने ही जीवन का प्रतिविम्ब देखते हैं। कवि का व्यक्तित्व इस महाकाव्य में लुप्त हो गया है। रामचरितमानस में तुलसी ने संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परागत शैली का कोरा अनुसरण नहीं किया है। विविध घटनाओं, वर्णनों और भावों में सुन्दर समन्वय दिखाकर कवि ने इस महाकाव्य में काव्य-कला का सर्वांगीण विकास प्रस्तुत किया है। इस काव्य ने भारतीय समाज में जितनी ख्याति प्राप्त की है, उतनी अन्य

---

१. मानस, बाल०, दो० १३

किसी रचना ने नहीं। रंक से लेकर राजा तक, मूर्ख से लेकर विद्वान् तक, बालक से लेकर वृद्ध तक, सबके हृदय में इस कृति ने स्थान प्राप्त किया है। इसमें भारतीय समाज का हृदय स्पन्दित होता है, भारतीय जनता का स्वर गूंजता है और भारतीय संस्कृति की गरिमा झाँकती है। रामचरितमानस वास्तव में हिन्दीसाहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है।

मानस पर संस्कृत-ग्रन्थों का प्रभाव

तुलसीदास संस्कृत-साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे। रामचरित-मानस की रचना करते समय उन्होंने अपने व्यापक पाण्डित्य और संस्कृत-साहित्य के असाधारण ज्ञान से समुचित लाभ उठाया। मानस के निम्नोद्धृत श्लोक में तुलसी ने स्वयं वेद, शास्त्र पुराण, रामायण आदि को मानस का आधार स्वीकार किया है :—

"नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति[1] ॥"

वैसे तो रामचरित-मानस पर थोड़ा-बहुत उन सारे संस्कृत-ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है जिनका सम्बन्ध राम-कथा से है पर जिन ग्रन्थों का मानस पर विशेष प्रभाव दिखाई देता है उनमें वालमीकि-रामायण, अध्यात्म-रामायण, प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक विशेष महत्व रखते हैं। मानस की कथावस्तु का विश्लेपण करते समय हम यह दिखा चुके हैं कि तुलसी ने वाल्मिकि-रामायण के कथानक में क्याकुछ परिवर्तन किया है। तुलसी ने वाल्मीकि का अनुकरण करते हुए भी कई स्थलों पर मौलिकता और चमत्कार लाने की चेष्टा की है। कुछ उदाहरण देखिए :—

वाल्मीकि-रामायण—"सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः[2] ॥"

मानस—"प्रिय बानी जे सुनहिं जे कहहीं। ऐसे जग निकाय नर अहहीं॥
बचन परम हित सुनत कठोरे। सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे[3] ॥"

वाल्मीकि ने प्रियवादी पुरुषों को सुलभ बताया है पर तुलसी ने प्रियवचन कहने वाले और सुनने वाले दोनों प्रकार के व्यक्तियों की संसार में अधिकता स्वीकार की है।

वाल्मीकि-रामायण—"चिन्तयन्ती वरारोहा पतिमेव पतिव्रता।
तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता[4] ॥"

मानस—"तृणधरि ओट कहति वैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही[5] ॥"

---

१. मानस, बाल०, श्लोक ७
२. वा० रा०, अरण्य०, सर्ग ३७, २; युद्ध०, सर्ग १६, २०-२१
३. मानस, लंका०, दो० ८
४. वा० रा०, सुन्दर०, सर्ग २१; २-३
५. मानस, सुन्दर०, दो० ८

अशोक-वाटिका में विरह-विधुरा सीता की यह उक्ति दुराचारी रावण के प्रति है। इस प्रसंग में वाल्मीकि ने सीता के लिए 'वारारोहा' और 'शुचिस्मिता' इन विशेषणों का प्रयोग किया है। यह प्रयोग सीता की तत्कालीन शोचनीय दशा में उपयुक्त नहीं है। तुससी ने सीता के लिए केवल 'वैदेही' शब्द का प्रयोग किया है, जो कि उसके कुलगौरव को प्रकट करता है। तुलसी ने राम के लिए 'अवधपति' और 'परम-सनेही' का प्रयोग किया है जो कि बहुत ही उपयुक्त और सार्थक है। परमस्नेही, अवधपति की पत्नी और विदेहकुमारी सीता कभी भी रावण के प्रलोभन में नहीं आ सकती।

इस प्रकार के उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि तुलसीदास ने वाल्मीकि-रामायण को मानस का आधार मान कर भी वाल्मीकि-रामायण के पद्यों का कोरा अनुवाद नहीं किया है। जहां-कहीं उन्होंने वाल्मीकि के भावों को अपनाया है, वहां उनको अपनी प्रखर प्रतिभा के बल से अधिक चमत्कारपूर्ण बना दिया है।

रामचरित-मानस पर अध्यात्म-रामायण का जितना प्रभाव पड़ा है, उतना वाल्मीकि-रामायण का नहीं। साधारणतया मानस और अध्यात्म-रामायण दोनों की कथावस्तु में समानता है फिर भी मानस में कई ऐसे प्रसंग हैं जो कि अध्यात्म-रामायण में नहीं मिलते। तुलसी ने कई प्रसंगों को मूलरूप में अध्यात्म-रामायण से लेकर भी उनमें यथोचित परिवर्तन किया है। अध्यात्म-रामायण के अधिक निकट होने से मानस में अध्यात्म-रामायण की कई उक्तियों की प्रतिच्छाया यत्र-तत्र दिखाई देती है, किन्तु उनका अक्षरशः अनुवाद तुलसी ने कहीं नहीं किया है। कुछ उदाहरण लीजिए:—

अध्यात्म-रामायण—"मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते पादयोरिति कथा प्रथीयसी[1]।"

मानस—"चरन कमल रज कहुँ सबु कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई[2]॥"

अध्यात्म-रामायण—"दुहिता भगिनी भ्रातुर्भार्या चैव तथा स्नुषा।
समा यो रमते तासामेकामपि विमूढ़धी:॥
पातकी स तु विज्ञेयः स वध्यो राजभिः सदा।
त्वं तु भ्रातुः कनिष्ठस्य भार्यायां रमसे बलात्[3]॥"

मानस—"अनुजवधू भगिनी सुत-नारी। सुनु सठ ये कन्या सम चारी॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकै जोई, तिन्हहि बधे कछु पाप न होई[4]॥"

संस्कृत के पद्यों में 'रमते' और 'रमसे बलात्' जैसे प्रयोगों से अश्लीलता झलकती है पर तुलसी ने 'इन्हहि कुदृष्टि बिलोकै जोई' इस पदावली का प्रयोग करके शिष्टता का पालन किया है।

---

१. अध्यात्म० रा०, बाल०, सर्ग ६, ३
२. मानस, अयो०, दो० ६६
३. अध्यात्म० रा०, किष्कि०, सर्ग २, ६०-६२
४. मानस, किष्कि०, दो० ८

राम-कथा पर आधारित संस्कृत के नाटकों में से हनुमन्नाटक और प्रसन्न-राघव का पर्याप्त प्रभाव रामचरित-मानस पर दिखाई देता है। निम्नोद्धृत कतिपय उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है:—

हनुमन्नाटक—"शृणुत जनकल्पाः क्षत्रिया शुल्कमेते
दशवदनभुजानां कुण्ठिता यत्र शक्तिः।
नमयति धनुरैशं यस्तदारोपणेन
त्रिभुवनजय-लक्ष्मी जानकी तस्य दारा[1] ॥"

मानस—"रावन बाण महाभट भारे। देखि शरासन गवहिं सिधारे ॥
सोइ पुरारि कोदण्ड कठोरा। राज-समाज आजु जोइ तोरा ॥
त्रिभुवनजयसमेत वैदेही। बिनहिं बिचार बरै हठि तेही[2] ॥"

× × ×

हनुमन्नाटक—"आद्वीपात्परतोऽप्यमी नृपतयः सर्वे समभ्यागताः
कन्यायाः कलधौतकोमलरुचेः कीर्तेश्च लाभः परः।
नाकृष्टं न च टंकितं न नमितं नोत्थापितं स्थानतः
केनापीदमहो महद्धनुरिदं निर्वीरमुर्वीतलम्[3] ॥"

मानस—"द्वीप द्वीप के भूपति नाना। आये सुनि हम जो प्रण ठाना ॥
देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा ॥
कुँअरि मनोहरि विजय बड़ि, कीरति अति कमनीय।
पावनहार बिरंचि जनु, रचेउ न धनु दमनीय ॥
कहहु काहि यह लाभ न भावा। काहु न संकर चाप चढ़ावा ॥
रहा चढ़ाउब तोरब भाई। तिल भरि भूमि न सके छुड़ाई ॥
अब जनि कोउ माखै भटमानी। बीरबिहीन मही मैं जानी[4] ॥"

× × ×

हनुमन्नाटक—"शाखामृगस्य शाखायाः शाखां गन्तुं पराक्रमः।
यत्पुनर्लंघितोऽम्बोधिः प्रभावोऽयं तव प्रभो[5] ॥"

मानस—"साखामृग कै बड़ि मनुसाई। साखा तें साखा पर जाई ॥
नाँघि सिन्धु हाटकपुर जारा। निसिचर गन बधि बिपिन उजारा ॥
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछु मोरी मनुसाई[6] ॥"

× × ×

प्रसन्नराघव—"चापस्य बाहुशिखरैः परिपीड्यमानं
नेदं धनुश्चलति किंचिदपीन्दुमौलेः।

---

१. हनुमन्ना०, अंक १, १९ २. मानस, बाल०, दो० २४९
३. हनुमन्ना०, अंक १, ११ ४. मानस, बाल०, दो० २५०-२५१
५. हनुमन्ना०, अंक ६, ४४ ६. मानस, सुन्दर०, दो० ३२

कामातुरस्य वचसामपि संविधानै
रभ्यर्थितं प्रकृति-चारु मनः सतीनाम्[१]।।"

मानस— "भूप सहस दस एकहिं वारा। लगे उठावन टरहिं न टारा।।
डिगै न सम्भु सरासन कैसे। कामी-वचन सती मन जैसे[२]।।"

× × ×

प्रसन्नराघव— "भो ब्रह्मन् भवता समं न घटते संग्रामवार्ताऽपि नः
सर्वे हीन-बला वयं बलवतां यूयं स्थिता मूर्धनि।
यस्मादेकगुणं शरासनमिदं सुव्यक्तमुर्वीभुजा
मस्माकम् भवतां पुनर्नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम्[३]।।"

मानस— "हमहिं तुमहिं सरवरि कस नाथा। कहहु तो कहाँ चरन कहँ माथा।।
देव एक गुन धनुष हमारे। नौगुन परम पुनीत तुम्हारे[४]।।"

× × ×

प्रसन्नराघव— "कुरु सकरुणं चेतः श्रीमन्नशोक वनस्पते।
दहनकणिकामेकां तावन्मम प्रकटीकुरु।।
ननु विरहिणां सन्तापाय स्फुटीकुरुते भवान्।
नवकिसलयश्रेणीव्याजात् कृशानुशिखावलिम्[५]।।"

मानस— "सुनिय विनय मम विटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका।।
नूतन किसलय अनल समाना। देइ अगिनि तन करहु निदाना[६]।।"

× × ×

प्रसन्नराघव— "विरम विरम रक्षः किं वृथा जल्पितेन
स्पृशति नहि मदीयं कण्ठसीमानमन्यः।
रघुपतिभुजदण्डादुत्पलश्यामकान्ते—
दशमुख भवदीयान्निष्कृपाद्वा कृपाणात्[७]।।"

मानस—"स्याम सरोजदाम सम सुन्दर। प्रभु भुज करिकर सम दसकन्धर।।
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुन सठ अस प्रमान प्रन मोरा[८]।।"

संस्कृत-साहित्य की राम-कथा-सम्बन्धी रचनाओं के अतिरिक्त तुलसी ने अनेक अन्य ग्रन्थों से भी सहायता लेकर मानस की रचना की है। यहां कुछ उदाहरण दिए जाते हैं:—

---

१. प्रसन्नराघव, अंक १, ५६ २. मानस, वाल०, दो० २५०
३. प्रसन्नराघव, अंक ४, २५ ४. मानस, वाल०, दो० २८१
५. प्रसन्नराघव, अंक ६, ३५ ६. मानस, सुन्दर०, दो० ११
७. प्रसन्नराघव, अंक ६, ३० ८. मानस, सुन्दर०, दो० ९

श्वेताश्वतरोपनिषद्—"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुःस शृणोत्यकर्णः[1] ।"

मानस—"बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ विधि नाना ॥
आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु बानी वक्ता बड़ जोगी ॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा । ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा[2] ॥"

× × ×

गीता—"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे[3] ॥"

मानस—"जब जब होइ धरम कै हानी । बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी । सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा[4] ॥"

× × ×

गीता—"संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते[5] ॥"

मानस—"संभावित कहँ अपजस लाहू । मरन कोटि सम दारुन दाहू[6] ॥"

× × ×

भर्तृहरि—"पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटीकरोति ।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः[7] ॥"

मानस—"कुपथ निवारि सुपंथ चलावा । गुन प्रकटै अवगुनहि दुरावा ॥
लेत देत मन संक न धरई । बल अनुमान सदा हित करई ॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा । श्रुति कह सन्त मित्र गुन एहा[8] ॥"

× × ×

नैषधचरित—"हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्ती वदनाय वेधसा ।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगंभीरखनीखनीलिम[9] ॥"

मानस—"कोउ कह जब बिधि रति मुख कीन्हा । सारभाग ससिकर हरि लीन्हा ॥
छिद्र सो प्रगट इंदु उर माहीं । तेहि मग देखिअ नभ परिछाहीं[10] ॥"

उपर्युक्त उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि तुलसीदास के रामचरित-मानस पर अनेक संस्कृत-ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है। संस्कृत-ग्रन्थों के अतिरिक्त कतिपय अपभ्रंश

---

१. श्वेताश्वतरोपनिषद् ३, १९
२. मानस, बाल०, दो० ११७
३. गीता, अध्याय ४, ७-८
४. मानस, बाल०, दो० १२०
५. गीता, अध्याय २, ३४
६. मानस, अयो०, दो० ९४
७. भर्तृहरि, नीतिशतक, ७३
८. मानस, किष्कि०, दो० ६
९. नैषध, सर्ग २, २५
१०. मानस, लंका०, दो० ११.

के काव्यों का प्रभाव भी मानस पर दिखाई देता है। स्वयंभू की रामायण उनमें मुख्य है। मानस पर अपभ्रंश के प्रभाव की समीक्षा हम दूसरे अध्याय में कर चुके हैं।' तुलसी ने अपने पूर्ववर्ती अनेक कवियों की कृतियों से लाभ उठाया है, किन्तु कहीं भी उन्होंने अन्य ग्रन्थों के पद्यों का अविकल अनुवाद प्रस्तुत नहीं किया है। उन्होंने यथाशक्ति मौलिकता, नवीनता और सुन्दरता लाने की चेष्टा की है। ऐसे स्थलों पर उन्होंने अपने विस्तृत अध्ययन और अद्भुत कवि-प्रतिभा का परिचय दिया है।

रामचन्द्रिका

तुलसी के मानस के पश्चात् परम्परागत राम-कथा को लेकर एक महाकाव्य लिखने का प्रयास केशवदास ने रामचन्द्रिका के रूप में किया, पर इस प्रयत्न में उन्हें सफलता न मिल सकी। रामचन्द्रिका की रचना के समय केशव का ध्येय मानस के समान एक महाकाव्य प्रस्तुत करना था, इसलिए महाकाव्य की दृष्टि से हम यहां रामचन्द्रिका की समीक्षा आवश्यक समझते हैं।

रामचन्द्रिका का महाकाव्यत्व

महाकाव्य के परम्पराग लक्षणों के आधार पर रामचन्द्रिका की समीक्षा करने पर यह सिद्ध होता है कि केशव ने महाकाव्य के लक्षणों को ध्यान में रखकर रामचन्द्रिका की रचना आरम्भ की थी। विविध प्रकाशों में विभक्त होने के कारण हम रामचन्द्रिका को सर्गबद्ध रचना मान सकते हैं। इसका परम्परागत कथानक और नायक भी महाकाव्य के अनुकूल ही है। महाकाव्यों की परम्परागत शैली के अनुसार इसमें विविध वर्णनों को भी स्थान दिया गया है। इसमें शृंगार-रस की प्रधानता और वीर, करुण, शान्त आदि अन्य रसों की गौणता भी महाकाव्यों की परम्परागत शैली के अनुसार ही है। हाँ, छन्द-प्रयोग-सम्बन्धी नियम का पालन इसमें नहीं हुआ है। इसप्रकार महाकाव्य के स्वरूप-विषयक सामान्य लक्षणों का निर्वाह रामचन्द्रिका में दिखाई देता है। पर इतना होने पर भी रामचन्द्रिका को हम महाकाव्य नहीं मान सकते। कथावस्तु में महाकाव्योचित सम्बन्ध-निर्वाह रामचन्द्रिका में नहीं दिखाई देता। चरित्र-चित्रण में भी कवि को सफलता नहीं मिली है। महाकाव्योचित मार्मिक प्रसंगों की सृष्टि भी इस रचना में नहीं हो पाई है। महाकाव्योचित उदात्त भापा-शैली और रस-व्यंजना का भी इसमें अभाव है। इसप्र महाकाव्य की कसौटी पर रामचन्द्रिका एक असफल रचना ही सिद्ध होती है। कि अलंकारों और छन्दों तथा पाण्डित्यपूर्ण वर्णनों के बीच रामचन्द्रिका की प्रवन्धात लुप्त-सी हो गई है। हाँ, विद्वत्ता और पाण्डित्य की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण अवश्य है।

कथा-वस्तु

रामचन्द्रिका की कथावस्तु वाल्मीकि-रामायण तथा रामचरित-मानस पर आधारित है। रामचन्द्रिका का कथानक उन्तालीस प्रकाशों में विभक्त है।

की योजना कहीं वाल्मीकि-रामायण और कहीं मानस के अनुसार हुई है। संस्कृत की हनुमन्नाटक और प्रसन्न-राघव-जैसी रामकथा-सम्बन्धी अन्य कृतियों का प्रभाव भी रामचन्द्रिका के कथानक पर पड़ा है। अपने पूर्ववर्ती संस्कृत तथा हिन्दी के कवियों के ऋणी होने पर भी केशव ने अपनी कथावस्तु की योजना में यत्र-तत्र मौलिकता लाने का प्रयास किया है। राम-सीता-विवाह-प्रसंग, परशुराम और राम की भेंट, रावण-सीता-सम्वाद जैसे प्रसंग पर्याप्त मौलिकता लिए हुए हैं। केशव ने मुख्यतया वाल्मीकि-रामायण और मानस का ही अनुसरण किया है, पर अनेक स्थलों पर उन्होंने कथानक को बहुत संक्षिप्त कर दिया है। विश्वामित्र के आगमन से लेकर लंका से लौटने पर राम के राज-तिलक की कथा प्रथम छब्बीस प्रकाशों में वर्णित है। इक्कीसवें प्रकाश में लंका से लौटने पर राम भरत से मिलते हैं और बाईसवें प्रकाश में राम अयोध्या में प्रवेश करते हैं। वास्तव में मुख्यकथा यहीं समाप्त हो जाती है। इसके पश्चात् कथासूत्र छिन्न-भिन्न-सा हो जाता है। तेईसवें से लेकर उन्तालीसवें प्रकाश तक अन्तिम सारे प्रकाश विविध वर्णनों से भरे पड़े हैं।

रामचन्द्रिका के पूर्वार्द्ध में कथावस्तु का निर्वाह कुछ अच्छा हुआ है। विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण का आश्रम में प्रवेश, राम-लक्ष्मण का यज्ञ-रक्षा-प्रयास, सीता-स्वयंवर आदि घटनाएँ परस्पर सम्बद्ध प्रतीत होती हैं। उत्तरार्द्ध में लव-कुश के चरित्र तथा युद्ध का वर्णन भी काव्योचित ढंग से हुआ है पर बीच में कथा-सूत्र कई स्थलों पर टूटा हुआ-सा दीख पड़ता है। कथानक के बीच स्थल-स्थल पर वर्णनों की प्रचुरता कथानक के विकास में बाधा पहुँचाती है।

परम्परागत राम-कथा में केशव ने यत्र-तत्र परिवर्तन भी किया है किन्तु काव्य-कला की दृष्टि से यह परिवर्तन कोई महत्व नहीं रखता। मुख्य घटनाओं की ओर ही केशव का ध्यान अधिक गया है, प्रासंगिक घटनाओं को या तो उन्होंने छोड़ दिया है या बहुत संक्षिप्त रूप दे दिया है। मुख्यकथा तथा प्रासंगिक घटनाओं में अन्विति का अभाव-सा दिखाई देता है। कथानक के मार्मिक अंशों को पहचानने का प्रयत्न भी केशव ने नहीं किया है। इस प्रकार रामचन्द्रिका के कथानक में महाकाव्योचित सम्बन्ध-निर्वाह तथा स्वाभाविक ढंग से विकास नहीं दिखाई देता। यत्र-तत्र परिवर्तन की चेष्टा मुख्यकथा को संक्षिप्त करने तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए हुई है।

चरित्र-चित्रण

रामचन्द्रिका में केशव का ध्यान चरित्र-चित्रण की ओर बहुत कम गया है। केशव ने राम को मर्यादापुरुषोत्तम राम के रूप में नहीं, एक साधारण राजकुमार या राजा के रूप में अंकित किया है। परशुराम के साथ वार्तालाप करते हुए वे पहले एक विनम्र और सुशील राजकुमार के रूप में दिखाए गये हैं, पर अन्त में उन्हें एक क्रोधी, निर्भीक और उद्धत नवयुवक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वन जाते समय राम लक्ष्मण को अयोध्या में रहने का उपदेश देते हुए भरत-जैसे आदर्श भाई के चरित्र पर सन्देह प्रकट करते हैं:—

"आय भरत्थ कहा धौं करैं, जिय भाय गुनौ[1] ।"

इस कथन से राम और भरत दोनों के चरित्र को क्षति पहुँचती है । रामचन्द्रिका में राम को एक राजनीति-कुशल राजा के रूप में अंकित करने का प्रयत्न अवश्य किया गया है, किन्तु इस रूप में भी उनका चरित्र पूर्णतया विकसित नहीं हो सका है । सीता का चरित्र भी केशव ने बहुत गिरा दिया है । वह एक साधारण प्रेमिका के रूप में रामचन्द्रिका में अंकित हुई हैं । भरत के चरित्र की भी केशव ने उपेक्षा ही की है । उसमें न तो भायप-भक्ति का ही विकास दिखाया गया है और न वह नम्रता और शालीनता ही, जोकि मानस में दिखाई देती है । सुमित्रा और कैकेयी के प्रति भी केशव ने अन्याय किया है । सुमित्रा का कैकेयी के प्रति वास्तविक द्वेष और दशरथ के प्रति क्रोध दिखाया गया है । कैकेयी के हृदय में राम के प्रति स्वाभाविक द्वेष दिखाई देता है । मन्थरा के अभाव में केशव की कैकेयी अधिक कठोर और दुष्ट-प्रकृति दृष्टिगत होती है । दशरथ के चरित्र में जो मानसिक संघर्ष तुलसी दिखा सके हैं, उसकी अवतारणा रामचन्द्रिका में नहीं हो पाई है । रावण के चरित्र में वाक्पटुता, राजनीति-कुशलता और अहंभाव-पूर्ण वीरता की अभिव्यक्ति कुछ अच्छी हुई है । रावण-अंगद-सम्वाद में रावण के गौरव और उसके दरबार की मर्यादा तथा शिष्टता का समुचित ध्यान रखा गया है । वस्तुतः रामचन्द्रिका में कथावस्तु के क्रम का पूर्ण निर्वाह न होने के कारण विविध पात्रों के चरित्र का विकास स्वाभाविक ढंग से नहीं हो सका है । अपने पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं के क्रमिक विकास को दिखाने में केशव सफल नहीं हुए हैं । यदि केवल रामचन्द्रिका के ही आधार पर राम, सीता, भरत, दशरथ, कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी आदि के चरित्र का चित्र प्रस्तुत किया जाय तो वह चित्र बहुत ही अस्वाभाविक और असंगत सिद्ध होगा ।

सम्वाद-योजना

रामचन्द्रिका में सम्वादों की योजना में केशव को पर्याप्त सफलता मिली है । रामचन्द्रिका के सम्वाद कथानक को रोचक बनाने, पात्रों के चरित्र की विशेषताओं को प्रकाश में लाने तथा नाटकीय वातावरण प्रस्तुत करने में पूर्णतया समर्थ हैं । केशव ने जहाँ-कहीं सम्वादों की योजना की है, वहाँ उनके काव्य का स्तर ऊपर उठा हुआ दिखाई देता है । रामचन्द्रिका के सम्वादों में रावण-बाणासुर-सम्वाद, राम-परशुराम-सम्वाद, हनुमान-रावण-सम्वाद, रावण-अंगद-सम्वाद और सीता-रावण-सम्वाद मुख्य हैं । महाराज इन्द्रजीतसिंह के दरबार में रहते हुए केशव ने राजनीतिक दाव-पेचों, दरबार की मान-मर्यादा और शिष्टाचार से पूरी जानकारी प्राप्त की थी । इन सम्वादों में केशव का राजनीति-कौशल और दरबार-विषयक ज्ञान अच्छी तरह व्यक्त हुआ है । इन में व्यंग्य, परिहास और वाग्वैदग्ध्य की सुन्दर व्यंजना हुई है । सजीवता और मौलिकता यहाँ पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है । विविध पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं की अभिव्यक्ति भी यहाँ सुन्दर ढंग से

---

१. रामचन्द्रिका, प्रकाश ९, २७

हुई है। ये सम्वाद केशव की प्रत्युत्पन्नमति और सूक्ष्म मनोविज्ञान के परिचायक हैं।

वस्तु-वर्णन

केशव ने रामचन्द्रिका में प्रबन्ध-काव्यों की परम्परागत शैली का अनुसरण करते हुए अनेक प्रकार के वर्णनों को स्थान दिया है। परम्परागत वर्णनों के अतिरिक्त केशव ने कई नवीन वर्णनों की भी सृष्टि की है। राजकीय ऐश्वर्य, राजनीति, धर्मनीति, शृंगार और प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले विविध वर्णनों को केशव ने रामचन्द्रिका में स्थान दिया है। धर्म-नीति और राजनीति विषयक वर्णनों में केशव की मौलिक वर्णन-शक्ति का परिचय मिलता है। प्रकृति-सम्बन्धी वर्णनों में सूर्योदय, पंचवटी, दण्डकवन, गोदावरी, पम्पासर, वर्षा, शरद, वसन्त, चन्द्रोदय आदि के वर्णन सम्मिलित हैं। ये वर्णन कवि-परम्परागत ही हैं। इनमें कवि ने अलंकार-सम्बन्धी पाण्डित्य दिखाने की चेष्टा की है, रस-परिपाक की ओर ध्यान नहीं दिया है। यहाँ प्रकृति के सौन्दर्य का चित्रण बहुत कम हुआ है। उद्दीपन विभाव के रूप में भी प्रकृति-वर्णन रसोद्रेक में असमर्थ ही दीख पड़ता है। कहीं-कहीं प्राकृतिक वस्तुओं की नामावली-सी प्रस्तुत की गई है। प्रकृति के साथ मानव-हृदय के रागात्मक सम्बन्ध की व्यंजना केशव नहीं कर सके हैं। इन वर्णनों में अलंकारों की प्रचुरता है। उत्प्रेक्षा, श्लेष आदि अलंकारों की असंयत और यत्नसाध्य योजना से प्रकृति-वर्णन में अस्वाभाविकता आगई है। अलंकारों द्वारा पाठकों को चकित और स्तम्भित करना ही उनका लक्ष्य सिद्ध होता है। रामचन्द्रिका के मुख्य कथानक और विविध वर्णनों में वह अनुपात नहीं दिखाई देता जो कि एक सफल महाकाव्य में आवश्यक है।

रस-व्यंजना

केशव काव्य में अलंकारों को प्रधानता देने वाले कवि थे। उन्होंने रामचन्द्रिका में भावोद्रेक तथा रस-व्यंजना की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना कि अलंकारों की योजना की ओर दिया है। रामचन्द्रिका में शृंगाररस की प्रधानता है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का चित्रण किया गया है। शृंगाररस के आलम्बन राम और सीता हैं। राम और सीता के विवाह से पूर्व उनके पूर्वराग की व्यंजना रामचन्द्रिका में नहीं हुई है। राम और सीता के रूप-वर्णन में संयोग शृंगार के अच्छे उदाहरण पाए जाते हैं। सीतापहरण के पश्चात् राम और सीता की विरह-दशा का वर्णन भी अच्छा हुआ है। उद्दीपन विभाव के रूप में प्रकृति-चित्रण भी कई स्थलों पर किया गया है। राम-रावण और लव-कुश के युद्ध-वर्णन में वीररस का निर्वाह अच्छा हुआ है। राम-रावण के युद्ध-वर्णन में केशव युद्ध के अनुकूल भयानक वातावरण की सृष्टि नहीं कर सके हैं, पर लव-कुश के युद्ध में यह त्रुटि नहीं दिखाई देती। वीर के साथ रौद्र और बीभत्स की योजना भी सफलता के साथ हुई है। राम-वनगमन, दशरथ-मरण और लक्ष्मण-जैसे मूर्च्छा-प्रसंगों में करुण-रस की व्यंजना अच्छी नहीं हो पाई है। वृद्धावस्था-वर्णन, रामविरक्ति-वर्णन जैसे प्रसंगों में शान्तरस का निर्वाह भी अच्छा नहीं हुआ है। साधारणतया रस-परिपाक रामचन्द्रिका

में अच्छा नहीं हो सका है। विविध छन्दों की योजना तथा अलंकार-सम्बन्धी चमत्कार दिखाने में ही केशव की दृष्टि अधिक रमी है।

अलंकार-योजना

अलंकारों को केशव ने सर्वोपरि स्थान दिया है। अलंकारों की यत्नसाध्य योजना द्वारा पाण्डित्य-प्रदर्शन की चेष्टा रामचन्द्रिका में स्थल-स्थल पर दिखाई देती है। अलंकारों की प्रचुरता के कारण भावाभिव्यक्ति में दुरूहता और कृत्रिमता आ गई है। अर्थालंकारों में से रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष और परिसंख्या की योजना में कवि को पाण्डित्य दिखाने का अच्छा अवसर मिला है। उत्प्रेक्षा अलंकार उन्हें अधिक प्रिय प्रतीत होता है। कहीं-कहीं तो उन्होंने उत्प्रेक्षा की झड़ी-सी लगा दी है। उपमा, सन्देह, अपह्नुति, अतिशयोक्ति, विरोधाभास, मुद्रा आदि अन्य अलंकारों का प्रयोग भी कवि ने यथास्थान किया है। श्लेष और परिसंख्या के प्रयोग से कई स्थलों पर काव्य का भाव-पक्ष दब गया है[1]। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक आदि का प्रयोग चमत्कार दिखाने के लिए ही हुआ है। इस प्रकार रामचन्द्रिका में अलंकारों की विवेचना से यह सिद्ध होता है कि केशव ने काव्य के भावों की उपेक्षा करके पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए अलंकारों का प्रयोग किया है। ऐसे स्थल रामचन्द्रिका में बहुत कम हैं, जहाँ अलंकार भावोद्रेक में सहायक हों। अलंकारों के प्रयोग में सरसता और स्वाभाविकता बहुत कम पाई जाती है। अनेक रसपूर्ण और मनोवैज्ञानिक प्रसंग भी अलंकारों की प्रचुरता के कारण नीरस हो गए हैं। इतना होते हुए भी रामचन्द्रिका में अलंकार कवि की अद्भुत कल्पना, व्यापक प्रतिभा और गंभीर विद्वत्ता के परिचायक हैं।

भाषा

रामचन्द्रिका में केशव ने व्रजभाषा को स्थान दिया है। उसमें बुन्देलखंडी शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में दिखाई देता है। खारक (छोहारा), घोटिला (खूंटी), गौरमदाइन (इन्द्रधनुष) आदि बुन्देलखंडी शब्द रामचन्द्रिका में पाए जाते हैं। अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग भी कहीं-कहीं हुआ है। संस्कृत के शब्दों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। कहीं-कहीं तो ऐसे कठिन और अप्रचलित शब्दों का प्रयोग हुआ है जो साधारण पाठक की पहुँच के बाहर हैं। केशव की भाषा में स्थल-स्थल पर दुरूहता आ गई है। पाण्डित्य-प्रदर्शन की चेष्टा और अनुपयुक्त छन्दों के चुनाव के कारण केशव की भाषा अपने स्वाभाविक सौन्दर्य को खो बैठी है। व्रजभाषा का प्रौढ़, प्रांजल और परिष्कृत रूप रामचन्द्रिका में नहीं मिलता।

छन्द-योजना

रामचन्द्रिका में केशव ने विविध छन्दों का प्रयोग किया है। छन्दों की विविधता के कारण ही कई विद्वानों ने रामचन्द्रिका को छन्दों का उदाहरण-ग्रन्थ माना है। इसमें

---

१. देखिए—रामचन्द्रिका, प्रकाश ११, २६ और प्रकाश २८, ८

छोटे से छोटे छन्दों से लेकर बड़े से बड़े छन्दों तक का प्रयोग हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि रामचन्द्रिका की रचना करते समय छन्दःशास्त्र के विविध छन्दों के उदाहरण प्रस्तुत करने की ओर केशव का ध्यान आदि से लेकर अन्त तक बना रहा है। पद-पद पर छन्दों के बदलने के कारण रामचन्द्रिका के कथा-प्रवाह में शिथिलता आगई है और रस-परिपाक में भी बाधा पहुँची है।

रीतिकालीन प्रबन्ध-काव्य

हिन्दी-साहित्य का रीति-काल महाकाव्यों के विकास के लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हुआ। भक्ति-काल के अन्त में केशव ने रामचन्द्रिका के रूप में एक महाकाव्य प्रस्तुत करने का असफल प्रयत्न किया था। उनके पश्चात् रीति-काल में मुक्तक रचनाओं की ही प्रधानता रही। रीति-काल के अधिकांश कवि राज-दरबार में अपने आश्रयदाताओं की विलासी मनोवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए शृंगार-रस की कविता करने में प्रवृत्त हुए। राज-दरबार में उक्ति-वैचित्र्य-प्रधान मुक्तक कविता को ही अधिक सम्मान प्राप्त होता था। इस काल के कवियों ने लक्षण-ग्रन्थों के रूप में नायिका-भेद, नख-शिख और षट्-ऋतुओं के वर्णन को प्रधानता देते हुए अपनी मुक्तक-कविताएँ प्रस्तुत कीं। इस काल के कवियों की प्रतिभा का विकास मुक्तक के क्षेत्र में ही संभव हुआ। तत्कालीन परिस्थितियाँ प्रबन्ध-काव्य अथवा महाकाव्य के सृजन के लिए अनुकूल न थीं। मुक्तक-काव्य का प्राधान्य होने पर भी इस काल में प्रबन्ध-काव्यों का सर्वथा अभाव नहीं रहा। रीतिकाल के कतिपय कवि तत्कालीन परिस्थितियों से ऊपर उठ कर प्रबन्ध-काव्यों की रचना में प्रवृत्त हुए, पर इस दिशा में उन्हें विशेष सफलता नहीं मिल सकी। रीतिकाल के कतिपय प्रबन्ध-काव्यों में कथावस्तु का निर्वाह और वर्णन-विविधता जैसे महाकाव्य के कतिपय तत्वों को स्थान अवश्य दिया गया है किन्तु महाकाव्य की कसौटी पर इस काल का कोई भी प्रबन्ध-काव्य खरा नहीं उतरता। इन रीतिकालीन प्रबन्ध-काव्यों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

महाभारत

रीतिकालीन प्रबन्ध-काव्यों में काल-क्रमानुसार प्रथम स्थान सबलसिंह चौहान-कृत 'महाभारत' का है। इसमें महाभारत की कथा दोहा-चौपाई छन्दों में वर्णित है। इसकी भाषा में सरसता और सरलता पर्याप्त है किन्तु कथानक में क्रमबद्धता नहीं पाई जाती।

छत्र-प्रकाश

गोरेलाल का 'छत्र-प्रकाश' रीतिकाल के प्रबन्ध-काव्यों में सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसमें महाराज छत्रसाल के जीवन की घटनाओं और विशेषकर उनके युद्धों के सुन्दर वर्णन वर्तमान हैं। इसकी रचना भी दोहा-चौपाई छन्दों में हुई है। इसकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है पर कहीं-कहीं उस पर अवधी और बुन्देलखंडी का प्रभाव दिखाई देता है। इसमें कथावस्तु का संगठन अच्छा हुआ है। ऐतिहासिक सत्य और कल्पना का सुन्दर सम्मिश्रण इसमें पाया

आधुनिक महाकाव्य

: ४ :

प्रेरक शक्तियाँ और प्रमुख प्रवृत्तियाँ

साहित्य के विविध अंगों के विकास की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य का आधुनिक युग अधिक महत्त्वपूर्ण है। साहित्य की विविध विधाओं की जितनी उन्नति इस काल में सम्भव हुई उतनी पहले किसी युग में न हो सकी। गद्य के विभिन्न रूपों का प्राधान्य होने के कारण हिन्दी साहित्य के वर्तमान युग को गद्य का युग कहा जाता है, कविता का नहीं। किन्तु वर्तमान युग में प्रचलित कविता की बहुमुखी प्रवृत्तियों की ओर दृष्टिपात करने पर इस कथन में सन्देह उत्पन्न होता है कि आज का युग कविता का युग नहीं है। मुक्तक और प्रबन्ध काव्य के ये दोनों रूप आज भी लोक-प्रिय और परिपुष्ट दृष्टिगत होते हैं। मुक्तक के क्षेत्र में गीति-काव्य और प्रबन्ध के क्षेत्र में महाकाव्य इन दोनों काव्य-रूपों का आज भी समुचित विकास दिखाई देता है।

कुछ समीक्षकों का विचार है कि वर्तमान काल महाकाव्यों के सृजन के लिए उपयुक्त नहीं है। आज के कवि की मनोवृत्ति स्वानुभूति के निरूपण में अधिक रमती है। बाह्य-जगत्—समाज या जाति के सामूहिक जीवन—के चित्रण की ओर उसकी दृष्टि कम जाती है। उसकी यह अन्तर्मुखी वैयक्तिकता-प्रधान मनोवृत्ति महाकाव्य के निर्माण के अनुकूल नहीं बैठती। महाकाव्य के रचयिता कवि की व्यापक दृष्टि व्यक्तिनिष्ठ न होकर समष्टि-परक होती है। वह अपने व्यक्तित्व को समाज या जाति के जीवन में लीन करता हुआ जातीय जीवन की अभिव्यक्ति में प्रवृत्त होता है। वर्तमान युग का कवि अपनी वैयक्तिक अनुभूति की व्यंजना को ही अधिक महत्व देता है, इसलिए उसकी भाव-भूमि महाकाव्य के सृजन के लिए उर्वरा सिद्ध नहीं होती।

वर्तमान साहित्य में जीवन की अभिव्यक्ति के लिए उपन्यास, कहानी, नाटक आदि गद्य-रूपों की अपेक्षाकृत अधिक लोक-प्रियता भी महाकाव्यों के विकास में बाधा प्रस्तुत करती है। आज के वैविध्य-पूर्ण, संश्लिष्ट जीवन की अभिव्यक्ति पद्य की अपेक्षा गद्य में अधिक सरलता से हो सकती है। इसीलिए वर्तमान युग का उपन्यास-लेखक जीवन का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करता हुआ महाकाव्यकार कवि का स्थान लेने के लिए कटिबद्ध-सा दृष्टिगोचर होता है।

वर्तमान वैज्ञानिक युग की जीवन के प्रति बुद्धिवादी दृष्टि भी महाकाव्य की सृष्टि के अनुरूप नहीं दिखाई देती। पुरातन आदर्शों, जीवन-मूल्यों और विश्वासों के प्रति वर्तमान युग की वह आस्था नहीं रही जो कि आदर्शोन्मुख महाकाव्य के लिए आवश्यक

समझी जाती है। आज का बुद्धिवादी साहित्यकार भी जीवन के भौतिक सत्य के उद्घाटन में ही अधिक प्रयत्नशील है, जीवन के अन्तस्तल में निगूढ़ मनोरम, शाश्वत सत्य को प्रकाश में लाने की क्षमता उसमें बहुत कम दिखाई देती है। इस क्षमता के अभाव में उसकी लेखनी से महाकाव्य के निर्माण की आशा नहीं की जा सकती।

प्रकृति के साथ मानव के रागात्मक सम्बन्ध के विच्छेद की संभावना आज के युग में अधिक बलवती हो गई है। आधुनिक बुद्धिवादी मानव प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए उत्सुक है। वह अपनी बुद्धि के बल पर वायु, जल, अग्नि और अन्तरिक्ष जैसे प्रकृति के शक्तिशाली तत्वों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रयत्न के फल-स्वरूप वह आज प्रकृति की सहलाने वाली गोद में सुलभ सुख और शान्ति से वंचित होता जा रहा है। प्रकृति और मानव का यह सम्बन्ध-विच्छेद भी महाकाव्यों के सृजन में बाधक प्रतीत होता है।

उपर्युक्त कारण कुछ अंश तक आज के साहित्य में महाकाव्यों की रचना के लिए प्रतिकूल हो सकते हैं। पर इनके अस्तित्व में भी यह स्वीकार करना उचित नहीं कि आज का युग महाकाव्यों की सृष्टि के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, होमर, वर्जिल और मिल्टन जैसे युग-प्रवर्त्तक महाकाव्यकारों का जन्म वर्तमान युग में संभव नहीं। यदि वे आज के युग में फिर से जन्म भी ले सकें, तो उनकी प्रतिभा से रामायण, महाभारत, इलियड जैसे महाकाव्यों की प्रसूति आज संभव न हो सकेगी। वर्तमान काल की नवीन परिस्थितियाँ उन पुरातन महाकाव्यों के निर्माण के लिए निस्सन्देह उपयुक्त नहीं हैं। पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि इस युग में महाकाव्यों की रचना सम्भव ही नहीं है। वर्तमान युग की नवीन परिस्थितियों में भी महाकाव्यों का सृजन सर्वथा बन्द नहीं हुआ है। वर्तमान युग के नव-जीवन का चित्रण करने वाले साकेत, कामायनी जैसे महाकाव्यों की रचना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि इस वैज्ञानिक युग में भी महाकाव्यों के निर्माण की आवश्यकता बनी हुई है। हाँ, वर्तमान साहित्य में जिन महाकाव्यों की रचना हो रही है वे नवयुग की नूतन समस्याओं का समाधान करने में पूर्णतया समर्थ हैं।

महाकाव्यों की रचना का क्रम हिन्दी-साहित्य में आज भी चल रहा है। वस्तुतः महाकाव्यों के रूप में कविता की जो धारा संस्कृत-साहित्य में प्रवाहित हुई थी, वह प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी-साहित्य में भी परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप नवचेतना से अनुप्राणित होकर बहती रही। हाँ, हिन्दी-साहित्य के आधुनिक महाकाव्य प्राकृत और अपभ्रंश की अपेक्षा संस्कृत की महाकाव्य-परम्परा से अधिक प्रभावित दिखाई देते हैं। प्राचीन परम्परा से सम्बन्ध रखने पर भी वे नूतन हैं। उनमें अतीत और वर्तमान का सुन्दर सामंजस्य दृष्टिगत होता है।

प्रत्येक महाकाव्य अपने युग का सच्चा प्रतिनिधि होता है। उसमें अपने युग की सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आदि सभी दशाओं का सजीव चित्रण रहता है। महा-

काव्य व्यक्तिपरक न होकर समष्टि से सम्बन्ध रखता है। महाकाव्यकार कवि की बाह्यार्थ-निरूपिणी प्रतिभा जातीय जीवन और आदर्शों का समग्ररूप में उद्घाटन करती है। युग की विविध समस्याओं और राष्ट्रीय जीवन की—उसकी अनेक विशेषताओं के साथ—सशक्त और मनोरम अभिव्यक्ति साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा महाकाव्य में अधिक संभव होती है। इसीलिए महाकाव्य को व्यक्तिविशेष की नहीं, सारे समाज या राष्ट्र की सम्पत्ति माना जाता है। वह निर्जीव समाज में नवीन चेतना भर सकता है और उसका सच्चा प्रतिनिधि बन कर उसे प्रशस्त मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा दे सकता है।

हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों में वर्तमान युग की समस्याएँ किस प्रकार प्रतिफलित हुई हैं; उनमें कहाँ तक जातीय जीवन की अभिव्यक्ति हुई है; और उनकी रचना के मूल में कौन-सी प्रेरक-शक्तियाँ छिपी हुई हैं, इन्हीं कतिपय प्रश्नों का विवेचन हम यहाँ करेंगे।

हिन्दी-साहित्य का आधुनिक काल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु-युग वास्तव में आधुनिक हिन्दी-कविता का अरुणोदय है। अंग्रेजी शासन के स्थापित हो जाने से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय भारतीय जीवन के सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रों में नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही थीं। यह भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य सभ्यता के संघर्ष का समय था। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ भारतीय नवयुवक पाश्चात्य सभ्यता, वेश-भूषा और रहन-सहन का स्वागत करने लगे थे। अपने देश, अपनी संस्कृति और अपने साहित्य के प्रति उनकी उदासीनता बढ़ती जा रही थी। सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार के अन्धविश्वास तथा कुप्रथाएँ समाज को शक्तिहीन बना रही थीं। राजनीतिक क्षेत्र में एक-राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता की भावना लुप्त होती जा रही थी। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में विभिन्न मतों तथा पारस्परिक भेद-भाव के अस्तित्व में धार्मिक संगठन छिन्न-भिन्न होता दिखाई दे रहा था। भारतेन्दु-युग की कविता में तत्कालीन विविध परिस्थितियों के सजीव चित्र देखने को मिलते हैं। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी कवियों ने तत्कालीन समस्या के समाधान भी प्रस्तुत किए। समाज-सुधार, देशभक्ति और भारतीय संस्कृति के गौरव की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करते हुए उन्होंने जातीय चेतना का प्रशस्त मार्ग प्रस्तुत किया।

भारतेन्दु-युग साहित्यिक पुनरुत्थान का युग था। उस में कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि विविध क्षेत्रों में साहित्य की उन्नति हुई। उस युग के साहित्य में प्राचीनता और नवीनता का सुन्दर सामंजस्य दीख पड़ता है। कविता के क्षेत्र में प्राचीन काव्य-भाषा—व्रजभाषा—और शृंगार, भक्ति, नीति आदि प्राचीन विषयों के साथ-साथ नवीन परिस्थिति-प्रसूत सामाजिक, राजनीतिक, और राष्ट्रीय भावनाओं को भी स्थान मिलने लगा। इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगियों ने नवीन राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक चेतना को साहित्य में मुखरित किया। जातीय भावनाओं तथा सांस्कृतिक चेतना को जगाने का सबसे अधिक उपयुक्त माध्यम महाकाव्य

है। महाकाव्यों की रचना सर्वदा नहीं होती, पर जब होती है तब वे जाति के मृतक शरीर में नव जीवन का संचार करते हुए उसे प्रशस्त मार्ग दिखाने में समर्थ होते हैं। इस काल की परिस्थितियाँ जातीय जीवन को मुखरित करने वाले महाकाव्यों की रचना के लिए अनुकूल अवश्य थीं, किन्तु फिर भी इस समय महाकाव्यों का सृजन संभव न हो सका।

भारतेन्दु-युग संक्रान्ति-काल था। जीवन और कला, सभी क्षेत्रों में नवीन और प्राचीन संघर्ष उस समय चलता रहा। इस परिवर्तन-काल के आरम्भ में महाकाव्य-जैसी महान रचना का न रचा जाना सर्वथा स्वाभाविक है। जीवन के नवीन मूल्यों में कुछ स्थायित्व आने के बाद ही मनुष्य उसके आधार पर किसी महानता की कल्पना करता है। इसके साथ ही दो और कारणों की ओर भी संकेत किया जा सकता है। भारतेन्दु उस काल की साहित्यिक चेतना और उत्थान के प्रतीक होने के साथ-साथ एकमात्र प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे, जिनसे महाकाव्य की आशा की जा सकती थी, पर वे मुक्तकों, नाटकों, निबन्धों तथा कथा-कहानियों की रचना में व्यस्त रहने के अतिरिक्त इतने कम वर्षों तक जीवित रहे कि महाकाव्योचित प्रौढ़त्व नहीं प्राप्त कर सके। इस प्रकार की किसी और प्रतिभा का न पनप पाना भी परिवर्तन-जनित जीवन-वैषम्य एवं तज्जनित दृष्टिकोण-वैविध्य का ही प्रतिफल है। साथ ही उस काल में महाकाव्योचित भाषा का स्वरूप भी स्थिर नहीं हो सका था। ब्रजभाषा और खड़ी बोली का संघर्ष चल रहा था। यदि ब्रज-भाषा अपने माधुर्य-प्लावित मुक्तकोचित व्यक्तित्व के कारण महाकाव्य की गरिमा सँभालने को तैयार न थी, तो खड़ीबोली साहित्य के क्षेत्र में अभी शैशव को ही पार कर रही थी। गद्य के क्षेत्र में सम्मानित होते हुए भी खड़ीबोली अपने खड़ेपन के कारण कविता के क्षेत्र में निरादृत हो रही थी।

भारतेन्दु-युग के पश्चात् हिन्दी-साहित्य में द्विवेदी-युग आरम्भ होता है। यह युग हिन्दी के वर्तमान महाकाव्यों के विकास के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। भारतेन्दु-युग में ही भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान का प्रयत्न होने लगा था। भारतेन्दु ने विदेशी संस्कृति का सर्वथा विरोध न करके उसके साथ सामंजस्य स्थापित करना उचित समझा। भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी साहित्यकारों ने भारत के महत्व-पूर्ण अतीत की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया और उसके हृदय में अपनी संस्कृति, अपने देश और साहित्य के प्रति गौरव की भावना जाग्रत की। आगे चलकर द्विवेदी-युग में अतीत-प्रेम की यह प्रवृत्ति राजनीतिक और सामाजिक दोनों क्षेत्रों में अधिक बल पकड़ने लगी। इस काल में राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों में क्रान्ति दिखाई दी। अंग्रेजी शासन-सत्ता के प्रति जनता के हृदय में घृणा की भावना बलवती हो उठी। शासक-वर्ग और जमींदारों के अत्याचारों के विरुद्ध जनता में असन्तोष बढ़ने लगा। प्रथम महायुद्ध के भयानक परिणामों को देखकर भारतवासियों की देशभक्ति और राष्ट्रीय-चेतना जाग्रत हो उठी। सन् १९०५ के बंगभंग-आन्दोलन ने भी इस राष्ट्रीय चेतना को अधिक उत्तेजना प्रदान की। भारतेन्दु-काल में जिस राष्ट्रीय-चेतना का बीज-वपन हुआ था

वह द्विवेदी-युग में अनुकूल वातावरण पाकर पनपने लगी थी।

द्विवेदी जी के समय तक राजा राममोहन राय, स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द आदि अनेक महापुरुष भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान और सारे भारत में सांस्कृतिक जागरण की सृष्टि के लिए प्रशंसनीय कार्य कर चुके थे। इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य इस दिशा में स्वामी दयानन्द ने किया। उन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल चित्र जनता के समक्ष प्रस्तुत किए। राष्ट्रीय-चेतना, स्वतन्त्रता और सामाजिक समता की भावना को जगाने का स्तुत्य प्रयत्न स्वामी दयानन्द-द्वारा ही संभव हुआ। द्विवेदी-युग में स्वामी दयानन्द-द्वारा प्रवर्त्तित आर्यसमाज अधिक शक्तिशाली रूप धारण कर चुका था। उसने जनता का ध्यान भारतीय संस्कृति और उसके उच्चतम निधि 'वैदिक-साहित्य' की ओर आकृष्ट करके उस के हृदय में अपने देश के प्रति गर्व की भावना को जन्म दिया। आर्यसमाज ने केवल धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में ही नहीं, राजनीतिक क्षेत्र में भी जाग्रति उत्पन्न की। द्विवेदी-युग के राष्ट्रीय जागरण और राजनीतिक चेतना के विकास में आर्यसमाज का महत्वपूर्ण हाथ रहा। आर्यसमाज के प्रशंसनीय प्रयत्न के फलस्वरूप जनता की हीनता की भावना दूर होने लगी, उसका आत्मसम्मान फिर से जाग उठा और वह अपनी सर्वोच्च संस्कृति के समक्ष पाश्चात्य सभ्यता को तुच्छ समझने लगी।

द्विवेदी-काल में गोखले और तिलक द्वारा प्रवर्त्तित और महात्मा गांधी द्वारा प्रचारित राष्ट्रीय महासभा का स्वातन्त्र्य-आन्दोलन प्रबलरूप धारण करने लगा था। महात्मा जी के सत्याग्रह-आन्दोलन से सारे देश में राष्ट्रीय भावना जाग उठी और जनता के हृदय में स्वतन्त्रता, देश-भक्ति और अपने स्वत्वों की प्राप्ति की प्रबल इच्छा उमड़ पड़ी। महात्मा जी ने हिन्दू-मुस्लिम-एकता तथा कृषक, मजदूर और अछूतों के उद्धार का बीड़ा उठाया। महात्मा जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय महासभा के इस राजनीतिक आन्दोलन ने भी गौरवमय अतीत से प्रेरणा प्राप्त की और देशवासियों के हृदय में अतीत के प्रति गौरव की भावना उत्पन्न की।

तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का द्विवेदी-युग के साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। उस युग की राष्ट्रीय और राजनीतिक चेतना के विकास में तत्कालीन साहित्य ने पूर्ण सहयोग दिया। राष्ट्रीय चेतना ने जनता का ध्यान प्राचीन गौरव की ओर आकृष्ट किया और फलतः साहित्य में भी अतीत के उज्ज्वल चित्र अंकित किए गए। अतीत का अनुराग द्विवेदी-युग की प्रमुख प्रवृत्ति बन गई। गौरवमय अतीत के सहारे वर्तमान और भविष्य को उज्ज्वल बनाने की चेष्टा होने लगी। इसी अतीत-प्रेम की भावना और राष्ट्रीय चेतना से प्रभावित होकर द्विवेदी-युग में अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवियों की लेखनी ने प्रियप्रवास, वैदेही-वनवास और साकेत जैसे महाकाव्यों को जन्म दिया। जनता की तत्कालीन सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना इन महाकाव्यों में अच्छी तरह प्रस्फुटित हुई है। जनता की अतीतोन्मुखी मनोवृत्ति के साथ-साथ हरिऔध और गुप्त जी की दृष्टि अतीत की ओर गई। उन्होंने हिन्दू-संस्कृति

के उच्चतम प्रतीक कृष्ण और राम के महामहिम चरित्रों के आधुनिक युग के अनुरूप चित्र उपस्थित किए।

महावीरप्रसाद द्विवेदी से प्रेरणा प्राप्त करके हरिऔध ने संस्कृतमयी खड़ीबोली में प्रियप्रवास की रचना की। प्रियप्रवास में आधुनिक युग की माँग के अनुरूप कृष्ण को एक आदर्श नेता और राधा को एक समाज-सेविका महिला के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कवि ने कृष्ण के चरित्र के अलौकिक तत्वों को हटा कर उसे आधुनिक युग के बौद्धिक आग्रह के अनुसार लौकिक रूप प्रदान किया है। कृष्ण और राधा का प्राचीन पौराणिक रूप आधुनिक युग के लिए उपयुक्त न था। इस महाकाव्य में कृष्ण और राधा केवल प्रेमी और प्रेमिका के रूप में चित्रित न होकर लोकरक्षक नेता और समाज-सेविका के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। द्विवेदी-काल की राष्ट्रीय चेतना के आग्रह के अनुकूल कवि ने कृष्ण और राधा दोनों के चरित्र में प्रेम की अपेक्षा कर्तव्य की भावना को अधिक महत्व दिया है। कृष्ण लोक-कल्याण की इच्छा से राजनीति को अपनाते हैं और राधा दीन-दुखियों की सेवा में लग जाती है।

आधुनिक युग के बौद्धिकतावाद के अनुसार प्रियप्रवास में हरिऔध ने अतीत की अलौकिक घटनाओं को लौकिक और स्वाभाविक बनाने का प्रयास किया है। अघासुर, वकासुर आदि राक्षसों का वध तथा कालिय-दमन और दावाग्नि-प्रशमन आदि अलौकिक घटनाओं की कवि ने बुद्धि-सम्मत व्याख्या की है। कृष्ण के गोवर्धन-धारण-प्रसंग में भी अलौकिक तत्व को हटा कर कवि ने उसे स्वाभाविक और विश्वसनीय बनाने का प्रयत्न किया है। कृष्ण ने वास्तव में गोवर्धन पर्वत को अँगुली पर नहीं उठाया अपितु ब्रजवासियों को भयानक वर्षा से बचाने के लिए उन्होंने गोवर्धन पर्वत के मध्य समुचित स्थान ढूंढ़ निकाला।[1]

आधुनिक युग की समस्याओं से प्रभावित होकर ही हरिऔध ने प्रियप्रवास में लोकसेवा, देशभक्ति और विश्वप्रेम जैसे नवीन तत्वों का समावेश किया है। राधा का व्यक्तिगत प्रेम धीरे-धीरे देशभक्ति और विश्वप्रेम में परिणत हो जाता है। द्विवेदी-युग के राष्ट्रीय-जागरण-काल में देश को अपनी उन्नति के लिए अपने तुच्छ स्वार्थ की बलि देने वाले, लोक-सेवा में निरत नर-नारियों की आवश्यकता थी और इसी आवश्यकता की पूर्ति प्रियप्रवास के कृष्ण और राधा ने की है।[2] इस प्रकार हरिऔध ने प्रियप्रवास में

---

१. लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में। व्रज-धराधिप के प्रिय पुत्र का ॥
सकल लोग लगे कहने उसे। रख लिया उँगली पर श्याम ने ॥

—प्रियप्रवास, सर्ग १२, ६७

२. सच्चे स्नेही अवनिजन के देश के श्याम जैसे।
राधा जैसी सदय-हृदया विश्वप्रेमानुरक्ता ॥
हे विश्वात्मा, भरत-भुव के अंक में और आवें।
ऐसी व्यापी विरह-घटना किन्तु कोई न होवे ॥

—प्रियप्रवास, सर्ग १७, ५४

नवीन तत्वों के समावेश द्वारा प्राचीन कथानक को बुद्धिग्राह्य बनाया है। अपने युग की नवीन आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक समस्याओं के समाधान के लिए उन्होंने प्राचीनता की बुद्धि-सम्मत व्याख्या की है। उन्होंने गौरवपूर्ण अतीत के सहारे वर्तमान को उज्ज्वल बनाने का प्रशस्त मार्ग प्रस्तुत किया है।

द्विवेदी-युग का दूसरा प्रमुख महाकाव्य साकेत है। इसमें गुप्तजी ने महावीरप्रसाद द्विवेदी से प्रेरणा प्राप्त करते हुए उपेक्षिता नारी उर्मिला के चरित्र का उज्ज्वल रूप हमारे सामने उपस्थित किया है। प्रियप्रवास की तरह साकेत में भी गुप्त जी की दृष्टि अतीतोन्मुखी रही है। हिन्दूजाति की तत्कालीन दुर्दशा को देखकर गुप्त जी हमारा ध्यान गरिमामय अतीत की ओर आकृष्ट करते हैं। द्विवेदी-युग की राजनीतिक और सांस्कृतिक चेतना साकेत में भी मुखरित हुई है। साकेत के राम आर्य संस्कृति के रक्षक हैं।[1] साकेत में राम की विजय भारतीय संस्कृति की विजय है।[2] प्रियप्रवास के कृष्ण की तरह साकेत के राम को गुप्त जी का भक्त-हृदय सर्वथा मानवीय रूप तो नहीं दे सका है, पर तुलसी के राम की अपेक्षा वे मानवत्व के अधिक निकट आ गए हैं। साकेत के राम के चरित्र में मनुष्यत्व की ही प्रधानता है। प्रियप्रवास की तरह साकेत में भी गुप्त जी ने कतिपय अलौकिक घटनाओं को लौकिक रूप देने का प्रयत्न किया है। द्विवेदी-युग में भारतीय नारी के हृदय में जाग्रति उत्पन्न होने लगी थी। साकेत की सुमित्रा, माण्डवी, कैकेयी और उर्मिला के चरित्र में यही जाग्रति यत्र-तत्र प्रस्फुटित हुई है।[3]

---

१. निज-संस्कृति-समान आर्या की अग्रज रक्षा करते थे।

—साकेत, सर्ग ११, पृष्ठ २७८

२. जय जयकार किया मुनियों ने, दस्युराज यों ध्वस्त हुआ।
आर्य-सभ्यता हुई प्रतिष्ठित, आर्य-धर्म आश्वस्त हुआ॥

—साकेत, सर्ग ११, पृष्ठ २७८

३. सुमित्रा—"स्वत्वों की भिक्षा कैसी ? दूर रहे इच्छा ऐसी।
उर में अपना रक्त बहे, आर्य-भाव उद्दीप्त रहे।
पाकर वंशोचित शिक्षा—माँगेंगी हम क्यों भिक्षा ?"

—साकेत, सर्ग ४, पृष्ठ ७५-७६

माण्डवी—"स्वामी, निज कर्तव्य करो तुम निश्चित मन से,
रहो कहीं भी, दूर नहीं होगे इस जन से।
डरा सकेगा अब न आप दुर्दम यम मुझको,
है अपनों के संग मरण जीवन-सम मुझ को।"

—साकेत, सर्ग १२, पृष्ठ २९५

कैकेयी—"मैं निज पति के संग गई थी असुर-समर में,
जाऊँगी अब पुत्रसंग भी अरि-संगर में।"

—साकेत, सर्ग १२, पृष्ठ ३०१

उर्मिला—माथे का सिन्दूर सजग अंगार-सदृश था,
प्रथमातप-सा पुण्य गात्र, यद्यपि वह कृश था।
बायाँ कर शत्रुघ्न-पृष्ठ पर कण्ठ-निकट था,
दायें कर में स्थूल किरण-सा शूल विकट था।

—साकेत, सर्ग १२, पृष्ठ ३१३

द्विवेदी-काल में महात्मा गाँधी के नेतृत्व में जनता विदेशी शासन से मुक्त होने तथा प्रजातन्त्र शासन की माँग के लिए आन्दोलन करने लगी थी। साकेत में भी प्रजा की यह माँग यत्र-तत्र अभिव्यक्त हुई है।[1] गाँधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन,[2] ग्राम-सुधार[3], अछूतोद्धार[4] और अहिंसा आदि नवीन विचार-धाराओं का साकेत पर यथेष्ट प्रभाव दिखाई देता है। अंग्रेजों के शासनकाल में भारत का धन विदेशों में जाने लगा था। द्विवेदी-कालीन भारतीय जनता की तरह साकेत के भरत भी भारत-लक्ष्मी के समुद्र-पार चले जाने से चिन्तित दिखाई देते हैं।[5] गाँधी जी की सेविकाओं की तरह सीता भी दलित-वर्ग की अर्ध-नग्न बालाओं की स्थिति सुधारने में प्रयत्नशील दीख पड़ती हैं।[6] साकेत से विदा होते समय राम जन्म-भूमि के प्रति अनुराग प्रकट करते हुए द्विवेदी-कालीन देश-भक्ति को मुखरित करते है।[7]

---

१. राजा हमने राम, तुम्हीं को है चुना,—
करो न तुम यों हाय ! लोकमत अनसुना।
—साकेत, सर्ग ५, पृष्ठ ८९

२. जाओ, यदि जा सको रौंद हमको यहाँ।
यों कह पथ में लेट गए बहु जन वहाँ।
—साकेत, सर्ग ५, पृष्ठ ८९

३. श्रमी कृषक निज बीज-वृद्धि का रखते हैं जीवित इतिहास,
राज-घोष में देखा मैंने आज नया गोवंश-विकास।
—साकेस, सर्ग ११, पृष्ठ २७५

४. ओ भोली कोल-किरात-भिल्ल-बालाओ,
मैं आप तुम्हारे यहाँ आ गई, आओ।
मुझको कुछ करने योग्य काम बतलाओ,
दो अहो ! नव्यता और भव्यता पाओ।
—साकेत, सर्ग ८, पृष्ठ १६१

५. भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में,
सिन्धु-पार वह विलख रही है व्याकुल मन में।
—साकेत, सर्ग १२, पृष्ठ २९७

६. तुम अर्धनग्न क्यों रहो विशेष समय में,
आओ, हम कातें-बुनें गान की लय में।
—साकेत, सर्ग ८, पृष्ठ १६१

७. जन्मभूमि, ले प्रणति और प्रस्थान दे,
हमको गौरव, गर्व तथा निज मान दे।
× × ×
तेरा स्वच्छ समीर हमारे श्वास में,
मानस में जल और अनल उच्छ्वास में।
—साकेत, सर्ग ५, पृष्ठ ९३

इस प्रकार गुप्त जी ने साकेत में राष्ट्र की समसामयिक समस्याओं के साथ स्वर मिलाकर राष्ट्रीय भावनाओं और सांस्कृतिक आदर्शों का प्रतिनिधित्व किया है। साकेत वास्तव में द्विवेदी-युग का प्रतिनिधि महाकाव्य है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय के वैदेही-वनवास नामक महाकाव्य की रचना भी द्विवेदी-काल में ही हुई। प्रियप्रवास की तरह इसमें भी कवि ने प्राचीन कथानक को अपनाया है और राम तथा सीता को आधुनिक युग के बुद्धिवाद के अनुरूप नवीन रूप प्रदान किया है। वैदेही-वनवास में राम एक लोकहित-निरत आदर्श राजा के रूप में हमारे सामने आते हैं। यहाँ सीता केवल प्रतिप्राणा पत्नी ही नहीं, राष्ट्र-हितैषी आदर्श महिला भी हैं। प्रियप्रवास की तरह वैदेही-वनवास में भी हरिऔध ने राम-कथा से सम्बन्धित अलौकिक घटनाओं को स्वाभाविक तथा बुद्धिग्राह्य बनाने का प्रयत्न किया है। द्विवेदी-युग नारी-जाति के सम्मान का युग था। वैदेही-वनवास में वन-गमन से पूर्व सीता को लोकापवाद-जनित सारी परिस्थिति से परिचित कराने[1] तथा गर्भवती रानियों को प्रसव के समय कुलपति के आश्रम में भेजने की प्रथा[2] की नवीन उद्भावना करके हरिऔध ने सीता के चरित्र को गौरवान्वित करते हुए नवयुग की भावनाओं के अनुसार नारी-जाति के गौरव की रक्षा की है। द्विवेदी-युग की अछूतोद्धार-सम्बन्धी भावनाओं के अनुकूल न होने के कारण राम-द्वारा शम्बूक-वध-सम्बन्धी घटना को भी वैदेही-वनवास में स्थान नहीं मिला है। राम के चरित्र में गाँधीजी के अहिंसावाद[3] और सीता के चरित्र में जीव-मात्र के हित की भावना

---

१. इच्छा है कुछ काल के लिए तुमको स्थानान्तरित करूँ।
इस प्रकार उपजा प्रतीति में प्रजा-पुंज की भ्रान्ति हरूँ।।
—वैदेही-वनवास, सर्ग ५, २१

२. है प्राचीन पुनीत प्रथा यह मंगल की आकांक्षा से।
सब प्रकार की श्रेय दृष्टि से बालक हित की वांछा से।।
गर्भवती महिला कुलपति-आश्रम में भेजी जाती है।
यथाकाल संस्कारादिक होने पर वापस आती है।।
—वैदेही-वनवास,सर्ग, ५, ३८

३. आर्त्त लोगों का मार्मिक कष्ट।
वह निरपराधों का संहार।।
बाल-वृद्धों का करुण विलाप।
विवश जनता का हाहाकार।।
आहवों में जो हैं अनिवार्य।
मुझे करते हैं व्यथित नितान्त।।
—वैदेही-वनवास, सर्ग ३, ८८-८९

तथा विश्वप्रेम [1] की अभिव्यक्ति नययुग की भावनाओं के अनुकूल ही हुई है ।

द्विवेदी-युग के पश्चात् छायावाद-युग में हिन्दी-कविता समष्टिपरक न होकर व्यक्तिपरक हो गई। उसमें समष्टि का स्थान व्यक्ति ने ले लिया। द्विवेदी-युग की उपदेशात्मकता, इतिवृत्तात्मकता और बौद्धिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में छायावाद युग की कविता ने भावात्मकता और अतीन्द्रियता को ग्रहण किया। जहाँ द्विवेदी-युग की कविता का विषय बाह्य सामाजिक जीवन था, वहाँ छायावाद की कविता व्यक्तिगत अन्तरंग जीवन को लेकर विकसित हुई। छायावादी कवियों की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वस्तुपरक महाकाव्यों की जन्मदात्री न होकर आत्मपरक गीति-काव्यों की सृष्टि के लिए उर्वरा सिद्ध हुई। छायावाद-युग में प्रसाद की कामायनी ही एकमात्र रचना है, जिसे एक उत्कृष्ट महाकाव्य माना जाता है। हिन्दी-साहित्य में कामायनी युगप्रवर्त्तक विचारों का प्रतिनिधि महाकाव्य है। उसमें वस्तुतः द्विवेदी-युग की वस्तुपरक और छायावाद-युग की आत्मपरक दोनों प्रवृत्तियों का विलक्षण समन्वय दीख पड़ता है। वह वर्तमान-युग की अद्भुत देन है। आज की परिवर्तित विचारधाराएँ तथा प्रगतिशील भावनाएँ उसमें पूर्णतया प्रतिफलित हुई हैं। द्विवेदी-कालीन प्रियप्रवास, साकेत और वैदेही-वनवास जैसे महाकाव्यों में अतीत की घटनाओं को नवीन रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ है पर उनमें कामायनी की-सी मौलिकता नहीं पाई जाती। कामायनी में मनु और श्रद्धा के कथानक के माध्यम से सम्पूर्ण मानव-जाति के विकास की कहानी कही गई है। उसमें प्राचीनता और नवीनता, ऐतिहासिकता और अध्यात्मिकता, आदर्श और यथार्थ, हृदयतत्व और बौद्धिकता का सुन्दर सामंजस्य दिखाया गया है।

कामयानी का कथानक ऐतिहासिक है। जहाँ उसमें एक ओर अतीत का तदनुरूप चित्रण हुआ है, वहाँ दूसरी ओर वर्तमान युग की नवीन समस्याओं और परिस्थितियों की प्रतिध्वनि भी सुनाई देती है। वस्तुतः प्रसाद जी ने कामायनी की रचना की मूल प्रेरणा अपने युग से ही प्राप्त की है। उसके निर्माण में वर्तमान युग का आग्रह स्पष्ट है। आज के वैज्ञानिक युग का बुद्धिवाद मानव को विनाश की ओर ले जा रहा है। अपनी बुद्धि के बल पर भौतिक सुखों के साधन जुटा कर भी आज का मानव वास्तविक सुख और शान्ति से वंचित है। कामायनी में प्रसाद जी ने बुद्धिवाद से सन्त्रस्त मानव को शाश्वत आनन्द और शान्ति का मार्ग दिखाया है। आज के युग की बौद्धिकता की प्रतिक्रिया ने ही कामायनी को जन्म दिया है। वर्तमान बुद्धिवादी-युग की स्वार्थपरता और अशान्ति

---

१. सर्वोत्तम साधन है उर में ।
भव-हित पूतभाव का भरना ॥
स्वाभाविक सुख-लिप्साओं को ।
विश्वप्रेम में परिणत करना ॥
—वैदेही-वनवास, सर्ग ७, ७५

मनु के नेतृत्व में सारस्वत नगर की दुर्दशा के वर्णन में व्यक्त हुई है। स्वेच्छाचारी शासक मनु के विरुद्ध सारस्वत प्रदेश की प्रजा के विद्रोह में वर्तमान युग की लोकतन्त्र भावना का स्वर सुनाई पड़ता है। श्रद्धा और इड़ा के चरित्र-द्वारा कवि ने वर्तमान युग की नारी-स्वातन्त्र्य-समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। कामायनी पर गाँधी जी की विचार-धाराओं का भी पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। गांधी जी की तरह प्रसाद जी ने कामायनी में भौतिक और आध्यात्मिक संस्कृति की समरसता प्रतिपादित की है। अहिंसा का समर्थन करती हुई[1] और तकली कातने में अनुरक्त[2] श्रद्धा के चरित्र में महात्मा जी का अहिंसावाद और ग्रामोद्योग मुखरित हो उठा है। इस प्रकार कामायनी में वर्तमान युग की आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक समस्याओं को अतीत के संदर्भ में प्रतिष्ठित करके कवि ने उनका समुचित समाधान प्रस्तुत किया है। प्रसाद जी ने अतीत और वर्तमान में समन्वय दिखा कर प्राचीन भारतीय संस्कृति की आधुनिक युग के अनुरूप वैज्ञानिक और व्यावहारिक व्याख्या की है।

भारत की स्वतन्त्रता से पूर्व वर्तमान गाँधी-युग में कृष्णायन और साकेत-सन्त दो प्रमुख महाकाव्यों की रचना हुई। कृष्णायन में परम्परागत कृष्ण के चरित्र का वर्तमान-युग की आवश्यकताओं के अनुरूप पुनर्निर्माण किया गया है। इस महाकाव्य में कृष्ण एक समाज-सुधारक, देशहितैषी, आदर्श नेता के रूप में हमारे सामने आते हैं। कृष्णायन के लेखक श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र गाँधीजी के परम भक्त और प्रमुख राजनीतिक नेता हैं। इसलिए कृष्णायन पर गाँधीयुग के राष्ट्रीय और सामाजिक जागरण का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। सामाजिक कुरीतियों के निवारण की भावना कृष्णायन में कई स्थलों पर व्यक्त हुई है। ग्रन्थ के आरम्भ में ही परतन्त्रता की वेड़ियों में जकड़ी हुई भारतमाता का करुण

---

१. "अपनी रक्षा करने में जो, चल जाय तुम्हारा कहीं अस्त्र;
वह तो कुछ समझ सकी हूँ मैं, हिंसक से रक्षा करे शस्त्र।
पर जो निरीह जीकर भी कुछ, उपकारी होने में समर्थ;
वे क्यों न जियें, उपयोगी बन, इसका मैं समझ सकी न अर्थ!"

—कामयानी, ईर्ष्या सर्ग, पृष्ठ १४६

२. मैं बैठी गाती हूँ तकली के, प्रतिवर्त्तन में स्वर विभोर—
चल री तकली धीरे-धीरे, प्रिय गये खेलने को अहेर।

—कामायनी, ईर्ष्या सर्ग, पृष्ठ १५०

यों सोच रही मन में अपने, हाथों में तकली रही घूम;
श्रद्धा कुछ-कुछ अनमनी चली, अलकें लेती थीं गुल्फ चूम।

—कामायनी, ईर्ष्या सर्ग, पृष्ठ १४२

करता है। इसलिए उसकी रचना पर तत्कालीन युग का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों में भी वर्तमान युग की विविध समस्याएँ और प्रवृत्तियाँ प्रतिफलित दिखाई देती हैं।

महाकाव्य में जातीय जीवन की, उसकी अनेक विशेषताओं के साथ, अभिव्यक्ति होती है और जिस प्रकार जातीय जीवन युग और उसकी परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है, उसी प्रकार उसके प्रतिनिधि महाकाव्य के स्वरूप और आदर्शों में भी परिवर्तन अवश्यंभावी है। प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों में निरूपित महाकाव्यों के नपे-तुले आदर्शों के आधार पर ही सफल महाकाव्यों की रचना संभव नहीं हो सकती। आज के युग की नवीन भावनाओं और परिस्थितियों के अनुसार वर्तमान महाकाव्यों के स्वरूप में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहा है। आधुनिक महाकाव्यों में प्राचीन आदर्शों का अक्षरशः पालन संभव नहीं। आज उनमें परिष्कार और संशोधन हो रहा है और साथ ही नए आदर्शों की प्रतिष्ठा हो रही है। मानव-जीवन की परिवर्तनशीलता के साथ-साथ आज के महाकाव्यों के आदर्शों और उद्देश्यों में परिवर्तन का आना स्वाभाविक ही है।

आज के हिन्दी-साहित्य के अधिकांश महाकाव्यों की कथावस्तु प्राचीन ही दिखाई देती है। प्रियप्रवास, साकेत, वैदेही वनवास, कामायनी, कृष्णायन और साकेत-सन्त सभी में प्राचीन कथानक को अपनाया गया है। इसका कारण यह है कि समसामयिक की अपेक्षा प्राचीन कथानक में कवि की कल्पना को स्वच्छन्द विहार करने का अधिक अवसर मिलता है। केवल काल्पनिक या समसामयिक कथानक के आधार पर सफल महाकाव्य की रचना संभव नहीं होती। महात्मा गाँधी के जीवन से सम्बद्ध वर्तमान कथानक को लेकर आज के अनेक कवियों ने महाकाव्य लिखने का प्रयत्न किया किन्तु उनका यह प्रयत्न असफल ही रहा। ठाकुर प्रसादसिंह का 'महामानव' रघुवीरशरण मित्र का 'जननायक' और ठाकुर गोपालशरणसिंह का 'जगदालोक' इस कथन की पुष्टि करते हैं। हाँ, कथानक के प्राचीन होते हुए भी इन आधुनिक महाकाव्यों में नवयुग की चेतना का स्पन्दन स्पष्ट दीख पड़ता है। आज का महाकाव्यकार प्राचीन कथानक को नवयुग की स्वतन्त्रता और प्रगतिशील भावनाओं के अनुकूल बनाने में प्रयत्नशील है।

परम्परागत प्राचीन भारतीय आदर्शों के अनुसार महाकाव्य का नायक धीरोदात्त गुणों से युक्त कोई कुलीन महापुरुष होना चाहिए, किन्तु आधुनिक काल के महाकाव्यकार इस नियम की उपेक्षा करने लगे हैं। मानवतावाद के प्रभाव से महापुरुष के सम्बन्ध में बनी हुई परम्परागत धारणा आज बदल गई है और उपेक्षितों, दलितों, निर्धनों और श्रमिकों को भी नायक मानकर महाकाव्यों की रचना होने लगी है। दैत्यवंश और रावण जैसी रचनाओं में क्रमशः हिरण्यकशिपु और रावण जैसे असुरों को नायक के पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास इसी प्रवृत्ति का परिचायक है। इसी प्रकार आनन्दकुमार-रचित अंगराज और दिनकर के 'रश्मिरथी' में सूतपुत्र कर्ण को नायक बनाया गया है। रामकुमार वर्मा ने 'एकलव्य' में निषादपुत्र एकलव्य के चरित्र की महानता प्रतिपादित की है।

आज के महाकाव्यों में नायक का सद्वंश में उत्पन्न होना आवश्यक नहीं समझा जाता। आधुनिक महाकाव्यों का नायक अतिमानव या अलौकिक चरित्र न होकर अपनी वैयक्तिक सबलताओं और दुर्बलताओं से युक्त किसी महान् लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाला मानव चरित्र ही होता है।

आज का युग भारतीय नारी के उत्थान का युग है। आज की इसी विचारधारा के अनुकूल नारी को आधुनिक महाकाव्य में नायक (प्रधान चरित्र) के पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न भी दृष्टिगत होता है। साकेत में उर्मिला और कामायनी में श्रद्धा प्रमुख चरित्रों के रूप में हमारे सामने आती हैं। रामानन्द तिवारी ने 'पार्वती' और परमेश्वर द्विरेफ ने 'मीरा' जैसे महाकाव्य में भी नारी को प्रमुख चरित्र के रूप में सम्मानित करने का प्रयत्न किया है।

प्राचीन महाकाव्यों में युद्ध-घटनाओं को प्रधानता दी जाती थी पर आज के महाकाव्यों में उन्हें विशेष महत्व नहीं दिया जाता। बाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष को आजकल प्रधानता मिलने लगी है। प्राचीन महाकाव्यों में अलौकिक घटनाओं का समावेश रहता था किन्तु आज के वैज्ञानिक युग में उनका सर्वथा परित्याग हो रहा है। आधुनिक महाकाव्यों में आदर्शवाद की अपेक्षा यथार्थ को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। नूतन महाकाव्य वर्णन-प्रधान न होकर विचार-प्रधान होते जा रहे हैं, उनमें बौद्धिकता आने लगी है। प्राचीन महाकाव्यों में रस को प्रधानता दी जाती थी और पात्रों का चरित्र-चित्रण रस का साधन माना जाता था, किन्तु आज के महाकाव्यों में चरित्र-चित्रण एक आवश्यक तत्त्व बन गया है और रस-परिपाक गौण हो गया है। विविध पात्रों के जीवन की सफलताओं और विफलताओं के स्वाभाविक चित्रण-द्वारा विविधतापूर्ण मानव-जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति ही आज के महाकाव्यों का मुख्य उद्देश्य दिखाई देता है। चरित्र-चित्रण में पात्रों के कार्य-व्यापारों की ओर विशेष ध्यान न देकर आज का महाकाव्यकार उनकी अन्तर्वृत्तियों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर विशेष बल देने लगा है।

प्राचीन महाकाव्यों—विशेषकर पाश्चात्य—की तरह आज के वैज्ञानिक युग के महाकाव्यों में अलौकिक तत्त्वों और नियति को विशेष महत्व नहीं दिया जाता। अलौकिकता के परित्याग के कारण आज के महाकाव्य हमारे वर्तमान जीवन के अधिक निकट आ रहे हैं। उनके चरित्र अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। उनकी सफलता या विफलता में किसी अदृष्ट शक्ति का हाथ स्वीकार करना उचित नहीं समझा जाता।

आधुनिक महाकाव्यों में कभी-कभी नाटकीय तत्वों का समावेश भी समुचित समझा जाता है। आज के महाकाव्यकार कथोपकथन और दृश्य-चित्रण में कभी-कभी नाटकीय शैली को अपनाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। महाकाव्य में कहीं-कहीं नाटकीय ढंग से सम्वादों की योजना द्वारा कथानक में रोचकता तथा भाषा-शैली में सजीवता आ जाती है। वैयक्तिकता की प्रधानता के कारण आज के महाकाव्यों में गीतों को भी समुचित

स्थान मिलने लगा है। साकेत और कामायनी दोनों में कहीं-कहीं ऐसे गीतों का समावेश दिखाई देता है जिनमें कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियों तथा सूक्ष्म भावों की मार्मिक व्यंजना हुई है।

आधुनिक महाकाव्यों की भाषा-शैली में भी आज के युग की नवदृष्टि के अनुरूप परिष्कार हो रहा है। महाकाव्य के स्वरूप विषयक सम्पूर्ण शास्त्रीय लक्षणों का अक्षरशः निर्वाह आज के युग में संभव नहीं। इसलिए आज का प्रगतिशील महाकाव्यकार सर्ग-रचना, रस-परिपाक और छन्द-योजना सम्बन्धी परम्परागत रूढ़ियों का पालन आवश्यक नहीं समझता। युग की परिवर्तित रुचि के अनुसार आज के महाकाव्यों की भाषा-शैली में भी नवीनता आने लगी है। कामायनी-जैसी रचना में चित्रमयी भाषा तथा प्रतीकात्मक लाक्षणिक प्रयोगों को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। द्विवेदी-युग के महाकाव्यों में भाषा-गत सौन्दर्य और सरसता की कमी बनी रही किन्तु कामायनी में प्रसाद जी ने काव्योपयोगी मनोरम और भावपूर्ण भाषा तथा नवीन अभिव्यंजना-शैली को स्थान देकर द्विवेदी-युग की न्यूनता की पूर्ति की है। प्रकृति-वर्णन की परम्परागत प्रणाली में भी आज परिवर्तन दृष्टिगत हो रहा है। प्राचीन महाकाव्यों में उद्दीपन विभाव के रूप में ही प्रकृति-वर्णन अधिक हुआ है; पर आज का महाकाव्यकार प्रकृति और मानव-हृदय के बीच सामंजस्य स्थापित करने में अधिक प्रयत्नशील दिखाई देता है। आज के महाकाव्य में प्रकृति मानवीय रूप धारण कर मानव के सुख-दुख में हाथ बँटाती हुई दिखाई देती है। प्रकृति का संवेदनात्मक रूप आधुनिक महाकाव्य में अधिक निखर आया है। इस प्रकार आधुनिक महाकाव्य नवीन विषयों और जीवन की नूतन समस्याओं को आत्मसात् करता हुआ विकास की ओर अग्रसर हो रहा है। उसमें अतीत और वर्तमान की मूल्य-दृष्टियों का सामंजस्य दिखाई देता है।

वैसे तो महाकाव्य के सर्वमान्य शास्त्रीय लक्षणों की कसौटी पर रामचरित-मानस के अतिरिक्त हिन्दी की अन्य कोई भी रचना खरी नहीं उतर सकती, फिर भी महाकाव्य के कतिपय तत्त्वों का निर्वाह न होने पर भी हम महाकाव्य के अधिकांश प्रमुख लक्षणों को आत्मसात् करने वाली काव्य-कृतियों का महाकाव्य की दृष्टि से विवेचन उचित समझते हैं। महाकाव्य के संकलनात्मक और कलात्मक इन दो भेदों में से हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों की गणना कलात्मक महाकाव्यों में ही की जा सकती है। संस्कृत के रामायण और महाभारत जैसे संकलनात्मक महाकाव्यों की रचना आज के युग में संभव नहीं। आज की परिस्थितियां ऐसे महाकाव्यों के निर्माण के लिए अनुकूल सिद्ध नहीं होतीं। हाँ, संस्कृत के कुमारसंभव, रघुवंश, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधचरित जैसे कलात्मक महाकाव्यों के समान हिन्दी में अनेक महाकाव्यों की रचना आधुनिक काल में हुई है।

हिन्दी के इन आधुनिक महाकाव्यों को हमने तीन वर्गों में विभक्त करना उचित समझा है:—(१) प्रमुख महाकाव्य, (२) अन्य महाकाव्य, और (३) तथाकथित महाकाव्य। प्रमुख महाकाव्यों में प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, वैदेही-वनवास,

कृष्णायन और साकेत-सन्त ये छः महाकाव्य सम्मिलित हैं। अन्य महाकाव्यों में नूरजहाँ, सिद्धार्थ, दैत्यवंश, अंगराज, वर्द्धमान, रावण, जयभारत, पार्वती, रश्मिरथी, मीराँ, एकलव्य, ऊर्मिला और तारक-वध को स्थान दिया गया है। तथाकथित महाकाव्यों को उनके लेखकों अथवा कतिपय अन्य विद्वानों ने महाकाव्य माना है, किन्तु हमारी सम्मति में ये महाकाव्य कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। महाकाव्य-सम्बन्धी कतिपय-लक्षणों का निर्वाह होने पर भी इनमें महाकाव्य के स्थायी तत्त्वों का अभाव ही दिखाई देता है। इसलिए महाकाव्यों की श्रेणी में इनकी गणना अनुचित ही प्रतीत होती है। तथाकथित महाकाव्यों में रामचरित-चिन्तामणि, श्रीरामचन्द्रोदय, हल्दीघाटी, श्रीकृष्णचरितमानस, कुरुक्षेत्र, आर्यावर्त, जौहर, महामानव, विक्रमादित्य, जननायक. जगदालोक, देवार्चन और झाँसी की रानी की गणना की गई है।

प्रमुख महाकाव्य

: ५ :

प्रियप्रवास

(रचना-काल—सन् १९१४)

महावीरप्रसाद द्विवेदी से शुद्ध संस्कृत-गर्भित खड़ीबोली में काव्य-रचना की प्रेरणा प्राप्त करके श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने भिन्नतुकान्त छन्दों में प्रियप्रवास नामक महाकाव्य की रचना की। हिन्दी-साहित्य में प्रियप्रवास खड़ीबोली में कृष्णकाव्य-परम्परा का सर्वप्रथम महाकाव्य है। बंगला में माइकेल मधुसूदनदत्त-रचित प्रसिद्ध महाकाव्य मेघनाद-वध की रचना संस्कृत-गर्भित बंगला के अमित्राक्षर छन्दों में प्रियप्रवास से पहले हो चुकी थी। संभवतः इसकी रचना-शैली से भी प्रभावित होकर हरिऔध ने प्रियप्रवास की रचना की। प्रियप्रवास में परम्परागत कृष्ण-चरित्र को आधुनिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर विरहिणी व्रजांगनाओं की विरह-दशा का चित्रण करते हुए कवि ने कृष्ण को देशसेवक और जाति के हित में निरत एक महापुरुष के रूप में अंकित किया है। भाषा, विषय और शैली की दृष्टि से यह महाकाव्य तत्कालीन साहित्य में नवीन मार्ग प्रस्तुत करने वाला सिद्ध हुआ है। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने जब प्रियप्रवास की रचना आरम्भ की थी, उस समय खड़ीबोली में महाकाव्यों का सर्वथा अभाव था। तत्कालीन परिस्थितियों में एक प्रारम्भिक रचना होने के कारण प्रियप्रवास में महाकाव्य की दृष्टि से कुछ त्रुटियों का होना स्वाभाविक ही है। विषय की व्यापकता के अभाव में भी खड़ीबोली का सर्वप्रथम महाकाव्य होने का श्रेय प्रियप्रवास को ही है। परवर्ती साकेत, कामायनी जैसे महाकाव्यों के समक्ष इसका महत्व भले ही कम हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रियप्रवास की रचना-द्वारा हरिऔध ने पश्चात्कालीन कवियों का ध्यान खड़ीबोली में महाकाव्यों के अभाव की ओर आकृष्ट किया है।

प्रियप्रवास का महाकाव्यत्व

संस्कृत-साहित्य के आचार्यों ने महाकाव्य के जो लक्षण निर्धारित किए हैं, उनके आधार पर प्रियप्रवास एक सफल महाकाव्य सिद्ध होता है। महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों के अनुसार प्रियप्रवास की रचना एक सर्गबद्ध काव्य के रूप में हुई है। धीरोदात्त नायक के गुणों से युक्त यदुवंशीय कृष्ण इसके नायक हैं।[1] विप्रलम्भ-शृंगार इसमें प्रधान

१. सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त-गुणान्वितः॥

—साहित्यदर्पण, परि० ६, ३१५-६

रस है। करुण, वीर, शान्त, वात्सल्य आदि अन्य रस भी गौण रूप में इसमें वर्तमान है। महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक या लोक-प्रसिद्ध होना चाहिए।[1] प्रिय-प्रवास का कथानक भी लोक-प्रसिद्ध कृष्ण-चरित्र से सम्बन्धित है, जिसका आधार श्रीमद्-भागवत पुराण है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (चतुर्वर्ग) में से किसी एक की सिद्धि महाकाव्य का लक्ष्य होना चाहिए।[2] इस दृष्टि से प्रिय-प्रवास का अन्तिम लक्ष्य धर्म की प्राप्ति है। धर्म से अभिप्राय यहाँ सारे विश्व को धारण करने वाले लोकधर्म से है। प्रियप्रवास में कृष्ण का चरित्र एक लोकधर्म-संस्थापक महापुरुष के रूप में अंकित हुआ है। संसार के कल्याण की भावना प्रियप्रवास में प्रधान-रूप से वर्तमान है। महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों के अनुसार महाकाव्य में पाँच नाटकीय सन्धियों का समावेश होना चाहिए। प्रिय-प्रवास का कथानक बहुत संक्षिप्त है, उसमें घटनाओं का विस्तार नहीं है। ऐसी दशा में कार्यव्यापार-सम्बन्धी सन्धियों की नाटकीय ढंग से योजना प्रियप्रवास में नहीं हो पाई है। इतना होते हुए भी प्रियप्रवास के सीमित कथानक के भीतर पाँचों सन्धियाँ साधारण रूप में मिल सकती है। चतुर्थ सर्ग में राधा और कृष्ण के प्रेम-वर्णन में मुख-सन्धि है। पंचम सर्ग में कृष्ण के मथुरा-गमन से लेकर छठे सर्ग में पवन-दूती-प्रसंग तक प्रतिमुख सन्धि मानी जा सकती है। ग्यारहवें से चौदहवें सर्ग तक व्रजांगनाओं के विलाप तथा उद्धव के साथ उनके वार्तालाप में गर्भ-सन्धि है। सोलहवें सर्ग में उद्धव-राधा-सम्वाद में विमर्शसन्धि और सत्रहवें सर्ग में लोकहित में निरत राधा के चित्रण में उपसंहृति स्वीकार की जा सकती है। महाकाव्यों की प्राचीन परम्परा के अनुसार महाकाव्य का आरम्भ मंगलाचरण से होना चाहिए[3]। यह मंगलाचरण तीन प्रकार का होता है—नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक और वस्तुनिर्देशात्मक। प्रियप्रवास का आरम्भ सन्ध्या-वर्णन से इस प्रकार होता है:—

"दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला॥
तरु शिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥"[4]

इस पद्य में दिवस का अवसान भावी कृष्ण-विरह के कारण व्रजजनों के सुखमय जीवन के अन्त का सूचक है। इसलिए हम प्रियप्रवास का आरम्भ वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण से मान सकते हैं। महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार प्रियप्रवास में आठ से अधिक सत्रह सर्ग हैं। छन्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में प्रियप्रवास में परम्परागत नियमों का अक्षरशः

१. इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
—साहित्यदर्पण, परि० ६, ३१८

२. चत्वारस्तस्य वर्गा स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
—साहित्यदर्पण, परि० ६. ३१८

३. आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एवं वा।
—साहित्यदर्पण, परि०६, ३१९

४. प्रियप्रवास, सर्ग १, १

पालन नहीं हुआ है। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग और सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन प्रियप्रवास में नहीं पाया जाता। इसके प्रथम और द्वितीय सर्ग में द्रुतविलम्बित नामक एक ही छन्द प्रयुक्त हुआ है, किन्तु अन्त में छन्द-परिवर्तन नहीं हुआ है। तृतीय सर्ग में मुख्यतया द्रुतविलम्बित छन्द ही अपनाया गया है, पर बीच में दो स्थलों पर मालिनी और अन्त में शार्दूल-विक्रिडित छन्द का प्रयोग किया गया है। चतुर्थ सर्ग से अन्तिम सत्रहवें सर्ग तक विविध छन्दों को स्थान दिया गया है। महाकाव्य की परम्परागत परिपाटी के अनुसार प्रियप्रवास में सन्ध्या, रात्रि, सूर्योदय, संयोग, वियोग, नगर, नदी, वन, पर्वत आदि के विस्तृत वर्णन पाये जाते हैं। प्रियप्रवास का नामकरण भी काव्य के प्रतिपाद्य विषय के आधार पर किया गया है। व्रजजनों के प्रिय कृष्ण के प्रवास का वर्णन ही इस काव्य का मुख्य विषय है। इस प्रकार महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार प्रियप्रवास एक सफल महाकाव्य सिद्ध होता है। महाकवि हरिऔध ने प्रियप्रवास की रचना एक महाकाव्य के रूप में की है और उसमें महाकाव्य की सारी विशेषताओं का समावेश करने का प्रयत्न किया गया है। महाकाव्य में शास्त्रीय लक्षणों के निर्वाह के साथ-साथ कतिपय अन्य विशेषताएँ भी होनी चाहिएँ। इन विशेषताओं में विषय की व्यापकता, कथानक की विविध घटनाओं के साथ अन्विति और मानव जीवन की गहनतम अनुभूतियों तथा उच्च आदर्शों की उद्भावना मुख्य है। इन तीन प्रमुख विशेषताओं में से केवल प्रथम विशेषता प्रियप्रवास में नहीं पाई जाती। प्रिय-प्रवास का विषय बहुत संकुचित है। उसमें मानव जीवन का सर्वांगीण चित्र उपस्थित करने की क्षमता नहीं है। अन्तिम दो विशेषताएँ प्रियप्रवास में वर्तमान हैं। उसकी प्रायः सभी घटनाएँ मुख्य कथानक से सम्बद्ध दिखाई देती हैं। मानव-हृदय की शाश्वत वृत्तियों का चित्रण भी उसमें अच्छा हुआ है। राधा और कृष्ण का उदात्त चरित्र प्रस्तुत करते हुए कवि ने कर्त्तव्यपरायणता, लोकसेवा, स्वार्थत्याग और विश्वप्रेम आदि उच्च भावनाओं की सुन्दर व्यंजना की है। इस प्रकार प्रियप्रवास में महाकाव्य-विषयक परम्परागत लक्षणों का सामान्यतया निर्वाह दृष्टिगत होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रियप्रवास में वैसी रसात्मकता और शैलीगत मनोरमता नहीं है, जैसी कि एक उच्चकोटि के महाकाव्य में होनी चाहिए। किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रख कर इन त्रुटियों की उपेक्षा करना ही उचित प्रतीत होता है। संस्कृत की महाकाव्य-शैली का अनुसरण करते हुए हरिऔध ने प्रियप्रवास की रचना उस समय की थी जब कि खड़ीबोली कविता के क्षेत्र में प्रौढ़ता नहीं पा सकी थी। इसलिए कतिपय त्रुटियों के अस्तित्व में भी प्रियप्रवास को हम हिन्दी के वर्तमान महाकाव्यों का अग्रदूत स्वीकार करते हैं।

कथानक

प्रियप्रवास का कथानक कुल सत्रह सर्गों में विभक्त है। प्रथम सर्ग का आरम्भ सन्ध्या-वर्णन से होता है। इसमें कृष्ण गाएँ चरा कर लौटते हैं। उन्हें देख तथा उनकी वंशी की ध्वनि सुनकर व्रज की सारी जनता सुखी और प्रसन्न दिखाई देती है। द्वितीय

सर्ग में व्रज की जनता मंगल-वादन और गान में निरत दीख पड़ती है। इतने में ढ़िंढ़ोरे की आवाज के साथ व्रज की जनता को सूचना दी जाती है कि कंस का निमंत्रण पाकर नन्द कृष्ण और बलराम के साथ मथुरा जाने वाले हैं। यह सूचना पाकर कृष्ण-वियोग की आशंका से सब लोग चिन्तित हो जाते हैं। तृतीय सर्ग में मथुरा-यात्रा की तैयारी की जाती है। चतुर्थ सर्ग में राधिका का परिचय, राधा और कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन तथा कृष्ण के वियोग में राधा की मार्मिक वेदना का चित्रण है। पाँचवें सर्ग में नन्द की मथुरा-यात्रा के समय व्रजवासियों के करुण-क्रन्दन और यशोदा के मातृहृदय की व्याकुलता का वर्णन है। छठे सर्ग में व्रजवासी कृष्ण के लौट आने की प्रतीक्षा में चिन्तित दिखाई देते हैं और राधिका पवन को दूती बना कर कृष्ण के पास भेजने के लिए उत्सुक दृष्टिगत होती है। सातवें सर्ग में नन्द कृष्ण को मथुरा में ही छोड़ कर गोकुल लौट आते हैं। उनके साथ कृष्ण को न देख कर सब लोग दुखी हो जाते हैं और यशोदा पागल सी दिखाई देती है। आठवें सर्ग में गोपियों द्वारा कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन है। नवम सर्ग में कृष्ण के कथनानुसार उद्धव गोकुल को प्रस्थान करते हैं। उनके मार्ग के प्राकृतिक दृश्यों का सुन्दर वर्णन इस सर्ग में वर्तमान है। दशम सर्ग में यशोदा उद्धव को कृष्ण की बाल्यावस्था की अनेक कथाएँ सुनाती है। ग्यारहवें सर्ग में उद्धव कृष्ण-वियोग-सन्तप्त गोपों को सान्त्वना देते हैं और इसी अवसर पर एक गोप कृष्ण-द्वारा कालिय-दमन की कथा कहता है। बाहरवें सर्ग में इन्द्र के कोप तथा कृष्ण के गोवर्धन-धारण की कथा है। तेरहवें सर्ग में अघासुर, केशी-दैत्य और व्योमासुर के वध की कथाएँ हैं। यहाँ कृष्ण एक समाज-सेवक के रूप में चित्रित हैं। चौदहवें सर्ग में उद्धव और गोपियों का सम्वाद और शरद-यामिनी-महोत्सव का वर्णन है। पन्द्रहवें सर्ग में उद्धव के सम्मुख कृष्ण के प्रेम में विह्वल एक गोपी के हृदय की भावनाओं का मार्मिक चित्रण है। सोलहवें सर्ग में उद्धव-राधा-सम्वाद है। उद्धव राधा के कृष्ण-प्रेम के सामने अपना ज्ञानगर्व मिटा कर राधा के चरणों की रज लेकर मथुरा को विदा होते हैं। सत्रहवें सर्ग में उद्धव मथुरा में पहुँचते हैं। कृष्ण जरासन्ध से पीड़ित जनता की रक्षा के लिए द्वारिका चले जाते हैं। उधर व्रज में राधिका दीन-दुखियों की सहायता करती हुई एक सच्ची लोकसेविका का जीवन बिताने लगती है। इसी सर्ग के अन्त में निम्नोद्धृत पद्य के साथ प्रियप्रवास की समाप्ति होती है:—

> "सच्चे स्नेही अवनिजन के देश के श्याम जैसे।
> राधा जैसी सदय-हृदया विश्वप्रेमानुरक्ता ॥
> है विश्वात्मा, भरतभुव के अंक में और आवें।
> ऐसी व्यापी विरह-घटना किन्तु कोई न होवे[1] ॥"

कथानक-समीक्षा

प्रिय-प्रवास का कथावस्तु का मुख्य आधार श्रीमद्भागवत है। हरिऔध ने इस

---

१. प्रिय-प्रवास, सर्ग १७, ५४

परम्परागत कथानक को मौलिक रूप देने का यथेष्ट प्रयत्न किया है। वास्तव में प्रियप्रवास की कथावस्तु बहुत सीमित है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध की कतिपय घटनाओं के आधार पर उसका निर्माण हुआ है। आरम्भ में कृष्ण गाएँ चराते हुए व्रज-जनों को आनन्द प्रदान करते हैं। एक दिन मथुरा से कंस का निमन्त्रण पाकर व्रजवासियों की इच्छा के विरुद्ध कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा चले जाते हैं। वहाँ कंस का संहार करके वे राज्यव्यवस्था और दुष्टों से समाज की रक्षा में प्रवृत्त हो जाते हैं। इस प्रकार वे स्वयं व्रज में न लौट कर उद्धव को व्रजवासियों को सान्त्वना देने के लिए वहां भेजते हैं। उद्धव व्रजजनों की व्याकुलता से प्रभावित होकर व्रजधूलि सिर पर धारण करते हुए मथुरा लौट आते हैं। प्रियप्रवास की कथावस्तु संक्षेप में इतनी ही है। कवि ने उसे महाकाव्योचित व्यापक रूप देने तथा नवीन ढंग से उपस्थित करने की यथाशक्ति चेष्टा की है। प्रियप्रवास का आरम्भ सन्ध्या-वर्णन तथा व्रज में अक्रूर के आगमन से होता है। श्रीमद्भागवत में अक्रूर सन्ध्या-समय व्रज में पहुँचते हैं[1] परन्तु प्रियप्रवास-का सा सान्ध्यवर्णन भागवत में नहीं पाया जाता। प्रियप्रवास में अक्रूर सीधे नन्द के पास पहुँचते हैं और उन्हें कंस का संदेश सुनाते हैं, पर भागवत में अक्रूर व्रज में पहुँचते ही गोदोहन के लिए गोष्ठ में जाते हुए कृष्ण और बलराम से मिलते हैं।[2] प्रियप्रवास में अक्रूर के साथ कृष्ण की मथुरा के लिए विदाई का दृश्य भागवत से सम्बन्ध रखता हुआ भी पर्याप्त मौलिकता लिए हुए है। कृष्ण की विदाई के समय भागवत में केवल गोपियों की विरह-कातरता का चित्र उपस्थित किया गया है[3] परन्तु प्रियप्रवास में केवल गोपियां ही नहीं, यशोदा तथा आबालवृद्ध व्रज की सारी जनता व्याकुल दिखाई देती है। कृष्ण के मथुरा के लिए प्रस्थान करने के पश्चात् उनके लौटने की प्रतीक्षा में व्रज-जनों की विविध मनोवृत्तियों और यशोदा की उत्कण्ठा का चित्रण हरिऔध की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है। राधिका और पवनदूती-प्रसंग भी कवि की निजी उद्भावना है। इस प्रसंग

---

१. इति संचिन्तयन् कृष्णं श्वफल्कतनयोऽध्वनि ।
रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चास्तगिरिं गतः ॥
—भागवत, दशम०, अध्याय, ३८, २४

२. ददर्श कृष्णं रामं च व्रजे गोदोहनं गतौ ।
पीतनीलाम्बरधरौ शरदम्बुरुहेक्षणौ ॥
—भागवत, दशम०, अध्याय ३८, २८

३. एवंब्रुवाणा विरहातुरा भृशं
व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः ।
विसृज्य लज्जां रुरुदुःस्म सुस्वरं
गोविन्द दामोदर माधवेति ॥
—भागवत, दशम०, अध्याय ३९, ३१

पर कालिदास के मेघदूत का प्रभाव अवश्य दिखाई देता है, पर भागवत में ऐसी कोई कल्पना नहीं पाई जाती। भागवत की तरह प्रियप्रवास में भी कृष्ण व्रजजनों को सान्त्वना देने के लिए अपने ज्ञानी मित्र उद्धव को व्रज में भेजते हैं। पर प्रियप्रवास में यह प्रसंग पर्याप्त नवीनता लिए हुए है। भागवत में कृष्ण मुख्यतया गोपियों के लिए ही चिन्तित दिखाई देते हैं, जबकि प्रियप्रवास में वे माता यशोदा और वृद्ध पिता नन्द का विशेष ध्यान रखते हुए राधिका तथा अन्य गोपियों को सान्त्वना दिलाने का विचार करते हैं। भागवत में उद्धव की व्रज-यात्रा के समय उन विविध प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन नहीं हुआ है जिनका वर्णन प्रियप्रवास में हरिऔध ने किया है। इस प्रसंग में भी कवि की मौलिक सृजन-शक्ति दृष्टिगत होती है। भागवत में उद्धव के आने की सूचना व्रजवासियों को दूसरे दिन प्रातः-काल नन्द-द्वार पर रथ को देख कर मिलती है, परन्तु प्रियप्रवास में सन्ध्या-समय उद्धव के रथ को देख व्रजवासी कृष्ण के प्रत्यागमन की आशा से उसे घेर लेते हैं।

भागवत में भ्रमरगीत एक महत्वपूर्ण प्रसंग है। हरिऔध ने प्रियप्रवास में इस प्रसंग को संक्षिप्त तथा नवीन ढंग से प्रस्तुत किया है। प्रियप्रवास में एक गोपिका भ्रमर को सम्बोधित करके उसे अपना दुखड़ा सुनाती है। उद्धव इस कथन को दूर से ही सुन लेते है, पर उस गोपिका के साथ वार्तालाप नहीं करते। भागवत में उद्धव की बातचीत विशेषतया गोपियों से ही होती है। वहां केवल गोपियों की ही विरह-दशा का चित्रण हुआ है। प्रियप्रवास में गोपियों के अतिरिक्त यशोदा, वृद्ध तथा नवयुवक गोपों और राधा की कृष्ण-विरह-जन्य व्याकुलता की व्यंजना भी सुन्दर ढंग से हुई है। व्रजवासियों के प्रेम से प्रभावित होकर अन्त में उद्धव मथुरा लौट आते हैं। उधर जरासन्ध का वध करके कृष्ण द्वारिका में शान्ति-स्थापना में प्रवृत्त हो जाते हैं। व्रज में राधा अपनी सखियों-सहित लोकसेवा में अपना जीवन लगा देती है। प्रियप्रवास में कृष्ण और राधिका के चरित्र में लोक-सेवा की भावना को प्रधानता देते हुए कवि ने भागवत के प्रसंगों में यथोचित परिवर्तन किया है। वास्तव में प्रियप्रवास की कथावस्तु बहुत सीमित है। उसके आधार पर जीवन का विस्तृत और व्यापक चित्रण संभव नहीं। कथानक को व्यापक रूप देने के लिए कवि ने कृष्ण के विरह में दुखी गोपों, यशोदा और गोपियों के मुख से कृष्ण के पूर्वकृत्यों का वर्णन कराया है और कृष्ण की बाललीलाओं तथा उनके जीवन से सम्बन्धित कालिय-दमन गोवर्धन-धारण, पूतना, तृणावर्त, अघासुर, केशी-दैत्य, व्योमासुर आदि के वध की घटनाओं पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है, परन्तु इन घटनाओं की प्रियप्रवास की मुख्य कथावस्तु के साथ पूरी अन्विति नहीं हो सकी है।

इस प्रकार प्रियप्रवास के कथानक का मुख्य आधार भागवत अवश्य है पर उसके संगठन में महाकवि हरिऔध ने स्वतन्त्र प्रतिभा से काम लिया है। कहीं कृष्ण और राधा के चरित्र में लोक-सेवा की भावना को प्रकाश में लाने के लिए और कहीं कथावस्तु के मार्मिक स्थलों को मनोहर तथा प्रभावशाली बनाने के लिए कवि ने भागवत के प्रसंगों में यथोचित परिवर्तन करके अपनी प्रतिभा की मौलिकता का परिचय दिया है। कृष्ण के

जिस लोकसंग्रही चरित्र को प्रस्तुत करने के लिए प्रियप्रवास की रचना की गई है, उसमें हरिऔध की मौलिक उद्भावना पूर्ण रूप में पाई जाती है। भागवत के कृष्ण के अलौकिक चरित्र को लौकिक तथा मानवीय रूप देने के लिए हरिऔध को प्रियप्रवास में अलौकिक घटनाओं को लौकिक बनाना पड़ा है। दावानल से कृष्ण-द्वारा ग्वालबालों और गौओं की रक्षा से सम्बन्धित प्रसंग का वर्णन भागवत में कृष्ण के अलौकि दिव्य चरित्र का द्योतक है। वहां कृष्ण ने प्रचण्ड दावाग्नि का पान करके अपनी अलौकिक शक्ति प्रदर्शित की है।[1] प्रियप्रवास में इस घटना को लौकिक रूप दिया गया है। यहां कृष्ण ने प्रचण्ड दावानल में प्रवेश करके गोपकुमारों तथा गौओं की रक्षा करते हुए अपने साहस और कर्तव्यपरायणता का परिचय दिया है।[2] इसी प्रकार भागवत में कृष्ण के गोवर्धन-धारण की घटना अलौकिकता लिए हुए है।[3] इस घटना को भी प्रियप्रवास में लौकिक बनाने की चेष्टा की गई है।[4] इस प्रकार प्रियप्रवास में कवि का कथावस्तु को मौलिक रूप देने का प्रयास प्रशंसनीय है, पर महाकाव्य की दृष्टि से कथावस्तु की समीक्षा करने पर उसमें तीन मुख्य त्रुटियाँ दिखाई देती हैं। उसमें पहली त्रुटि तो यह है कि वह बहुत व्यापक और विस्तृत न होने

---

१. तयेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणम्।
पीत्वा मुखेन तान् कृच्छ्राद् योगाधीशो व्यमोचयत्॥
—भागवत, दशम०, अध्याय १९, १२

कृष्णस्य योगवीर्यं तद् योगमायानुभावितम्।
दावाग्नेरात्मनः क्षेमं वीक्ष्य ते मेनिरेऽमरम्॥
—भागवत, दशम०, अध्याय १९, १४

२. स्वसाथियों की यह देख दुर्दशा। प्रचंड दावानल में प्रवीर से॥
स्वयं धँसे श्याम दुरन्त वेग से। चमत्कृता-सी वनभूमि को बना॥
प्रवेश के बाद सवेग ही कढ़े। समस्त गोपालक-धेनु संग वे॥
अलौकिक-स्फूर्ति दिखा त्रिलोक को वसुन्धरा में कल-कीर्ति वेलि बो॥
—प्रियप्रवास, सर्ग ११, ९४-९५

३. इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम्।
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः॥
—भागवत, दशम०, अध्याय २५, १९

४. सघन गोधन को पुर ग्राम को। सजल-लोचन ने कुछ काल में॥
कुशल से गिरि मध्य बसा दिया। लघु बना पवनादि-प्रमाद को॥
—प्रियप्रवास, सर्ग १२, ९३

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में। ब्रजधराधिप के प्रिय पुत्र का॥
सकल लोग लगे कहने उसे। रख लिया उँगली पर श्याम ने॥
—प्रियप्रवास, सर्ग १२, ६७.

के कारण एक महाकाव्य के लिए उपयुक्त नहीं है। दूसरी त्रुटि यह है कि कथावस्तु के साथ विविध घटनाओं का पूरा सामंजस्य नहीं दिखाई देता। तीसरी त्रुटि है पाठकों को खटकने वाली कथावस्तु की एकरसता। कृष्ण के विरह में यशोदा, गोप और गोपिकाओं का विलाप ही सारे काव्य में दुहराया गया है। उद्धव के समक्ष एक पात्र अपनी कथा समाप्त करता है, तो दूसरा अपनी राम-कहानी आरम्भ कर देता है।[1] वास्तव में प्रियप्रवास की कथावस्तु में रोचकता, विविधता और धारावाहिकता का अभाव ही दिखाई देता है।

चरित्र-चित्रण

महाकाव्यों में पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए कवि को पर्याप्त सुविधाएँ मिल जाती हैं। विषय की व्यापकता और गम्भीरता के कारण महाकाव्यकार अपने पात्रों को जीवन की विविध परिस्थितियों में ले जाकर उनके चरित्र का समुचित विकास दिखाने में समर्थ हो सकता है। प्रियप्रवास में विषय की व्यापकता के अभाव में भी महाकवि हरिऔध को पात्रों के चरित्रांकन में पर्याप्ता सफलता मिली है। वैसे तो प्रियप्रवास में कृष्ण, राधा, नन्द, यशोदा, गोप-गोपियाँ, अक्रूर, उद्धव आदि अनेक पात्र हमारे सामने आते हैं, पर चरित्र-चित्रण की दृष्टि से कृष्ण, राधा, नन्द और यशोदा ही विशेष महत्व रखते हैं।

(१) कृष्ण

कृष्ण प्रियप्रवास के नायक हैं। यहां उनका चरित्र परम्परागत न होकर पर्याप्त मौलिकता लिए हुए है। भागवत तथा हिन्दी के भक्ति-कालीन काव्यों में कृष्ण का चरित्र मनुष्यत्व की कोटि से ऊपर उठा हुआ दीख पड़ता है, उसमें देवत्व की प्रधानता है। रीतिकालीन शृंगारी कवियों ने कृष्ण और राधा को साधारण नायक और नायिका के रूप में ही उपस्थित किया है। हरिऔध ने प्रियप्रवास में कृष्ण को ब्रह्मरूप में नहीं, एक महापुरुष के रूप में अंकित किया है। उन्होंने अपने नायक के चरित्र में सौन्दर्य, शील और शक्ति का सुन्दर समन्वय दिखाया है। प्रियप्रवास के कृष्ण परम सुन्दर, ललित-कला-प्रिय, सहृदय, दयालु, पराक्रमी और लोकसेवा-निरत महापुरुष हैं। प्रियप्रवास के

---

१. निज मनोहर भाषण वृद्ध ने। जब समाप्त किया वह मुग्ध हो।
अपर एक प्रतिष्ठित गोप यों। तब लगा कहने सुगुणावली॥
—प्रियप्रवास, सर्ग ११, ५५

समाप्त ज्यों ही इस युग्म ने किया। अतीव प्यारे अपने प्रसंग को॥
लगा सुनाने उस काल ही उन्हें। स्वकीय बातें फिर अन्य गोप यों॥
—प्रियप्रवास, सर्ग १२, ७२

आरम्भ में कृष्ण के सौन्दर्य का मनोहर चित्र उपस्थित किया गया है।[1] सर्वप्रथम कृष्ण के इस अलौकिक सौन्दर्य ने ही व्रजजनों को मुग्ध किया है।[2] आगे चलकर कृष्ण का लोक-रंजनकारी यह रूप शील और शक्ति से समन्वित हो गया है। सौन्दर्य के साथ-साथ नम्रता, मृदुभाषिता, उदारता और धैर्य आदि गुण उनको शीलवान् बनाते हैं। मथुरा-गमन से पूर्व लोगों से विदा होते समय उनके शील की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।[3] सौन्दर्य और शील के साथ-साथ उनके चरित्र में अतुल शक्ति भी व्यक्त हुई है। प्रियप्रवास में उनके चरित्रगत शक्ति की व्यंजना व्रजजनों द्वारा वर्णित कथाओं में हुई है। कालिय-दमन, गोवर्धन-धारण, अघासुर, व्यामोसुर आदि अनेक राक्षसों के वध-सम्बन्धी घटनाएँ कृष्ण की अद्भुत शक्ति, साहस और पराक्रम का परिचय देती हैं। नन्द, यशोदा, गोप, गोपिकाओं तथा राधा के प्रति उनके हृदय में विशेष प्रेम है, पर यह प्रेम देश, जाति और समाज की सेवा में बाधा नहीं पहुँचाता। कृष्ण को समाज की मर्यादा की रक्षा करने वाले महापुरुष के रूप में चित्रित करने के लिए हरिऔध ने चीर-हरण और गोपियों के साथ असंयत हास्य-विनोद सम्बन्धी लीलाओं को प्रियप्रवास में स्थान नहीं दिया है। रासलीला के वर्णन में कृष्ण के साथ केवल गोपियां ही नहीं, गोपवृन्द भी दिखाई देते हैं। प्रियप्रवास के कृष्ण केवल गोपियों के ही नहीं, आबाल-वृद्ध सारे व्रजजनों के प्रिय हैं।[4] कर्तव्य से प्रेरित होकर ही कृष्ण मथुरा में रहना स्वीकार करते हैं; वे व्रज में नहीं लौटते। इतना होने पर भी वे निष्ठुर नहीं हैं। व्रजजनों को सान्त्वना देने के लिए उद्धव को विदा करते समय उनके हृदय की कोमलता और प्रेम-प्रवणता अच्छी तरह व्यक्त हुई है। वे अपने माता-पिता के विषय में चिन्तित हैं, गोप-गोपियों की मधुर स्मृति उनके हृदय में मूकवेदना उत्पन्न करती है और राधा के प्रति उनके हृदय में अगाध प्रेम है। इस प्रकार व्रजवासियों के सम्बन्ध में चिन्तित और दुखी होते हुए भी कृष्ण की दृष्टि में प्रेम की अपेक्षा कर्तव्य अधिक महत्वपूर्ण है। हरिऔध के कृष्ण देवता नहीं, आदर्श

---

१. देखिए—'ककुभ-शोभित०'—प्रियप्रवास, सर्ग १, १५;
और 'विलसता कटि में०'—प्रियप्रवास, सर्ग १, १८

२. देखिए—'मुदित गोकुल की जनमण्डली०'
—प्रियप्रवास, सर्ग १, २६

३. आज्ञा पाके निज जनक की, मान अक्रूर वार्ते।
जेठे भ्राता सहित जननी-पास गोपाल आये॥
छू माता के पग-कमल को धीरता साथ बोले।
जो आज्ञा हो जननि अब तो यान पै बैठ जाऊँ॥
—प्रियप्रवास, सर्ग ५, ४३

४. सच्चा प्यारा सकल व्रज का वंश का है उजाला।
दीनों का है परम धन औ' वृद्ध का नेत्रतारा॥
अबलाओं का प्रिय स्वजन औ' बन्धु है बालकों का।
ले जाते हैं सुरतरु कहां आप ऐसा हमारा॥
—प्रियप्रवास, सर्ग ५, २८

देश-भक्त और प्रेमी मानव हैं। कवि ने उनके मानव-चरित्र की स्वाभाविकता की रक्षा की है। प्रियप्रवास के कृष्ण ने व्रजजनों के लिए उद्धव द्वारा ज्ञान और योग का सन्देश न भेज कर स्वार्थ-त्याग का सन्देश भेजा है। एक कर्तव्यपरायण महापुरुष से ऐसा ही सन्देश अपेक्षित है। प्रियप्रवास में कृष्ण का चरित्र एक विलासी नायक के रूप में नहीं, कर्तव्य-निष्ठ लोकसेवक के रूप में अंकित है। प्रियप्रवास के कृष्ण अलौकिक देवता नहीं हैं, उनमें मानवोचित सभी गुण वर्तमान हैं। एक आदर्श महापुरुष के समान वे समाज-सेवा, देशहित और मानवजाति के शुभ-चिन्तन में निरत हैं।

(२) राधा

प्रियप्रवास की सबसे अधिक महत्वपूर्ण सृष्टि राधा है। वह एक विलासिनी नायिका नहीं, आदर्श नारी है। कवि ने आरम्भ में उसे एक सुन्दरी के रूप में अंकित किया है। चतुर्थ सर्ग में कवि ने राधा के रूप और गुणों का विस्तृत वर्णन किया है। यहाँ 'राकेन्दु-बिम्बानना', 'तन्वंगी', 'मृगदृगी' आदि विशेषण उसके अनुपम सौन्दर्य को व्यक्त करते हैं। इसी प्रसंग में कवि ने उसे 'नाना-भाव-विभाव-हाव-कुशला', 'लीला-लोल-कटाक्षपात-निपुणा', और 'भ्रूभंगिमा-पण्डिता' बताकर उसे एक विलासिनी रमणी के रूप में भी दिखाया है। राधा का यह रूप भागवत तथा गीतगोविन्द-सम्मत होता हुआ भी प्रियप्रवास में अंकित उसके चरित्र के अनुकूल नहीं बैठता। प्रियप्रवास में राधा को हरिऔध ने प्रण-यिनी, वियोगिनी और लोकसेविका इन तीन रूपों में अंकित किया है। कृष्ण के प्रति उस के हृदय में प्रेम का विकास स्वाभाविक ढंग से दिखाया गया है। बाल्यावस्था में कृष्ण के साथ बाल-क्रीड़ाएँ करती हुई राधा युवावस्था में कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम को धारण करती है। वह कृष्ण को पति रूप में प्राप्त करता चाहती है, पर अक्रूर के साथ कृष्ण के मथुरा चले जाने पर असह्य विरह-वेदना अनुभव करती है। कृष्ण के विरह में वह चुपचाप घुलती है और अपनी परवशता अनुभव करती है। उस के कृष्ण-विषयक प्रेम में वासना-जन्य चंचलता नहीं, गम्भीरता है। विरहिणी राधा की अधीरता, आशंका और व्याकुलता का चित्रण बहुत स्वाभाविक ढंग से हुआ है। विरह में चुपचाप अपनी व्यथा सहती हुई राधा अपने प्रगाढ़ प्रेम का ढ़िंढ़ोरा नहीं पीटती। वह एक आदर्श प्रेमिका है। उसे इस बात का पूरा ध्यान है कि वह एक कुमारी है, कृष्ण की विवाहिता पत्नी नहीं। इसीलिए वह अपने प्रेम को संयत और सीमित रखती है। इस विरह-वेदना ने उसे अधिक उदार और सहानुभूतिशील बना दिया है। वह पवन को दूती बना कर कृष्ण के पास अपना सन्देश भेजना चाहती है किन्तु यहां भी वह लोकमर्यादा का पूरा ध्यान रखती है। अपने प्रिय तक सन्देश पहुँचाने के लिए उत्सुक होकर वह पवन को सम्बोधित करके कहती है कि कहीं मार्ग में लज्जा-शील पथिक युवती को विकृतवसना न होने देना, पुष्प-रस-पान-निरत भ्रमर और भ्रमरी की क्रीड़ाओं में बाधा न पहुँचाना और दुखी पथिक तथा श्रान्त कृषक-ललनाओं को शान्ति पहुँचाने का प्रयत्न करना। अपनी असह्य वेदना में भी राधा को दूसरों को सुख पहुँचाने की चिन्ता है। लोकहित की भावना राधा के चरित्र की एक बड़ी

विशेषता है। वह कृष्ण में अनुरक्त है, पर अपने निजी सुख के लिए वह अपने प्रिय को कर्तव्य से विमुख नहीं देखना चाहती। वह प्रेम से कर्तव्य को, व्यक्तिगत सुख की अपेक्षा समष्टि के सुख को और स्वार्थ की अपेक्षा परहित को ऊँचा समझती है। उसके प्रेम में त्याग है, सहनशीलता है और समाज के हित की कामना है। राधा के चरित्र में लोकहित की भावना का विकास क्रमशः हुआ है। राधा के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए भी कवि ने इस भावना की ओर संकेत किया है।[1] आगे चल कर प्रेम और लोकहित-भावना में संघर्ष भी व्यक्त हुआ है[2], पर अन्त में प्रेम पर लोकहित-भावना ही विजयी होती है। उद्धव के साथ वार्तालाप में राधा ने अपनी शिष्टता, शालीनता तथा अपने संयत पवित्र प्रेम का अच्छा परिचय दिया है। राधा के हृदय में नारी-सुलभ चंचलता और दुर्बलता भी है, पर वह क्षणिक ही है, स्थायी नहीं। वह उद्धव के सामने अपनी यह दुर्बलता स्वीकार करती है।[3] प्रियप्रवास के अन्त में राधा का कृष्ण-विषयक प्रेम दिव्य रूप धारण कर लेता है। विरह की आँच में तप कर वह अधिक उज्ज्वल बन जाता है। अन्त में राधा अपने व्यक्तिगत प्रेम को विश्व-प्रेम में परिणत कर देती है। वह सारे विश्व में अपने प्रिय को प्रतिबिम्बित देखती है। इसीलिए वह आजन्म कौमार-व्रत पालन करती हुई दीन-दुखियों की सेवा में निरत हो जाती है। लोकसेविका के रूप में राधा का उज्ज्वल चरित्र हरिऔध ने इन पंक्तियों में अंकित किया है:—

"वे छाया थीं सुजन-सिर की शासिका थीं खलों की।
कंगालों की परम निधि थीं औषधी पीड़ितों की ॥
दीनों की थी बहिन, जननी थीं अनाथाश्रितों की।
आराध्या थीं व्रज-अवनि की, प्रेमिका विश्व की थीं[4]।"

---

१. सद्वस्त्रा-सदलंकृता-गुणायुता सर्वत्र सम्मानिता।
रोगीवृद्धजनोपकारनिरता, सच्छास्त्र-चिन्ता-परा ॥
सद्भावातिरता अनन्य-हृदया सत्प्रेम-संपोषिका।
राधा थीं सुमना प्रसन्न-वदना स्त्रीजातिरत्नोपमा ॥
—प्रियप्रवास, सर्ग ४, ८

२. निर्लिप्ता हूँ अधिकतर मैं नित्यशः संयता हूँ।
तो भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आते ॥
वैसी वांछा जगतहित की आज भी है न होती।
जैसी जी में लसित प्रिय के लाभ की लालसा है ॥
— प्रियप्रवास, सर्ग १६, ५६

३. देखिए—'मेरे प्यारे पुरुष, पृथ्वी०'
—प्रियप्रवास, सर्ग १६, ५०

४. प्रियप्रवास, सर्ग १७, ४६

राधा के चरित्र में महाकवि हरिऔध ने मानवीय दुर्बलता और सहनशीलता, चंचलता और गम्भीरता तथा मोह और त्याग का सुन्दर सामंजस्य दिखाया है। उसके चरित्र का विकास स्वाभाविक ढंग से हुआ है। निरन्तर प्रणय की मूकवेदना सहकर अन्त में वह लोकसेवा में अपना मन लगाती है। यदि यह लोकसेवा का अवसर उसे न मिलता तो नैराश्यपूर्ण प्रेम के आवेश में वह अपने जीवन से हाथ धो बैठती अथवा विक्षुब्ध हो जाती। प्रियप्रवास में राधा भारतीय नारी की समग्र विभूतियों को आत्मसात् करती हुई हमारे सामने आती है। वह समाज और देश की एक सच्ची सेविका है जो व्यष्टि को समष्टि में अन्तर्हित कर लेती है।

(३) नन्द

प्रियप्रवास में नन्द एक दूरदर्शी, गम्भीर, धैर्यशाली और अनुभवी पिता के रूप में हमारे सामने आते हैं। कृष्ण के लिए उनके हृदय में अगाध प्रेम है पर उसमें मोहजनित चांचल्य नहीं, गंभीरता है। कृष्ण के जन्म के समय नन्द एक साधारण पिता के समान पुलकित दीख पड़ते हैं।[1] उनके मथुरा-गमन के समय नन्द भी यशोदा की तरह व्याकुल हैं, पर परिस्थिति की गंभीरता को ध्यान में रख कर वे अपनी व्याकुलता बाहर प्रकट नहीं होने देते। उस समय नन्द की दशा का चित्र इन शब्दों में बहुत सुन्दर ढंग से चित्रित हुआ है :—

"सित हुए अपने मुख-लोम को। कर गहे दुखव्यंजक भाव से॥
विषम संकट बीच पड़े हुए। विलखते चुपचाप ब्रजेश थे॥
हृदय-निर्गत वाष्प-समूह से। सजल थे युगलोचन हो रहे॥
वदन से उनके चुपचाप ही। निकलती अति तप्त उसास थी॥
शयित हो अति चंचल-नेत्र से। छत कभी वह थे अवलोकते॥
टहलते फिरते स-विषाद थे। वह कभी निज निर्जन कक्ष में[2]॥"

यहां हम एक विषम परिस्थिति में भी नन्द के चरित्र में वह गाम्भीर्य और धैर्य देखते हैं जो कि एक वृद्ध, अनुभवी पिता के हृदय में स्वभावतः पाया जाता है। वे अपनी व्यथा को इसलिए प्रच्छन्न रखते हैं कि कहीं यशोदा और भी व्याकुल न हो उठे। मथुरा से अकेले लौटने पर भग्न-हृदय नन्द का स्वाभाविक चित्र यहाँ उपस्थित किया गया है:—

---

१. जब हुआ व्रज-जीवन जन्म था।
व्रज प्रफुल्लित था कितना हुआ॥
उमगती कितनी कृति-मूर्ति थीं।
पुलकते कितने नृप नन्द थे॥
—प्रियप्रवास, सर्ग ८, ९

२. प्रियप्रवास, सर्ग ३, २१-२३

"लज्जा से वे प्रथित पथ में पाँव भी थे न देते।
जो होता था व्यथित हरि का पूछते ही सँदेसा॥
वृक्षों में हो विपय चल वे आ रहे ग्राम में थे।
ज्यों-ज्यों आते निकट महि के मध्य जाते गड़े थे[1]॥"

इतना होते हुए भी वे शीघ्र ही कृष्ण के लौट आने की आशा दिला कर यशोदा को आश्वासन देते हुए अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देते हैं।[2] नन्द अपना दायित्व पूरी तरह समझते हैं। अपने प्रिय पुत्र को मथुरा पहुँचा कर वे स्वयं अकेले कलेजे पर पत्थर रख कर घर पहुँचते हैं। मोहमग्न साधारण पिता के समान वे कृष्ण के मथुरा-गमन का विरोध न करके अपने कर्तव्य का पालन करते हैं। यद्यपि नन्द के चरित्र का चित्रण अधिक विस्तार के साथ प्रियप्रवास में नहीं हुआ है फिर भी कवि ने केवल कतिपय प्रसंगों में ही उनके चरित्र पर समुचित प्रकाश डालने का स्तुत्य प्रयास किया है।

(४) यशोदा

प्रियप्रवास की यशोदा एक आदर्श जननी है। उसके हृदय में कृष्ण के लिए अपार ममता और स्नेह है। अपने प्यारे पुत्र के लिए वह अनेक आपत्तियों को अपने सिर पर ले सकती है, पर उसे स्वप्न में भी दुखी नहीं देख सकती। कृष्ण की अक्रूर के साथ मथुरा-गमन की तैयारी के समय यशोदा के मातृ-हृदय की व्याकुलता का चित्रण सुन्दर ढंग से किया गया है। वह एक मानवी माता है, लोक-सेवा का विचार उसकी ममता को दबा नहीं सकता। कृष्ण को ले जाने के लिए अक्रूर के व्रज में पहुँचने पर यशोदा का दुर्बल हृदय पुत्र के अनिष्ट की आशंका से भयभीत हो उठता है। अपने पुत्र को वह क्षण भर भी अपने से अलग नहीं करना चाहती। सोते हुए पुत्र के सम्मुख भावी-विरह-जन्य वेदना से व्याकुल मातृ-हृदय का मर्मस्पर्शी चित्र इन शब्दों में अंकित है :—

"पट हटा सुत के मुख कंज की। विकचता जब थीं अवलोकती॥
विवश-सी जब थीं फिर देखती। सरलता, मृदुता, सुकुमारता[3]॥"
"हरि न जाग उठें इस शोच से। सिसकतीं तक भी वह थीं नहीं॥
इसलिए उनका दुख-वेग से। हृदय था शतधा अब हो रहा[4]॥"

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग ७, ४

२. सारी बातें व्यथित उर की भूल के नन्द बोले।
हाँ, आवेगा प्रिय सुत प्रिये गेह दो ही दिनों में॥
ऐसी बातें कथन कितनी और भी नन्द ने कीं।
जैसे-तैसे हरिजननि को धीरता से प्रबोधा॥
—प्रियप्रवास, सर्ग ७, ६१

३. प्रियप्रवास, सर्ग ३, ३१

४. प्रियप्रवास, सर्ग ३, ३३

यशोदा फूट-फूटकर रोना चाहती है पर कहीं सोता हुआ बालक जाग न पड़े, इस विचार से वह सिसकती तक नहीं। वह पुत्र के मंगल के लिए देवी-देवताओं से प्रार्थना करती है। जब वह कृष्ण के मथुरा-गमन को अवश्यंभावी समझती है, तब वह अपने पति नन्द को उसकी देख-रेख के लिए सावधान करती है। पुत्र के विदा होते समय वह अपने बलपूर्वक रोके हुए आँसुओं को अन्त तक रोकने में असमर्थ हो जाती है। कृष्ण के चले जाने पर वह पल-पल अपने प्रिय पुत्र के लौट आने की प्रतीक्षा में बिताती है। यशोदा के चरित्र में इस प्रतीक्षा का चित्रण बहुत स्वाभाविक ढँग से हुआ है। वह पुत्र के लिए अच्छे फल, मेवे और स्वादिष्ट खाद्य-पदार्थ सावधानी से सुरक्षित रखती है और थोड़ी-सी आहट पाकर चौंक पड़ती है। अन्त में नन्द के साथ कृष्ण के न लौटने पर यशोदा निराशा के गहन समुद्र में डूब जाती है। कई दिनों की प्रतीक्षा के बाद भी पुत्र को न पाकर उसे आश्चर्य होने लगता है कि उसका पुत्र इतना निठुर कैसे हो सकता है। कृष्ण माता को भले ही भूल गया हो पर माता उसे नहीं भूल सकती। पुत्र-वियोग में यशोदा का हृदय वेदना और करुणा से भर जाता है। वह पुत्र के विषय में प्रतिक्षण चिन्तित रहती है, देवी-देवताओं को मनाती है, ब्राह्मणों से यज्ञ करवाती है और ज्योतिषियों से प्रश्न पूछती है। बहुत दिनों की प्रतीक्षा के पश्चात् भी जब कृष्ण नहीं लौटते और उनका सन्देश लेकर उद्धव व्रज में पहुँचते हैं तब यशोदा विरह-विधुरा माता के रूप में उद्धव से अपने प्रिय पुत्र का कुशल-समाचार पूछती है। उद्धव के साथ यशोदा के वार्तालाप में मातृहृदय की असंख्य स्मृतियाँ, पीड़ाएँ और असफल आकांक्षाएँ सजीव हो उठती हैं। कृष्ण वास्तव में देवकी के पुत्र थे। मथुरा में कंस की मृत्यु के पश्चात् देवकी का कृष्ण को अपने पास रोक लेना स्वाभाविक हो सकता था। ऐसी दशा में यशोदा के हृदय में देवकी के प्रति ईर्ष्या जाग उठती है, परन्तु शीघ्र ही यशोदा के हृदय की उदारता इस ईर्ष्या पर विजय प्राप्त कर लेती है।[1] वह अपने समान देवकी को दुखी नहीं देखना चाहती। वास्तव में यशोदा के चरित्र में भारतीय माता के वात्सल्य-पूर्ण हृदय की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। यशोदा के हृदय में पुत्र-प्रेम के अतिरिक्त सरलता, दया, सहनशीलता, त्याग और उदारता आदि गुण भरे पड़े हैं। प्रियप्रवास में कवि ने उसे वेदना और निराशा के गहरे समुद्र में छटपटाती हुई छोड़ दिया है।

---

१. हो जाती हूँ मृतक सुनती हाय, जो यों कभी हूँ।
होता जाता मम तनय भी अन्य का लाड़िला है॥
मैं रोती हूँ हृदय अपना कूटती हूँ सदा ही।
हा, ऐसी ही व्यथित अब क्यों देवकी को करूँगी॥
प्यारे जीवें पुलकित रहें औ' बनें भी उन्हीं के।
धाई नाते वदन दिखला एकदा और देवें॥
—प्रियप्रवास, सर्ग १०, ६४-६५

प्रकृति-चित्रण

महाकाव्यों में अन्य वर्णनों के साथ प्रकृति-वर्णन को विशेष स्थान मिलता आया है। प्रकृति-चित्रण कई रूपों में किया जाता है। कोई कवि आलंकारिक रूप में और कोई यथार्थ रूप में प्रकृति का वर्णन करते हैं। यदि कभी मानव-जगत की घटनाओं की पृष्ठ-भूमि के रूप में प्रकृति का चित्रण होता है तो कभी मानव-हृदय के भावों को उद्दीप्त करने के लिए प्रकृति का वर्णन किया जाता है। कभी-कभी कवि प्रकृति में मानव-हृदय की भावनाओं को प्रतिविम्वित दिखा कर प्रकृति और मानव-हृदय के साथ तादात्म्य स्थापित करता हुआ दिखाई देता है। प्रियप्रवास में प्रकृति-वर्णन प्रायः इन सभी रूपों में हुआ है। आलंकारिक रूप में प्रकृति का वर्णन बहुत कम स्थलों पर पाया जाता है। आदि से लेकर अन्त तक प्रियप्रवास में प्राकृतिक दृश्यों के चित्र मिलते हैं। काव्य के आरम्भ में सान्ध्य-वर्णन इस प्रकार हुआ है:—

"दिवस का अवसान समीप था। गगन था कुछ लोहित हो चला।।
तरुशिखा पर थी अब राजती। कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा[1] ।।"

यहां सन्ध्या का वर्णन आगे आने वाली घटना का पृष्ठाधार बन गया है। जिस प्रकार सूर्यास्त के साथ-साथ दिवस की शोभा समाप्त हो जाती हैं उसी प्रकार कृष्ण की व्रजजनों को मुग्ध करने वाली मुरली की तान शून्य में लीन हो जाती है।

द्वितीय सर्ग के आरम्भ में द्विघटी निशा के बीतने पर तमसाछन्न व्रजमेदिनी का वर्णन है। तृतीय सर्ग में अर्द्धरात्रि की निस्तव्धता का चित्रण किया गया है।[2] प्रकृति की यह भयावह नीरवता आगामी कृष्ण-वियोग-सम्बन्धी दुखद घटना की सूचना देती है। अपने प्रिय पुत्र के भावी वियोग की वेदना से नन्द और यशोदा दोनों दुखी दिखाई देते हैं। यशोदा के हृदय की व्याकुलता यहां प्रकृति में प्रतिविम्वित दीख पड़ती है:—

"विकलता उसकी अवलोक के। रजनि भी करती अनुताप थी।।
निपट नीरव ही मिस ओस के। नयन से गिरता बहु वारि था।।
विपुल नीर बहा कर नेत्र से। मिस कलिन्द-कुमारि-प्रवाह के।।
परम कातर हो रह मौन ही। रुदन थी करती व्रज की धरा[3] ।।"

यशोदा की दयनीय दशा देख कर रजनी भी ओस के बहाने आंसू बहाती है और सारी व्रज-भूमि रोती हुई दिखाई देती है। यहाँ प्रकृति मानव-हृदय के साथ सहानुभूति प्रकट करती हुई हमारे सामने आती है। चतुर्थ सर्ग में राधा के रूप-वर्णन में प्रकृति का

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग १, १

२. सकल पादप नीरव थे खड़े। हिल नहीं सकता यक पत्र था।।
च्युत हुए पर भी वह मौन ही। पतित था अवनी पर हो रहा।।
—प्रियप्रवास, सर्ग ३, ३

३. प्रियप्रवास, सर्ग ३, ८७-८८

आलंकारिक वर्णन यत्र-तत्र पाया जाता है।[1]

आगे चलकर राधा के हृदय की पीड़ा प्रकृति में प्रतिबिम्बित दीख पड़ती है। जैसे:—

"सब नभ तल तारे जो उगे दीखते हैं।
यह कुछ ठिठके से सोच में क्यों पड़े हैं॥
व्रज-दुख अवलोके क्या हुए हैं दुखारी॥
कुछ व्यथित बने से या हमें देखते हैं[2]॥"

राधा अपने दुख में सारी प्रकृति को दुखी देखती है:—

"सखि मुख अब तारे क्यों छिपाने लगे हैं।
वह दुख लखने की ताब क्या है न लाते॥
परम विफल होके आपदा टालने में।
वह मुख अपना है लाज से या छिपाते।
क्षितिज निकट कैसी लालिमा दीखती है।
बह रुधिर रहा है कौन सी कामिनी का।
विहग विकल हो हो बोलने क्यों लगे हैं।
सखि सकल दिशा मे आग सी क्यों लगी है[3]॥"

कृष्ण-विरह-रूपी आपदा को टालने मे असफल हो तारे लज्जा से अपना मुँह छिपाने लगते है। सूर्य की लाली में राधा को विरहिणी कामिनी का रक्त बहता हुआ दीख पड़ता है और चहचहाते हुए पक्षी भी व्याकुल प्रतीत होते हैं। इस प्रकार राधा की व्याकुलता का मार्मिक चित्रण करते हुए कवि ने उसके हृदय और प्रकृति के बीच सुन्दर सामंजस्य दिखाया है। पंचम सर्ग का आरम्भ सूर्योदय से होता है। यहां प्रातःकाल की शोभा उल्लास और आनन्द की सूचिका नहीं, अपितु दुखदायी प्रतीत होती है।[4] धीरे-

---

१. रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-विम्बानना।
फूले कंज-समान मंजु-दृगता थी मत्तत्ता-कारिणी।
—प्रियप्रवास, सर्ग ४, ४-५

लाली थी करती सरोज-पग की भूपृष्ठ को भूषिता।
विम्वा विद्रुम को अकान्त करती थी रक्तता ओठ की॥
—प्रियप्रवास, सर्ग ४, ७

२. प्रियप्रवास, सर्ग ४, ४१

३. प्रियप्रवास, सर्ग ४, ४८-४९

४. प्रात: शोभा व्रज अवनि में आज प्यारी नहीं थी।
मीठा मीठा विहग-रव भी कान को था न भाता॥
—प्रियप्रवास, सर्ग ५, ३

धीरे कृष्ण के प्रस्थान का दुखद समय उपस्थित होता है; चारों ओर खिन्नता छा जाती है और सूर्य भी इस दुखद दृश्य को देखने में असमर्थ हो पादपों में छिप जाता है:—

"आई बेला हरिगमन की छा गई खिन्नता सी ।
थोड़े ऊँचे नलिनपति हो जा छिपे पादपों में[1] ॥"

षष्ठ सर्ग में भी प्रकृति मानव-हृदय के दुख में हाथ बँटाती दिखाई देती है। कृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा में सारे ब्रजजनों के समान प्रकृति भी कृष्ण की बाट जोह रही है।[2] इसी सर्ग में राधा पवन को दूती बनाकर अपने प्रिय कृष्ण के पास भेजना चाहती है। इस प्रसंग में राधा पवन-जैसे जड़, प्राकृतिक पदार्थों के साथ भी बहिन का नाता जोड़ती हुई दिखाई देती है:—

"तू जाती है सकल थल ही वेगवाली बड़ी है ।
तू है सीधी तरल-हृदया ताप उन्मूलती है ॥
मैं हूँ जी में बहुत रखती वायु तेरा भरोसा ।
जैसे हो ऐ भगिनि, बिगड़ी बात मेरी बना दे[3] ॥"

प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से सप्तम और अष्टम सर्ग कोई विशेष महत्व नहीं रखते। नवम सर्ग में प्रकृति को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यहां कृष्ण के सन्देशवाहक उद्धव के वृन्दावन-गमन प्रसंग में वृन्दावन का सुन्दर, सजीव वर्णन वर्तमान है। गोवर्धन पर्वत, विविध लता-पादपों, सरोवर, यमुना, खग, मृग, वन आदि के वर्णनों में यहां प्राकृतिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति बहुत सुन्दर हुई है। अधिकतर अलंकारों की सहायता के बिना ही यहाँ प्रकृति के सौन्दर्य का उद्घाटन हुआ है। एक-दो उदाहरण लीजिए:—

"हरीतिमा का सुविशाल सिन्धु सा।
मनोज्ञता की रमणीय भूमि सा ॥
विचित्रता का शुभ सिद्ध पीठ सा।
प्रशान्त वृन्दावन दर्शनीय था ॥
कलोलकारी खग-वृन्द कूजिता ।
सदैव सानन्द मिलिन्द कूजिता ॥
रही सुकुंजें वन में विराजिता ।
प्रफुल्लिता पल्लविता लतामयी[4] ॥"

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग ५, २०

२. फूलों पत्तों सकल तरुओं औ' लतावेलियों से।
आवासों से ब्रज-अवनि से पंथ की रेणुओं से ॥
होती सी थी यह ध्वनि सदा कुंज से काननों से।
मेरे प्यारे कुँवर अब भी क्यों नहीं गेह आये ॥
—प्रियप्रवास, सर्ग ६, १०

३. प्रियप्रवास, सर्ग ६, ३५

४. प्रियप्रवास ,सर्ग ९, ८३-८४

शुक, कपोत, कोयल आदि पक्षियों का यथा-तथ्य चित्र ऐसे स्थलों पर खींचा गया है: —

"कहीं शुकों का दल बैठ पेड़ की। फलों सशाखा पर केलि-मत्त हो ।।
अनेक मीठे फल खा कदंश को। गिरा रहा भू पर था प्रफुल्ल हो ।।
कहीं कपोती स्वकपोत को लिये। विनोदिता हो करती विहार थी ।।
कहीं सुनाती निजकन्त साथ थी। स्व-काकली को कलकंठ कोकिला[1] ।।"

इसी सर्ग में जम्बू, अम्ब, कदम्ब, निम्ब आदि विविध वृक्षों की नामावली की गणना अरुचिकर अवश्य प्रतीत होती है।[2]

दशम सर्ग में तमसाच्छन्न रात्रि की पृष्ठभूमि पर यशोदा की विरह-गाथा का चित्र अच्छा चित्रित हुआ है। एकादश सर्ग में ग्रीष्म ऋतु का तथा द्वादश में वर्षाकाल का दृश्य उपस्थित किया गया है। यहां ग्रीष्म की दावाग्नि-भय-निवारण तथा वर्षा की गोवर्धन-धारण सम्बन्धी घटनाओं से अच्छी संगति बन पड़ी है। त्रयोदश सर्ग में भी प्रकृति के सौम्य रूप का चित्रण है परन्तु यह चित्रण भीपण व्याल के आतंक जैसी प्रतिकूल घटनाओं के पूर्वाधार के रूप में हुआ है। चतुर्दश सर्ग में कालिन्दी-तट की रमणीयता तथा शारदीय शोभा का वर्णन है। कालिन्दी-तट की रमणीयता का वर्णन उद्दीपन विभाव के रूप में हुआ है। शरद्वर्णन में प्रकृति का यथार्थ रूप अंकित है।जैसे:—

"चन्द्रोज्ज्वला रजत-पत्रवती मनोज्ञा।
शान्ता नितान्त सरसा सुमयूख-सिक्ता ।।
शुभ्रांगिनी सुपवना सुजला सुकूला ।
सत्पुष्पसौरभवती वन-मोदिनी थी[3] ।।"

पंचदश सर्ग में कृष्ण के सखा उद्धव कुंजों में घूमते दृष्टिगोचर होते हैं। इसी अवसर पर उन्हें एक विरहिणी गोप-बाला लता-पादपों से बातें करती हुई दीख पड़ती है। यहां यह गोप-बाला जड़-चेतन के भेद-भाव को मिटा कर प्रकृति के साथ बन्धुत्व का नाता स्थापित करती हुई दृष्टिगोचर होती है। जब पाटलों ने उसका दुखड़ा न सुना तब

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग ६, ६५-६६

२. जम्बू, अम्ब, कदम्ब, निम्ब, फलसा, जम्बीर औ' आँवला।
लीची, दाड़िम, नारिकेल, इमिली औ' शिशपा, इंगुदी ।।
नारंगी, अमरूद, बिल्व, बदरी, सागौन, शालादि भी ।
श्रेणी-बद्ध तमाल ताल कदली औ' शाल्मली थे खड़े ।।
—प्रियप्रवास, सर्ग ६, २५

३, प्रियप्रवास, सर्ग १४, ६६

वह जूही से सहानुभूति की आशा रखती है।[1]

सोलहवें सर्ग में मधुमास की माधुरी का वर्णन सर्ग के आरम्भ में वर्तमान है।[2] यहां वसन्त की शोभा गोपियों की विरह-व्यथा को उद्दीप्त करती हुई दिखाई देती है:—

"वसन्त-शोभा प्रतिकूल थी बड़ी।
वियोग-मग्ना ब्रजभूमि के लिए॥
बना रही थी उसको व्यथामयी।
विकास पाती वन-पादपावली[3]॥"

इस सर्ग में वसन्त-शोभा-सम्पन्न राधिका की गृहवाटिका में निस्तब्धता दिखा कर कवि ने राधा के हृदय का सूनापन प्रकृति में प्रतिबिम्बित दिखाया है किन्तु अन्त में प्रकृति राधा के विक्षुब्ध हृदय को अपूर्व शान्ति प्रदान करती है:—

"कंजों का या उदित विधु का देख सौन्दर्य आँखों।
या कानों से श्रवण करके गान मीठा खगों का॥
मैं होती थी व्यथित, अब हूँ शान्ति सानन्द पाती।
प्यारे के पाँव, मुख, मुरली-नाद जैसा उन्हें पा[4]॥"

सत्रहवें सर्ग में प्रकृति के मनोहर दृश्य नन्द, यशोदा, राधा और गोप-गोपियों के व्यथित हृदय को शान्ति पहुँचाने में समर्थ दीख पड़ते हैं। यहां प्रकृति उनकी चित्त वृत्ति को अपनी ओर आकृष्ट करके थोड़ी देर के लिए उन्हें अपनी व्यथा को भुलाने में सहायता पहुँचाती है। प्रिय-प्रवास के अन्त में प्रकृति का उन्नत और परिष्कृत रूप अंकित किया गया है। यहां मानव-हृदय के साथ प्रकृति का विरोध नहीं, सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति अपने पुनीत सौन्दर्य से ब्रजजनों के हृदय के मोहजनित कालुष्य को मिटाने में समर्थ होती है। अन्त में राधा प्रकृति में ही अपने प्रियतम का दर्शन करती है:—

---

१. आके जूही-निकट फिर यों बालिका व्यग्र बोली।
मेरी बातें तनिक न सुनीं पातकी पाटलों ने॥
पीड़ा नारी-हृदय-तल की नारि ही जानती है।
जूही तू है विकच-वदना शान्ति तू ही मुझे दे॥
—प्रियप्रवास सर्ग १५, ८

२. प्रफुल्लिता कोमल-पल्लवान्विता।
मनोज्ञता-मूर्ति नितान्त रंजिता॥
वनस्थली थी मकरन्द-मोदिता।
अकीलिता कोकिल-काकली-मयी॥
—प्रियप्रवास, सर्ग १६, ३

३. प्रियप्रवास, सर्ग १६, १६

४. प्रियप्रवास, सर्ग १६, १०२

"होती राका विमल-विधु से बालिका जो विपन्ना।
तो श्री राधा मधुर स्वर से यों उसे थी सुनाती।।
तेरा होना विकल सुभगे, बुद्धिमत्ता नहीं है।
क्या प्यारे की वदन-छवि तू इन्दु में है न पाती[1] ।।"

यहां राकाशशि में अपने प्रिय की वदन-छवि को देख राधा के हृदय को आलौकिक सान्त्वना मिलती है।

रस-परिपाक

महाकाव्य में शृंगार, वीर और शान्त इन तीनों रसों में से कोई एक रस प्रधान-रूप में होना चाहिए। प्रियप्रवास में शृंगार (विप्रलम्भ) रस की प्रधानता है। प्रियप्रवास के नायक कृष्ण और नायिका राधा हैं। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर राधा की विरह-व्यथा का वर्णन इस काव्य में प्रमुख रूप में पाया जाता है। इसी प्रकार कृष्ण भी राधा के वियोग में दुखी दिखाई देते हैं। उधर ब्रज की गोपियां भी कृष्ण के विरह में व्याकुल दीख पड़ती हैं। उनकी विरह-व्यथा का चित्रण भी इस काव्य में महत्वपूर्ण है। कुछ विद्वान् प्रियप्रवास में करुण-रस को प्रधान रस मानते हैं पर वास्तव में यहां करुणरस को प्रधानता नहीं मिली है। इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुणरस की अभिव्यक्ति होती है। इस काव्य में ब्रजजनों के प्रिय कृष्ण मथुरा चले जाते हैं और कार्यवश वापिस नहीं आते। राधा तथा गोपियों को उनके मिलने की आशा बनी रहती है। इसलिए प्रियप्रवास में विप्रलम्भ शृंगार को ही प्रधान रस मानना उचित है। राधा की विरह-दशा का एक सजीव चित्र इन पंक्तियों में अंकित हुआ है:—

"रो रो चिन्ता-सहित, दिन को राधिका थीं बिताती।
आँखों को थीं सजल रखतीं, उन्मना थीं दिखाती।।
शोभा वाले जलद-वपु की हो रही चातकी थीं।
उत्कण्ठा थी परम प्रबला वेदना वर्द्धिता थी[2]।।"

इस पद्य में राधा की कृष्ण-विषयक रति स्थायीभाव है। जलद-वपु कृष्ण आलम्बन विभाव है। शीतल, सुगन्धित पवन, ब्रज का शोकाकुल वातावरण आदि उद्दीपन विभाव हैं। आँखों में आँसुओं का आना, प्रलाप करना आदि अनुभाव हैं। चिन्ता, स्मृति, उत्सुकता आदि संचारी-भाव हैं। इस प्रकार यहां विभाव, अनुभाव और संचारीभावों से परिपुष्ट राधा की रति विप्रलम्भ शृंगार का रूप धारण करती है।

कृष्ण के विरह में व्याकुल गोपियों की चित्तवृत्तियों के वर्णन में भी विप्रलम्भ शृंगार की अभिव्यंजना अच्छी हुई है। जैसे:—

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग १७, २५
२. प्रियप्रवास, सर्ग ६, २६

"इस क्षितितल में क्या व्योम के अंक में भी।
प्रिय वपु छवि शोभी मेघ जो घूमते हैं॥
इक टक पहरों मैं तो उन्हें देखती हूँ।
कह निज मुख द्वारा बात क्या क्या न जानें [1]॥"

इस पद्य में कृष्ण-विरह-विधुरा गोपी की कृष्ण विषयक रति स्थायीभाव है। कृष्ण आलम्वन विभाव और मेघ, भ्रमर, उपवन की शोभा आदि उद्दीपन विभाव है। निर्निमेष नयनों से मेघ की ओर देखना, प्रलाप करना आदि अनुभाव हैं। स्मरण, विषाद, जड़ता आदि संचारीभाव हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारीभावों से यहां विप्रलम्भ शृंगार की अभिव्यक्ति होती है।

विप्रलम्भ शृंगार के अतिरिक्त प्रियप्रवास में संयोग-शृंगार, वात्सल्य, वीर, करुण, शान्त आदि अन्य रसों को भी गौणरूप में स्थान मिला है। प्रथम सर्ग में संयोग शृंगार के अच्छे उदाहरण वर्तमान हैं। जैसे:—

"वहु विनोदित थीं व्रजवालिका। तरुणियाँ सव थीं तृण तोड़ती॥
वलि गई बहु वार वयोवती। छवि विभूति विलोक व्रजेन्दु की[2]॥"

कृष्ण की वाल-लीलाओं के वर्णन में वात्सल्यरस का परिपाक अच्छा हुआ है। एक उदाहरण देखिए:—

"उमगते जननी मुख देखते। किलकते हँसते जव लाड़िले॥
अजिर में घुटनों चलते रहे। वितरते तव भूरि विनोद थे[3]॥"

प्रियप्रवास में हरिऔध ने गोप-गोपियों के मुख से कृष्ण के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन कराया है। कालिय-दमन, दावाग्नि-शमन, गोवर्धन-धारण तथा विविध राक्षसों का संहार आदि अनेक घटनाओं के वर्णन में वीर, रौद्र और भयानक रस की व्यंजना हुई है। वीररस का एक उदाहरण देखिए:—

"स्वसाथियों की यह देख दुर्दशा।
प्रचंड-दावानल में प्रवीर से॥
स्वयं धँसे श्याम दुरन्त-वेग से।
चमत्कृता-सी वन-भूमि को वना[4]॥"

यहां दावानल-शमन-विषयक कृष्ण का उत्साह स्थायीभाव है। प्रचंड दावानल आलंवन विभाव तथा व्रजवासियों की दुर्दशा उद्दीपन विभाव है। शीघ्रता से अग्नि में प्रवेश करना अनुभाव है और धैर्य, गर्व, अमर्ष आदि संचारीभाव हैं।

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग १५, ६५
२. प्रियप्रवास, सर्ग १, २६
३. प्रियप्रवास, सर्ग ८, ३६
४. प्रियप्रवास, सर्ग ११, ६४

भयानकरस भी कतिपय पद्यों में पाया जाता है। जैसे:—

"उन्हें वहीं से दिखला पड़ा वही, भयावना सर्प दुरन्त काल सा।
बड़ी बुरी निष्ठुरता-समेत जो विनाशता वन्य प्रभूत जन्तु था।।
पला रहे थे उसको विलोक के, असंख्य प्राणी वन के इतस्ततः।
गिरे हुए थे महि में अचेत हो समीप के गोप सधेनु-मण्डली [1] ।।"

यहां भय स्थायीभाव है। सर्प आलम्बन तथा उसकी भयावहता तथा निष्ठुरता उद्दीपन विभाव है। इधर-उधर जीवों का भागना अनुभाव है। मोह, त्रास, आवेग आदि संचारीभाव हैं।

कृष्ण के मथुरा-गमन के समय यशोदा के शोकाकुल हृदय का जो चित्र प्रिय-प्रवास में अंकित है उसमें करुण-रस की व्यंजना अच्छी हुई है। प्रियप्रवास के अन्त में भी करुण-रस की छटा दिखाई देती है। वास्तव में प्रियप्रवास का विप्रलम्भ शृंगार अन्त में करुण-रस में परिणत हो जाता है। विप्रलम्भ का स्थायीभाव रति है और करुण का शोक। करुण में प्रिय के मिलने की आशा नहीं रहती। प्रियप्रवास के अन्त में भी रति शोक में परिवर्तित दिखाई देती है और कृष्ण के मिलन की आशा नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार प्रिय-प्रवास में विप्रलम्भ शृंगार की प्रधानता के होते हुए भी अन्य रसों का निर्वाह यथास्थान अच्छा हुआ है।

अलंकार-विधान

प्रियप्रवास में अलंकारों का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है। शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों प्रकार के अलंकार इस काव्य में पाये जाते हैं। दोनों प्रकार के अलंकारों के प्रयोग में कवि ने स्वाभाविकता की रक्षा का यथासाध्य प्रयत्न किया है। जान-बूझ कर अलंकारों को ठूंसने का प्रयत्न हरिऔध ने बहुत कम स्थलों पर किया है। भावों का गला घोंट कर अलंकारों का अनुचित प्रयोग प्रियप्रवास में कहीं नहीं हुआ है। शब्दालंकारों के प्रयोग में भी भावों की बलि देकर केवल शाब्दिक चमत्कार-प्रदर्शन की चेष्टा कहीं नहीं की गई है। अनुप्रास का एक उदाहरण लीजिए:—

"पट हटा सुत के मुख-कंज की विकचता जब थीं अवलोकती।
विवश सी जब थीं फिर देखती। सरलता, मृदुता, सुकुमारता [2] ।।"

इस पद्य में अनुप्रास अलंकार जननी-हृदय के कोमल-भावों की व्यंजना करने में पूर्णतया सहायक है।

इसी प्रकार निम्नोद्धृत पद्य में अनुप्रास का प्रयोग वसन्त की विभूति को प्रकाश में लाने में समर्थ दिखाई देता है:—

"विमुग्धकारी मधु मंजु मास था। वसुन्धरा थी कमनीयतामयी।।
विचित्रता साथ विराजिता रही। वसन्त-वासन्तिकता वनान्त में [3] ।।"

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग १३, ५०-५१
२. प्रियप्रवास, सर्ग ३, ३१
३. प्रियप्रवास, सर्ग १६, १

इसी प्रकार यमक अलंकार की योजना यहां बहुत सुन्दर बन पड़ी है :—

"अनार में औ' कचनार में बसी। ललामता थी अति ही लुभावनी॥
बड़े लसे लोहित-रंग पुष्प से। पलाश की थी अपलाशता ढकी[1] ॥"

यहां भी कवि ने केवल शब्दाडम्बर को महत्व न देकर भावव्यंजना की स्वाभाविकता की भी रक्षा की है।

अर्थालंकारों में से भी अधिकांश अलंकारों का प्रयोग भावों को तीव्र करने के लिए हुआ है। उपमा, रूपक, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति आदि अर्थालंकारों के अनेक सुन्दर उदाहरण प्रियप्रवास में वर्तमान हैं। उपमा अलंकार की इस पद्य में कितनी सुन्दर योजना हुई है:—

"ककुभ-शोभित गोरज बीच से। निकलते ब्रजवल्लभ यों लसे॥
कदन ज्यों करके निशि कालिमा। विकसता नभ में नीलनीश है[2] ॥"

रूपक अलंकार का प्रयोग भी प्रियप्रवास में कई स्थलों पर पाया जाता है। जैसे:—

"ब्रजधरा यक बार इन्हीं दिनों। पतित थी दुख-वारिधि में हुई॥
पर उसे अवलम्बन था मिला। ब्रजविभूषज के भुज-पोत का[3] ॥"

निम्न पद्य में उल्लेख अलंकार की योजना बहुत सुन्दर बन पड़ी है:—

"सच्चा प्यारा सकल ब्रज का वंश का है उजाला।
दीनों का है परम धन औ' वृद्ध का नेत्र-तारा॥
बालाओं का प्रिय स्वजन औ' बन्धु है बालकों का।
ले जाते हैं सुरतरु कहां आप ऐसा हमारा[4] ॥"

उल्लेख अलंकार-द्वारा यहां विविध रूपों में कृष्ण का वर्णन करता हुआ कवि कृष्ण की लोकप्रियता को व्यक्त करने में समर्थ हुआ है।

निम्नलिखित पद्य में अपह्नुति अलंकार की छटा दर्शनीय है:—

"विकलता उनकी अवलोक के। रजनि भी करती अनुताप थी॥
निपट नीरव ही मिस ओस के। नयन से गिरता बहु वारि था[5] ॥"

यहां अपह्नुति अलंकार यशोदा के हृदय की विकलता की व्यंजना में सहायक प्रतीत होता है।

इस प्रकार प्रियप्रवास में अलंकारों का प्रयोग काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाने तथा

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग १६, ११
२. प्रियप्रवास, सर्ग १, १५
३. प्रियप्रवास सर्ग १२, १७
४. प्रियप्रवास, सर्ग ५, २८
५. प्रियप्रवास, सर्ग ३, ८७

भावों और मनोवेगों को तीव्र करने की क्षमता रखता है। उपर्युक्त प्रसिद्ध अर्थालंकारों अतिरिक्त स्मरण, यथासंख्य और काव्यलिंग जैसे साधारण अलंकारों का प्रयोग भी हरिऔध ने सफलता के साथ किया है।[1]

अलंकारों के उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रियप्रवास में हरिऔध ने अलंकारों की योजना में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। अलंकारों का समुचि प्रयोग प्रियप्रवास में भावों की स्वाभाविक व्यंजना और काव्य-कला की सौन्दर्य-वृद्धि समर्थ दिखाई देता है।

भाषा

प्रियप्रवास की रचना संस्कृत-गर्भित खड़ी बोली में हुई है। इसमें भिन्नतुका संस्कृत के वर्णिक वृत्तों का प्रयोग किया गया है। इन वर्णिक वृत्तों के लिए संस्कृतमर खड़ीबोली ही उपयुक्त थी। द्रुतविलम्बित, मालिनी, वसन्ततिलका, वंशस्थ, मन्दाक्रान्त आदि संस्कृत के वृत्तों के लिए संस्कृतनिष्ठ खड़ीबोली को अपनाना ही हरिऔध उचित समझा है। इस संस्कृतमयी शैली के कारण प्रियप्रवास की भाषा में कहीं-कह क्लिष्टता तथा दुर्बोधता आ गई है। दीर्घसमासमयी और सन्धियुक्त पद-योजना से भा की सरलता और स्वाभाविकता को यत्र-तत्र आघात पहुँचा है। उदाहरण के लिए इ पंक्तियों को लीजिए :—

"सद्वस्त्रा-सदलंकृता गुणयुता सर्वत्र सम्मानिता।
रोगी-वृद्धजनोपकारनिरता सच्छास्त्र-चिन्ता-परा॥
सद्भावातिरता अनन्य-हृदया सत्प्रेम-संपोषिका।
राधा थीं सुमना प्रसन्नवदना स्त्रीजातिरत्नोपमा[2]॥"

इस प्रकार की समास-बहुला क्लिष्ट पदावली के प्रयोग के होते हुए भी प्रियप्रवास में ऐसे स्थलों की कमी नहीं है जहां भाषा में सरलता और स्वाभाविकता पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। जैसे:—

---

१. मधुकर सुन तेरी श्यामता है न वैसी। अति अनुपम जैसी श्याम के गात की है॥
पर जब जब आँखें देख लेती तुझे हैं। तब तब सुधि आती श्यामली मूर्ति की है॥
(स्मरण)—प्रियप्रवास, सर्ग १५, ६६

निसर्ग ने सौरभ ने, पराग ने। प्रदान की थी अति कान्त भाव से॥
वसुन्धरा को, पिक को, मिलिन्द को। मनोज्ञता, मादकता, मदान्धता॥
(यथासंख्य)—प्रियप्रवास, सर्ग १६, ४

मृतक-प्राय हुई तृणराजि भी। सलिल से फिर जीवित हो गई॥
फिर सुजीवन जीवन को मिला। बुध न जीवन क्यों उस को कहें॥
(काव्यलिंग)—प्रियप्रवास, सर्ग १२, १६

२. प्रियप्रवास, सर्ग ४, ८

"मुदित गोकुल की जनमण्डली। जब व्रजाधिप सम्मुख जा पड़ी॥
निरखने मुख की छवि यों लगी। तृषित चातक ज्यों घन की घटा[1] ॥"
"घड़े लिये कामिनियाँ, कुमारियाँ। अनेक कूपों पर थीं सुशोभिता।
पधारती जो जल ले स्वगेह थीं। बजा बजा के निज नूपुरादि को[2] ॥"

ऐसे स्थलों पर प्रियप्रवास की भाषा प्रसाद-गुणयुक्त, कोमल और प्रांजल दीख पड़ती है। उपयुक्त शब्दों के चुनाव में कवि ने बड़ी कुशलता दिखाई है। कई स्थलों पर भावविशेष के चित्रण के लिए तदनुकूल शब्दावली का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं अनुप्रासयुक्त सरस और मधुर शब्दों की योजना काव्य-सौन्दर्य को प्रकाश में लाने में पूर्णतया सफल हुई है। जैसे:—

"छलकती मुख की छविपुंजता। छिटकती क्षिति छू तन की छटा॥
बगरती वर दीप्ति दिगन्त में। क्षितिज में क्षणदा-कर कान्ति-सी[3]॥"

संस्कृत के वर्णिक वृत्त संश्लेषणात्मक संस्कृत भाषा के लिए ही उपयुक्त प्रतीत होते हैं। हिन्दी की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति उनके अनुकूल नहीं बैठती। प्रियप्रवास में संस्कृत वृत्तों के अनुशासन में पड़कर कवि ने कहीं खड़ीबोली के शुद्ध शब्दों को विकृत बना कर अपनाया है; कहीं सन्धि तथा समास के नियमों की उपेक्षा भी की है; और कहीं ह्रस्वान्त शब्दों को दीर्घान्त तथा दीर्घान्त शब्दों को ह्रस्वान्त कर दिया है। रत्न, मर्म, समय, प्रयाण, यद्यपि, तृणावर्तीय जैसे संस्कृत के शुद्ध शब्दों के स्थान पर क्रमशः रतन, मरम, समै, पयान, यदपि, तृणावरतीय जैसे विकृत रूपों का प्रयोग प्रियप्रवास में पाया जाता है। 'पति-राधिका', 'सुत-स्वफल्क', 'आनन-कृष्णचन्द्र' जैसे समस्त पदों का प्रयोग संस्कृत-व्याकरण के अनुसार न होकर फ़ारसी के ढंग पर हुआ है। कहीं-कहीं पति, व्रज-देवी, रजनी, मेदनी जैसे शब्दों का क्रमशः पती, व्रजदेवि, रजनि, मेदनि, इन रूपों में प्रयोग हुआ है। ऐसे स्थलों पर छन्दो-भंग दोष से बचने के लिए कवि ने ह्रस्व को दीर्घ तथा दीर्घ को ह्रस्व कर दिया है। शुद्ध खड़ीबोली को अपनाते हुए भी कवि ने कहीं-कहीं व्रजभाषा के शब्दों तथा क्रियापदों का प्रयोग भी किया है। 'लसी', 'बखानते', 'भाखते', 'नसाते' आदि क्रियाएँ व्रजभाषा की हैं।

इस प्रकार भाषा-सम्बन्धी अनेक त्रुटियों के होते हुए भी प्रियप्रवास की भाषा साधारणतया शुद्ध और परिमार्जित कही जा सकती है। संस्कृतमयी शैली तथा संस्कृत के वर्णिक वृत्तों के अपनाने के कारण प्रियप्रवास की भाषा में कहीं दुरूहता और कहीं कृत्रिमता अवश्य आ गई है। फिरभी वह भावों और विविध प्रसंगों के अनुकूल है। भावों के अनुरूप पदयोजना प्रियप्रवास में वर्तमान है। शृंगार, शान्त और करुण रसपूर्ण प्रसंगों

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग १, २६
२. प्रियप्रवास, सर्ग ९, १२०
३. प्रियप्रवास, सर्ग १, २४

में हरिऔध की भाषा कोमलता और माधुर्य को लिए हुए है, जबकि वीर, रौद्र और भयानक जैसे रसों के वर्णन में वह कठोर और ओजस्विनी दिखाई देती है। उद्धव के रथ को कृष्ण का रथ समझ कर व्रजबालाओं के हृदयगत कोमल भावों के अनुसार इस पद्य की भाषा भी कोमल दिखाई देती है:—

"तजा किसी ने जल से भरा घड़ा। उसे किसी ने शिर से गिरा दिया ॥
अनेक दौड़ीं सुधि गात की गँवा। सरोज-सा सुन्दर श्याम देखने[1] ॥"

इस प्रकार दावानल और जलद-समूह की विकरालता के वर्णन में कवि ने तदनुकूल ओजस्विनी भाषा का प्रयोग किया है:—

"प्रवाहिता उद्धत तीव्र वायु से।
विधूनिता हो लपटें दवाग्नि की ॥
नितान्त ही थीं बनती भयंकरी।
प्रचंड दावा प्रलयंकरी समा[2] ॥"
"मथित चालित ताड़ित हो महा।
अति प्रचंड प्रभजन वेग से ॥
जलद थे दल के दल आ रहे।
घुमड़ते घिरते व्रज घेरते[3] ॥"

सामूहिक दृष्टि से प्रियप्रवास की भाषा परिष्कृत और भावानुसारिणी है। विविध मनोभावों तथा परिस्थितियों के शब्द-चित्र खींचने में उसे पर्याप्त सफलता मिली है।

प्रियप्रवास का सन्देश

प्रियप्रवास खड़ीबोली का सर्वप्रथम महाकाव्य है। इसमें हरिऔध एक आदर्शवादी सुधारक के रूप में हमारे सामने आते हैं। प्रियप्रवास पर आधुनिक युग की नवीन विचार-धाराओं का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। भक्तिकालीन काव्य में कृष्ण के आलौकिक चरित्र के साथ धार्मिक भावना का सामंजस्य दिखाया गया था। रीतिकालीन शृंगारी कवियों ने कृष्ण को एक विलासी नायक के रूप में ही अपनाया। प्रियप्रवास में हरिऔध ने कृष्ण के चरित्र में लोक-कल्याण की भावना को प्रमुख स्थान देकर उसे बुद्धिवादी इस नवीन युग के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। प्रियप्रवास के कृष्ण आदर्श प्रेमी, सच्चे देश-सेवक और कर्तव्यनिष्ठ महापुरुष हैं। वे 'चोर-जार-शिखामणि' न होकर समाज की मर्यादा के संरक्षक हैं। इसी प्रकार राधा भी प्रियप्रवास में एक साधारण प्रेमिका के रूप में नहीं, आदर्श लोक-सेविका के रूप में अंकित की गई है। जिस प्रकार कृष्ण अपनी इच्छाओं का दमन करके, स्वार्थ को ठुकरा कर लोकसेवा में संलग्न दिखाई देते हैं, उसी

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग ६, १२८
२. प्रियप्रवास, सर्ग ११, ७३
३. प्रियप्रवास, सर्ग १२, २०

प्रकार राधा भी अपने मोहजन्य प्रेम को विश्व-प्रेम में परिणत कर देती है और इस प्रकार लोकसेवा का व्रत धारण कर लेती है। इस प्रकार कवि ने प्रियप्रवास में अपने नायक और नायिका के चरित्र में देशसेवा और विश्व-कल्याण की भावना को प्रधानता देकर विश्व-कल्याण तथा विश्वप्रेम का सन्देश हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है। कृष्ण ने निजहित को विश्वहित में और राधा ने भी अपने मोहजन्य प्रेम को विश्वप्रेम में परिणत कर दिया है। जन-सेवा ही जनार्दन की सेवा है और विश्वकल्याण में ही मानव का कल्याण निहित है, इसी आदर्श की स्थापना हरिऔध ने प्रियप्रवास में की है। इसीलिए इस महाकाव्य के अन्त में कवि ने विश्वात्मा से कृष्ण और राधा जैसे विश्वप्रेमानुरक्त आदर्श नर-नारियों को इस भारत-भूमि में जन्म देने की प्रार्थना की है:—

"सच्चे स्नेही अवनि-जन के देश के श्याम जैसे।
राधा जैसी सदय-हृदया विश्वप्रेमानुरक्ता ॥
हे विश्वात्मा, भरतभुव के अंक में और आवें।
ऐसी व्यापी विरह-घटना किन्तु कोई न होवे[1] ॥"

प्रियप्रवास तथा अन्य कृतियाँ

श्रीमद्भागवत तथा प्रियप्रवास

साहित्य-क्षेत्र में प्राय: प्रत्येक लेखक अथवा कवि अपने पूर्ववर्ती लेखकों अथवा कवियों की कृतियों से प्रभावित होता है। प्रियप्रवास के लेखक श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय पर भी उनके पूर्ववर्ती अनेक कवियों का प्रभाव दिखाई देता है। प्रियप्रवास का मुख्य आधार श्रीमद्भागवत है। प्रियप्रवास की कथावस्तु का विश्लेषण करते समय हम यह बता चुके हैं कि प्रियप्रवास और भागवत में कथावस्तु-सम्बन्धी समानता अथवा भिन्नता कहाँ तक है। यहाँ पर हम काव्य-शैली की दृष्टि से प्रियप्रवास और भागवत के कतिपय प्रसंगों की तुलना करना उचित समझते हैं। प्रियप्रवास के कथानक के भागवत की कतिपय घटनाओं पर आधारित होने पर भी प्रियप्रवास में काव्य-शैली की मौलिकता दिखाई देती है। महाकवि हरिऔध ने भागवत से जो सामग्री ली है उसे नवीन तथा अपने आदर्श के अनुकूल बनाने में उनका प्रयास प्रशंसनीय है। भागवत में कृष्ण के स्वरूप-वर्णन का एक उदाहरण यह है:—

"बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै—
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः[2] ॥"

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग १७, ५४

२. भागवत, दशम-स्कन्ध, अध्याय २१, ५

इस पद्य की तुलना प्रियप्रवास के निम्नोद्धृत पद्यों से की जा सकती है :—

"विलसता कटि में पट पीत था। रुचिर वस्त्र-विभूषित गात था॥
लस रही उर में वनमाल थी। कल दुकूल-अलंकृत स्कन्ध था॥
मकरकेतन के कल केतु से। लसित थे वर कुण्डल कान में॥
घिर रही जिनकी सब ओर थी। विविध भावमयी अलकावली॥
मुकुट मस्तक का शिखि-पक्ष का। मधुरिमामय था बहु मञ्जु था॥
असित रत्न-समान सुरंजिता। सतत थी जिसकी वर चन्द्रिका[1]॥"

संस्कृत के पद्य में प्रयुक्त "बर्हापीडम्, कर्णयोः कर्णिकारम्, बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्" इन शब्दों का सारा भाव प्रियप्रवास के उपर्युक्त पद्यों में आ गया है। हरिऔध ने 'मधुरिमामय' और 'मंजु' इन दो विशेषणों से मानों 'बर्हापीड' की व्याख्या कर दी है। भागवत के कृष्ण के कानों में कर्णिकार के फूल हैं जब कि प्रियप्रवास के कृष्ण के कान कामदेव के सुन्दर झण्डों के समान सुन्दर कुण्डलों से शोभित हैं। जिस प्रकार भागवत के कृष्ण सुनहरे वस्त्र और वैजयन्ती माला धारण किए हुए हैं उसी प्रकार प्रियप्रवास के कृष्ण की कटि पीताम्बर और वक्षस्थल वनमाला से विभूषित है।

भागवत में कृष्ण को ब्रह्मरूप में दिखाया गया है पर प्रियप्रवास में वे एक आदर्श महापुरुष के रूप में अंकित हैं। भागवत में कृष्ण की वंशी की मधुर ध्वनि सुन व्रज की स्त्रियाँ इस प्रकार कृष्ण के पास पहुँच जाती हैं:—

"निशम्य गीतं तदनंगवर्धनम्
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुंडलः॥"

"दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः॥
परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्[2]॥"

इसी प्रसंग का वर्णन प्रियप्रवास के इस पद्य में मिलता है :—

"वंशी निनाद सुन त्याग निकेतनों को।
दौड़ी अपार जनतातिउमंगिता हो॥
गोपी-समेत बहुगोप तथांगनायें।
आईं विहाररुचि से वनमेदनी में[3]॥"

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग १, १८-२०

२. भागवत, दशम-स्कन्ध, अध्याय २९, ४-६

३. प्रियप्रवास, सर्ग १४, १००

भागवत में केवल गोपियाँ ही कृष्ण के पास पहुँचती हैं। उन्होंने अपने गृहकार्यो, शिशुओं और पतियों तक की उपेक्षा की है और इस प्रकार लोकमर्यादा का उल्लंघन किया है। परन्तु प्रियप्रवास में यह बात नहीं है। वहाँ सारी जनता कृष्ण के पास पहुँचती है। वहां गोपियों के साथ गोप भी दिखाई देते हैं।

भागवत में कृष्ण ने उद्धव को व्रज में भेजते हुए कहा है:—

"गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय[1] ॥"

प्रियप्रवास में यही प्रसंग इस पद्य में व्यक्त हुआ है:—

"जैसे हो लघु वेदना हृदय की औ' दूर होवे व्यथा।
पावें शान्ति समस्त लोग न जलें मेरे वियोगाग्नि में ॥
ऐसे ही वर ज्ञान तात व्रज को देना बताना क्रिया।
माता का सविशेष तोष करना औ' वृद्ध गोपेश का[2] ॥"

भागवत के कृष्ण विशेषकर गोपियों की विरह-व्यथा को अपने सन्देशों से दूर करना चाहते हैं पर प्रियप्रवास में वे केवल गोपियों की ही नहीं, समस्त व्रजवासियों की विरह-व्यथा को शान्त करने की इच्छा रखते हुए माता यशोदा और वृद्ध नन्द का विशेष ध्यान रखते हैं।

भागवत में मथुरा से आये हुए उद्धव का रथ नन्द के द्वार पर देख कर गोपियों ने ये शब्द कहे हैं:—

"अक्रूर आगतः किम्वा यः कंसस्यार्थसाधकः।
येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः[3] ॥"

गोपियाँ सोचती हैं कि क्या कंस का हितैषी, कृष्ण को मथुरा ले जाने वाला अक्रूर ही तो पुनः यहाँ नहीं आ गया है।

प्रियप्रवास में व्रजवासियों को पहले ही ज्ञात है कि यह नवागत व्यक्ति अक्रूर से भिन्न है। वे सोचते हैं:—

"पल पल अकुला के दीर्घ-संदिग्ध होके।
विचलित चित से थे सोचते ग्रामवासी ॥
वह परम अनूठे रत्न आ ले गया था।
अब यह व्रज आया कौन सा रत्न लेने[4] ॥"

वह अक्रूर तो व्रजजनों के अनूठे रत्न (प्रिय कृष्ण) को ले गया था, अब यह नवागन्तुक कौन सा रत्न लेने आया है ?

---

१. भागवत, दशम-स्कन्ध, अध्याय ४६, ३
२. प्रियप्रवास, सर्ग ६, १०
३. भागवत, दशम-स्कन्ध, अध्याय ४६, ४८
४. प्रियप्रवास, सर्ग ६, १३५

भागवत की गोपियां कृष्ण के विषय में उद्धव से पूछती हैं:—

"अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽ धुनाऽऽस्ते
स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथा नः किंकरीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु[1] ॥"

क्या मथुरा में रहते हुए आर्यपुत्र कृष्ण कभी अपने माता-पिता, बन्धुओं और गोपों को याद भी करते हैं ? क्या वे कभी हम दासियों की भी चर्चा चलाते हैं ? वे अपनी अगर के समान सुगन्धित भुजा को हमारे सिर पर कब रखेंगे ?

प्रियप्रवास में यशोदा लगभग ऐसे ही प्रश्न उद्धव से पूछती है:—

"प्यारे ऊधो सुरत करता लाल मेरी कभी है ?
क्या होता है न अब उसको ध्यान बूढ़े पिता का ?
रो रो, हो हो विकल अपने वार जो है विताते।
हा ! वे सीधे सरल-शिशु है क्या नहीं याद आते ॥
कैसे भूलीं सरस खनि-सी प्रीति की गोपिकाएँ।
कैसे भूले सुहृदपन के सेतु से गोप-ग्वाले ॥
शान्ता धीरा मधुरहृदया प्रेमरूपा रसज्ञा।
कैसे भूली प्रणय-प्रतिमा राधिका मोहमग्ना[2] ॥"

लोकसेवा में निरत प्रियप्रवास के कृष्ण के सम्बन्ध में यशोदा के ऐसे प्रश्न सर्वथा स्वाभाविक ही हैं।

भागवत में कृष्ण का चरित्र अलौकिकता को लिए हुए है। वहां नन्द, यशोदा, गोप-गोपियाँ सभी उनके अलौकिक चरित्र से चकित है। पर प्रियप्रवास में ये सारे चरित्र मानवीय रूप में प्रस्तुत किये गये है। भागवत में उद्धव-गोपी-सम्वाद में गोपियाँ भ्रमर को सम्बोधित करती हुईं कृष्ण को भ्रमर के समान निष्ठुर और स्वार्थी बताती हैं। जिस प्रकार भौरा विविध फूलों का रस लेता है और फिर उन्हें छोड़ देता है उसी प्रकार कृष्ण ने भी गोपियों से प्रेम किया और अन्त में उन्हें त्याग दिया। कृष्ण के विषय में भागवत की गोपियाँ कहती हैं:—

"सकृदधर सुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः[3] ॥"

---

१. भागवत, दशम-स्कन्ध, ४७, २१

२. प्रियप्रवास, सर्ग १०, ३३-३४

३. भागवत, दसम-स्कन्ध, अध्याय ४७, १३

हे मधुकर, वह कृष्ण एक बार हमें अपने अधरों की मोहिनी (सुधा) पिला कर शीघ्र ही हमें उसी प्रकार छोड़ गया है जिस प्रकार तुम फूलों को त्याग देते हो। हमें आश्चर्य है कि लक्ष्मी उनके चरणकमलों की सेवा कैसे करती है। अवश्य ही वह कृष्ण की चिकनी-चुपड़ी बातों पर मुग्ध हो गई है।

प्रियप्रवास में यह प्रसंग एक दूसरे ढंग से उपस्थित किया गया है। यहाँ कृष्ण के विरह में व्याकुल कोई गोपी भ्रमर को अपना दुखड़ा सुनाती है। वह भ्रमर को एक फूल से दूसरों के पास उड़ता देख कर कहती है:—

"कुवलय-कुल में से तो अभी तू कढ़ा है।
वह विकसित प्यारे-पुष्प में भी रमा है॥
अलि अब मत जा तू कुंज में मालती की।
सुन मुझ अकुलाती ऊबती की व्यथाएँ[1]॥"

यहाँ पुष्पों के साथ प्रेम में भ्रमर की चंचलता दिखा कर कृष्ण की चंचलता पर प्रकाश डाला गया है। भागवत की गोपियों के समान प्रियप्रवास की यह गोपी भी कृष्ण को भ्रमर-जैसा निष्ठुर बताती है:—

"नव-नव कुसुमों के पास जा मुग्ध हो हो।
गुन गुन करता है चाव से बैठता है॥
पर कुछ सुनता है तू न मेरी व्यथाएँ।
मधुकर इतना क्यों हो गया निर्दयी है[2]॥"

भागवत के भ्रमरगीत-प्रसंग में उद्धव और गोपियों का परस्पर वार्तालाप दिखाया गया है, पर प्रियप्रवास में उद्धव तटस्थ होकर गोपियों की विरह-कहानी सुनते हैं। भागवत के भ्रमरगीत में उद्धव और गोपियों के सम्वाद में जो मीठा उपालम्भ और नाटकीय चमत्कार वर्तमान है वह प्रियप्रवास में नहीं मिलता, फिर भी नारी-हृदय की विवशता और विशुद्ध प्रेम की भावना प्रियप्रवास में मौलिक ढंग से चित्रित हुई है।

मेघदूत और प्रियप्रवास

प्रियप्रवास के छठे सर्ग में विरहिणी राधा पवन को दूती बनाकर कृष्ण के पास अपना सन्देश भेजती हैं। यह प्रसंग कालिदास के मेघदूत के साथ मिलता-जुलता है। कालिदास का यक्ष मेघ-द्वारा अपना सन्देश अपनी प्रिया तक पहुँचाता है। कालिदास की तरह हरिऔध ने भी इस प्रसंग में मन्दाक्रान्ता छन्द को अपनाया है। विषय की समानता प्रियप्रवास के पवन-दूती-प्रसंग तथा मेघदूत में वर्तमान है। विषय-साम्य के साथ-साथ पवन-दूती-प्रसंग तथा मेघदूत में कई स्थलों पर भाव-साम्य भी दिखाई देता है। इससे यह सिद्ध होता है कि हरिऔध को पवन-दूती-प्रसंग की रचना की प्रेरणा मेघदूत से मिली है।

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग १५, ५८
२. प्रियप्रवास, सर्ग १५, ७५

विषय, भाव और शैली की समानता के होते हुए भी हरिऔध ने प्रियप्रवास के पवन-दूती-प्रसंग में पर्याप्त मौलिकता लाने का प्रयत्न किया है। नीचे उद्धृत कतिपय उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

जिस प्रकार मेघ की प्रशंसा करता हुआ यक्ष उस से अपना सन्देश ले जाने की प्रार्थना करता है:—

"जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहं
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा[1] ॥"

उसी प्रकार प्रियप्रवास में राधा भी पवन की प्रशंसा करती हुई उससे अपना कार्य पूर्ण करने की आशा रखती है:—

"तू जाती है सकल थल ही वेगवाली बड़ी है।
तू है सीधी तरल-हृदया ताप उन्मूलती है॥
मैं हूँ जी में बहुत रखती वायु तेरा भरोसा।
जैसे हो ऐ भगिनि, बिगड़ी बात मेरी बना दे[2] ॥"

मेघदूत में यक्ष मेघ से कहीं विलम्ब न करने की प्रार्थना करता है:—

"उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते-पर्वते ते ।
शुक्लापांगैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गन्तुमाशु व्यवस्येत्[3] ॥"

राधा भी प्रियप्रवास में इसी प्रकार पवन से कहीं विश्राम न करने के लिए कहती है:—

"ज्यों ही मेरा भवन तज तू अल्प आगे बढ़ेगी।
शोभावाली सुखद कितनी मंजु कुंजें मिलेंगी॥
प्यारी छाया मृदुल स्वर से मोह लेंगी तुझे वे।
तो भी मेरा दुख लख वहां जा न विश्राम लेना[4] ॥"

यक्ष और राधा दोनों ही उद्यानों में पुष्पावचयन करती हुई मालिनों के प्रति सहानुभूतिशील दीख पड़ते हैं। मेघदूत का यक्ष मेघ को उन्हें छाया प्रदान करने के लिए कहता है:—

---

१. पूर्वमेघ, ६
२. प्रियप्रवास, सर्ग ६, ३५
३. पूर्वमेघ, २४
४. प्रियप्रवास, सर्ग ६, ३७

"विश्रान्तः सन् व्रज वननदीतीरजातानि सिंचन्
उद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि ।
गण्डस्वेदापनयनरुजा क्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात् क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् [1]॥"

राधा भी इसी प्रकार पवन से मालिनों की श्रान्ति मिटाने की आशा रखती है:—

"तू पावेगी कुसुम गहने कान्तता साथ पैन्हे।
उद्यानों में वर नगर के सुन्दरी मालिनों को॥
वे कार्यों में स्वप्रियतम के तुल्य ही लग्न होंगी।
जो श्रान्ता हों सरस गति से तो उन्हें मोह लेना [2]॥"

जहां कालिदास का यक्ष विवृत-जघना सुन्दरी के समान नदी के साथ मेघ की क्रीड़ा को स्वाभाविक समझता है:—

"तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
हृत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः [3]॥"

वहां हरिऔध की राधा पवन से पथिक-महिलाओं को विकृत-वसना न बनाने तथा उनकी श्रान्ति को मिटाने की प्रार्थना करती है:—

"लज्जाशीला पथिक महिला जो कहीं दृष्टि आवे।
होने देना 'विकृतवसना' तो न तू सुन्दरी को॥
जो थोड़ी भी श्रमित वह हो गोद ले श्रान्ति खोना।
होठों की औ' कमलमुख की म्लानताएँ मिटाना [4]॥"

जहाँ मेघदूत मे यक्ष मेघ से महाकाल के मन्दिर में सन्ध्याकालीन पूजा में अपनी गर्जना द्वारा सम्मिलित होने की आशा रखता है:—

"अप्यन्यस्मिन् जलधर महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः।
कुर्वन् सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीयाम्
आमन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् [5]॥"

---

१. पूर्वमेघ, २८
२. प्रियप्रवास, सर्ग ६, ५१
३. पूर्वमेघ, ४५
४. प्रियप्रवास, सर्ग ६, ४१
५. पूर्वमेघ, ३८

प्रियप्रवास में राधा भी पवन-दूती से मथुरा के मन्दिरों में पूजा के समय वाद्यों की मधुरता को बढ़ाने के लिए कहती है :—

"देखे पूजा-समय मथुरा-मन्दिरों मध्य जाना।
नाना वाद्यों मधुर स्वर की मुग्धता को बढ़ाना।।
किम्वा ले के रुचिर तरु के शब्दकारी फलों को।
धीरे-धीरे मधुर-रव से मुग्ध हो हो बजाना [1]।।"

वायु से बजते हुए कीचकों (बाँसों) का वर्णन मेघदूत और प्रियप्रवास दोनों में इस प्रकार हुआ है :—

"शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः [2]।।"
"जो प्यारे मंजु उपवन या वाटिका में खड़े हों,
छिद्रों में जा क्वणित करना वेणु सा कीचकों को [3]।।"

कालिदास का यक्ष मेघ के सन्देश-वाहक बनने की अयोग्यता का विचार तक नहीं करता। काम-पीड़ित होने के कारण वह जड़-चेतन सब को एक-जैसा समझता है[4]। प्रियप्रवास की राधा विरह-विधुरा होती हुई भी अपनी विवेक-बुद्धि को नहीं त्यागती। वह वायु में सन्देश-कथन की अक्षमता अनुभव करती है :—

"तेरे में है न यह गुण जो तू व्यथाएँ सुनाये।
व्यापारों को प्रखर मति औ' युक्तियों से चलाना।।
बैठे हों जो निज-सदन में मेघ सी कान्तिवाले।
तो चित्रों को इस भवन के ध्यान से देख जाना [5]।।"

राधा पवन से युक्तियों-द्वारा काम चलाने को कहती है। ये युक्तियाँ स्वाभाविक और उपयुक्त प्रतीत होती हैं।

इस प्रकार मेघदूत और पवनदूती-प्रसंग में कहीं विषय-साम्य और कहीं भाव-साम्य के होते हुए भी प्रियप्रवास की मौलिकता कई स्थलों पर व्यक्त होती है। हरिऔध ने कहीं भी कालिदास के भावों को विकृत रूप में उपस्थित नहीं किया है। वास्तव में हरिऔध ने कालिदास के मेघदूत से सामग्री लेकर उसे अपने काव्य के आदर्श के अनुकूल बनाने की चेष्टा की है।

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग ६, ५३
२. पूर्वमेघ, ६०
३. प्रियप्रवास, सर्ग ६, ७१
४. कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।
—पूर्वमेघ, ५
५. प्रियप्रवास, सर्ग ६, ६७

रसागर और प्रियप्रवास

प्रियप्रवास का विषय बहुत सीमित है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर व्रजवासियों व्याकुलता का वर्णन और कृष्ण के संदेशवाहक के रूप में उद्धव का उन्हें सान्त्वना देना प्रियप्रवास का मुख्य विषय है। कृष्ण के विरह में व्रजजनों की पूर्वस्मृति के रूप में ण के जीवन की अन्य घटनाओं का वर्णन भी इस रचना में पाया जाता है। कृष्ण के रा-गमन तथा उनके जीवन से सम्बद्ध अन्य घटनाओं का वर्णन सूरदास के सूरसागर भी वर्तमान है। श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध की प्रमुख घटनाएँ सूरसागर तथा प्रिय-ास दोनों में वर्णित है। यहाँ सूरसागर तथा प्रियप्रवास के कतिपय समान प्रसंगों की नना करने का अभिप्राय केवल यही है कि हरिऔध ने किस प्रकार एक परम्परागत षय को नवीन दृष्टि से देखा है।

सूरसागर में कृष्ण की बाल-लीलाओं के सुन्दर और स्वाभाविक चित्र वर्तमान। प्रियप्रवास में कृष्ण की बाल्यावस्था का वर्णन प्रसंगवश कतिपय पद्यों में किया गया। सूरदास वात्सल्य-वर्णन में अद्वितीय हैं परन्तु इस क्षेत्र में हरिऔध का प्रयत्न भी सराह-य है। सूरसागर के इस पद में यशोदा बालक कृष्ण को चलना सिखाती है :—

"सिखवति चलन यशोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरे पैया॥
कबहुँक सुन्दर वदन विलोकति, उर आनन्द भरि लेति बलैया [1]॥"

इसी प्रकार का वर्णन प्रियप्रवास में भी मिलता है :—

"ठुमुकते गिरते पड़ते हुए। जननि के कर की उँगली गहे॥
सदन में चलते जब श्याम थे। उमड़ता तब हर्ष-पयोधि था [2]॥"

घुटनों के सहारे चलते हुए बालक कृष्ण का चित्र सूरसागर तथा प्रियप्रवास दोनों इस प्रकार मिलता है :—

सूरसागर—"घुटुरुनि चलत स्याम मनि-आँगन, मातुपिता दोउ देखत री।
कबहुँक किलकि तातमुख हेरत, कबहुँ मातु-मुख पेखत री [3]॥"

प्रियप्रवास—"उमगते जननी मुख देखते। किलकते हँसते जब लाड़िले॥
अजिर में घुटनों चलते रहे। वितरते तब भूरि विनोद थे [4]॥"

× × ×

सूरसागर—"लै उठाइ अंचल गहि पोंछै, धूरि भरी सब देह।
सूरज प्रभु जसुमति रज झारति, कहाँ भरी यह खेह [5]॥"

---

१. सूरसागर, दशम-स्कन्ध, ११५
२. प्रियप्रवास, सर्ग ८, ४५
३. सूरसागर, दशम-स्कन्ध, ९८
४. प्रियप्रवास, सर्ग ८, ३६,
५. सूरसागर, दशम-स्कन्ध, १११

प्रियप्रवास—"नयन रंजन अंजन मंजु सी। छविमयी रज श्यामल गात की॥
जननि थीं कर से जब पोंछतीं। उलहती तब बेलि विनोद की [1]॥"

× × ×

दावानल की विकरालता का वर्णन सूरसागर और प्रियप्रवास दोनों में बहुत-कुछ समानता लिए हुए है:—

सूरसागर—"ब्रज के लोग उठे अकुलाइ।
ज्वाला देखि अकास बराबरि, दसहुँ दिसा कहुँ पार न पाइ॥
झरहरात बन-पात, गिरत तरु, धरनी तरकि तराकि सुनाइ।
जल बरषत गिरिवर-तर बाँचे, अब कैसें गिरि होत सहाइ॥
लटकि जात जरि जरि द्रुम-बेली, पटकत बाँस, काँस, कुस, ताल।
उचटत भरि अंगार गगन लौं, सूर निरखि ब्रज-जन बेहाल [2]॥"

प्रियप्रवास—"प्रवाहिता उद्धत तीव्र वायु से। विधूनिता हो लपटें दवाग्नि की।
नितान्त ही थी बनती भयंकरी। प्रचंड दावा प्रलयंकरी समा॥
अनन्त थे पादप दग्ध हो रहे। असंख्य गाँठें फटतीं सशब्द थीं॥
विशेषतः वंश-अपार-वृक्ष की। बनी महाशब्दित थी वनस्थली [3]॥"

जिस प्रकार सूरसागर में कृष्ण के सुन्दर रूप को देख कर गोपिकाएँ अपना तन-मन न्यौछावर करती हैं:—

"सूरदास प्रभु की छवि ब्रज-ललना निरखि
थकित तन-मन न्यौछावर करैं, आनँद बहुतै [4]॥"

इसी प्रकार प्रियप्रवास में भी कृष्ण की छवि को देख व्रजबालाएँ मुग्ध हो जाती हैं:—

"बहु विनोदित थीं व्रजबालिका। तरुणियां सब थीं तृण तोड़तीं॥
बलि गईं बहु बार वयोवती। छवि विभूति विलोक व्रजेन्दु की [5]॥"

सूरसागर में व्रजललनाएँ दोनों लोचन-पुटों से कृष्ण के तन की शोभा का पान करती हुई तृप्त नहीं होतीं:—

"माधौ जू के तन की सोभा, कहत नहीं बनि आवै।
अंचवत सादर दोउ लोचन-पुट, मन नाहीं तृपितावै [6]॥"

प्रियप्रवास में भी एक दृश्य लगभग इसी प्रकार के शब्दों में वर्णित है:—

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग ८, ४१
२. सूरसागर दशम-स्कन्ध, ५६४
३. प्रियप्रवास, सर्ग ११, ७३-७४
४. सूरसागर, दशम-स्कन्ध, १३७५
५. प्रियप्रवास, सर्ग १, २६
६. सूरसागर, दशम-स्कन्ध, १३८२

"पलक लोचन की पड़ती न थी। हिल नहीं सकता तनलोम था ॥
छविरता बनिता सब यों बनीं। उपलनिर्मित पुत्तलिका यथा [1]॥"
"दोनों आँखें निरख जिसको तृप्त होती नहीं है।
ज्यों-ज्यों देखें अधिक जिसको दीखती मंजुता है [2]॥"

कृष्ण के मुख की छवि को निर्निमेष नयनों से देखती हुई व्रजवनिताएँ उपल-निर्मित पुत्तलिकाओं के समान स्तब्ध हो रही थीं। उनके रूप को देख दोनों आँखों की तृप्ति नहीं होती थी।

सूरसागर में गोपी-उद्धव-सम्वाद भ्रमरगीत के नाम से प्रसिद्ध है। सूरसागर में यह प्रसंग एक महत्वपूर्ण अंश है। यहां सूरदास की गोपियां मधुकर को सम्बोधित करती हुई कभी कृष्ण और कभी उद्धव को उपालम्भ देती हैं। प्रियप्रवास में भी यह प्रसंग वर्तमान है पर वहां गोपियों और उद्धव का प्रत्यक्ष वार्तालाप बहुत कम मात्रा में पाया जाता है। भागवत की तरह सूरसागर में भी उद्धव के साथ वार्तालाप में गोपियाँ ही विशेष भाग लेती हैं पर प्रियप्रवास में गोपियों के साथ नन्द, यशोदा तथा वृद्ध और युवक गोप भी इस वार्तालाप में सम्मिलित होते हैं। सूरसागर की गोपियां भोली-भाली होने पर भी वाचाल हैं जबकि प्रियप्रवास में वे संयत और गम्भीर दीख पड़ती हैं। इस प्रसंग से सम्बन्धित सूरदास और हरिऔध के निम्नोद्धृत कुछ पद्यों में भावसाम्य दिखाई देता है।

मथुरा में रहते हुए, सूरदास और हरिऔध के कृष्ण व्रजवासियों को इस प्रकार याद करते हैं:—

सूरसागर—"हरि गोकुल की प्रीति चलाई।
सुनहु उपंगसुत मोहिं न विसरत व्रजवासी सुखदाई॥
यह चित होत जाउँ मैं अब हीं, इहां नहीं मन लागत।
गोपी ग्वाल गाइ बन चारत अति दुख पायौ त्यागत॥
कहँ माखन-रोटी, कहँ जसुमति जेंवहु कहि-कहि प्रेम।
सूर स्याम के वचन हँसत सुनि थापत अपनो नेम [3]॥"

प्रियप्रवास—"शोभा-संभ्रम-शालिनी व्रजधरा प्रेमास्पदा गोपिका।
माता प्रीतिमयी, प्रतीति-प्रतिमा, वात्सल्य-धाता-पिता॥
प्यारे गोप कुमार, प्रेममणि के पाथोधि से गोप वे।
भूले हैं न, सदैव याद उनकी देती व्यथा है हमें [4]॥"

उद्धव को व्रज में भेजते समय कृष्ण सूरसागर तथा प्रियप्रवास दोनों काव्यों में

---

१. प्रियप्रवसा, सर्ग १, २७
२. प्रियप्रवास, सर्ग १६, ७१
३. सूरसागर, दशम-स्कन्ध, ३४२२
४. प्रियप्रवास, सर्ग ६, ४

नन्द, यशोदा, गोप और गोपियों को इन शब्दों में सान्त्वना देना चाहते हैं:—

सूरसागर—पहिलै प्रनाम नंदराइ सौं।
"ता पाछै मेरौ पालागन कहियौ जसुमति माइ सौं ॥
बार एक तुम बरसाने लौं, जाइ सबै सुधि लीजौ।
कहि वृषभानु महर सौं मेरौ समाचार सब दीजौ ॥
श्रीदामादि सकल ग्वालनि कौं मेरौ कौतौं भेंट्यौ।
सुख संदेस सुनाइ सबनि कौं, दिन-दिन कौ दुख मेट्यौ [1]॥"

प्रियप्रवास—"जैसे हो लघुबेदना हृदय की औ' दूर होवे व्यथा।
पावें शान्ति समस्त लोग न जलें मेरे वियोगाग्नि में ॥
ऐसे ही वर ज्ञान तात व्रज को देना बताना क्रिया।
माता का सविशेष तोष करना औ' वृद्ध गोपेश का [2] ॥"

× × ×

सूर-सागर—"देखो नन्द-द्वार रथ ठाढ़ौ।
बहुरि सखी सुफलक-सुत आयौ, पार्‌यो सँदेह जिह गाढ़ौ ॥
प्रान हमारे तबहिं लै गयौ अब केहिं कारन आयौ [3]॥"

प्रियप्रवास—"पल-पल अकुलाके दीर्घ सन्दिग्ध होके।
विचलित चित से थे सोचते ग्रामवासी॥
वह परम अनूठे रत्न को ले गया था।
अब यह व्रज आया कौन सा रत्न लेने [4] ॥"

सूरसागर में नन्द के द्वार पर मथुरा से आये उद्धव के रथ को अक्रूर का रथ समझ कर गोपियाँ कहती हैं कि वह हमारे प्राण-स्वरूप कृष्ण को पहले ही ले गया था, अब वह किस लिए आया है। प्रियप्रवास में व्रजवासियों को पहले ही ज्ञात है कि यह नवागन्तुक अक्रूर से भिन्न व्यक्ति है। वे कहते हैं कि अक्रूर तो हमारे परम अनूठे रत्न (कृष्ण) को पहले ही ले जा चुका है, अब यह दूसरा व्यक्ति कौन-सा रत्न लेने आया है। सूरदास ने कृष्ण को गोपियों का प्राण कहा है पर हरिऔध ने उन्हें व्रजजनों का परम अनूठा रत्न स्वीकार किया है। सूरदास ने कृष्ण को गोपियों का प्राण कह कर कृष्ण के प्रति गोपियों के प्रगाढ़ प्रेम की व्यंजना की है परन्तु प्रियप्रवास में कृष्ण को व्रजजनों का अनूठा रत्न बताकर कवि ने मथुरा के राजा कंस की धन-लिप्सा तथा कृष्ण-जैसे रत्न के अभाव में व्रजवासियों की अकिंचनता की ओर संकेत किया है।

कृष्ण की भ्रमर से तुलना करते हुए सूरदास ने कृष्ण की निष्ठुरता तथा स्वार्थ-

---

१. सूरसागर, दशम-स्कन्ध, ३४४६
२. प्रियप्रवास, सर्ग ६, १०
३. सूरसागर, दशम स्कन्ध, ३४८१
४. प्रियप्रवास, सर्ग ६, १३५

मयी प्रीति की व्यंजना इन शब्दों में की है:—

"भूलति हौ कत मीठी बातनि ।
ए तौ अलि उनहीं के संगी, चंचल चित्त साँवरे गातनि ॥
वैं मुरली धुनि जग मन मोहत, इनकी गुंज सुमन-मधु-पातनि ।
× × ×
वे भव निसि माननि गृहवासी, एउ वसत निसि नव जलजातनि ।
वे उठि प्रात अनत मन रंजत, ये उड़ि करत अनत रस-रातनि ॥
× × ×
वे माधौ ए मधुप सूर कहि दुहुँ मैं नाहिन कोउ घटि गातनि [1]॥"

प्रियप्रवास में हरिऔध ने कृष्ण और मधुकर की समानता इस प्रकार दिखाई है:-

"तव तन पर जैसी पीत आभा लसी है ।
प्रियतम कटि में है सोहता वस्त्र वैसा ॥
गुन गुन करना औ' गूँजना देख तेरा ।
रसमय मुरली का नाद है याद आता [2]॥"

नन्ददास का भ्रमर-गीत और प्रियप्रवास

उद्धव-गोपी-सम्वाद को लेकर नन्ददास ने भी भ्रमर-गीत की रचना की है । नन्ददास का भ्रमर-गीत काव्यकला की दृष्टि से एक उत्कृष्ट रचना है । नन्ददास की गोपियाँ यहां तर्कशील और चतुर दीख पड़ती हैं। वे वाद-विवाद में उद्धव को परास्त कर देती हैं। प्रियप्रवास में उद्धव और गोपियों में प्रत्यक्ष कथनोपकथन की योजना नहीं हुई है । वहाँ एक भ्रमर को देख कर एक गोपी कृष्ण को याद करती हुई उसे अपनी व्यथा सुनाती है । नन्ददास के भ्रमरगीत में नन्द, यशोदा और राधा का उल्लेख नहीं है । उसमें तो उद्धव और गोपियों की उक्ति-प्रत्युक्तियों की सुन्दर योजना करके नन्ददास ने ज्ञान पर प्रेम की विजय दिखाई है । प्रियप्रवास में नन्द यशोदा और राधा की विरह-व्याकुलता पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है । प्रियप्रवास की गोपियाँ विरह-व्याकुल होने पर भी चंचलता से रहित हैं। लोकमर्यादा का उन्हें पूरा ध्यान है। वे कृष्ण को चोर, लम्पट, कपटी आदि न बता कर आदर्श भारतीय नारियों के समान चुपचाप विरह-वेदना सहती हैं। जिस प्रकार नन्ददास की गोपी भ्रमर और कृष्ण में समानता देखती है:—

'कोउ कहै रे मधुप भेष उनको क्यों धार्‌यौ ।
स्याम पीत, गुंजार वेनु किंकिनि झनकार्‌यौ ॥
वापुर गोरस चोरिकै फिर आयो या देस ।
इन कौं जिनि मानौ कोऊ कपटी इनको भेस ॥
चोरि जिनि जाय कछु [3] ॥"

---

१. सूरसागर, दशम-स्कन्ध, ३७६०
२. प्रियप्रवास, सर्ग १५, ६७
३. नन्ददास-ग्रन्था०, भ्रमरगीत, ४६

"धारा वही जल वही यमुना वही है।
है कुंज वैभव वही वन-भू वही है।।
हैं पुष्प-पल्लव वही व्रज भी वही है।
ये हैं वही न घनश्याम बिना जनाते [1]।।"

कविरत्न और हरिऔध दोनों ने यशोदा को प्रातः मक्खन निकालते समय कृष्ण के विषय में चिन्तित दिखाया है:—

"यहँ कौ नव नवनीत मिल्यौ मिसरी अति उत्तम।
भला सकैं मिलि कहाँ सहर में सद या के सम।।
रहै यही लालो अजहुँ, काढ़त यहिं जब भोर।
भूखो रहत न होइ कहुँ, मेरो माखन चोर [2]।।"

"प्यारा खाता रुचिर नवनी को बड़े चाव से था।
खाते खाते पुलक पड़ता नाचता कूदता था।।
ऐ बातें हैं सरस नवनी देखते याद आतीं।
हो जाता है मधुरतर औ' स्निग्ध भी दाह-कारी [3]।।"

इस प्रकार कविरत्न सत्यनारायण के भ्रमरगीत और हरिऔध के प्रियप्रवास में थोड़ी-बहुत समानता दिखाई देती है। कविरत्न ने अपने भ्रमरगीत में राष्ट्रीय-भावना को ठूंसने का प्रयत्न किया है, पर राष्ट्रीय-भावना का मूल प्रसंग के साथ सामंजस्य नहीं दिखाई देता। प्रियप्रवास में भी देश-भक्ति और लोकहित की भावना वर्तमान है परन्तु उनका समावेश काव्य में स्वाभाविक ढंग से हुआ है।

हरिऔध तथा कतिपय अन्य कवि

प्रियप्रवास की रचना में महाकवि हरिऔध ने अनेक पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों से लाभ उठाया है। कहीं विषय और कहीं भाव-धाराओं तथा शैली को अपनाते हुए उन्होंने अन्य कवियों का अनुकरण किया है परन्तु ऐसे स्थलों पर भी उन्होंने प्रायः सर्वत्र नवीनता लाने की चेष्टा की है। निम्नोद्धृत कतिपय उदाहरणों से यह कथन स्पष्ट हो जाता है।

प्रियप्रवास में कृष्ण को एक कर्तव्यपरायण लोकसेवक के रूप में अंकित किया गया है। दावाग्नि के भीषण प्रकोप से व्रज की रक्षा करने के लिए वे व्रजजनों को इन शब्दों में प्रोत्साहित करते हैं:—

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग १४, १४२
२. कविरत्न सत्यनारायण—भ्रमरगीत
३. प्रियप्रवास, सर्ग १०, ३१

"बढ़ो करो वीर स्वजाति का भला।
अपार दोनों विध लाभ है हमें॥
किया स्वकर्तव्य उबार जो लिया।
सुकीर्ति पाई यदि भस्म हो गये[1]॥"

यह पद्य हमें युद्धभूमि में अर्जुन को युद्ध के लिए प्रोत्साहन देते हुए कृष्ण के इन शब्दों की याद दिलाता है:—

"हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत-निश्चयः[2]॥"

संस्कृत के कवियों ने दैव की विचित्र गति का वर्णन ऐसे पद्यों में किया है:—

"रविनिशाकरयोर्ग्रहपीडनं
गज-भुजंगविहंगम-बन्धनम्।
मतिमतां च निरीक्ष्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवानिति मे मतिः[3]॥"

प्रियप्रवास में भी दैव की अपटुता का उल्लेख हरिऔध ने ऐसे स्थलों पर किया है:—

"कमल का दल भी हिमपात से।
दलित हो पड़ता सब काल है॥
कल कलानिधि को खल राहु भी।
निगलता करता बहु क्लान्त है[4]॥"

विद्यापति और हरिऔध के निम्नोद्धृत पद्यों में भी भाव-साम्य दृष्टिगत होता है:—

"काक भाख निज भाखह रे।
पहु आओत मोरा।
खीर खाँड भोजन देब रे।
भरि कनक-कटोरा[5]॥"

"आके कागा यदि सदन में बैठता था कहीं भी।
तो तन्वंगी उस सदन की यों उसे थी सुनाती॥
जो आते हों कुँवर उड़ के काक तो बैठ जा तू।
मैं खाने को प्रतिदिन तुझे दूध औ' भात दूँगी[6]॥"

१. प्रियप्रवास, सर्ग ११, ८७
२. गीता, अध्याय २, ३७
३. पंचतन्त्र, मित्रसम्प्राप्ति, श्लोक २२
४. प्रियप्रवास, सर्ग ४, २१
५. विद्यापति-पदावली, १६०
६. प्रियप्रवास, सर्ग ६, ८

पद्मावत में जायसी की नायिका नागमती भी अपने प्रिय के विरह में अपने शरीर को जला कर उस की राख को प्रियतम के मार्ग की धूल में मिलाने के लिए इस प्रकार उत्सुक दीख पड़ती है:—

"यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन ! उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कन्त धरैं जहँ पाव [1]॥"

प्रियप्रवास में भी एक गोप-बाला प्रिय कृष्ण के विरह में निराश होकर यमुना की धारा में गिर कर अपने शरीर को ब्रज की मिट्टी में मिला देना चाहती है:—

"विधिवश यदि तेरी धार में आ गिरूँ मैं।
मम तन व्रज ही की मेदिनी में मिलाना॥
उस पर अनुकूला हो, बड़ी मंजुता से।
कल-कुसुम अनूठी-श्यामता के उगाना [2]॥"

यहाँ जायसी और हरिऔध दोनों ने विरहिणी नायिका के भग्नहृदय की कामना की कोमल अभिव्यंजना की है।

कृष्ण अक्रूर के साथ प्रातःकाल होते ही मथुरा जाने वाले हैं। यशोदा कृष्ण के भावी विरह में व्याकुल है। वह पुत्र-वियोग के दुखद समय को देखना नहीं चाहती। वह तारों से अपना स्थान न छोड़ने के लिए विनती करती है और इस प्रकार आशा करती है कि रात बीतेगी ही नहीं तथा कृष्ण का मथुरागमन टल जायेगा:—

"चमक-चमक तारे धीर देते हमे हैं।
सखि मुझ दुखिया की बात भी क्या सुनेंगे ?
परहित-रत हो ए ठौर को जो न छोड़ें।
निशि विगत न होगी बात मेरी बनेगी [3]॥"

मतिराम तथा बिहारी की नायिकाओं ने भी इसी प्रकार अपने प्रिय के परदेश-गमन को टालने की नई युक्तियाँ निकाली हैं:—

"प्राननाथ परदेस कौ चलियै समौ विचारि।
स्याम नैन घन बाल के बरसन लागे बारि [4]॥"
"पूस मास सुनि सखिनु पैं साईं चलत सवारु।
गहि कर बीन, प्रवीन तिय राग्यो राग मलारु [5]॥"

मतिराम की नायिका ने स्वयं अपनी आँखों से बरसात की झड़ी लगा दी।

---

१. पद्मावत, नागमती-वियोग-खंड, दोहा १२
२. प्रियप्रवास, सर्ग १५, १२५
३. वही सर्ग ४, ४४
४. मतिराम-सतसई, ३९९
५. बिहारी-सतसई, १४६

विहारी की प्रवीण नायिका ने मलार राग छेड़ कर बरसात लाने का प्रयत्न किया। इन दोनों का प्रयत्न सराहनीय है। प्रियप्रवास की यशोदा जानती है कि कर्तव्यपरायण कृष्ण वर्षा होने पर भी नहीं रुकेंगे, यदि रात लम्बी हो जाय तो पुत्र-विरह की घड़ी टल सकती है।

प्रियप्रवास की गोपियाँ व्रज की उन कुंजों को बड़े चाव से देखती हैं जहाँ कृष्ण ने अनेक क्रीड़ाएँ की थीं:—

"ऐसी कुंजें व्रज-अवनि में हैं अनेकों जहाँ जा।
आ जाती है दृग-युगल के सामने मूर्ति न्यारी॥
प्यारी लीला उमग जसुदा-लाल ने है जहाँ की।
ऐसी ठौरें ललक दृग हैं आज भी लग्न होते [1]॥"

निम्नलिखित दोहे में विहारी ने भी यही भाव व्यक्त किया है:—

"सघन कुंज छाया सुखद सीतल सुरभि समीर।
मनु ह्वै जातु अजौं वहै उहि जमुना के तीर [2]॥"

कृष्ण की क्रीड़ास्थली व्रजभूमि के सामने प्रियप्रवास की गोपियों को स्वर्ग भी अच्छा नहीं लगता:—

"जहाँ न वृन्दावन है विराजता। जहां नहीं है व्रजभू मनोहरा॥
न स्वर्ग है वांछित, है जहां नहीं। प्रवाहिता भानुसुता प्रफुल्लिता [3]॥"

विहारी की नायिका भी उसी प्रकार अपने प्रियतम से न मिलाने वाली मुक्ति को भी ठुकराने के लिए तैयारी है:—

"जौ न जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकति मुँह दीन।
जौ लहियै सँग सजन तौ धरक नरक हू की न [4]॥"

प्रियप्रवास के पवन-दूती—प्रसंग में राधा की निम्नोद्धृत उक्तियों की तुलना घनानन्द के निम्न कवित्त से की जा सकती है:—

"तू जाती है सकल थल ही वेगवाली बड़ी है।
तू है सीधी तरल-हृदया ताप उन्मूलती है [5]॥"
जो ला देगी चरण-रज तो तू बड़ा पुण्य लेगी।
पूता हूँगी भगिनि, उसको अंग में मैं लगाके॥
पोतूँगी जो हृदय-तल में वेदना दूर होगी।
डालूँगी मैं सिर पर उसे आँख में ले मलूँगी [6]॥"

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग १४, ४६
२. विहारी-सतसई, ६८१
३. प्रियप्रवास, सर्ग १५, ६४
४. विहारी-सतसई, ७५
५. प्रियप्रवास, सर्ग ६, १०
६. प्रियप्रवास सर्ग ६, ५३

"एरे बीर पौन ! तेरो सबै ओर गौन, बीरी,
तो सो और कौन मनैं ढरकौंहीं बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े सों समान घन—
आनँद-निधान सुखदान दुखियानि दै ॥
जान उजियारे गुन-भारे अंत मोही प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे, पीठि पहचानि दै ।
विरह-बिथाहि मूरि, आँखिन मैं राखौं पूरि,
धूरि तिन पायन को हाहा ! नेकु आनि दै [1]॥"

माइकेल मधुसूदन दत्त और हरिऔध

बंगला के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदनदत्त के मेघनाद-वध का भी प्रियप्रवास की भाषा-शैली पर प्रभाव पड़ा है। जिस प्रकार भिन्न तुकान्त संस्कृतमयी भाषा में मेघनाद-वध की रचना-द्वारा माइकेल ने बंगला साहित्य में नये युग का आविर्भाव किया उसी प्रकार हरिऔध ने भी माइकेल की भाषा-शैली का अनुसरण करते हुए संस्कृत के भिन्नतुकान्त वर्णिक वृत्तों और संस्कृत-गर्भित खड़ीबोली में प्रियप्रवास की रचना करके हिन्दी कवियों के लिए नवीन मार्ग प्रस्तुत किया है। माइकेल की शब्दावली और भावों का अनुकरण तो हरिऔध ने नहीं किया है किन्तु मेघनाद-वध की भाषा-शैली का प्रियप्रवास पर अवश्य ही प्रभाव पड़ा है। माइकेल ने मेघनाद-वध और हरिऔध ने प्रिय-प्रवास की रचना-द्वारा यह प्रमाणित किया है कि संस्कृत के काव्यों की तरह बंगला और हिन्दी में भी भिन्न तुकान्त छन्दों में सरस और हृदयग्राही कविता लिखी जा सकती है।



---

१. घनानन्द-कवित्त, ७०

: ६ :

साकेत

(रचनाकाल—सन् १६२६)

हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों में श्री मैथिलीशरण गुप्त के साकेत का महत्वपूर्ण स्थान है। परम्परागत रामकथा को लेकर तुलसी ने रामचरितमानस की रचना करके महाकाव्य-कला को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया था। मानस की रचना के पश्चात् राम-कथा को लेकर मानस के समकक्ष या उससे भी उत्कृष्ट महाकाव्य की रचना अब हिन्दी-साहित्य में संभव न थी। केशव ने रामचन्द्रिका के रूप में मानस-जैसा महाकाव्य लिखने का प्रयास अवश्य किया था किन्तु वे इस प्रयास में वे सर्वथा असफल रहे। आधुनिक युग में गुप्त जी ने उसी प्राचीन रामकथा को नूतन सुधारवादी दृष्टि से देखकर साकेत के रूप में एक नूतन महाकाव्य की सृष्टि की है। साकेत रामचरितमानस का समकक्ष महाकाव्य न होकर भी आज के युग की नव-चेतना से अनुप्राणित एक उत्कृष्ट रचना सिद्ध होती है।

बंगला के प्रसिद्ध साहित्यकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने युग के कवियों का ध्यान हमारे साहित्य के उपेक्षित पात्रों की ओर आकृष्ट किया था। फलतः गुप्त जी का ध्यान भारतीय साहित्य की उपेक्षिता उर्मिला—जैसी नारियों की ओर गया। साकेत में इसी उर्मिला के चरित्र की विशेषताओं को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है।

साकेत का महाकाव्यत्व

साकेत एक सफल महाकाव्य है। महाकाव्य के परम्परागत अधिकांश लक्षणों का इसमें समन्वय हो जाता है। यह एक सर्गवद्ध रचना है। इसमें आठ से अधिक (वारह) सर्ग हैं। इसके कथानक का आधार लोकविश्रुत रामकथा है। सर्वगुण-सम्पन्न कुलीन क्षत्रिय वीर लक्ष्मण धीरोदात्त नायक और कर्तव्यपरायणा, तपस्विनी उर्मिला इसकी नायिका है। इसमें विप्रलम्भ शृंगार प्रधान रस है; करुण, वीर, रौद्र आदि रस उसके सहायक हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से धर्म की सिद्धि साकेत का मुख्य लक्ष्य है। प्राचीन महाकाव्यों की तरह साकेत में भी प्रभात, सन्ध्या, रात्रि, नगर, वन, पर्वत, नदी, षट् ऋतुओं और युद्धयात्रा आदि के सुन्दर वर्णन वर्तमान हैं। साकेत के आरम्भ में भी गणेश की वन्दना के रूप में मंगलाचरण को स्थान दिया गया है। साकेत के प्रायः प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द को प्रधानता दी गई है और सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन के नियम का पालन भी किया गया है। महाकाव्य में छन्द प्रयोग-सम्बन्धी नियम के अनुसार हा

साकेत के नवम सर्ग में विविध छन्दों का प्रयोग भी दिखाई देता है। इस प्रकार साकेत में महाकाव्य के परम्परागत मुख्य लक्षणों का सामान्यतया निर्वाह दृष्टिगत होता है।

आधुनिक विद्वानों ने महाकाव्यों के दो वर्ग स्वीकार किये हैं—घटना-प्रधान और चरित्र-प्रधान। घटना-प्रधान महाकाव्यों में विविध घटनाओं को प्रमुख स्थान दिया जाता है। वहाँ पात्रों का चरित्र घटनाओं के विकास में सहायक होता है। चरित्र-प्रधान महाकाव्यों में विविध घटनाएँ पात्रों के चरित्र के विकास में योग देती हैं। साकेत एक चरित्र-प्रधान महाकाव्य है। यद्यपि इस रचना में घटनाओं को भी पर्याप्त महत्व दिया गया है, पर वे सारी घटनाएँ अन्ततः उर्मिला और लक्ष्मण जैसे पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं को प्रकाश में लाने में सहायक ही प्रतीत होती हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने महाकाव्य के संकलनात्मक (Epic of Growth) और कलात्मक (Epic of Art) ये दो भेद माने हैं। संकलनात्मक महाकाव्य सम्पूर्ण देश, जाति या राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखते हैं। उनमें जातीय जीवन के उदात्त आदर्शों की अभिव्यक्ति रहती है। कलात्मक महाकाव्यों में उनके रचयिताओं की काव्य-कला का परिष्कृत रूप वर्तमान रहता है और उनके व्यक्तित्व की छाप भी दिखाई देती है। साकेत में वैसे तो संकलनात्मक और कलात्मक दोनों प्रकार के महाकाव्यों की विशेषताएँ वर्तमान हैं। उसमें एक ओर जातीय जीवन की अभिव्यक्ति है तो दूसरी ओर वह कवि के व्यक्तित्व और काव्यशैली का कलात्मक चित्र भी उपस्थित करता है। इतना होते हुए भी साकेत में रामायण, महाभारत और मानस की तरह जातीय जीवन के विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति प्रमुख रूप में नहीं हुई है। इसलिए हम साकेत की रामायण और महाभारत जैसे विशालकाय संकलनात्मक महाकाव्यों में गणना न करके उसे संस्कृत के रघुवंश-जैसे कलात्मक महाकाव्यो की श्रेणी में स्थान देना उचित समझते हैं।

साकेत में गुप्त जी ने महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों का अक्षरशः पालन नहीं किया है। महाकाव्य की प्राचीन परम्परा के अनुसार महाकाव्य का नायक (प्रमुख चरित्र) कोई प्रसिद्ध पुरुष होना चाहिए; पर साकेत में नारी (उर्मिला) को मुख्य चरित्र के रूप में स्थान दिया गया है। परम्परागत परिपाटी के अनुसार लक्ष्मण को साकेत का नायक माना जाता है परन्तु उसके चरित्र को साकेत में प्रधानता नहीं मिली है। चिरकाल से उपेक्षिता नारी को गुप्त जी ने साकेत में प्रधान पात्र के रूप में अपना कर आधुनिक युग-भावना से अनुकूल नारी-जाति का सम्मान किया है। साकेत की सारी घटनाएँ उर्मिला के चरित्र को विकसित करती हैं। प्रथम सर्ग में उर्मिला-लक्ष्मण-सम्वाद में उर्मिला को प्रमुख स्थान मिला है। चतुर्थ सर्ग में राम, सीता और लक्ष्मण के वनगमन का निश्चय कर लेने पर उर्मिला की विवशता का चित्र बहुत थोड़े किन्तु मार्मिक शब्दों में अंकित हुआ है। इस प्रसंग में राम, लक्ष्मण, सीता, कौशल्या और सुमित्रा ने भी उर्मिला के चरित्र की महत्ता स्वीकार की है। षष्ठ सर्ग में दशरथ की मृत्यु के अवसर पर मूर्च्छिता उर्मिला की दयनीय दशा कैकेयी के हृदय को हिला देती है। अष्टम सर्ग में चित्रकूट की भरी सभा में

कैकेयी ने उर्मिला के चरित्र का गौरव स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। इस सर्ग के अन्त में चित्रकूट की पर्णकुटी में लक्ष्मण और उर्मिला के क्षणिक मिलन के अवसर पर लक्ष्मण ने भी मार्मिक शब्दों में उर्मिला के चरित्र की सराहना की है। नवम और दशम सर्ग में तो उर्मिला का ही राज्य है। वहाँ उसकी करुण-कहानी विस्तार के साथ वर्णित है। एकादश सर्ग में भरत और माण्डवी भी उर्मिला के चरित्र से प्रभावित दिखाई देते हैं। लक्ष्मण-शक्ति का समाचार पाकर साकेतवासियों की रण-सज्जा के अवसर पर उर्मिला एक वीर नारी के रूप में हमारे सम्मुख आती है। साकेत के अन्त में उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन प्रसंग में भी उर्मिला के चरित्र की गरिमा व्यक्त हुई है। इस प्रकार साकेत में उर्मिला प्रमुख चरित्र के रूप में अंकित हुई है और उसका चरित्र साकेत की सम्पूर्ण कथावस्तु के ऊपर व्याप्त है।

साकेत में नायिका (उर्मिला) के चरित्र को नायक (लक्ष्मण) के चरित्र की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है। साकेत में लक्ष्मण और उर्मिला के नायक और नायिका के पद पर प्रतिष्ठित होने पर भी वे राम और सीता के चरित्र से प्रभावित दीख पड़ते हैं। काव्य-कला की दृष्टि से यह बात अनुचित-सी प्रतीत होती है; पर आदर्श के अनुसार लक्ष्मण और उर्मिला का राम और सीता के समक्ष झुकने में ही गौरव है। वस्तुतः गुप्त जी ने उस प्रसिद्ध राम-कथा को साकेत का विषय बनाया है, जिसमें राम और सीता को गौण स्थान मिल ही नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि गुप्त जी के हृदय में राम के प्रति अगाध भक्ति और श्रद्धा है। लक्ष्मण और उर्मिला को ऊपर उठाने की इच्छा रखते हुए भी वे साकेत में राम और सीता को उनके प्रतिष्ठित आसन से नीचे नहीं उतार सके। इतना होते हुए भी उनके हृदय की सब से अधिक सहानुभूति और श्रद्धा उर्मिला को ही प्राप्त हुई है। साकेत में गुप्त जी का कविहृदय उर्मिला को किन्तु भक्त-हृदय राम-सीता को अर्पित हुआ है।

साकेत का नामकरण प्राचीन महाकाव्यों की तरह नायक-नायिका के नाम पर अथवा महाकाव्यगत कथा के आधार पर नहीं हुआ है। साकेत अयोध्या का प्राचीन नाम है, उसी के आधार पर इस रचना का नामकरण किया गया है। इस काव्य की समस्त घटनाओं का मुख्य केन्द्र साकेत ही है। मानस में तुलसी अपने प्रभु राम के साथ कभी वन में और कभी लंका में घूमते दिखाई देते हैं किन्तु साकेत में गुप्त जी साकेत (अयोध्या) में ही आसन जमा कर अपनी उपास्य देवी उर्मिला की आरती उतारते हैं। जनकपुरी और लंका की घटनाओं का सारा वृत्तान्त हमें अयोध्या में ही मिल जाता है। एक बार साकेतकार भरत के साथ चित्रकूट में अवश्य पहुँचते हैं, किन्तु वहां भी सारे साकेत-समाज के उपस्थित होने से साकेत का-सा वातावरण बन जाता है। साकेत का नामकरण उर्मिला के नाम पर भी हो सकता था, पर सीता-राम के भक्त गुप्त जी ने सीता के गौरव को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए ऐसा करना उचित नहीं समझा।

इस प्रकार साकेत की रचना में साधारणतया महाकाव्य की परम्परागत शैली

का अनुसरण करते हुए भी कवि ने कतिपय मौलिक विशेषताओं की सृष्टि की है। साकेत में नाटकीय तत्वों की प्रचुरता है। कहीं नाटकीय ढंग से सम्वादों की योजना करके, कहीं नाटकीय विषमताओं की सृष्टि करके और कहीं गीतों को समुचित स्थान देकर गुप्त जी ने इस महाकाव्य को नवीन रूप प्रदान किया है। साकेत में नगर, वन, पर्वत आदि के परम्परागत वर्णनों के अतिरिक्त देशभक्ति, नारी की महत्ता, साम्यवाद, प्रजातंत्र आदि नए विषयों तथा विचारधाराओं के सुन्दर व्याख्यान भी वर्तमान हैं। इस प्रकार साकेत एक उच्चकोटि का महाकाव्य सिद्ध होता है। उसमें महाकाकाव्य की प्राचीन और अर्वाचीन मान्यताओं की मनोरम सन्धि दिखाई देती है।

कथावस्तु

साकेत की कथावस्तु का मुख्य आधार वही परम्परागत रामकथा है जिसको लेकर संस्कृत में महर्षि वाल्मीकि ने रामायण तथा तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना की। इस प्राचीन रामकथा को साकेत में गुप्तजी ने आधुनिक युग के अनुरूप नवीन रूप देने का प्रयत्न दिया है। साकेत की कथावस्तु बारह सर्गो में विभक्त है। प्रथम सर्ग का आरम्भ राम के राज्याभिषेक की तैयारी से होता है। सारी साकेत नगरी सजी हुई है। पुरवासी बड़ी उत्सुकता के साथ राम के राज्याभिपेक की शुभ घड़ी की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इसी सर्ग में लक्ष्मण और उर्मिला परस्पर वाग्विनोद करते हुए पारिवारिक जीवन का सुखमय चित्र उपस्थित करते हैं और राम के अभिषेक की सूचना पाकर प्रसन्न दिखाई देते हैं। द्वितीय सर्ग में भरत की अनुपस्थिति में राम का राज्याभिषेक कैकेयी की दासी मन्थरा को अखरता है। वह कैकेयी के समक्ष भरत पर राजा दशरथ का सन्देह प्रकट करती है। कैकेयी राम और भरत में भेदभाव न रखती हुई भी अन्त में भरत की अनुपस्थिति में राम के अभिपेक की तैयारी में राजा दशरथ की बुरी नियत का आभास पाती हैं। वह अचानक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देती है जिसमें राम के राज्याभिषेक की सारी योजना छिन्न-भिन्न हो जाती है। वह दशरथ से राम का वनवास और भरत का राज्याभिपेक ये दो वर माँगती है। देवासुर-संग्राम में दशरथ ने कैकेयी को दो वर देने की प्रतिज्ञा की थी। इसलिए दृढ़प्रतिज्ञ दशरथ इन वरों को अस्वीकार न करते हुए भावी पुत्र-विरह की आशंका से मूर्च्छित हो जाते हैं। तृतीय सर्ग में राम-लक्ष्मण पितृवन्दना के लिए राजमहल में दशरथ के पास पहुँचते हैं। वहाँ दशरथ को व्याकुल देख उन्हें सारी परिस्थिति का ज्ञान हो जाता है। स्पष्ट शब्दों में पिता के मुख से वनगमन की आज्ञा न पाकर भी वे वन जाने का निश्चय कर लेते हैं। चतुर्थ सर्ग में राम कौशल्या से वन में जाने की अनुमति माँगते हैं। कौशल्या सहर्ष उन्हें वन जाने की आज्ञा दे देती है। सुमित्रा भी लक्ष्मण के राम के साथ वन जाने में अपना गौरव समझती है और सीता बहुत कुछ समझाने-बुझाने पर भी पति के साथ वन जाने में ही अपना कल्याण मानती है। उर्मिला लक्ष्मण के मार्ग में बाधा न डाल कर प्रिय-विरह की वेदना का भार स्वीकार करती हुई साकेत में ही रह कर तापस जीवन अपनाने के लिए विवश हो जाती है। पंचम सर्ग में गुरुजनों से विदा होकर प्रजा को

सान्त्वना देते हुए राम लक्ष्मण और सीता के साथ रथ पर बैठ कर वन को प्रस्थान करते हैं। तमसा के तीर पर पहुँच कर वे पहली रात वहीं बिताते हैं। वहां से चलकर शृंगवेरपुर में गुहराज को कृतकृत्य करते हुए गंगातट पर पहुँचते हैं और सारथि सुमंत्र को अयोध्या के लिए समुचित सन्देश देकर विदा करते हैं। गुहराज की नाव पर बैठ कर वे गंगा के पार पहुँच भरद्वाज मुनि के आश्रम में विश्राम करते हैं। प्रयाग में भरद्वाज मुनि से विदा पाकर वे चित्रकूट में निवास करते हैं। षष्ठ सर्ग में साकेत में उर्मिला, कौशल्या, सुमित्रा और दशरथ व्याकुल दिखाई देते हैं। यहां पुत्र-विरह में दशरथ की दशा अधिक शोचनीय हो जाती है। इसी अवसर पर सुमन्त्र रीता रथ लेकर साकेत में प्रवेश करते हैं। राम को वन से लौटा हुआ न देख दशरथ 'राम-राम' की रट लगाते हुए प्राण त्याग देते हैं। दशरथ के देहावसान से राजमहल में भीषण हाहाकार मच जाता है। कौशल्या, सुमित्रा और उर्मिला सभी शोकाकुल दिखाई देते हैं। वशिष्ठ सबको सान्त्वना देते हुए भरत को नाना के घर से बुलाने के लिए दूत भेज देते हैं। सप्तम सर्ग में भरत ननिहाल से अयोध्या पहुँचते हैं। वहां पिता की मृत्यु और राम, लक्ष्मण तथा सीता के वनगमन की सूचना पाकर भरत अपने आपको तथा माता कैकेयी को कोसने लगते हैं। शोकाकुल भरत पिता का दाह-संस्कार करते हैं किन्तु गुरुजनों के समझाने पर भी राम की अनुपस्थिति में अयोध्या का राज्य स्वीकार नहीं करते। वे राम को अयोध्या लौटा लाने की इच्छा से साकेत-समाज-सहित चित्रकूट को प्रस्थान करते हैं। अष्टम सर्ग में चित्रकूट में राम सीता और लक्ष्मण के साथ तापस जीवन बिताते हुए दिखाई देते हैं। इतने में साकेत-समाज-सहित भरत चित्रकूट में पहुँच जाते हैं। लक्ष्मण को दल-बल-सहित चित्रकूट में पहुँचने में भरत की बुरी नियत का आभास मिलता है परन्तु राम उन्हें शान्त कर देते हैं। भरत चित्रकूट में राम से मिल कर अपने अगाध भ्रातृ-प्रेम का परिचय देते हैं। राम वशिष्ठ आदि मुनियों और माताओं का हृदय से स्वागत करते हैं। कैकेयी यहां रो-रो कर अपना कलंक धोती हैं। बहुत-कुछ समझाने-बुझाने पर भी राम साकेत को लौटना उचित नहीं समझते। अन्त में भरत राम की चरण-पादुकाएँ लेकर उनके विनीत सेवक के रूप में राज्य की देख-रेख करना स्वीकार कर लेते हैं। सीता के चातुर्य से पर्णकुटी में लक्ष्मण और उर्मिला की भेंट हो जाती है। उर्मिला लक्ष्मण को वन में सन्तुष्ट देख कर सन्तोष-लाभ करती है। नवम सर्ग में साकेत-निवासिनी उर्मिला के विरह की मार्मिक व्यंजना की गई है। दशम सर्ग में उर्मिला अपनी सखी सरयू के समक्ष अपना जन्म, रघुकुल-परम्परा, राम-लक्ष्मण-जन्म, उनकी बाल-लीलाएँ, ताड़का-वध, सीता-स्वयम्वर तथा अपना विवाह आदि घटनाओं का स्मृतिरूप में वर्णन करती है। एकादश सर्ग में प्रभु-सेवा में निरत भरत और माण्डवी उर्मिला की शोचनीय दशा के कारण चिन्तित दिखाई देते हैं। इसी अवसर पर भरत को शत्रुघ्न राम-लक्ष्मण के वीरता-पूर्ण कार्यों की सूचना देते हैं। मेघनाद की शक्ति से लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर हनुमान संजीवनी बूटी लाने के लिए हिमालय की ओर प्रस्थान करते हैं पर भरत के बाण से बीच में ही अयोध्या में गिर पड़ते हैं।

हनुमान सीताहरण से लेकर लक्ष्मण की मूर्च्छा तक की सारी घटनाओं का संक्षेप में वर्णन करते हैं और भरत से संजीवनी बूटी लेकर राम के पास पहुँच जाते हैं। द्वादश सर्ग में अयोध्या की सारी प्रजा भरत के साथ लंका पर चढ़ाई करने के लिए उद्यत हो जाती है। राम, लक्ष्मण और साता पर आई हुई विपत्ति की सूचना पाकर उर्मिला का सोया हुआ वीरभाव जाग उठता है और वह भी युद्ध के लिए तैयार हो जाती है। इतने में महर्षि वशिष्ठ सारी प्रजा को सान्त्वना देते हुए अपनी दिव्य दृष्टि के बल से लक्ष्मण के जीवित हो उठने और लंका में राम की विजय का सारा दृश्य साकेत-निवासियों को दिखा देते हैं। लंका-विजय के पश्चात् राम-सीता और लक्ष्मण साकेत में लौट आते हैं। साकेतवासी राम के राज्याभिषेक की तैयारी करते हैं। राम भी वधू उर्मिला की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं। अन्त में लक्ष्मण और उर्मिला के मिलन में कथा की समाप्ति होती है।

कथानक में नवीन उद्‌भावनाएँ

वाल्मीकि तथा तुलसी की तरह मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत में कथावस्तु का आरम्भ रघुकुल-परम्परा तथा रामजन्म से नहीं, राम के राज्याभिषेक की तैयारी और उर्मिला-लक्ष्मण-संवाद से किया है। साकेत के प्रथम सर्ग में उर्मिला और लक्ष्मण का प्रेम-पूर्ण वाग्विनोद की अवतारणा कवि की अपनी सूझ है। राम के जीवन की घटनाओं का जैसा क्रमिक विकास वाल्मीकि-रामायण और रामचरितमानस में दिखाई देता है, वैसा साकेत में नहीं पाया जाता। साकेत के रचयिता ने रामायण तथा मानस के विस्तृत कथा-नक के कतिपय मार्मिक स्थलों को चुन कर अपनी कथावस्तु की योजना की है। राम के राज्याभिषेक की तैयारी से लेकर चित्रकुट में भरत-मिलाप तक की घटनाओं को साकेत में प्रमुख स्थान मिला है। राम के राज्याभिषेक की तैयारी से पूर्व की घटनाओं का वर्णन उर्मिला ने दशम सर्ग में स्मृतिरूप में किया है। चित्रकूट में भरत-मिलाप के बाद की घट-नाएँ अंशतः हनुमान के मुख से और अंशतः वशिष्ठ की योगदृष्टि-द्वारा संक्षेप में व्यक्त हुई हैं। वास्तव में उपेक्षिता उर्मिला के चरित्र की महत्ता प्रतिपादित करने के लिए ही साकेत की रचना हुई है। इसीलिए साकेतकार ने रामायण तथा मानस की केवल उन्हीं घटनाओं को मुख्य रूप में अपनाया है जो उर्मिला के निर्मल चरित्र को गौरवान्वित करने की क्षमता रखती हैं।

प्रथम सर्ग में उर्मिला और लक्ष्मण का वार्तालाप कवि की मौलिक भावुकता और कल्पनाशक्ति का परिचय देता है। कैकेयी और मन्थरा के सम्वाद में भी पर्याप्त मौलिकता है। साकेत में यह प्रसंग अधिक मनोवैज्ञानिकता लिए हुए है; उसमें अलौकिक तत्त्व का समावेश नहीं है। साकेत में मानस की तरह कैकेयी की मति अलौकिक शक्ति (सरस्वती) से प्रभावित नहीं दिखाई देती [1]। साकेत-गत कैकेयी-मन्थरा-सम्वाद रामायण और मानस

१. नाम मन्थरा मन्दमति, चेरी कैकइ केरि।
अजस पेटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि॥
—मानस, अयो०, (दो० १२)

की तरह विस्तृत भी नहीं है। वाल्मीकि और तुलसी की मन्थरा की तरह साकेत की मन्थरा वाचाल नहीं है। उसका एक ही वाक्य—'भरत से सुत पर भी सन्देह। बुलाया तक न उसे जो गेह[1]'—कैकेयी के हृदय में वाण की तरह चुभ जाता है। रामचरितमानस में केकैयी के राम-वनवास और भरत के राज्याभिषेक का वर माँगने के पश्चात् राम और लक्ष्मण दशरथ के पास बुलाए जाते हैं किन्तु साकेत में वे नित्यनियमानुसार पितृवन्दना के लिए स्वयं पिता के पास पहुँचते है। राम, लक्ष्मण और सीता के वनगमन-निश्चय के अवसर पर साकेत में उर्मिला की विवशता और मूकवेदना का जो चित्र उपस्थित किया गया है वह रामायण तथा मानस में नहीं मिलता। साकेत में उर्मिला और लक्ष्मण तथा वशिष्ठ और दशरथ के वार्तालाप में राम के अभिषेक के समय भरत की अनुपस्थिति के कारणों की मौलिक उद्भावना की गई है। दशरथ की मृत्यु का साकेत में करुणापूर्ण चित्र चित्रित है। रामायण तथा मानस के कवि इस अवसर पर कौशल्या, सुमित्रा और सुमन्त्र आदि की शोकाकुलता का वर्णन करते हुए भी उर्मिला के विषय में मौन दिखाई देते हैं। साकेत में दशरथ की मृत्यु पर शोकाकुला उर्मिला मूर्च्छित होकर कैकेयी के आगे गिर जाती है[2]। यह भी साकेतकार की मौलिक उद्भावना है। इस अवसर पर उर्मिला का कैकेयी के सामने वेसुध होकर गिर पड़ना परिस्थिति को और भी गंभीर बना देता है और केकैयी के हृदय पर तीव्र आघात पहुँचता है। इसी प्रकार सप्तम सर्ग में दशरथ-मरण पर रानियों का सती होने का प्रस्ताव भी साकेतकार की मौलिक कल्पना है। साकेत में शोकाकुल रानियाँ सती होकर अपने दुखमय जीवन का अन्त कर देना चाहती हैं पर भरत और वशिष्ठ के समझाने पर वे सहमरण से विरत हो जाती हैं[3]। रामायण तथा मानस में इस प्रकार के सहमरण के प्रस्ताव का कोई उल्लेख नहीं है। दशरथ-जैसे राजा की मृत्यु पर शोकाकुल रानियों का सती हो जाने की इच्छा प्रकट करना स्वाभाविक ही है। चित्रकूट में समाज-सहित भरत और राम के मिलन-प्रसंग में गुप्त जी ने कैकेयी का पश्चाताप बहुत ही मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है। मानस की कैकेयी इस अवसर पर

---

१. साकेत सर्ग २, पृ० ३५

२. माँ, कहाँ गये वे पूज्य पिता? करके पुकार यों शोक-सिता।
उर्मिला सभी सुध-बुध त्यागे, जा गिरी कैकेयी के आगे॥
—साकेत, सर्ग ६, पृष्ठ १२३

३. सहमरण के धर्म से भी ज्येष्ठ,
आयु भर स्वामि-स्मरण है श्रेष्ठ।
तुम जियो अपना वही व्रत पाल,
धर्म की वंश-वृद्धि हो चिरकाल॥
—साकेत, सर्ग ७, पृष्ठ १४८

चुपचाप आत्म-ग्लानि अनुभव करती है[1] किन्तु साकेत में वह स्पष्ट शब्दों में अपने कृत्य का मनोवैज्ञानिक कारण उपस्थित करती है। साकेतकार ने कैकेयी के चरित्र को पश्चाताप की आग में तपाकर चित्रकूट की सारी सभा की आँखों में भी उसे ऊपर उठा दिया है[2]। चित्रकूट में सीता के लाघव से उर्मिला और लक्ष्मण का पर्णकुटी में क्षणिक मिलन का दृश्य भी साकेतकार की निजी उद्भावना है। साकेत के नवम सर्ग में उर्मिला की विरह-दशा का चित्रण गुप्त जी की नूतन सृष्टि है। साकेत में हनुमान संजीवनी बूटी लाने के लिए हिमालय नहीं पहुँचते। उन्हें यह बूटी साकेत में ही भरत से मिल जाती है। भरत ने किसी महात्मा से यह बूटी प्राप्त की थी। संजीवनी बूटी के साकेत में ही मिल जाने से हनुमान को साकेतनिवासियों को लंका का वृत्तान्त सुनाने का समुचित अवसर मिल गया है। हनुमान से लक्ष्मण-शक्ति का समाचार पाकर रामायण तथा मानस में अयोध्या-निवासी मौन ही रहते है, पर साकेत में इस अवसर पर वे लंका पर आक्रमण करने के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। राम-लक्ष्मण को संकट में जान कर भरत, शत्रुघ्न और प्रजाजनों का युद्ध के लिए तैयार हो जाना स्वाभाविक ही है। इस प्रसंग में विरहिणी उर्मिला को भी साकेतकार ने एक वीरांगना के रूप में उपस्थित किया है। साकेत के कथानक का यह प्रसंग अधिक स्वाभाविकता और सजीवता लिए हुए है। उर्मिला के चरित्र से सम्बन्ध रखने वाली सारी घटनाएँ साकेत में मौलिक है। उर्मिला ने स्मृतिरूप में अपने विवाहोत्सव की ओर भी संकेत किया है। रामायण तथा मानस में जनक की पुष्पवाटिका में केवल सीता ही राम और लक्ष्मण को देखती है पर साकेत में यह बताया गया है कि इस अवसर पर उर्मिला भी सीता के साथ थी। उर्मिला ने भी पुष्पवाटिका में लक्ष्मण को ललक कर देखा था। इसी प्रकार धनुष-यज्ञ-प्रसंग में भी साकेत की उर्मिला लक्ष्मण की वीरता से प्रभावित हुई थी। साकेत के अन्त में उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन का जो चित्र उपस्थित किया गया है, वह रामायण तथा मानस में नहीं मिलता।

इस प्रकार साकेत में मैथिलीशरण गुप्त ने प्राचीन रामकथा को अपनी अद्भुत कवित्व-शक्ति-द्वारा नवीन रूप दिया है। कवि ने अपने काव्य के परम्परागत कथानक में यत्र-तत्र परिवर्तन किए हैं और नवीव उद्भावनाओं की भी सृष्टि की है। साकेत के कथानक में अधिकांश परिवर्तन उर्मिला, भरत और कैकेयी जैसे पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं को प्रकाश में लाने के लिए किए गए हैं। साकेत के परम्परागत लोक-प्रसिद्ध कथानक में अधिक हेरफार के लिए गुजायश न थी, फिर भी गुप्त जी ने यत्र-तत्र उसमें परिवर्तन करके उसे मौलिक तथा आधुनिक रूप देने का सफल प्रयास किया है।

---

१. गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहै केहि दूषनु देई॥
—मानस, अयो०, दो० २७२

२. पागल सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई—
'सौ वार धन्य वह एक लाल की माई।'
—साकेत, सर्ग ८, पृष्ठ १८०

कथावस्तु का निर्वाह

महाकाव्य की सफलता बहुत-कुछ कथावस्तु के निर्वाह पर आश्रित होती है। उसकी कथावस्तु में अविच्छिन्न धाराप्रवाह होना आवश्यक है। उसमें शिथिलता या रुकावट नहीं आनी चाहिए। वहां मुख्यकथा और आनुषंगिक घटनाओं में पूरा सामंजस्य आवश्यक है। साकेत में राम के राज्याभिषेक की तैयारी से लेकर भरत के राम की चरण-पादुकाएँ लेकर चित्रकूट से विदा होने तक की कथा प्रत्यक्ष रूप में घटित हुई है। वास्तव में यही कथा साकेत की मुख्यकथा है। अभिषेक से पूर्व की कथा उर्मिला ने स्मृतिरूप में संक्षेप से कही है। सीता-हरण से लेकर लक्ष्मण-शक्ति तक की कथा हनुमान ने और उसके बाद की कथा वशिष्ठ ने योग-दृष्टि द्वारा संक्षेप से वर्णित की है। साकेत की मुख्यकथा के साथ अभिषेक से पूर्व की तथा चित्रकूट में भरत-मिलाप के बाद की घटनाओं की समुचित अन्विति हुई है। प्रथम सर्ग से लेकर अष्टम सर्ग तक की मुख्य कथा में पर्याप्त प्रवाह वर्तमान है। नवम सर्ग में उर्मिला के विरह का विस्तृत वर्णन मार्मिक होने पर भी कथावस्तु के विकास में शिथिलता उत्पन्न करता है। अभिषेक से पूर्व की और भरत-मिलाप के बाद की घटनाएँ कथावस्तु के प्रवाह में यत्र-तत्र बाधा उपस्थित करती हैं पर गुप्त जी ने इन बिखरी हुई घटनाओं का मुख्यकथा के साथ तारतम्य जोड़ने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। साकेत की कथावस्तु में सरसता और रोचकता पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। कहीं सजीव सम्वादों की योजना से, कहीं सुन्दर दृश्य-चित्रण और कहीं नाटकीय ढंग से परिस्थति में परिवर्तन करके गुप्त जी ने साकेत की कथावस्तु को सरस और रोचक बनाया है।

चरित्र-चित्रण

साकेत एक चरित्र-प्रधान महाकाव्य है। उसमें सबसे अधिक महत्त्वशाली चरित्र उर्मिला का है। दशरथ, राम, लक्ष्मण, भरत, सीता, कैकेयी, कौशल्या, सुमित्रा आदि पात्रों का चरित्र-चित्रण उर्मिला के चरित्र के विकास में सहायक सिद्ध होता है। साकेत की विविध घटानाएं भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उर्मिला के चरित्र के विकास में ही सहयोग देती हैं। साकेत के सभी पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। केवल राम को छोड़कर साकेत के सारे पात्र मानवीय हैं—वे मानवीय दुर्बलताओं और विशेषताओं को लिए हुए हैं। गुप्त जी के भक्त-हृदय ने भगवान् राम को देवत्व के उच्च आसन से सर्वथा मनुष्यत्व की भूमि पर उतारना उचित नहीं समझा। राम के अतिरिक्त साकेत के सारे पात्र इसी मर्त्यलोक के साधारण व्यक्ति हैं। उनके चरित्र के श्वेत और श्यामल दोनों पहलुओं पर गुप्त जी ने प्रकाश डाला है। उनके चरित्र-चित्रण में गुप्त जी ने मनोवैज्ञानिकता से अधिक काम लिया है। विविध परि-स्थितियों में पात्रों की मनोवृत्तियों और मानसिक संघर्षों का विश्लेपण साकेत में बहुत अच्छा हुआ है। साकेत के अधिकांश पात्र परम्परागत होते हुए भी अपनी निजी विशेष-

कर्तव्य को नहीं भूलती। वह इन शब्दों में लक्ष्मण को विश्वास दिलाती है कि वह उनके कर्तव्य पथ में विघ्न उपस्थित नहीं करेगी :—

मेरे उपवन के हरिण, आज बनचारी,
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें, तजो भय भारी[1] ॥

उर्मिला अपने हृदय की विवशता, करुणा और वेदना को व्यक्त न करके पति के सन्तोष में ही अपना सन्तोष समझती है :—

हा स्वामी, कहना था क्या क्या
कह न सकी कर्म का दोष?
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो
मुझे उसी में है सन्तोष[2] ॥

साकेत के नवम सर्ग में उर्मिला एक विरहिणी नायिका के रूप में हमारे सामने आती है। उसका प्रेम यहाँ विरह की आँच में तपकर निर्मल और गंभीर रूप धारण कर लेता है। उसका विरह संयत और मर्यादा के अन्दर है। उसमें उसके हृदय की सहिष्णुता, उदारता और कोमलता अच्छी तरह व्यक्त हुई है। वियोग-व्यथा से दूसरों के प्रति उसकी सहानुभूति और आत्मीयता की भावना जाग्रत हो जाती है और वह अपने निकट-वर्ती सारे प्राणियों के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध जोड़ने लगती है। वियोग की व्यथा ने उसके हृदय को शक्ति प्रदान की है। मेघनाद की शक्ति से अपने प्रिय लक्ष्मण की मूर्च्छा का समाचार पाकर वह एक वीर नारी के रूप में साकेत की सेना के साथ लंका पर आक्रमण करने के लिए सन्नद्ध हो जाती है। यहाँ उसके विरह-क्षीण शरीर के अंदर सोई हुई वीरता जाग उठती है। अपने प्रिय को संकट में देख वह साधारण अबलाओं की तरह संज्ञाहीन या निश्चेष्ट नहीं हो जाती, अपितु इस अवसर पर अपनी अद्भुत विवेक-बुद्धि तथा साहस का परिचय देती है। जब शत्रुघ्न साकेत की सेना को स्वर्णपुरी को लूटने की आज्ञा देते हैं, उस समय उर्मिला शत्रुपुरी के सोने से भी घृणा प्रकट करती है :—

गरज उठी—वह नहीं, नहीं पापी का सोना,
यहाँ न लाना, भले सिन्धु में वहीं डुबोना[3]।

साकेत के अंत में उर्मिला के चरित्र का उज्ज्वलतम रूप हमारे सामने आता है। उसका प्रेम यहाँ परिष्कृत और गम्भीर रूप धारण कर लेता है। चौदह वर्ष की अखंड तपस्या के पश्चात अपने प्रियतम को पाकर उर्मिला उनके हृदय में अचल आसन प्राप्त कर लेती है और अपने आडम्बर-रहित प्रकृत रूप से ही उन्हें प्रभावित करती है :—

---

१. साकेत, सर्ग ८, पृ० १६३
२. साकेत सर्ग ८, पृ० १६३
३. साकेत सर्ग १२, पृ० ३१३

आँखों में ही रहीं अभी तक तुम थी मानों,
अन्तस्थल में आज अचल निज आसन जानों।
परिधि-विहीन सुधांशु-सुदृश सन्ताप-विमोचन,
धूल रहित, हिमधौत सुमन-सा लोचन-रोचन।
अपनी द्युति से आप उदित, आडम्बर त्यागे,
धन्य अनावृत-प्रकृत-रूप यह मेरे आगे[1]।

वस्तुत: उर्मिला के चरित्र में विशुद्ध प्रेम, त्याग, दैन्य, साधना, सहनशीलता और कर्तव्य-निष्ठा आदि का बड़े सुन्दर ढंग से विकास हुआ है।

लक्ष्मण

लक्ष्मण साकेत के नायक हैं। उनका चरित्र एक कर्तव्य-परायण वीर योद्धा के रूप में अंकित हुआ है। वे रघुकुल-कमल-दिवाकर राम के अनुज हैं। उनके हृदय में राम के प्रति अगाध प्रेम है। साकेत के आरम्भ में उर्मिला के साथ हास्यपूर्ण वार्तालाप में लक्ष्मण के हृदय की भावुकता और कोमलता व्यक्त हुई है। यहाँ उनके चरित्र का कोमल रूप हमारे सामने आता है। वे उग्र प्रकृति के क्षत्रिय वीर होते हुए भी एक सुकुमारवेत्ता प्रणयी हैं। पर उर्मिला के प्रति उनका प्रेम शिष्टता, मर्यादा और आत्मसंयम को लिए हुए है। अपनी प्रिया उर्मिला के समक्ष भी अपने आपको राम का एक सैनिक मात्र समझने में वे अपना गौरव समझते हैं :—

भावती मैं भार लूँ किस काम का ?
एक सैनिक-मात्र लक्ष्मण राम का[2]।

लक्ष्मण का भ्रातृ-प्रेम अनुकरणीय है। इसके आगे वे अपना सर्व कुछ त्याग सकते हैं। वे एक उग्र-स्वभाव वाले वीर हैं। उग्रभावना उन्हें माता सुमित्रा से संस्कार रूप में प्राप्त हुई है। उनका वीरोचित दर्प राम के वनगमन के समय कैकेयी और दशरथ के प्रति क्रोध में और चित्रकुट में भरत के आगमन पर उनकी शंका में अच्छी तरह व्यक्त हुआ है। कैकेयी और दशरथ के प्रति उनकी कटूक्तियों[3] में लक्ष्मण की तेजस्विता और चपलता का परिचय मिलता है। वे क्षण भर में भावावेश में आ जाने वाले वीर हैं। उनका स्वभाव-जन्य क्रोध स्थल-स्थल पर व्यक्त होता है किन्तु यह क्रोध स्थायी नहीं, क्षणिक ही सिद्ध होता है। राम के प्रति उनके हृदय में इतनी श्रद्धा है कि भावावेश में आ जाने

---

१. साकेत, सर्ग १२, पृ० ३३४-३३५
२. साकेत, सर्ग १, पृ० २८
३. "अरे मातृत्व तू अब भी जताती, ठसक किसको भरत की है बताती ?
भरत को मार डालूँ और तुझ को, नरक में भी न रक्खूँ ठौर तुझको।"
भला वे कौन हैं जो राज्य लेवें, पिता भी कौन हैं जो राज्य देवें ?"
—साकेत, सर्ग ३, पृ० ५६

पर भी राम के एक इंगित मात्र से वे शान्त हो जाते है। साकेत के लक्ष्मण मानस के लक्ष्मण की अपेक्षा अधिक उग्र स्वभाव वाले प्रतीत होते हैं। मानस के लक्ष्मण के चरित्र में नम्रता और आज्ञाकारिता अपेक्षाकृत अधिक है। साकेत में राम और सीता के सामने भी वे अपने स्वभावगत अभिमान को बनाए रखते है। चित्रकूट में दल-बल-सहित भरत के आगमन में शंका करते हुए लक्ष्मण अभिमान से सिर ऊँचा करके भरत के साथ युद्ध करने को तैयार हो जाते हैं। वे राम के निषेध-वाक्यों को भी सुनने के लिए तैयार नहीं:—

आये होंगे यदि भरत कुमति-वश मन में,
तो मैंने यह संकल्प किया है मन में—
उनको इस शर का लक्ष्य चुनूँगा क्षण में,
प्रतिषेध आपका भी न सुनूँगा रण में।[1]

लक्ष्मण को अपनी शक्ति पर पूरा विश्वास है। संसार में कोई भी उन्हें अपने वीरोचित आदर्श से नीचे नहीं गिरा सकता। लक्ष्मण का आत्मसंयम भी प्रशंसनीय है। चित्रकूट की पर्णकुटी में क्षीण-काय उर्मिला को अचानक देखकर वे थोड़ी देर के लिए विस्मय में अवश्य पड़ जाते हैं पर अपने कर्तव्य को नहीं भूलते। राम-सीता की सेवा करके वे अपने आपको भाभी की भगिनी (उर्मिला) के योग्य बनने का प्रयत्न करते हैं:—

वन में तनिक तपस्या करके
बनने दो मुझ को निज योग्य।
भाभी की भगिनि, तुम मेरे
अर्थ नहीं केवल उपभोग्य।[2]

वन में जब राम मायावी मृग मारीच के पीछे दूर निकल जाते हैं, सीता 'हा लक्ष्मण ?' 'हा सीते ?' इन शब्दों को सुनकर राम को संकट में समझ चिन्तित हो जाती हैं। वे लक्ष्मण को राम का पता लगाने की आज्ञा देती हैं। लक्ष्मण राम की शक्ति पर पूरा विश्वास रखते हुए सीता को अकेली छोड़ कर जाना उचित नहीं समझते पर जब सीता लक्ष्मण के निष्क्रिय होकर घर बैठे रहने की निन्दा करती हैं तब लक्ष्मण का वीर हृदय जाग उठता है और वे इस प्रकार गर्व के साथ सीता को उत्तर देते हैं:—

मैं कैसा क्षत्रिय हूँ, इसको तुम क्या समझोगी देवी,
रहा दास ही और रहूँगा सदा तुम्हारा पद-सेवी।
उठा पिता के भी विरुद्ध मैं, किन्तु आर्य-भार्या हो तुम,
इससे तुम्हें क्षमा करता हूँ, अबला हो, आर्या हो तुम।[3]

साकेत के अन्त में लक्ष्मण को हम एक आदर्श पति के रूप में देखते हैं। राम-

---

१. साकेत, सर्ग ८, पृ० १६६
२. साकेत, सर्ग ८, पृ० १६३
३. साकेत, सर्ग ११, पृ० [illegible]

सीता की सेवा में निरत होकर लक्ष्मण ने जो साधना की है उससे उनका पत्नी-प्रेम आदर्श रूप ग्रहण कर लेता है। चौदह वर्ष की कठिन तपस्या के बाद उन्होंने उर्मिला के योग्य पति बनने की क्षमता प्राप्त की है। सीता के विरह में राम को रोते देख और हनुमान से लंका में सीता की विरहव्यथा की कथा सुनकर लक्ष्मण को वास्तव में उर्मिला के त्यागमय जीवन का महत्व ज्ञात होता है:—

मिला उसी दिन किन्तु तुम्हें मैं खोया खोया,
जिस दिन आर्या बिना आर्य का मन था रोया,
पूर्णरूप से सुनो, तुम्हें मैंने कब पाया,
जब आर्या का हनुमान ने विरह सुनाया।[1]

अन्त में वे केवल वस्त्रालंकार से मुग्ध होने वाले, लोलुप कामी पति के रूप में नहीं, उर्मिला के सच्चे स्वामी बन कर हमारे सामने आते हैं:—

जो लक्ष्मण था एक तुम्हारा लोलुप कामी,
कह सकती हो आज उसे तुम अपना स्वामी।[2]

राम

राम साकेत के अधिनायक हैं। यहाँ उनका चरित्र कुछ अंश तक अतिमानवीय रूप लिए हुए है। राम के अनन्य भक्त होते हुए गुप्तजी ने उनके चरित्र में परम्परागत ईश्वरत्व की रक्षा की है। राम के ईश्वरत्व में विश्वास रखते हुए उन्होंने कहा है:—

राम, तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?[3]

साकेत के राम एक आदर्श महापुरुष हैं। उनकी पितृभक्ति, उनका मातृ-प्रेम और उनकी कर्त्तव्यपरायणता सभी आदर्श रूप लिए हुए हैं। उनके चरित्र में त्याग, क्षमावृत्ति, गम्भीरता और नम्रता का प्राधान्य है। परिस्थितियाँ उनके आदर्श को आघात नहीं पहुँचा सकतीं। वन-गमन का निश्चय कर लेने पर माता कौशल्या के समक्ष वे अपना मस्तक गर्व से ऊँचा किए इन शब्दों में अपने अद्भुत त्याग का परिचय देते हैं:—

अबल तुम्हारा राम नहीं, विधि भी उस पर वाम नहीं।
वृथा क्षोभ का काम नहीं, धर्म बड़ा धन-धाम नहीं॥
किसने क्या अन्याय किया, कि जो क्षोभ यों जाय किया?
माँ ने पुत्रवृद्धि चाही, नृप ने सत्यसिद्धि चाही[4]।

राम के हृदय में कैकेयी और भरत के प्रति भी अगाध प्रेम है। विषम परिस्थितियों में भी उनके हृदय में कैकेयी के प्रति क्रोध तथा भरत के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न

१. साकेत, सर्ग १२, पृ० ३३४
२. साकेत, सर्ग १२, पृ० ३३५
३. साकेत, मुख-पृष्ठ
४. साकेत, सर्ग ४, पृ० ७६

नहीं होती। कौशल्या का ममता-पूर्ण मातृ हृदय भी वनगमन के समय राम के उच्च आदर्शों को ध्यान में रखकर उन्हें वनगमन की आज्ञा दे देता है। सुख-दुःख और हर्ष-शोक को राम समान रूप से स्वीकार करते है। अभिषेक और वनगमन के समय वे एक जैसी मनोवृत्ति को धारण करते हैं :—

राम-भाव अभिषेक-समय जैसा रहा,
वन जाते भी सहज सौम्य वैसा रहा [1]।

राम का भरत की मातृ-भक्ति पर अटल विश्वास है। चित्रकूट में भरत के आगमन पर लक्ष्मण को शंका होती है पर राम को भरत के साधुभाव पर स्वप्न में भी सन्देह नहीं हो सकता। राम एक आदर्श वीर हैं। उनकी वीरता में चपलता नहीं, गाम्भीर्य है। राम के चरित्र में मानवीय दुर्बलताओं का अभाव है। उनका त्याग अलौकिक है, उनकी शक्ति अद्भुत है। वे अपनी अद्भुत शक्ति का परिचय इन शब्दों में देते हैं :—

भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया,
संदेश यहाँ मै नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया [2]।

यद्यपि साकेत में राम के चरित्रांकन में गुप्त जी ने विशेषकर राम के परम्परागत आदर्श स्वरूप को ग्रहण किया है फिर भी उनके चरित्र में देश-प्रेम, प्रजाहित-चिंतन आदि मौलिक भावनाएँ भी यत्र-तत्र व्यक्त की गई है। अयोध्या से वन को विदा होते समय जन्मभूमि के प्रति उनका प्रेम इन शब्दों में प्रस्फुटित हुआ है :—

जन्मभूमि ले प्रणति और प्रस्थान दे,
हमको गौरव गर्व तथा निज मान दे [3]।

साकेत के राम ईश्वर होते हुए भी हमारे अधिक निकट हैं।

सीता

साकेत में सीता को गुप्त जी ने अधि-नायिका के पद पर प्रतिष्ठित किया है। सीता एक सती-साध्वी आदर्श देवी हैं। उनका धैर्य, शील, साहस, सन्तोष और त्याग प्रशंसनीय है। वे कठिन से कठिन समय का भी सामना कर सकती हैं। उन्हें साकेत में एक आदर्श वधू, एक आदर्श पत्नी और एक आदर्श वीरांगना के रूप में देखते हैं। एक आदर्श पुत्र-वधू के रूप में वे माता कौशल्या की सेवा में तत्पर दिखाई देती हैं :—

१. साकेत, सर्ग ५, पृ० ८८
२. साकेत, सर्ग ८, पृ० १६७
३. साकेत, सर्ग ५, पृ० ९३

'माँ क्या लाऊँ ?' कह कह कर—पूछ रही थीं रह रह कर।
सास चाहती थीं जब जो, देती थीं उनको सब सो।
कभी आरती धूप कभी, सजती थीं सामान सभी [1]।

एक लज्जाशील कुलवधू के समान वे सास के सामने पति को उपस्थित देखकर सकुचा जाती हैं :—

हँस सीता कुछ सकुचाई, आँखें तिरछी हो आई।
लज्जा ने घूंघट काढ़ा—मुख का रंग किया गाढ़ा [2]॥

राम के वन गमन की तैयारी के अवसर पर वे एक आदर्श पत्नी के रूप में पति की अनुगामिनी बनने में ही अपना कल्याण समझती है :—

मेरी यही महामति है—पति ही पत्नी की गति है।
नाथ न भय दो तुम हमको, जीत चुकी हैं हम यम को।
सतियों को पतिसंग कहीं—अगम गहन क्या दहन नहीं [3]।

पति के साथ वे वन में भी राज्यभवन का सा सुख अनुभव करती हैं :—

सम्राट स्वयं प्राणेश, सचिव देवर हैं,
देते आकर आशीष हमें मुनिवर हैं।
धन तुच्छ यहाँ, यद्यपि असंख्य आकर हैं,
पानी पीते मृग-सिंह एक तट पर हैं।
सीता रानी को यहाँ लाभ ही लाया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन-भाया [4]।

अयोध्या के राजमहल में उन्हें हम एक कुल-वधू के रूप में ही देखते हैं पर राम के साथ वन की पर्ण-कुटी में वह एक आदर्श पत्नी बन जाती हैं :—

वह वधू जानकी बनी आज यह जाया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन-भाया [5]।

वन-जीवन की कठिनाइयों को वे सहर्ष झेलती हैं। रावण द्वारा अपहृत होने पर सीता राम के असह्य वियोग में व्याकुल होकर भी रावण को अपने सतीत्व, अद्भुत साहस और बल से प्रभावित करती हैं। जब लंका में रावण सीता को लंका की रानी बनाने की इच्छा प्रकट करता है तब सीता इन शब्दों में उसे फटकारती है :—

१. साकेत, सर्ग ४, पृ० ७२
२. साकेत, सर्ग ४, पृ० ७३
३. साकेत, सर्ग ४, पृ० ८३
४. साकेत, सर्ग ८, पृ० १५७
५. साकेत, सर्ग ८, पृ० १५६

जीत न सका एक अबला का मन तू विश्वजयी कैसा ?
जिन्हें तुच्छ कहता है, उनसे भागा क्यों तस्कर ऐसा ?
मैं वह सीता हूँ, सुन रावण, जिसका खुला स्वयंवर था,
वर लाया क्यों मुझे न पामर, यदि यथार्थ ही तू नर था[१] ?

सीता सतीत्व की आदर्श प्रतिमा है। रावण जब उसके सतीत्व पर आघात पहुँचाने का प्रयत्न करता है तब सीता का सुकुमार हृदय कठोर रूप धारण कर लेता है। सीता का अपने सतीत्व पर पूर्ण विश्वास है और इस विश्वास के आगे रावण का सारा गर्व चूर-चूर हो जाता है।

कैकेयी

साकेत में कैकेयी के चरित्र-चित्रण में गुप्त जी को सबसे अधिक सफलता मिली है। उसके चरित्र में विविध भावों का उत्थान और पतन सुन्दर मनोवैज्ञानिक ढंग से दिखाया गया है। साकेत के द्वितीय सर्ग में कैकेयी के चरित्र का उदात्त रूप हमारे सामने आता है। राम के राज्याभिषेक के समय उसको उतनी ही प्रसन्नता है जितनी राम-माता कौशल्या को। कैकेयी राम और भरत में कोई भेद नहीं देखती। मन्थरा कैकेयी के सरल हृदय में सौतिया डाह उकसाना चाहती है किन्तु आरम्भ में मन्थरा की दाल नहीं गलती। कैकेयी इन शब्दों में उसे फटकारती है :—

न समझी कैकेयी वह बात,
कहा उसने—यह क्या उत्पात ?
वचन क्यों कहती है तू वाम ?
नहीं क्या मेरा बेटा राम[२] ?

परन्तु अन्त में कैकेयी के ममतापूर्ण मातृ-हृदय में मन्थरा के ये शब्द विष-दग्ध बाण की तरह तीव्र आघात पहुँचाते हैं :—

भरत से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह[३] ?

कैकेयी मानवी माता है, स्वर्ग की देवी नहीं। वह अपने प्यारे पुत्र भरत के लिए सब कुछ कर सकती है। मन्थरा के वचन-बाणों से विद्ध होकर उसका सरल हृदय कठोर रूप धारण कर लेता है। पुत्र के प्रति होते हुए अन्याय को देखकर उसकी मनोदशा बदल जाती है और उसके हृदय में प्रतिशोध की भावना जाग्रत हो उठती है :—

१. साकेत, सर्ग ११, पृ० २८६
२. साकेत, सर्ग २, पृ० ३३
३. साकेत, सर्ग २, पृ० ३५

किन्तु चाहे जो कुछ हो जाय,
सहूँगी कभी न यह अन्याय।
करूँगी मैं उसका प्रतिकार,
पलट जावे चाहे संसार [1]।

कैकेयी का स्नेह-भरा मातृ-हृदय कठिन यातनाओं को सहकर भी भरत को सुखी देखने के लिए तड़पने लगता है। उसके हृदय की स्वाभाविक कोमलता कठोरता में वदल जाती है परन्तु यह कठोरता स्थायी रूप नहीं ग्रहण कर पाती। दशरथ की मृत्यु और प्रिय पुत्र भरत की विरक्ति पूर्ण कठोर वाणी की चोट से कैकेयी का यह कठोर रूप पुनः कोमल हो जाता है। जिस पुत्र के लिए उसने न्याय और धर्म की अवहेलना की और वैधव्य का दुःख सहा उसी को अपने प्रस्ताव का निरादर करता हुआ देख कैकेयी की दर्पभावना, प्रतिहिंसा और क्रूरवृत्ति क्षण भर में विलीन हो जाती है। अब वह अपने वास्तविक रूप में हमारे सामने आ जाती है। ऊँची आशाओं को लेकर वह जिस भरत को राज्यसिंहासन वैठा देखना चाहती थी, उसी की भर्त्सना पाकर और राज्य के प्रति उसका उपेक्षा भाव देखकर उसके हृदय को गहरी चोट पहुँचती है। उसके हृदय में एकदम निराशा, ग्लानि और पश्चाताप का उदय हो जाता है। चित्रकूट में वह राम के सामने अपना अपराध स्वीकार करती है। पश्चाताप की आग में वह अपने हृदय को परिष्कृत कर लेती है। आँसू वहा कर वह अपने कालुष्य को धो डालती है। जव वह सारे अनर्थ का मूल-कारण अपने आपको समझती है। मन्थरा भी उसे निर्दोष दीख पड़ती है :—

क्या कर सकती थी, मरी मन्थरा दासी,
मेरा ही मन रह सका न निज-विश्वासी [2]।

कैकेयी के हृदय का स्वार्थ औदार्य में, ममता दूसरों के प्रति सहानुभूति में, अभिमान नम्रता में और प्रतिहिंसा आत्मग्लानि में वदल जाती हैं। साकेत में कैकेयी का चरित्र वाल्मीकि-रामायण तथा मानस की अपेक्षा अधिक मनोवैज्ञानिकता और स्वाभाविकता लिए हुए है। गुप्त जी ने युग-युग से कलंकिता कैकेयी को एक भव्य माता के रूप में अंकित किया है। चित्रकूट की सारी सभा भी मुक्त-कंठ से कैकेयी की सराहना इन शब्दों में करती है :—

पागल सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई—
"सौ वार धन्य वह एक लाल की माई [3]।

---

१. साकेत, सर्ग २, पृ० ३९
२. साकेत, सर्ग ८, पृ० १७९
३. साकेत, सर्ग ८, पृ० १८०

दशरथ

साकेत में दशरथ का चरित्र एक ममतालु पिता के रूप में अंकित हुआ है। उनके हृदय में अपने पुत्रों और विशेषकर ज्येष्ठ पुत्र राम के लिए अगाध प्रेम है। वृद्धावस्था में सन्तति-लाभ होने के कारण उनके हृदय में अपनी सन्तान के लिए मोह का होना स्वाभाविक ही है। राम के राज्याभिषेक की तैयारी के समय उनका हृदय हर्ष से फूला नहीं समाता। वृद्धावस्था में राज्यभार से मुक्त होने की आशा और राम को सिंहासन पर प्रतिष्ठित देखने की इच्छा उनके हृदय को हर्षोद्रेक से आन्दोलित कर देती है। पर अचानक कैकेयी के राम के वन-वास और भरत के राज्याभिषेक के लिए पूर्व-प्रतिश्रुत वरों की याचना करने पर दशरथ की सारी आशाओं पर पानी फिर जाता है। इच्छा न होने पर भी उन्हें राम के वन-गमन का दुस्सह दुख देखना पड़ता है। पिता का ममतापूर्ण हृदय यह पुत्र-वियोग नहीं सह सकता और इसी असह्य वेदना में उनका देहान्त हो जाता है। साकेत में गुप्त जी ने दशरथ के मोहाभिभूत हृदय का चित्रण मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है पर एक वीर राजा के रूप में उनके चरित्र में धैर्य, साहस और वीरता आदि की अभिव्यक्ति नहीं हो पाई है। राम के राज्याभिषेक की तैयारी के अवसर पर इन दो पंक्तियों में राजा दशरथ के वीरोचित गुणों की ओर संकेतमात्र किया गया है :—

दशों दिक्पालों के गुण-केन्द्र,
धन्य है दशरथ मही-महेन्द्र [1]।

पर मही-महेन्द्र के रूप में दशरथ का चरित्रांकन साकेत में नहीं हो पाया है। दशरथ राम के अभिषेक के समय भरत की अनुपस्थिति पर खेद प्रकट करते हैं। संयोगवश शुभ मुहूर्त के शीघ्र उपस्थित हो जाने के कारण तथा अपने वृद्ध शरीर की अस्थिरता की चिन्ता में वे भरत को ननिहाल से न बुला सके। इस अवसर पर भरत के वियोग में श्रवण के वृद्ध पिता से प्राप्त पुत्र-वियोग सम्बन्धी शाप की परिणति का आभास पाकर दशरथ भरत की अनुपस्थिति को किसी तरह सहन करना उचित ही समझते हैं :—

भूप बोले—हाँ, मेरा चित्त
विकल था आत्म-भविष्य-निमित्त।
इसी से था मैं अधिक अधीर,
आज है तो कल नहीं शरीर।
मार कर धोखे में मुनि-बाल
हुआ था मुझको शाप कराल।
कि तुमको भी निज पुत्र वियोग
बनेगा प्राणविनाशक रोग,
अस्तु यह भरत-विरह अक्लिष्ट
दुःखमय होकर भी था इष्ट [2]।"

---

१. साकेत, सर्ग २, पृ० ३२
२. साकेत, सर्ग २, पृ० ४४

यहाँ दशरथ के चरित्र में भरत की अनुपस्थिति-विषयक खिन्नता तथा भरत के ननिहाल से न बुलाए जाने के कारणों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। साकेत के दशरथ कैकेयी के वर माँगने से पहले स्वयं उसे अपने पूर्व प्रतिश्रुत दो वरों की याद दिलाते हैं:—

माँगना हो तुमको जो आज
माँगलो, करो न कोप न लाज।
तुम्हें पहले ही दो वरदान
प्राप्य है, फिर भी क्यों यह मान [1] ?

मानस में स्वयं कैकेयी दशरथ को इस अवसर पर उन दो वरों की याद दिलाती है। साकेत में इस प्रकार कैकेयी की वर याचना से उत्पन्न होने वाली विषम परिस्थिति का दायित्व केवल कैकेयी पर ही नहीं, दशरथ पर भी प्रतीत होता है। इस प्रसंग में दशरथ के हृदय की सरलता और नियति के विधान की कठोरता का संघर्ष नाटकीय ढंग पर अभिव्यक्त हुआ है। साकेत के दशरथ मानिनी कैकेयी के अधिक वशीभूत दिखाई देते हैं। संवर के साथ युद्ध में प्राणपण से सहायता करने वाली कैकेयी के प्रति उनकी वश्यता स्वाभाविक ही है। मामिनी कैकेयी के समक्ष वे अपनी वश्यता इन शब्दों में प्रकट करते हैं:—

प्रिये किस लिए आज यह क्रोध ?
नहीं होता कुछ मुझको बोध।
तुम्हारा धन है मान अवश्य,
किन्तु हूँ मैं तो यों ही वश्य [2]।

कैकेयी की राम के वन-वास और भरत के अभिषेक के लिए वर-याचना दशरथ के हृदय में सत्यनिष्ठा और पुत्र-प्रेम के बीच संघर्ष उपस्थित करती है। यह संघर्ष इतना प्रबल दिखाया गया है कि दशरथ किंकर्तव्य-विमूढ़ से हो जाते हैं:—

वचन पलटें कि भेजें राम को वन में,
उभय विध मृत्यु निश्चित जानकर मन में,
हुए जीवन-मरण के मध्य धृत-से वे,
रहे बस अर्द्ध-जीवित, अर्द्ध-मृत से वे [3]।

दशरथ स्पष्ट शब्दों में न तो राम को वन-गमन की आज्ञा दे सकते हैं और न सत्य से विचलित होना ही उचित समझते हैं। सत्य पालन की इच्छा और पुत्र-प्रेम के संघर्ष से विह्वल होकर दशरथ एक ओर लक्ष्मण से अपने को वन्दी बना कर राम के

१. साकेत, सर्ग २, पृ० ४८
२. साकेत, सर्ग २, पृ० ४९
३. साकेत, सर्ग २, पृ० ५२

किसी को दोष न देकर कौशल्या राम के वन-गमन को अपने बुरे कर्मों का फल समझती हैं:—

होते मेरे सुकृत कहीं, तो क्यों आती विपद यहीं[1] ?

राम के वियोग में शोकाकुल राजा दशरथ को इस प्रकार सान्त्वना देती हुई वे अपनी दूरदर्शिता, गम्भीरता और धैर्य का परिचय देती हैं:—

बोली प्रभुवर-प्रसू तब यों, हे नाथ, अधीर न हों अब यों।
तुमने निज सत्य-धर्म पाला, सुत ने स्वापत्य-धर्म पाला,
पत्नी पतिसंग बनी देवी, प्रिय अनुज हुआ अग्रज-सेवी।
जो हुआ सभी अविचित्र हुआ, पर धन्य मनुष्य-चरित्र हुआ[2]।

कैकेयी और भरत के प्रति, उनका औदार्यपूर्ण व्यवहार उन्हीं के योग्य है। वे दशरथ से यही वर माँगती हैं कि कैकेयी कभी सुत-वंचित न हो:—

माँगूंगी क्यों न नाथ, तुमसे, दो यही मुझे कल्पद्रुम-से।
कैकेयी हों चाहे जैसी, सुतवंचिता न हों मुझ-जैसी[3] ॥

भरत के प्रति उनके हृदय में सन्देह के लिए तनिक भी स्थान नहीं है। ननिहाल से लौटने पर भरत में ही राम को प्राप्त कर वे अपने हृदय को शान्ति प्रदान करती हैं:—

वत्स रे आ जा, जुड़ा यह अंक,
भानुकुल के निष्कलंक मयंक ?
मिल गया मेरा मुझे तू राम,
तू वही है, भिन्न केवल नाम[4]।

कौशल्या राम की ही जननी नहीं, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न सभी की माँ हैं। लक्ष्मण-शक्ति का दुःखद समाचार सुनकर उनका हृदय अधीर हो उठता है। जब शत्रुघ्न लंका को प्रस्थान करने का निश्चय कर लेते हैं, तब वे शत्रुघ्न से लिपट जाती हैं और उन्हें लंका जाने से रोकती हैं :—

बेटा, बेटा, नहीं समझती हूं यह सब मैं,
बहुत सह चुकी, और नहीं सह सकती अब मैं।
हाय, गये सो, गये, रह गये सो रह जावें,
जाने दूंगी तुम्हें न, वे आवें जब आवें[5]।

कौशल्या के वात्सल्य-पूर्ण मातृहृदय में चारों पुत्रों को एक-जैसा स्थान प्राप्त हुआ।

---

१. साकेत, सर्ग ४, पृ० ७८
२. साकेत, सर्ग ६, पृ० ११८
३. साकेत, सर्ग ६, पृ० ११६
४. साकेत, सर्ग ७, पृ० ११४
५. साकेत, सर्ग १२, पृ० ३००

सुमित्रा

सुमित्रा एक वीर नारी है। उसका मातृत्व वीरोचित कठोरता लिए हुए है। उसकी वीरता वंश-परम्परागत है। वह उसने संस्काररूप में प्राप्त की है। साकेतकार ने उसका परिचय इन शब्दों में दिया है:—

"सिंही-सदृश क्षत्रियाणी, गरजी फिर कह यह वाणी[1]।"

कैकेयी-द्वारा होने वाले अन्याय को सहने के लिए वह तैयार नहीं। जब कौशल्या नतमस्तक हो कैकेयी से अपने प्यारे पुत्र राम की भीख माँगने की इच्छा प्रकट करती है तब सुमित्रा एक वीर क्षत्रियाणी के रूप में कौशल्या की भिक्षा-याचना की निन्दा करती है:—

"स्वत्वों की भिक्षा-कैसी ? दूर रहे इच्छा ऐसी[2]।"

वह अपने अधिकारों के लिए लड़ने वाली वीरजननी है :—

"पाकर वंशोचित शिक्षा—माँगेंगी हम क्यों भिक्षा ?
प्राप्य याचना-वर्जित है, आप भुजों से अर्जित है।
× × ×
वीरों की जननी हम हैं, भिक्षा-मृत्यु हमें सम हैं[3]।"

वह कर्तव्य की रक्षा के लिए अपने स्वार्थ और पुत्र-प्रेम की सहर्ष वलि दे सकती है। राम के वनगमन के समय लक्ष्मण को वन जाने की आज्ञा देकर उसने अपने अद्‌भुत धैर्य और त्याग का परिचय दिया है। लक्ष्मण को अग्रजानुगामी देखकर सुमित्रा का मस्तक आत्मगौरव से उन्नत हो जाता है :—

"लक्ष्मण ! तू बड़भागी है, जो अग्रज-अनुरागी है[4]।"

शेरनी के समान सुमित्रा राम और लक्ष्मण दोनों भाइयों को वन में सिंह-सदृश जीवन-यापन की प्रेरणा प्रदान करती है :—

"धैर्य-सहित सब कुछ सहना, दोनों सिंह-सदृश रहना[5]।"

मेघनाद की शक्ति से लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने की सूचना पाकर भी सुमित्रा धैर्य नहीं छोड़ती। कौशल्या शत्रुघ्न को लंका में युद्ध के लिए जाने से रोकती हैं किन्तु सुमित्रा उसे कर्तव्य-विमुख नहीं करना चाहती। वह कहती है :—

"जीजी, जीजी, उसे छोड़ दो, जाने दो तुम।
सोदर की गति अमर समर में पाने दो तुम[6]॥"

---

१. साकेत, सर्ग ४, पृ० ७५
२. साकेत, सर्ग ४, पृ० ७५
३. साकेत, सर्ग ४, पृ० ७६
४. साकेत, सर्ग ४, पृ० ७९
५. साकेत, सर्ग ४, पृ० ७९
६. साकेत, सर्ग १२, पृ० ३००

इस प्रकार सुमित्रा के चरित्र में क्षत्रियोचित वीरता का निर्वाह सुन्दर ढंग से हुआ है। मानस की सुमित्रा की अपेक्षा साकेत की सुमित्रा में वीरता, आत्माभिमान और दृढ़ता अधिक है। उसका चरित्र साधारण मानवी माता के जीवन से ऊपर होता हुआ भी सजीवता और स्वाभाविकता को लिए हुए है।

माण्डवी

माण्डवी साकेत के सन्त भरत की पत्नी है। उसका चरित्र साकेतकार की निजी सृष्टि है। साकेत के एकादश सर्ग में हम माण्डवी को अपने तपस्वी पति की सेवा में निरत देखते है। उसका परिचय साकेतकार ने इन शब्दों में दिया है :—

"चार चूड़ियाँ थीं हाथों में, माथे पर सिन्दूरी बिन्दु,
पीताम्बर पहने थी सुमुखी, कहाँ असित नभ का वह इन्दु ?
फिर भी एक विषाद वदन के तपस्तेज में पैठा था।
मानों लोह-तन्तु मोती को वेध उसी में बैठा था।
वह सोने का थाल लिए थी, उस पर पत्तल छाई थी,
अपने प्रभु के लिए पुजारिन फलाहार सज लाई थी [1] ॥"

साकेत में गुप्त जी ने माण्डवी को एक अनोखी परिस्थिति में अंकित किया है। वह एक प्रभु-भक्ति में लीन पुजारी की पुजारिन है। उसके हाथ में फलाहार से सजा सोने का थाल पकड़ा कर कवि ने उसकी दयनीय दशा की ओर संकेत किया है। माण्डवी संयोगिनी होकर भी वियोगिनी है। साकेत के राजभवन में रहती हुई भी तपस्विनी बनी है। उसके चरित्र में हर्ष और विषाद, अनुराग और विराग, आशा और नैराश्य, चंचलता और गंभीरता का अद्भुत सामंजस्य दिखाया गया है। सीता और उर्मिला की अपेक्षा उसकी स्थिति अधिक दयनीय है। सीता वनवासिनी होती हुई भी पति का सहयोग पाकर पर्णकुटी में ही राजभवन का सुख प्राप्त करती है। उर्मिला भी लक्ष्मण के विरह में आँसू वहाकर विरह-व्यथा का भार हल्का कर लेती हैं। पर माण्डवी भरत की सहचरी वनकर भी चुपचाप तीव्र वेदना सहती है। उसे मुक्त-कण्ठ से रोने और आँसू बहाने का अवसर भी सुलभ नहीं हुआ। उसके हृदय की आशा, आकांक्षा, करुणा और वेदना कवि के इन शब्दों में फूट पड़ती है :—

"तनिक ठिठक, कुछ मुड़ कर दायें, देख अजिर में उनकी ओर,
शीस भुका कर चली गई वह, मन्दिर में निज हृदय हिलोर।
हाथ वढ़ाकर रक्खा उसने पादपीठ के सम्मुख थाल,
टेका फिर घुटनों के वल हो द्वार-देहली पर निज भाल।
टपक पड़ी उसकी आँखों से वड़ी वड़ी वूँदें दो-चार [2] ॥"

---

१. साकेत, सर्ग ११, पृ० २६६
२. साकेत, सर्ग ११, पृ० २६६

प्रिय पति के दर्शन कर उसके हृदय में अनेक उमंगें उठती हैं, पर उनका आत्म-ग्लानि से परिपूर्ण वैराग्य उसकी सारी उमंगों को शान्त कर देता है। माण्डवी एक आदर्श गृहिणी है। वह श्वश्रुओं की शुश्रूषा में निरत रहती है तथा उर्मिला को बड़ी बहन समझ उसके दुःख में सहानुभूति प्रकट करती है :—

"नाथ, यही कहकर माँओं को किसी भाँति कुछ खिला सकी,
पर उर्मिला बहन को यह मैं आज न जल भी पिला सकी[1]।"

गृहकार्यों में लगे हुए देवर शत्रुघ्न के प्रति भी माण्डवी का पर्याप्त आदर-भाव है :—

"कोई तापस, कोई त्यागी, कोई आज विरागी हैं,
घर सँभालने वाले मेरे देवर ही बड़भागी हैं[2]।"

माण्डवी का हृदय नारी-सुलभ प्रेम से भरा पड़ा है, पर उसमें उद्दाम वासना का अभाव है; लालसाएँ हैं पर उनमें उच्छृङ्खलता नहीं। उसका आत्मसंयम प्रशंसनीय है। पति की कर्तव्यपरायणता देख उसकी गौरव-भावना जाग उठती है। स्त्रीजाति के दोष से शील-समुदाय भरत के चरित्र को कलंकित समझ वह अपनी स्त्रीजाति को कोसने लगती है :—

"किन्तु नाथ, मुझको लगती है कलह-मूर्ति ही अपनी जाति,
आत्मीयों को भी आपस में हमीं बनातीं यहाँ अराति [3]।"

मेघनाद की शक्ति से लक्ष्मण की मूर्च्छा का वृत्तान्त सुनकर भरत अधीर हो जाते हैं किन्तु माण्डवी उन्हें समझा-बुझाकर शान्त करती है :—

"कातर हो तुम आर्यपुत्र, होकर नर-नामी,
तो अबला क्या करे, बता दो मुझको स्वामी[4]।"

माण्डवी की साधना भरत की तपस्या से कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस साधना ने ही उसे अपने हृदय की तीव्र वेदना को सहने की क्षमता प्रदान की है।

विरह-वर्णन

उर्मिला का विरह-वर्णन साकेत में एक महत्वपूर्ण अंश है। साकेत के आरम्भ में उर्मिला और लक्ष्मण की संयोगावस्था के सुखमय मधुर जीवन का चित्र उपस्थित करने के बाद गुप्त जी ने उसकी विरहदशा का चित्रण किया है। उर्मिला के जीवन की संयोग और वियोग की दोनों परिस्थितियों में वैषम्य दिखा कर साकेतकार ने उसकी विरह दशा को अधिक दयनीय और मार्मिक बना दिया है। राम और सीता के साथ लक्ष्मण को

---

१. साकेत, सर्ग ११, पृ० २७०
२. साकेत, सर्ग ११, पृ० २७३
३. साकेत, सर्ग, ११, पृ० २७५
४. साकेत, सर्ग, १२, पृ० २९४

वन जाने के लिए प्रस्तुत देख उर्मिला की विवशता भावी विच्छेद की आशंका से अधिक दारुण रूप धारण कर लेती है। यहाँ प्रवत्स्यत्पतिका के रूप में उर्मिला के विरह का आरम्भ होता है। उर्मिला की यह स्थिति उसके वास्तविक विरह की स्थिति से अधिक दयनीय दिखाई देती है। सीता को राम के साथ वन जाने के लिए उत्सुक देख उसका हृदय विविध भावनाओं से आन्दोलित हो उठता है। इस अवसर पर वह विवशभाव से अपने मन को समझाती है और उसे प्रियतम के मार्ग में विघ्न उपस्थित करने से रोकती है। इस गम्भीर परिस्थिति में उर्मिला अपने हृदय की वेदना व्यक्त नहीं कर सकती। वह सीता के कन्धे का सहारा लेकर आँसू बहाने लगती है:—

"वह भी सब कुछ जान गई, विवशभाव से मान गई।
श्री सीता के कन्धे पर—आँसू बरस पड़े झर झर[1] ॥"

अभागिन उर्मिला के हृदय में पति के साथ वन जाने का सौभाग्य प्राप्त करने वाली सीता के प्रति तनिक ईर्ष्या भी नहीं जागती। इस विषम परिस्थिति में भी वह कर्तव्य को नहीं भूलती। जब उसके हृदय की वेदना अधिक तीव्र हो जाती है तब वह धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ती है और सीता इन शब्दों में उसकी व्यथा व्यक्त करती हैं:—

"बहन ! बहन !" कह कर भीता करने लगीं व्यजन सीता।
"आज भाग्य जो है मेरा, वह भी हुआ न हा ! तेरा[2] ॥"

यहाँ उर्मिला का चुप रहना और वेसुध होकर गिर पड़ना ही उसकी विवशता और मूक वेदना को प्रकट करता है। साकेतकार ने इस प्रसंग में हृदय की तीव्र भावनाओं का वलपूर्वक दमन करने के कारण उर्मिला की मूर्च्छा का चित्रण मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है।

लक्ष्मण अपने अग्रज के अनुयायी बन जाते हैं और उर्मिला राजभवन में रहकर भी वनवासिनी हो जाती है। नववय में ही उसे पति-वियोग प्राप्त हो जाता है और विरह-जनित व्यथा में वह तिल-तिल कर घुलने लगती है। विरह में उसका मुख पीला पड़ जाता है और शरीर कृशता को प्राप्त हो जाता है[3]।

प्रिय-मिलन की अभिलाषा उसे अपनी विरह-वेदना सहने के लिए वल प्रदान करती है। उर्मिला को दुःख इस बात का है कि पतिसंगिनी बनने का सौभाग्य प्राप्त न कर सकने पर भी वह स्पष्ट शब्दों में अपने प्रिय को भाई का साथ देने के लिए कुछ न कह सकी :—

---

१. साकेत, सर्ग ४, पृ० ७८
२. साकेत, सर्ग ४, पृ० ८४
३. देखिए—साकेत, सर्ग ६, पृ० ११५

"दे सकी न साथ नाथ का भी, ले सकी न हाय ! हाय का भी !
यदि स्वामि-संगिनी रह न सकी, तो क्यों इतना भी कह न सकी–
हे नाथ, साथ दो भ्राता का, बल रहे मुझे उस त्राता का[1]।"

उर्मिला के हृदय में नारी-सुलभ दुर्बलता के साथ ही अपने प्रिय की कर्त्तव्य-निष्ठा और प्रिय-मिलन की आशा से उत्पन्न होने वाला अद्भुत बल भी है। आराध्य-युग्म के सोने पर यदि लक्ष्मण कभी-कभी उसे याद कर लें तो इसी में वह अपना अहोभाग्य समझेगी :—

"आराध्य-युग्म के सोने पर, निस्तब्ध निशा के होने पर,
तुम याद करोगे मुझे कभी, तो बस फिर मैं पा चुकी सभी[2]।"

उर्मिला यह नहीं चाहती कि उसकी स्मृति उसके प्रिय के व्रत में किसी प्रकार विघ्न उपस्थित करे। विरह-दशा में भी वह सर्वदा कर्तव्य के प्रति जागरूक दिखाई देती है। पति से मिलने की प्रबल अभिलाषा के होने पर भी वह उन्हें आदर्श-च्युत करना उचित नहीं समझती।

साकेत के नवम सर्ग में उर्मिला की विरह-वेदना का विशद चित्रण हुआ है। इस सर्ग की रचना का मुख्य उद्देश्य उर्मिला का विरह-वर्णन ही है। यहाँ प्रिय-विरह में उर्मिला की क्षण-क्षण में बदलती हुई मनोदशाओं के अनेक मार्मिक चित्र उपस्थित किए गए हैं। उसके हृदय में आकांक्षा, चिन्ता, स्मृति, उद्वेग, उन्माद आदि विविध वृत्तियों का उदय स्वाभाविक ढंग से दिखाया गया है। प्रिय से मिलने की अभिलाषा उर्मिला के हृदय में कई बार तीव्र वेग के साथ उद्वेलित होती है। इस अभिलाषा के कारण वह प्रियतम के पास पहुँचना चाहती है किन्तु साथ ही उन के व्रत में विघ्न उपस्थित करना उसे अभीष्ट नहीं। वह झुरमुट की ओट से ही अपने प्रिय को देख कर सन्तोष लाभ कर सकती है:—

"बीच बीच में उन्हें देख लूँ मैं झुरमुट की ओट,
जब वे निकल जायं तब लेटूँ उसी धूल में लोट।
रहें रत वे निज साधन में,
यही आता है इस मन में[3]।"

अपने विरही जीवन से तंग आकर भी उर्मिला प्रिय-मिलन की अभिलाषा के कारण अपनी सखी का कहना मान कर सब कुछ करने को प्रस्तुत हो जाती है:—

"पिऊँ ला, खाऊँ ला, सखि, पहनलूँ ला" सब करूँ;
जिऊँ मैं जैसे हो, यह अवधि का अर्णव तरूँ।
कहे जो, मानूँ सो, किस विध बता, धीरज धरूँ ?
अरी, कैसे भी तो पकड़ प्रिय के वे पद मरूँ[4]।"

---

१. साकेत, सर्ग ६, पृ० ११६
२. साकेत, सर्ग ६, पृ० ११७
३. साकेत, सर्ग ९, पृ० २३५
४. साकेत, सर्ग ९, पृ० १९७

यहाँ प्रिय-मिलन की अभिलाषा के साथ-साथ उर्मिला का दैन्य और उद्वेग भी प्रस्फुटित होता है।

विरहदशा में उर्मिला के हृदय में अपने सुखमय बाल्य और यौवन की अनेक स्मृतियाँ उपस्थित होती हैं। ये स्मृतियाँ उस की वेदना को और भी तीव्र बना देती हैं। दुःख के समय सुखद घटनाओं की स्मृति अति दुखदायी होती है। उर्मिला को कभी लक्ष्मण के साथ झूला झूलने की तो कभी उन्हें भोजन खिलाने की याद आती है[1], किन्तु इस विरहदशा में उसका पूर्वानुभूत सुख भी विषाद का कारण बन जाता है। युवावस्था में ही उर्मिला को प्रिय-विरह का दुःख सहना पड़ा है। कभी-कभी उसका यौवन मचल पड़ता है और उसका कोमल हृदय अधीर हो जाता है। यौवन की उमंगें उसके हृदय को सालती हैं किन्तु वह किसी तरह उन्हें समझा-बुझा कर शान्त कर देती है:—

"मेरे चपल यौवन-बाल।
अचल-अंचल में पड़ा सो, मचल कर मत साल[2] ॥"

कभी-कभी उर्मिला विरह-ताप की तीव्रता के कारण अर्धविस्मृत अवस्था में पहुँच कर प्रलाप करने लगती है। उर्मिला की अर्धविस्मृत अवस्था का मनोवैज्ञानिक चित्रण साकेत के कई पद्यों में पाया जाता है। इस दशा में वह कभी चौंक पड़ती है किन्तु उसे इस प्रकार चौंकने का पूरा ज्ञान नहीं रहता। वह अपनी सखी से पूछती है:—

"क्या क्षण क्षण में चौंक रही मैं ?
सुनती तुझ से आज यही मैं ।
तो सखि, क्या जीवन न जनाऊँ ?
इस क्षणदा को विफल बनाऊँ[3] ?"

---

१. नंगी पीठ बैठकर घोड़े को उड़ाऊँ कहो,
किन्तु डरता हूँ मैं तुम्हारे इस झूले से।
रोक सकता हूँ ऊरुओं के बल से ही उसे,
टूटे भी लगाम यदि मेरी कभी भूले से।
किन्तु 'क्या करूँगा यहाँ ?' उत्तर में मैंने हँस
और भी बढ़ाये पेंग दोनों ओर ऊले से।
'हैं-हैं' कह लिपट गये थे यहीं प्राणेश्वर
बाहर से संकुचित, भीतर से फूले-से ॥
—साकेत, सर्ग ९, पृ० २१३

बनाती रसोई, सभी को खिलाती, इसी काम में आज मैं तृप्ति पाती।
रहा किन्तु मेरे लिए एक रोना, खिलाऊँ किसे मैं अलोना-सलोना ?
—साकेत, सर्ग ९, पृ० १९९

२. साकेत, सर्ग ९, पृ० २३७
३. साकेत, सर्ग ९, पृ० २०५

कभी वह अवधि का स्मरण न करके जागती हुई भी प्रियतम को 'आओ' कह कर निमंत्रित करती है और कभी स्वप्न में उन्हें पाकर शीघ्र ही अवधि का ध्यान करती हुई चौंक कर 'जाओ' कह उठती है:—

"भूल अवधि-सुध प्रिय से कहती जगती हुई कभी—'आओ'।
किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौंक बोल कर—'जाओ'[1]॥"

यहाँ उर्मिला के हृदय में प्रेम और कर्तव्य के बीच संघर्ष की सुन्दर अभिव्यक्तिहुई है।

विरह-वर्णन की प्राचीन परिपाटी के अनुसार विरही व्यक्ति उद्दीपन विभावों को दुखदायी समझ कोसा करते हैं। पर उर्मिला के विरह-वर्णन में गुप्त जी ने जड़-चेतन सारी प्रकृति के साथ विरहिणी उर्मिला की सहानुभूति प्रदर्शित की है। विरहवेदना के कारण उर्मिला का हृदय कोमल हो जाता है और उसमें करुणा जाग्रत हो जाती है। वह विरह में सारी प्रकृति के साथ संवेदना प्रकट करती है:—

"सींचें ही बस मालिनें कलश ले, कोई न ले कर्त्तरी,
शाखी फूल-फलें यथेच्छ बढ़ के, फैलें लताएँ हरी[2]।"

वह मालिनों से यही आशा करती है कि वे कलश लेकर पौधों को सींचें, वे कैंची से उन्हें कतरें नहीं। वृक्षों और लताओं के फूलने-फलने में ही उसे प्रसन्नता होती है। वह अपने समान प्रोषितपतिकाओं को निमंत्रित कर उनसे सहानुभूति प्रकट करती है:—

"प्रोषितपतिकाएँ हों जितनी भी सखि, उन्हें निमंत्रण दे आ,
समदुखिनी मिले तो दुःख बँटे जा, प्रणयपुरस्सर ले आ[3]।"

नाचते हुए शिखी को देख उसका हृदय सन्तोष-लाभ करता है। वह उसके नृत्य में बाधा नहीं डालना चाहती:—

"न जा उधर हे सखी, वह शिखी सुखी हो, नचे,
न संकुचित हो कहीं, मुदित लास्य-लीला रचे।
बनूं न पर-विघ्न मैं, बस मुझे बाधा यही,
विराग-अनुराग में अहह ! इष्ट एकान्त ही[4]।"

इसीप्रकार उर्मिला कोक-कोकी को धीरज बँधाती हुई कहती हैं :—

"कोक-शोक मत कर हे तात,
कोकि, कष्ट में हूँ मैं भी तो सुन तू मेरी बात।
धीरज धर अवसर आने दे, सह ले यह उत्पात,
मेरा सुप्रभात वह तेरी सुख-सुहाग की रात[5]।"

---

१. साकेत, सर्ग ९, पृ० १९५
२. साकेत, सर्ग ९, पृ० १९६
३. साकेत, सर्ग ९, पृ० २००
४. साकेत, सर्ग ९ पृ० २१२
५. साकेत, सर्ग ९, पृ० २१८

प्रिय-विरह में उर्मिला को सुखद वस्तुएँ भी दुखद प्रतीत होती हैं। वह सुरभि को अपने पास आने से रोकती है [१]। सखी का तालवृन्त से हवा करना उसे अच्छा नहीं लगता क्योंकि इससे उसकी विरहग्नि के और भी उद्दीप्त होने की सम्भावना है [२]। इसी प्रकार वह मलयानिल को लौट जाने का आदेश देती है। उसे डर है कि कहीं उसके सम्पर्क में आकर वह लू में परिणत न हो जाय [३]।

विरह-व्यथा अनुभव करती हुई भी उसे दूसरों को सुखी देख प्रसन्नता होती है; ईर्ष्या नहीं।

प्रिय-विरह में जलती हुई उर्मिला स्वप्न में भी प्रियतम की बाट जोहती है :—

"आओ हो, आओ, तुम्हीं प्रिय के स्वप्न विराट।
अर्घ्य लिए आँखें खड़ीं हेर रही हैं बाट[४]॥"

किन्तु रात के बीत जाने पर स्वप्न में भी प्रिय के दर्शन न पाकर उसे विशेष निराशा होती है :—

"हाय, न आया स्वप्न भी, और गई यह रात,
सखि, उडुगण भी उड़ चले, अब क्या गिनूँ प्रभात [५]।"

उर्मिला के विरह-वर्णन में अबला हृदय की विवशता, दीनता और सहनशीलता की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। विरह की ज्वाला में तप कर उर्मिला का प्रेम ऐहिक न रह कर आध्यात्मिक रूप धारण कर लेता है। वह अपने मानस-मन्दिर में प्रिय की प्रतिमा स्थापित करके विरह में जलती हुई स्वयं आरती बन जाती है:—

"मानस-मन्दिर में सती, प्रिय की प्रतिमा थाप।
जलती सी उस विरह में, बनी आरती आप [६]॥"

---

१. अरी, सुरभि जा, लौट जा, अपने अंग सहेज।
तू है फूलों में पली, यह काँटों की सेज॥
—साकेत, सर्ग ६, पृ० २०५

२. ठहर अरी, इस हृदय में लगी विरह की आग।
तालवृन्त से और भी धधक उठेगी आग॥
—साकेत, सर्ग ६, पृ० २१०

३. जा मलयानिल लौट जा, यहाँ अवधि का शाप।
लगे न लू होकर कहीं, तू अपने को आप॥
—साकेत, सर्ग ६, पृ० २२७

४. साकेत, सर्ग ६, पृ० २०६

५. साकेत, सर्ग ६, पृ० २०७

६. साकेत, सर्ग ६, पृ० १६५

इसी विरह-वेदना ने उर्मिला की आँखों में बसने वाले प्रियतम को उसके हृदय में प्रतिष्ठित कर दिया है :—

"पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे ।
छींटे वही उड़े थे, बड़े बड़े अश्रु वे कब थे[१] ?"

प्रिय-विरह में आँसू बहाती हुई उर्मिला का सजीव चित्र इन शब्दों में अंकित हुआ है :—

"अवधि-शिला का उर पर था गुरु भार,
तिल-तिल काट रही थी दृग-जल-धार[२]।"

रीतिकालीन नायिकाओं के विरह-वर्णन की तरह उर्मिला का विरह-वर्णन भी कतिपय स्थलों पर अतिशयोक्तिपूर्ण दृष्टिगोचर होता है। विरह-विधुरा उर्मिला की आहों से आकाश में फफोले पड़ने[३], तालवृन्त की हवा से उसकी विरहाग्नि के भड़कने[४], उसके विरहतप्त शरीर को छूकर मलयानिल के लू में परिणत हो जाने[५] और जल की बूंदों का विरह के ताप से भाप में बदलने[६] की कल्पनाएँ रीतिकालीन विरह-वर्णन के प्रभाव से प्रभावित दिखाई देती हैं। कहीं-कहीं साकेत के विरह-वर्णन में अनुभूति और सरसता का स्थान आलंकारिक चमत्कार ने भी ले लिया है। ऋतु-वर्णन में भी यत्र-तत्र प्राचीन परम्परा की छाप दिखाई देती है। साकेत का विरह-वर्णन सीमा से अधिक विस्तृत भी दिखाई देता है। उसके कुछ स्थल अरुचिकर भी प्रतीत होते हैं। पर इन कतिपय त्रुटियों के होते हुए भी उर्मिला के विरह-वर्णन में मार्मिक, भावपूर्ण और सरस स्थलों की कमी नहीं है। कहीं-कहीं अस्वाभाविकता के होते हुए भी साधारणतया साकेत के विरह-वर्णन में मर्यादा और शिष्टता का पालन हुआ है। विरह-दशा में षट्ऋतु-वर्णन प्राचीन होकर भी नवीनता लिए हुए है। विरह-वर्णन की प्राचीन परम्परागत परिपाटी और आधुनिक मनोवैज्ञानिक शैली का साकेत में सुन्दर समन्वय दिखाई देता है। प्राचीन परिपाटी के अनुसार विविध ऋतुओं से सम्बन्ध रखने वाले दृश्य उद्दीपन विभावों के रूप में विरहिणी को प्रतिकूल दिखाई देते हैं किन्तु साकेत में उर्मिला के हृदय और इन दृश्यों

---

१. साकेत, सर्ग ९, पृ० १९५
२. साकेत, सर्ग ९, पृ० २४८
३. नैश गगन के गात्र में पड़े फफोले हाय,
तो क्या अरी, न आह भी करूँ आज निरुपाय ?
—साकेत, सर्ग ९, पृ० २२०
४. देखिए—'ठहर अरी, इस हृदय में०'—साकेत, सर्ग ९, पृ० २१०
५. देखिए—'जा मलयानिल, लौट जा०'—साकेत, सर्ग ९, पृ० २२७
६. बूंदियों को भी आज इस तनु-स्पर्श का ताप,
उठती हैं वे भाप-सी गिर कर अपने आप।—साकेत, सर्ग ९, पृ० २१२

में समन्वय की भावना वर्तमान है। विरहिणी उर्मिला की मनोदशाओं के अनुकूल ही विविध ऋतुओं का वर्णन हुआ है। उर्मिला और प्रकृति एक-दूसरे से सहानुभूति प्रकट करती हुई दिखाई पड़ती हैं।

विरह-दशा में भी उर्मिला की कर्तव्य-बुद्धि आदि से अन्त तक स्थिर रहती है। उसकी यह कर्तव्य-परायणता उसे रीतिकालीन साधारण विरहिणी नायिकाओं से ऊँपर उठा देती है। कर्तव्य-परायणा उर्मिला के विरह में स्वार्थ, ईर्ष्या और स्पर्धा का अभाव है। उसके विरह का मानसिक पक्ष ऐन्द्रिक पक्ष की अपेक्षा प्रबल है। उसमें अधिक स्वाभाविकता और भावमयता है।

प्रकृति-चित्रण

साकेत में यत्र-तत्र प्राकृतिक दृश्यों के कई वर्णन वर्तमान हैं परन्तु उनमें से अधिकांश वर्णन प्राकृतिक पदार्थों के विवरण-मात्र हैं। प्रकृति के सजीव चित्रों की साकेत में न्यूनता है। प्रथम सर्ग में प्रभात-वर्णन उर्मिला के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए पृष्ठ-भूमि के रूप में हुआ है। उसमें कवि की कोमल कल्पनाओं की सुन्दर योजना पाई जाती है। प्रथम सर्ग में प्रभात-वर्णन का एक उदाहरण लीजिए :—

"सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ,
किन्तु समझो रात का जाना हुआ।
क्योंकि उसके अंग पीले पड़ चले,
रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले।

× × ×

नींद के भी पैर हैं कँपने लगे,
देख लो, लोचन कुमुद झँपने लगे।
वेष-भूषा साज ऊषा आ गई।
मुख-कमल पर मुस्कराहट छा गई[1]॥"

यहां सूर्य के उदय होने पर रात्रि के अंगों का पीला पड़ना, उसके रत्नाभरणों का ढीला होना, नींद के पैरों का काँपना आदि कवि की सुन्दर कल्पनाओं का समावेश है पर उनमें एक सांगोपांग चित्र उपस्थित करने की क्षमता नहीं दिखाई देती।

पंचम सर्ग में वन में विचरण करते हुए राम-लक्ष्मण और सीता प्रकृति के सुन्दर दृश्य देखते हैं। ये दृश्य कहीं-कहीं प्रकृति का यथातथ्य रूप उपस्थित करते हैं। मयूर, वानर, शूकर और शुक आदि वन्य जन्तुओं की स्वाभाविक चेष्टाओं का यथार्थ चित्रण इस सर्ग

१. साकेत, सर्ग १, पृ० १७

में पाया जाता है [1]।

साकेत के विवरणात्मक वर्णनों के बीच कहीं-कहीं प्रकृति के सुन्दर चित्र भी मिलते हैं। छाया का चित्र इन पंक्तियों में बहुत ही हृदय-ग्राही बन पड़ा है :—

"कहीं सहज तरु तले कुसुम शय्या बनी,
ऊँघ रही है पड़ी जहाँ छाया घनी।
घुस धीरे से किरण लोल दलपुंज में,
जगा रही है उसे हिला कर कुंज में।
किन्तु वहां से उठा चाहती वह नहीं,
कुछ करवट-सी पलट, लेटती है वहीं[2]।"

चित्रकूट-वर्णन में पर्याप्त सजीवता है। यहाँ चित्रकूट गिरि का गौरव आगे आने वाली राम-भरत-मिलन-रूपी महत्वपूर्ण घटना के लिए सर्वथा अनुकूल सिद्ध होता है :—

"शिला-कलश से छोड़ उत्स उद्रेक-सा,
करता है नग-नाग प्रकृति अभिषेक-सा।
क्षिप्त ललितकण किरण-योग पाकर सदा,
वार रहे हैं रुचिर रत्नमणि-सम्पदा।
वन-मुद्रा में चित्रकूट का नग जड़ा,
किसे न होगा यहाँ हर्ष-विस्मय बड़ा[3]?"

साकेत में कहीं-कहीं प्रकृति मानव-जीवन की परिस्थितियों से प्रभावित दीख पड़ती है। राम के वन-गमन और दशरथ की मृत्यु के पश्चात् ननिहाल से लौटते हुए भरत सारी प्रकृति को शोकाभिभूत देखते हैं [4]।

---

१. आगे आगे भाग रहा है मोर यह, पक्षों से पथ झाड़ चपल चित-चोर यह।
मचक-मचक वह कीश-मण्डली खेलती, लचक लचक बच डाल भार है झेलती।
—साकेत, सर्ग ५, पृ० १०६

मुस्तक-गन्धा खुदी मृत्तिका है इधर, बने आर्द्र पद-चिन्ह गये शूकर जिधर।
देखो, शुकशिशु निकल निकलकर नीड़ से, घुसता है फिर वहीं भीत-सा भीड़ से।
—साकेत, सर्ग ५, पृ० १११

२. साकेत, सर्ग ५, पृ० ११०

३. साकेत, सर्ग ५, पृ० ११३

४. नागरिक-गण-गोष्ठियों से हीन, आज उपवन हैं विजन में लीन।
वृक्ष मानों व्यर्थ बाट निहार, झँप उठे हैं झींम, झुक, थक हार।
—साकेत, सर्ग ७, प० १२६

इसी प्रकार दशरथ के शव-दाह के अवसर पर सरयू नदी एक विधवा के रूप में अंकित की गई है [1]।

अष्टम सर्ग के आरम्भ में सीता प्रकृति के सम्पर्क में आकर अपनी पर्णकुटी में ही राजभवन का-सा सुख प्राप्त करती हैं। यहाँ प्रकृति अपने 'सौम्य' रूप से सीता के हृदय को सन्तोष और शान्ति पहुँचाती है :—

"किसलय-कर स्वागत-हेतु हिला करते हैं,
मृदु मनोभाव-सम सुमन खिला करते हैं।
डाली में नव फल नित्य मिला करते हैं,
तृण-तृण पर मुक्ता-भार झिला करते हैं।
निधि खोले दिखला रही प्रकृति निज माया,
मेरी कुटिया में राज भवन मन-भाया[2] ॥"

कहीं-कहीं कवि ने मानव-हृदय की भावनाओं और प्राकृतिक दृश्यों में समानता दिखा कर मानव-हृदय और प्रकृति के बीच सुन्दर सामंजस्य उपस्थित किया है। चित्रकूट में राम-भरत के मिलन के पश्चात् जब सारी सभा विसर्जित हो जाती है, उस समय सारी जनता जय-जयकार करती हुई अपने हृदय की प्रसन्नता प्रकट करती है। इस अवसर पर साकेतकार ने प्रकृति का उल्लास-भरा चित्र उपस्थित किया है :—

"मूँदे अनन्त ने नयन धार वह झाँकी,
शशि खिसक गया निश्चिन्त हँसी हँस बाँकी।
द्विज चहक उठे, हो गया नया उजियाला,
हाटक-पट पहने दीख पड़ी गिरिमाला।
सिन्दूर-चढ़ा आदर्श-दिनेश उदित था,
जन जन अपने को आप निहार मुदित था[3] ॥"

साकेत के नवम सर्ग में प्रकृति को विशेष स्थान मिला है। यहाँ विरहिणी उर्मिला के दिन प्रकृति के सम्पर्क में ही व्यतीत होते हैं। कवि ने इस सर्ग में प्रकृति के विविध रूप उपस्थित किए हैं। अधिकांश स्थलों पर कवि ने यहां प्रकृति में उर्मिला के हृदय की भावनाओं को प्रतिविम्बित दिखा कर मानव हृदय और प्रकृति के बीच सामंजस्य दिखाया

---

१. आगया सब संघ सरयू-तीर,
करुण-गद्गद था सहज ही नीर।
आप सरिता वीचि-वेणी खोल,
कर रही थी कल-विलाप विलोल।
—साकेत, सर्ग ७, पृ० १५२

२. साकेत, सर्ग ८, पृ० १५८

३. साकेत, सर्ग ८, पृ० १६२

है। ग्रीष्म ऋतु में जिस प्रकार मृग और मछलियाँ दुखी हैं, उसी प्रकार उर्मिला की आँसू-भरी आँखें भी व्याकुल दिखाई देती हैं [1]। इसी प्रकार वह चातकी और मकड़ी के जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है [2]।

बरसती हुई बादलों की घटा और आँसुओं की झड़ी लगाने वाली विरहिणी उर्मिला में कवि ने इस प्रकार साम्य दिखाया है :—

"बरस घटा, बरसूँ मैं संग,
सरसें अवनी के सब अंग।
मिले मुझे भी कभी उमंग, सबके साथ सयानी,
मेरी ही पृथ्वी का पानी [3]॥"

हेमन्त ऋतु में नाल-शेष पद्मिनी में उर्मिला अपनी कृशता का आभास पाती है :—

"एक अनोखी मैं ही क्या दुबली हो गई सखी, घर में ?
देख पद्मिनी भी तो आज हुई नाल-शेष निज सर में [4]।"

शिशिर को तो उर्मिला अपने जीवन में ही बसा लेती है :—

"शिशिर, न फिर गिरि-वन में।
जितना माँगे, पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन में॥
कितना कम्प तुझे चाहिए, ले मेरे इस तन में।
सखी कह रही, पाण्डुरता का क्या अभाव आनन में [5] ?"

जिस प्रकार कली खिलने की अभिलाषा लिए हुए है, उसी प्रकार उर्मिला का हृदय भी प्रिय-मिलन की आशा से पूर्ण है :—

"कैसी हिलती डुलती अभिलाषा है कली, तुझे खिलने को,
जैसी मिलती-जुलती उच्चाशा है भली मुझे मिलने को [6]।"

---

१. लपट से झट सूख चले, जले, नद नदी घट सूख चले, चले।
विकल वे मृग मीन मरे, मरे, विफल ये दृग-दीन भरे-भरे॥
—साकेत, सर्ग ६, पृ० २०८

२. चातकि, मुझको आज ही हुआ भाव का भान,
हा ! वह तेरा रुदन था, मैं समझी थी गान।
—साकेत, सर्ग ६, पृ० २११

सखि, न हटा मकड़ी को, आई है वह सहानुभूति-वशा,
जालगता मैं भी तो, हम दोनों की यहाँ समान दशा।
—साकेत, सर्ग ६, पृ० २२४

३. साकेत, सर्ग ६, पृ० २११
४. साकेत, सर्ग ६, पृ० २२१
५. साकेत, सर्ग ६, पृ० २२४
६ साकेत, सर्ग ६, पृ० २३१

प्रकृति का मानवीकरण साकेत में कई स्थलों पर हुआ है। कहीं-कहीं प्रकृति में मानवीय व्यापारों की योजना भी सुन्दर ढंग से हुई है :—

"अरुण सन्ध्या को आगे ठेल,
देखने को कुछ नूतन खेल,
सजे विधु की बेंदी से भाल,
यामिनी आ पहुँची तत्काल[1]।"

यहाँ यामिनी का नायिका के रूप में मानवीकरण हुआ है।

एक और उदाहरण देखिए:—

"तारक-चिन्ह-दुकूलिनी पी-पी कर मधु मात्र,
उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाकर-पात्र[2]।"

यहां श्यामा (रात्रि) का वर्णन एक नवयुवती के रूप में हुआ है।

इस प्रकार साकेत में प्राकृतिक दृश्यों में कई सुन्दर वर्णन वर्तमान हैं अनेक स्थलों पर प्रकृति संवेदनशील बन कर मानव-हृदय के सुख-दुख में हाथ बँटाती हुई दिखाई देती है।

साकेत का भाव-पक्ष

भारतीय आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा माना है। काव्य में रस-परिपाक तथा विविध भावों की व्यंजना का सम्बन्ध काव्य के भाव-पक्ष से है। एक उच्चकोटि के महाकाव्य में भावों तथा रसों की समुचित व्यंजना अपेक्षित है। साकेत में प्रधान रस विप्रलम्भ श्रृंगार है। साकेत के नवम और दशम सर्ग में उर्मिला की विरह-दशा के वर्णन में विप्रलम्भ श्रृंगार की अभिव्यक्ति बहुत सुन्दर ढंग से हुई है। साकेत के प्रथम सर्ग में उर्मिला और लक्ष्मण के परिहास-पूर्ण वाग्विनोद में संयोग श्रृंगार की व्यंजना भी अच्छी हुई है। संयोग श्रृंगार का एक उदाहरण देखिए:—

"हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये,
और बोले—"एक परिरम्भण प्रिये।"
सिमिट-सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया।
किन्तु घाते में उसे प्रिय ने किया,
आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया[3]।"

इन पंक्तियों में लक्ष्मण और उर्मिला के प्रेम का सुन्दर चित्र अंकित है। यहाँ लक्ष्मण के प्रेम का आलम्बन विभाव उर्मिला तथा उर्मिला के प्रेम का आलम्बन लक्ष्मण है।

---

१. साकेत, सर्ग २, पृ० ४५

२. साकेत, सर्ग ६, पृ० २२०

३. साकेत, सर्ग १, पृ ३०

राम के अभिषेक की तैयारी में राजमहल का हर्षोल्लास-पूर्ण वातावरण उद्दीपन विभाव है। उर्मिला का कटाक्ष-पात और लक्ष्मण का आलिंगन अनुभाव हैं। उत्सुकता, हर्ष, लज्जा आदि संचारीभाव हैं, और उर्मिला एवं लक्ष्मण की रति स्थायीभाव है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारीभावों से परिपुष्ट होकर रति स्थायीभाव यहाँ संयोग-शृंगार रस में परिणत हो जाता है।

विरह-वर्णन पर हम पहले विस्तार के साथ विचार कर चुके हैं। यहां हम रस-परिपाक और भाव-व्यंजना को ध्यान में रखते हुए विप्रलम्भ-शृंगार के कुछ उदाहरण उपस्थित करते हैं। विरह-विधुरा उर्मिला अपनी सखी से कहती है :—

"रस पिया सखि, नित्य जहाँ नया,
अब अलभ्य वहाँ विष हो गया।
मरण-जीवन की यह संगिनी,
बन सकी वन की न विहंगिनी।
सखि, यहाँ सब ओर निहार तू,
फिर विचार अतीत विहार तू।
उदित-से सब हास-विलास हैं,
रुदित-से सब किन्तु उदास हैं[1]।"

यहां उर्मिला की हृदयगत रति स्थायीभाव है। लक्ष्मण आलम्बन तथा हासविलास के साधन उद्दीपन विभाव हैं। उर्मिला का आँसू बहाना, प्रलाप करना आदि अनुभाव हैं। 'बन सकी वन की न विहंगिनी' इन शब्दों से प्रतीयमान विषाद, 'रस पिया सखि, नित्य जहाँ नया, अब अलभ्य वहाँ विष हो गया', इन शब्दों द्वारा व्यंजित स्मृति और ग्लानि आदि संचारीभाव हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारीभावों के संयोग से उद्‌बुद्ध होकर रति यहाँ विप्रलम्भ शृंगार में परिणत हो जाती है।

साकेत में विप्रलम्भ-शृंगार का निर्वाह बहुत मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। कहीं-कहीं स्मृति[2], औत्सुक्य[3], धृति[4] आदि संचारीभावों की व्यंजना भी बहुत स्वाभाविक

---

१. साकेत, सर्ग ६, पृष्ठ २४०

२. स्मृति-भाव की व्यंजना के लिए देखिए—

मैंने ये रसाल लिए, देवर खड़े थे वहीं,
हँसकर बोल उठे—निज-निज स्वाद हैं।
—साकेत, सर्ग ६, पृष्ठ २१५

३. औत्सुक्य की व्यंजना का एक उदाहरण देखिए—

अब जो प्रियतम को पाऊँ,
तो इच्छा है, उन चरणों की रज मैं आप रमाऊँ।
—साकेत, सर्ग ६, पृष्ठ २३५

४. धृति भाव की अभिव्यक्ति के लिए देखिए—

'कोक शोक मत कर हे तात०'
—साकेत, सर्ग ६, पृष्ठ २१८

बहुत कम है। सामूहिक रूप से साकेत की भाषा व्याकरण-सम्मत, स्वाभाविक और भाव-पूर्ण है।

साकेत की भाषा भावों के अनुकूल है। उसमें भावों को व्यक्त करने की पूरी क्षमता है। भावों के अनुकूल शब्दों के चुनाव में साकेतकार बड़े निपुण हैं। राम-वन-गमन, दशरथ-मरण, राम-भरत-मिलन, उर्मिला-विरह आदि कोमल प्रसंगों के वर्णन में गुप्त जी की भाषा सरलता और सहज माधुर्य को लिए हुए है पर युद्ध-घटनाओं के वर्णन में वह ओजस्विनी बन गई है। शब्दों के उपयुक्त चुनाव द्वारा कवि ने कई स्थलों पर सुन्दर भाव-चित्र प्रस्तुत किए हैं। जैसे :—

"उठी तत्क्षण कैकेयी काँप,
अधर दंशन करके कर चाँप,
भूमि पर पटक-पटक कर पैर,
लगी प्रकटित करने निज वैर।
अन्त में सारे अंग समेट,
गई वह वहीं भूमि पर लेट।
छोड़ती थी जब-तब हुंकार,
चुटीली फणिनी-सी फुंकार[1]।"

कैकेयी के कोप का कितना सजीव चित्र इन शब्दों में अंकित हुआ है !

हृदय की भावनाओं को व्यक्त करने के लिए गुप्त जी ने उपयुक्त शब्दों और वाक्यों के प्रयोग द्वारा अपने पात्रों की परिस्थिति के अनुरूप मुद्राओं और चेष्टाओं का भी सुन्दर चित्रण किया है :—

"चूमता था भूमितल को अर्द्ध-विधु-सा भाल,
बिछ रहे थे प्रेम के दृगजाल बन कर बाल।
छत्र-सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ,
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ[2]।"

"निरखती केकयी थी भौंह तानें,
चढ़ा कर कोप की दो दो कमानें,
पकड़ कर राम की ठोड़ी, ठहर के,
तथा उनका वदन उस ओर करके
कहा गतधैर्य होकर भूपवर ने—
"चली है, देख, तू क्या आज करने[3]?"

---

१. साकेत, सर्ग २, पृ० ४१
२. साकेत, सर्ग १, पृ० ३१
३. साकेत, सर्ग ३, पृ० ५६

"तनिक ठिठक, कुछ मुड़ कर दायें, देख अजिर में उनकी ओर,
शीश झुकाकर चली गई वह मन्दिर में निज हृदय हिलोर [1]।"

इन पद्यों में क्रमशः उर्मिला-लक्ष्मण, कैकेयी-दशरथ और माण्डवी की मुद्राओं का चित्रण बड़े कौशल से हुआ है।

गुप्त जी की भाषा कई स्थलों पर भाव-गांभीर्य को लिए हुए है। साकेत में व्यर्थ के शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। कहीं-कहीं तो गुप्त जी ने समास-पद्धति को अपना कर थोड़े ही शब्दों में अधिक से अधिक भाव भर दिए हैं किन्तु भावों में दुरूहता कहीं भी नहीं आने पाई है। प्रसादगुण का निर्वाह साकेत की भाषा में सर्वत्र हुआ है। प्रसादगुण-मयी भाषा का एक उदाहरण देखिए:—

"भ्रमरी, इस मोहन मानस के
सुन, मादक हैं रस भाव सभी,
मधु पीकर और मदान्ध न हो,
उड़ जा, बस है अब क्षेम तभी।
पड़ जाय न पंकज-बन्धन में,
निशि यद्यपि है कुछ दूर अभी,
दिन देख नहीं सकते सविशेष
किसी जन का सुख-भाग कभी [2]॥"

इस प्रकार साकेत में खड़ीबोली का अत्यन्त परिष्कृत और प्रौढ़ रूप देखने को मिलता है।

(२) छन्द

महाकाव्य की प्राचीन परिपाटी के अनुसार साकेत के प्रायः प्रत्येक सर्ग में प्रधान-रूप से एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है और प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन के नियम का पालन भी किया गया है। नवम सर्ग में विविध छन्दों का प्रयोग भी महाकाव्य के छन्द-सम्बन्धी नियम के अनुकूल ही हुआ है।

प्रथम सर्ग में पीयूषवर्ष, द्वितीय में शृंगार, तृतीय में सुमेरु, चतुर्थ में हाकलि, पंचम में त्रैलोक और छठे में पादाकुलक छन्द का प्रयोग उन सर्गों के विविध प्रसंगों के अनुकूल ही दिखाई देता है। सातवें सर्ग में कवि ने एक निजी नवीन छन्द की रचना की है। आठवें सर्ग में राधिका छन्द का प्रयोग हुआ है। नवम सर्ग में दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया जैसे हिन्दी के छन्द तथा आर्या, मालिनी, द्रुतविलम्बित आदि संस्कृत के वृत्त पाए जाते हैं। इस सर्ग में विविध छन्दों का प्रयोग विरह-विह्वला उर्मिला की विविध मनोदशाओं का चित्रण करने के लिए उपयुक्त ही सिद्ध होता है। विरह की मार्मिक वेदना की व्यंजना के

१. साकेत, सर्ग ११, पृ० २६६
२. साकेत, सर्ग ६, पृ० २१७

लिए इस सर्ग में कुछ गीतों को भी स्थान दिया गया है। दशम सर्ग में वियोगिनी छन्द का प्रयोग उर्मिला के विरह-दग्ध हृदय के उद्गारों को व्यक्त करने के लिए समुचित ही प्रतीत होता है। एकादश सर्ग में युद्ध-वर्णन के अनुकूल वीर छन्द की योजना हुई है। द्वादश सर्ग में रोला को स्थान दिया गया है।

छन्दों के प्रयोग पर भी साकेतकार का पूरा अधिकार लक्षित होता है। तुक का चमत्कार केवल हिन्दी के छन्दों में ही नहीं, संस्कृत के वृत्तों में भी वर्तमान है। प्रसंग का ध्यान रख कर तदनुकूल छन्दों के चुनाव में गुप्त जी का अद्भुत कौशल दिखाई देता है।

(३) अलंकार

काव्य में अलंकारों का प्रयोग कलापक्ष के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करता हुआ काव्य की आत्मा—रस या भाव—का उत्कर्ष बढ़ाने में सहायक होता है। काव्य के कलापक्ष में अलंकारों का विशेष महत्व रहता है। साकेतकार ने अपनी रचना के कलापक्ष को अलंकारों की समुचित योजना से समृद्ध किया है। साकेत में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों प्रकार के अलंकारों का प्रयोग यथा-स्थान किया गया है किन्तु उनमें सर्वत्र स्वाभाविकता वर्तमान है। जानबूझ कर अलंकारों का प्रदर्शन कवि ने कहीं नहीं किया है। साकेत के अधिकांश अलंकार मौलिक कल्पनाओं को लिए हुए भावव्यंजना में सहायक सिद्ध होते हैं। साकेत के शब्दालंकारों में भाषा-सम्बन्धी रमणीयता के साथ-साथ भावमयता भी दिखाई देती है। जैसे:——

"सखि निरख नदी की धारा,
ढलमल ढलमल चंचल अंचल, झलमल झलमल तारा।
निर्मल जल अन्तस्तल भर के, उछल उछल कर छल छल करके,
थल थल तरके, कलकल धरके, बिखराता है पारा।
सखि, निरख नदी की धारा [१]।"

यहां अनुप्रास की सुन्दर योजना में नदी की कल-कल ध्वनि भी मुखरित हो उठी है।

केवल शाब्दिक चमत्कार दिखाने के लिए अनुप्रास की योजना साकेत में बहुत कम स्थलों पर हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि शब्दालंकार अनायास ही स्थान-स्थान पर आगए हैं। उनमें कृत्रिमता का अभाव है। अनुप्रास की ऐसी स्वाभाविक योजना अनेक पद्यों में पाई जाती हैं। जैसे :—

"कनक लतिका भी कमल-सी कोमला [२]।"
"तनु तड़प तड़प कर तप्त तात ने त्यागा [३]।"

---

१. साकेत, सर्ग ६, पृ० २१६
२. साकेत, सर्ग १, पृ० १६
३. साकेत, सर्ग ८, पृ० १७७

अर्थालंकारों के भी अनेक सुन्दर उदाहरण साकेत में वर्तमान हैं। उपमा, व्यतिरेक, रूपक, अह्पनुति, भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, विरोधाभास, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों की सुन्दर योजना साकेत में हुई है। निम्नोद्धृत पंक्तियों में उपमा का प्रयोग सुन्दर ढंग से हुआ है :—

"गूंजते थे रानी के कान, तीर सी लगती थी वह तान[1]।"
"मत्त करिणी-सी दल कर फूल, घूमने लगी आपको भूल[2]।"
"राजमार्ग वितान-सा था व्योम, छत्र-सा ऊपर उदित था सोम[3]।"

इसी प्रकार निम्नोद्धृत पद्यों में क्रमशः रूपक, व्यतिरेक, भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति दृष्टान्त और विरोधाभास की योजना भावोद्रेक में सहायक सिद्ध होती है :—

रूपक—
"सखि, नील नभस्सर में उतरा
यह हंस अहा! तरता तरता,
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं,
निकला जिनको चरता चरता।
अपने हिम-बिन्दु बचे तब भी,
चलता उनको धरता धरता,
गड़ जायँ न कण्टक भूतल के,
कर डाल रहा डरता डरता[4]।"

व्यतिरेक—
"स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ,
किन्तु सुरसरिता कहाँ, सरयू कहाँ?
वह मरों को मात्र पार उतारती,
यह यहीं से जीवितों को तारती[5]।"

भ्रान्तिमान्—
"नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से,
देख कर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है[6]।"

अतिशयोक्ति—
"देखलो साकेत नगरी है यही,
स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही।
केतु पट अंचल-सदृश हैं उड़ रहे,
कनक-कलशों पर अमर दृग जुड़ रहे[7]।"

---

१. साकेत, सर्ग २, पृ० ३६
२. साकेत, सर्ग २, पृ० ४०
३. साकेत, सर्ग ७, पृ० १३१
४. साकेत, सर्ग ९, पृ० २०७
५. साकेत, सर्ग १, पृ० १४-१५
६. साकेत, सर्ग १, पृ० २१
७. साकेत, सर्ग १, पृ० १३

दृष्टान्त— "राम भाव अभिषेक-समय जैसा रहा,
वन जाते भी सहज सौम्य वैसा रहा।
वर्षा हो या ग्रीष्म, सिन्धु रहता वहीं,
मर्यादा की सदा साक्षिणी है मही [1]।"

विरोधाभास—"प्रियतम के गौरव ने लघुता दी है मुझे रहें दिन भारी।
सखि, इस कटुता में भी मधुरस्मृति की मिठास, मैं बलिहारी [2]।

अन्योक्ति का प्रयोग साकेत में अनेक स्थलों पर हुआ है। निम्नलिखित पद्य ं अन्योक्ति की योजना बहुत मार्मिक बन पड़ी है:—

"मान छोड़ दे, मान अरी,
कली, अली आया, हँस कर ले, यह बेला फिर कहाँ धरी ?
सिर न हिला झोंकों में पड़ कर रख सहृदयता सदा हरी,
छिपा न उसको भी प्रियतम से यदि है भीतर धूलि भरी [3]।"

यहाँ अप्रस्तुत कली द्वारा प्रिय के आगमन पर मान करनेवाली प्रस्तुत नायिक की प्रतीति होती है।

इस प्रकार साकेत में विविध अलंकारों के समुचित प्रयोग से साकेतकार ने अपन काव्य में विलक्षण सौन्दर्य का सृजन किया है। साकेत के अलंकारों में स्वाभाविकता है और भावों को तीव्र करने की पर्याप्त क्षमता है।

साकेत में नवयुग की भावनाएँ

साकेत में भारतीय संस्कृति के प्राचीन आदर्शों और वर्तमान युग की नवीन विचारधाराओं के बीच सुन्दर सामंजस्य दिखाई देता है। साकेतकार भारत के अतीत गौरव और प्राचीन संस्कृति के परम उपासक हैं और साकेत की कथावस्तु का सम्बन्ध भी भारत की प्राचीन संस्कृति से है। इसलिए साकेत में प्राचीन आदर्शों का प्राचीन युग के अनुरूप चित्रण स्वाभाविक ही है। पर अतीत के संदेशवाहक होते हुए भी गुप्त जी अपने युग की भावनाओं तथा विचारधाराओं के प्रति जागरूक दिखाई देते हैं। साकेत में वे अपने युग तथा उसके प्रति अपने दायित्व को भूल नहीं सके हैं। उसमें जीवन की युगानुरूप व्याख्या हुई है। साकेत प्राचीन युग की देन अवश्य है, पर साथ ही उसमें आधुनिक युग की नूतन भावनाएँ भी स्थान-स्थान पर मुखरित हो उठी हैं।

साकेत में प्राचीन कथानक से सम्बन्ध रखने वाली अलौकिक और अतिमानवीय घटनाओं को साकेतकार ने वर्तमान युग की परिवर्तित रुचि के अनुसार लौकिक तथा स्वाभाविक बनाने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। रामचरित-मानस में दशरथ से राम के

१. साकेत, सर्ग ५, पृ० ८८
२. साकेत, सर्ग ६, पृ० २१०
३. साकेत, सर्ग ६, पृ० २३१

वनवास और भरत के राज्याभिषेक के लिए वर-याचना में कैकेयी की बुद्धि सरस्वती से प्रभावित दिखाई गई है[1]। आधुनिक युग कैकेयी के मति-परिवर्तन में किसी दिव्य शक्ति का हाथ स्वीकार करने को तैयार नहीं। इसलिए गुप्त जी ने 'भरत-से सुत पर भी सन्देह!' इन शब्दों की योजना करके इस प्रसंग में अलौकिकता के स्थान पर मनोवैज्ञानिकता की सृष्टि की है। इसी प्रकार मेघनाद की शक्ति से मूर्च्छित लक्ष्मण को जीवित करने के लिए मानस में हनुमान संजीवनी बूटी के लिए हिमालय में पहुँचते हैं किन्तु साकेत में हनुमान को यह बूटी भरत से ही मिल जाती है। यह बूटी भरत को किसी साधु से मिली थी। इस प्रसंग में भी अलौकिक घटना को लौकिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है। आज के युग की परिवर्तित रुचि के अनुसार अलौकिक घटनाओं को लौकिक बनाने का प्रयत्न करते हुए भी गुप्त जी परम्परागत रामकथा को सर्वथा आधुनिक रूप नहीं दे सके। देवलोक-निवासी देवताओं का आविर्भाव बीसवीं शताब्दी के साकेत के नभोमण्डल में कई बार हुआ है। राम, लक्ष्मण और सीता को विदा करके सुमंत्र के अयोध्या लौटने पर लोगों के यह पूछने पर—'क्या फिरे हमारे आर्य नहीं ?' आकाश से देवगण भी बोल उठते हैं—'था सुरकार्य वही[2]।' दशरथ की मृत्यु पर साकेतनिवासियों के साथ-साथ देवांगनाएँ भी रोती हैं[3] और चित्रकूट की सभा के निर्णय की प्रतीक्षा देवगण टक-टकी लगाए नेत्रों से करते हैं[4]। इस प्रकार साकेत में कलाकार गुप्त जी का प्राचीन संस्कारों से परिपूर्ण आदर्शवादी हृदय वर्तमान युग की विचारधाराओं का स्वागत हुआ दीख पड़ता है।

आज का वैज्ञानिक युग राम को ईश्वर के अवतार के रूप में नहीं, एक महापुरुष के रूप में ही अपना सकता है। साकेतकार राम के ईश्वरत्व को सर्वथा मिटा तो नहीं सके हैं परन्तु युग की रुचि के अनुसार उन्होंने राम के चरित्र में मनुष्यत्व को प्रधानता अवश्य दी है। राम को उन्होंने मुख्यतया एक आदर्श महापुरुष के रूप में ही उपस्थित

---

१. नाम मन्थरा मंदमति, चेरी कैकइ केरि।
अजस पिटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि॥
—मानस, अयोध्या०, दो० १२

२. क्या फिरे हमारे आर्य नहीं ?
सुर बोले—"था सुरकार्य वहीं।"
—साकेत, सर्ग ६, पृ० १२१

३. ऊपर सुरांगनाएं रोईं,
भू पर पुरांगनाएँ रोईं।
—साकेत, सर्ग ६, पृ० १२३

४. टकटकी लगाये नयन सुरों के थे वे,
परिणामोत्सुक उन भयातुरों के थे वे।
—साकेत, सर्ग ८, पृ० १७७

किया है। राम के चरित्र में नवयुग की भावनाओं और प्राचीन आदर्शों का सामंजस्य इन शब्दों में व्यक्त किया गया है :—

"राम तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या [1] ?"

आधुनिक युग नारीजाति के उत्थान का युग है। साकेत के स्त्रीपात्रों के चरित्र में स्थान-स्थान पर आधुनिक नारी का अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हृदय बोलता हुआ दीख पड़ता है। कैकेयी के पाँवों में पड़ कर राम की भिक्षा माँगने के लिए उत्सुक कौशल्या के प्रति सुमित्रा की इन उक्तियों में आधुनिक नारीजाति का स्वर गूंज उठता है :—

"स्वत्वों की भिक्षा कैसी ? दूर रहे इच्छा ऐसी।
× × ×
प्राप्य याचना-वर्जित है, आप भुजों से अर्जित है।
हम पर-भाग नहीं लेंगी, अपना त्याग नहीं देंगी।
वीर न अपना देते हैं, न वे और का लेते हैं।
वीरों की जननी हम हैं, भिक्षा मृत्यु हमें सम हैं [2]।"

मेघनाद की शक्ति से लक्ष्मण के मूर्च्छित होने का समाचार पाकर साकेत-निवासी लंका पर चढ़ाई के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी अवसर पर उर्मिला, कैकेयी, सुमित्रा और माण्डवी की दर्पभरी उक्तियाँ वर्तमान नारी-समाज की जाग्रति और गरिमा की ओर संकेत करती हैं। यहाँ कैकेयी भी एक वीर नारी के रूप में युद्ध के लिए तैयार हो जाती है :—

"मैं निजपति के संग गई थी असुर-समर में,
जाऊँगी अब पुत्रसंग भी अरि-संगर में [3]।"

उर्मिला का वीर रूप इन पंक्तियों में प्रकट हुआ है :—

"माथे का सिन्दूर सजग अंगार-सदृश था,
प्रथमातप-सा पुण्य गात्र, यद्यपि वह कृश था।
बायाँ कर शत्रुघ्न-पृष्ठ पर कण्ठ-निकट था,
दायें कर में स्थूलकिरण-सा शूल विकट था [4]।"

साकेत में युग-युग से उपेक्षिता उर्मिला और कलंकिता कैकेयी के चरित्र को गौरवान्वित करके कवि ने वर्तमान युग की नारी-भावनाओं के अनुकूल नारी-जाति के उत्थान में सहयोग दिया है।

---

१. साकेत, मुख-पृष्ठ
२. साकेत, सर्ग ४, पृ० ७५-७६
३. साकेत, सर्ग १२, पृ० ३०१
४. साकेत, सर्ग १२, पृ० ३१३

आज का युग दीन-दुखियों और पीड़ितों का युग है। प्रजातन्त्र शासन वर्तमान युग की पुकार है। प्रजातन्त्र-सम्बन्धी राजनैतिक विचारधाराओं की अभिव्यक्ति भी साकेत में यत्र-तत्र हुई है। वस्तुतः साकेतकार ने भारतीय संस्कृति के अनुरूप प्राचीन राजतन्त्र और आधुनिक प्रजातन्त्र में समन्वय-सा उपस्थित किया है। उन्होंने प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार राजतन्त्र की रक्षा करते हुए राजा का अस्तित्व स्वीकार किया है किन्तु राजा में त्याग और लोकसेवा की भावना की प्रधानता दिखा कर उसे आधुनिक युग की भावनाओं के अनुकूल लोकप्रिय बना दिया है। लक्ष्मण के इन शब्दों में राजतन्त्र और प्रजातन्त्र-सम्बन्धी विचारों का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है :—

"भला वे कौन हैं जो राज्य लेवें ?
पिता भी कौन हैं जो राज्य देवें ?
प्रजा के अर्थ है साम्राज्य सारा,
मुकुट है ज्येष्ठ ही पाता हमारा [1]।"

'मुकुट है ज्येष्ठ ही पाता हमारा'—इन शब्दों में प्राचीन राजतन्त्र-पद्धति का समर्थन है पर 'प्रजा के अर्थ है साम्राज्य सारा'—इस वाक्य में आधुनिक प्रजातन्त्र की पुकार भी सुनाई देती है। राम के वनगमन के समय जनता के इन शब्दों पर वर्तमान राजनीतिक विचारधाराओं का ही प्रभाव लक्षित होता है :—

"राजा हमने राम, तुम्हीं को है चुना,
करो न तुम यों हाय ! लोकमत अनसुना [2]।"

शत्रुघ्न के इन शब्दों में भी वर्तमान युग का ही स्वर गूंज रहा है :—

"राज्य को यदि हम बना लें भोग,
तो बनेगा वह प्रजा का रोग।
फिर कहूँ मैं क्यों न उठ कर ओह !
आज मेरा धर्म राजद्रोह [3]।"

"विगत हों नरपति, रहें नरमात्र।
और जो इस कार्य के हों पात्र,
वे रहें उस पर समान नियुक्त
सब जियें ज्यों एक ही कुल भुक्त [4]।"

साकेत पर गांधीवाद का भी गहरा प्रभाव दिखाई देता है। वर्तमान युग की विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हुए गुप्तजी ने साकेत में गांधीवाद के सैद्धान्तिक और

१. साकेत, सर्ग ३, पृ० ५६
२. साकेत, सर्ग ५, पृ० ८६
३. साकेत, सर्ग ७, पृ० १४०
४. साकेत, सर्ग ७, पृ० १४१

व्यावहारिक विचारों को अपनाया है। महात्मा गाँधी के स्वप्नों के रामराज्य से साकेत-कार भी सहमत हैं। भरत के इन शब्दों में साकेतकार महात्मा गाँधी की तरह विश्व के विद्रोह को शान्त करने की क्षमता रखने वाले रामराज्य की प्रशंसा करते हैं :—

"अनुज, उस राजत्व का हो अन्त,
हन्त ! जिस पर कैकेयी के दन्त।
किन्तु राजे राम-राज्य नितान्त—
विश्व के विद्रोह करके शान्त [1]।"

गाँधी जी की तरह गुप्त जी ने सन्तोषमय, सरल, ग्राम्य-जीवन का स्वागत किया है। सीता के इन शब्दों में गाँधी जी के अभीष्ट ग्रामीण जीवन की अभिव्यक्ति हुई है:—

"औरों के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ,
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ।
श्रमवारि-बिन्दुफल स्वास्थ्य-शुक्ति फलती हूँ,
अपने अंचल से व्यजन आप झलती हूँ।
तनु-लता-सफलता-स्वाद आज ही आया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया [2]।"

गाँधी जी के आदर्शों के अनुरूप ही सीता भोली-भाली कोल-भिल्ल-बालाओं का स्वागत करती हैं। यहाँ सीता के कातने-बुनने में भी गाँधी जी के चरखे का स्वर सुनाई देता है:—

"ओ भोली कोल-किरात-भिल्ल-बालाओ,
मैं आप तुम्हारे यहाँ आ गई, आओ।
मुझ को कुछ करने योग्य काम बतलाओ,
दो अहो ! नव्यता और भव्यता पाओ।
× × ×
तुम अर्द्ध-नग्न क्यों रहो अशेष समय में,
आओ, हम कातें-बुनें गान की लय में [3]।"

राम के वन-गमन के समय रथ के आगे लेटने वाली जनता महात्मा गांधी के सत्याग्रह आन्दोलन की याद दिलाती है:—

"जाओ, यदि जा सको रौंद हम को यहाँ,
यों कह पथ में लेट गये बहुजन वहाँ [4]।"

१. साकेत, सर्ग ७, पृ० १४१
२. साकेत, सर्ग ८, पृ० १५८
३. साकेत, सर्ग ८, पृ० १६१
४. साकेत, सर्ग ५, पृ० ८९

गांधी जी की तरह गुप्त जी को भारतीय ग्राम्य-जीवन बहुत प्रिय है। गुप्त जी ने उर्मिला के इन शब्दों में आदर्श ग्राम्य-जीवन का चित्र उपस्थित किया है:—

"हम राज्य लिए मरते हैं,
सच्चा राज्य परन्तु हमारे कर्षक ही करते हैं।
जिनके खेतों में है अन्न,
कौन अधिक उनसे सम्पन्न ?
पत्नी-सहित विचरते हैं वे, भववैभव भरते हैं।
हम राज्य लिए मरते हैं[1]।"

साकेत में वर्तमान युग के राष्ट्रीय विचारों और देशभक्ति को भी समुचित स्थान मिला है। आधुनिक राष्ट्रीय विचारों के अनुसार साकेतकार भी राष्ट्र की उन्नति के लिए एक सुसंगठित राज्य की सत्ता आवश्यक समझते हैं। भिन्न-भिन्न कई राज्यों की स्थापना से राष्ट्र की शक्ति क्षीण हो जाती है :—

"एक राज्य न हो बहुत से हों जहाँ,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ[2]।"

मातृभूमि के प्रति गुप्त जी का अगाध प्रेम भी साकेत में यत्र-तत्र व्यक्त हुआ है। अयोध्या से वन के लिए विदा होते समय राम जन्मभूमि के प्रति अपना प्रेम इस प्रकार व्यक्त करते है :—

"जन्म-भूमि, ले प्रणति और प्रस्थान दे,
हमको गौरव, गर्व तथा निज मान दे,
× × ×
तेरा स्वच्छ समीर हमारे श्वास में,
मानस में जल और अनल उच्छ्वास में,
अनासक्ति में सतत नभस्थिति हो रही,
अविचलता में बसी आप तू है मही[3]।"

मातृभूमि के गौरव का वर्णन उर्मिला भी इन शब्दों में करती है :—

"किस धन से हैं रिक्त कहो, मुनिकेत हमारे ?
उपवन फल-सम्पन्न अन्नमय खेत हमारे।
जय पयस्य-परिपूर्ण सुघोषित घोष हमारे,
अगणित आकर सदा स्वर्ण-मणि-कोष हमारे।
देवदुर्लभा भूमि हमारी प्रमुख पुनीता,
उसी भूमि की सुता पुण्य की प्रतिमा सीता[4]।"

---

१. साकेत, सर्ग ९, पृ० २२२
२. साकेत, सर्ग १, पृ० १७
३. साकेत, सर्ग ५, पृ० ९३
४. साकेत, सर्ग १२, पृ० ३१४

आज का युग विज्ञान का युग है। आधुनिक युग की वैज्ञानिक विचारधाराओं का भी साकेत पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार पृथ्वी स्थिर है और सूर्य उसके चारों ओर घूमता है। पर उसके विरुद्ध आज के वैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी ही सूर्य का चक्कर काटती है और एक वर्ष में यह चक्कर पूरा होता है। साकेत की उर्मिला की यह उक्ति इसी वैज्ञानिक तथ्य को लिए हुए है :—

"चौदह चक्कर खायगी जब यह भूमि अभंग,
घूमेंगे इस ओर तब प्रियतम प्रभु के संग [1]।"

त्रेतायुग की उर्मिला अपने प्रियतम के विरह में भी इस वैज्ञानिक तथ्य को न भूल सकी। पर साथ ही इन शब्दों में सूर्य की अस्थिरता की ओर भी गुप्त जी संकेत करते हैं :—

"सूर्य के रथ में अरुण हय जुत गये [2]।"

इस प्रकार साकेत में वर्तमान युग की नवीन भावनाओं, राजनीतिक विचार-धाराओं और वैज्ञानिक तथ्यों का समावेश कई स्थलों पर पाया जाता है।

साकेत तथा अन्य रचनाएँ

साकेत और वाल्मीकि-रामायण

साकेत के रचयिता गुप्त जी ने साकेत में वाल्मीकि-रामायण के कथानक को नवीन रूप दिया है। उपेक्षिता उर्मिला के चरित्र को प्रकाश में लाने के लिए उन्होंने वाल्मीकि-रामायण की परम्परागत कथा में पर्याप्त हेर-फार किया है। साकेत की कथावस्तु का विवेचन करते हुए हम यह बता चुके हैं कि साकेतकार ने रामायण की प्राचीन कथा की केवल उन्हीं घटनाओं को प्रमुख रूप में अपनाया है जो उर्मिला के चरित्र से सम्बन्ध रखती हैं। साकेत की उर्मिला और माण्डवी का वाल्मीकि-रामायण में अभाव है ही, साकेत के कैकेयी, भरत, लक्ष्मण और दशरथ जैसे पात्र भी रामायण में भिन्न रूप में दिखाए गए हैं। साकेत के राम वाल्मीकि के राम के अधिक निकट हैं पर वाल्मीकि के राम की अपेक्षा गुप्त जी के राम में अधिक सजीवता है।

साकेत में गुप्त जी ने रामायण की कथा का आश्रय-मात्र लिया है। साकेत और रामायण की परस्पर तुलना करने से यह सिद्ध होता है कि गुप्त जी ने कहीं भी रामायण की शब्दावली या भावों का अपहरण नहीं किया है। साकेत के कतिपय स्थलों में रामायण के दृश्यों तथा भावों की छाया अवश्य दीख पड़ती है पर अनुकरण की प्रवृत्ति का साकेत में अभाव ही है। यहां हम कतिपय समान प्रसंगों की तुलना करते हुए साकेतकार की प्रौढ़ कल्पना और मौलिक सृजन-शक्ति पर प्रकाश डालना उचित समझते हैं।

---

१. साकेत, सर्ग ६, पृ० २२३
२. साकेत, सर्ग १, पृ० १८

कैकेयी-मन्थरा-सम्वाद साकेत तथा रामायण दोनों में पाया जाता है। इस प्रसंग में पहले कैकेयी राम और भरत में कोई भेद नहीं देखती। राम के प्रति उसका प्रेम रामायण और साकेत के इन शब्दों में प्रकट होता है :--

रामायण— "रामे भरते वा ऽहं विशेषं नोपलक्षये।
तस्मात्तुष्टाऽस्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति [1]।"

साकेत— "कहा उसने—यह क्या उत्पात ?
वचन क्यों कहती है तू वाम ?
नहीं क्या मेरा बेटा राम [2] ?"

रामायण की कैकेयी राम और भरत में कोई अन्तर नहीं देखती पर साकेत की कैकेयी के 'नहीं क्या मेरा बेटा राम ?' इस वाक्य में राम के प्रति उसका अधिक वात्सल्य झलकता है।

वाल्मीकि-रामायण में कैकेयी-मन्थरा-सम्वाद विस्तृत है, किन्तु साकेत में संक्षिप्त। रामायण की मन्थरा अधिक वाचाल और चतुर है पर साकेत में वह कुछ संयत और गम्भीर रूप लिए हुए है।

मन्थरा के वचन-वाणों से विद्ध कैकेयी के कोप का चित्रण रामायण तथा साकेत में इस प्रकार हुआ है:—

रामायण— "अनेक शतसाहस्त्रं मुक्ताहारं वरांगना।
अवमुच्य वरार्हाणि शुभान्याभरणानि च॥
तदा हेमोपमा तत्र कुब्जा वाक्यवशंगता।
संविश्य भूमौ कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् [3]॥"

साकेत— "एड़ियों तक आ छूटे केश,
हुआ देवी का दुर्गा-वेश।
पड़ा तब जिस पदार्थ पर हस्त
उसे कर डाला अस्त-व्यस्त।
तोड़ कर फेंके सब शृंगार,
अश्रुमय-से थे मुक्ताहार [4]।"

कैकेयी का कोप रामायण की अपेक्षा साकेत में अधिक सजीव और मार्मिक है। साकेत में उसके कोप की व्यंजना मनोवैज्ञानिक ढंग से हुई है।

वाल्मीकि-रामायण में दशरथ राम को अपने आप को बन्दी बनाने और राज्य-

---

१. वाल्मीकि-रामायण, अयो०, सर्ग ७, ३५
२. साकेत, सर्ग २, पृ० ३३
३. वाल्मीकि-रामायण, अयो०, सर्ग ९, ५६-५७
४. साकेत, सर्ग २, पृ० ४०

सिंहासन पर अधिकार करने का आदेश देते हैं:—

"अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः ।
अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम्[1] ॥"

साकेत में दशरथ ने लक्ष्मण के प्रति लगभग ऐसा ही विचार प्रकट किया है:—

"तदपि सत्पुत्र हो तुम शूर मेरे, करो सब दुःख लक्ष्मण दूर मेरे ।
मुझे बन्दी बना कर वीरता से, करो अभिषेक साधन धीरता से[2] ।"

रामायण और साकेत दोनों में दशरथ की उक्तियों में उनके हृदय का मोह झलकता है पर साकेत के दशरथ का लक्ष्मण के प्रति यह कथन अधिक औचित्य और स्वाभाविकता लिए हुए है ।

रामायण और साकेत में वनगमन के समय प्रजा को समझाते हुए राम भरत की योग्यता का वर्णन इन शब्दों करते हैं :—

रामायण—"या प्रीति र्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम् ।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा विधीयताम् ॥
स हि कल्याणचारित्रः कैकेय्यानन्द-वर्धनः ।
करिष्यति यथावद्वः प्रियाणि च हितानि च ॥
ज्ञानवृद्धो वयो बालो मृदुवीर्यगुणान्वितः ।
अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापह[3] ॥"

साकेत—"ऐसे जन को पिता राज्य देते कहीं,
जिसको उसके योग्य मानता मैं नहीं,
तो अधिकारी नहीं, प्रजा के भाव से,
सहमत होता स्वयं न उस प्रस्ताव से ।
किन्तु भरत के भाव मुझे सब ज्ञात हैं,
हम में वे जड़भरत-तुल्य विख्यात है ।
भूलोगे तुम मुझे उन्हें पाकर सुनो,
मुझे चुना तो जिसे कहूं अब मैं, चुनो[4] ।"

वाल्मीकि ने भरत के गुणों पर विशेष प्रकाश डाला है परन्तु साकेतकार ने 'भूलोगे तुम मुझे उन्हें पाकर' इन शब्दों का प्रयोग करके और जड़भरत के साथ भरत की तुलना करके भरत के प्रति राम के प्रेम तथा भरत की योग्यता की सुन्दर व्यंजना की है । वाल्मीकि ने राजा के सम्बन्ध में अपने युग की भावना के अनुरूप ही लोकमत का

१. वाल्मीकि-रामायण, अयो०, सर्ग ३४, २६
२. साकेत, सर्ग ३, पृ० ६५
३. वाल्मीकि-रामायण, अयो०, सर्ग ४५, ६-८
४. साकेत सर्ग ५, पृ० ६१

ध्यान नहीं रखा पर साकेतकार ने आज के प्रजातन्त्र के अनुरूप प्रजा के चुनाव की ओर भी संकेत किया है।

अयोध्या के लिए सन्देश देने में जानकी की असमर्थता का चित्र सुमन्त्र के शब्दों में इस प्रकार रामायण और साकेत में अंकित हुआ है:—

रामायण—"जानकी तु महाराज निः श्वसन्ती तपस्विनी।
भूतोपहत-चित्तेव विष्ठिता विस्मृता स्थिता॥
अदृष्टपूर्वव्यसना राजपुत्री यशस्विनी।
तेन दुःखेन रुदती नैव मां किंचिदब्रवीत्॥
उद्वीक्ष्यमाणा भर्तारं मुखेन परिशुष्यता।
मुमोच सहसा बाष्पं प्रयान्तमुपवीक्ष्य सा [1]॥"

साकेत—"बोले सुमन्त्र वे कह न सकीं, कहने जाकर भी जकीं, थकीं।
साकेतस्मृति में मग्न हुई, करके प्रणाम भूलग्न हुई।
फिर नभ की ओर हाथ जोड़े, दृग सजल हुए थोड़े-थोड़े।
आँसू बरोनियों तक आये, नीचे न किन्तु गिरने पाये।
जा खड़ी हुई पति के पीछे, ज्यों मुक्ति महायति के पीछे [2]।"

वाल्मीकि की सीता भावावेश में विह्वल होकर गुरुजनों को प्रणाम तक न कर सकीं। 'अदृष्टपूर्वव्यसना', 'तेन दुखेन रुदती' इन शब्दों से यह प्रकट होता है कि वे अपने दुखों से अधिक दुखी हैं। साकेत की सीता को अपने दुखों की अपेक्षा साकेत-वासियों की अधिक चिन्ता है। वे इस विषम परिस्थिति में भी अपने कर्तव्य को नहीं भूलतीं। वाल्मीकि के इस वाक्य 'भूतोपहतचित्तेव विष्ठिता विस्मृता स्थिता' का भाव साकेतकार ने 'जकीं' और 'थकीं' इन दो शब्दों में भर दिया है।

रामायण और साकेत में ननिहाल से लौटते समय भरत को अयोध्या के उपवन उदास दीख पड़ते हैं:—

रामायण—"निर्यान्तोऽभियान्तो वा नरमुख्या यथापुरम्।
उद्यानानि पुरा भान्ति मत्त-प्रमुदितानि च॥
जनानां रतिसंयोगेष्वत्यन्तगुणवन्ति च।
तान्येतान्यद्य पश्यामि निरानन्दानि सर्वशः॥
स्रस्त-पर्णैरनुपथं विक्रोशद्भिरिव द्रुमैः।
नाद्यापि श्रूयते शब्दो मत्तानां मृगपक्षिणाम् [3]॥"

---

१. वाल्मीकि-रामायण, अयो०, सर्ग ५८, ३४-३६
२. साकेत, सर्ग ६, पृ० १२२
३. वाल्मीकि-रामायण, अयो०, सर्ग ७१, २५-२७

साकेत—"नागरिक-गण-गोष्ठियों से हीन,
आज उपवन है विजन में लीन।
वृक्ष मानों व्यर्थ बाट निहार,
झँप उठे हैं झोंम, झुक, थक, हार[1]।"

रामायण तथा साकेत के इन पद्यों में बहुत-कुछ भाव-साम्य है, पर साकेत की मौलिकता यहाँ भी अक्षुण्ण बनी है।

चित्रकूट में राम से भरत की भेंट का दृश्य रामायण तथा साकेत में इन शब्दों में अंकित हुआ है :—

रामायण—"जटिलं चीरवसनं प्रांजलिं पतितं भुवि।
ददर्श रामो दुर्दर्शं युगान्ते भास्करं यथा॥
कथंचिदभिविज्ञाय विवर्णवदनं कृशम्।
भ्रातरं भरतं रामः परिजग्राह पाणिना॥
आघ्राय रामस्तं मूर्ध्नि परिष्वज्य च राघवम्।
अंके भरतमारोप्य पर्यपृच्छत सादरम्[2]॥"

साकेत—"रो कर रज में लोटो न भरत, ओ भाई!
यह छाती ठंडी करो सुमुख सुखदाई।
मानस के मोती यों न बिखेरो, आओ,
उपहार-रूप यह हार मुझे पहनाओ।"
"हा आर्य भरत का भाग्य रजोमय ही है,
उर रहते उर्वी उसे तुम्हीं ने दी है[3]।"

रामायण में भरत के तापस वेश और कृश शरीर का सजीव चित्र अंकित है। साकेतकार ने भरत की वेश-भूषा और कृशता का वर्णन न करके केवल उसके हृदय के भावों की गहराई की व्यंजना की है। रामायण तथा साकेत दोनों में राम ने भरत का आलिंगन करके अपने सन्तप्त हृदय को शीतल किया है, पर भरत के आँसुओं की कीमत तो साकेत के राम ने ही पहचानी है (मानस के मोती यों न बिखेरो, आओ, उपहार-रूप यह हार मुझे पहनाओ)।

इस प्रकार वाल्मीकि-रामायण और साकेत की तुलना से यही निश्चित होता है कि साकेत पर रामायण का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है। इन दोनों महाकाव्यों में बहुत-कुछ साम्य होने पर भी साकेत एक मौलिक रचना सिद्ध होती है।

---

१. साकेत, सर्ग ७, पृ० १२६
२. वाल्मीकि-रामायण, अयो०, सर्ग १००, १-३
३. साकेत, सर्ग ८, पृ० १७२

साकेत और मानस

साकेत के कथानक का विश्लेषण करते हुए हम यह बता चुके हैं कि साकेतकार ने परम्परागत रामकथा में क्या-कुछ परिवर्तन किया है और किस प्रकार उन्होंने कथानक में नवीन उद्भावनाएँ की हैं। साधारणतया रामचरित-मानस का प्रभाव साकेत पर कई स्थलों पर दिखाई देता है। गुप्त जी अपने कथानक के लिए वाल्मीकि तथा तुलसी दोनों के ऋणी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। गुप्त जी ने साकेत में छठे सर्ग के आरम्भ में तुलसी के प्रभाव की ओर इन शब्दों में संकेत किया है :—

"तुलसी यह दास कृतार्थ तभी—मुंह में हो चाहे स्वर्ण न भी,
पर एक तुम्हारा पत्र रहे, जो निज मानस-कवि-कथा कहे[1] ॥"

तुलसी के रामचरित-मानस से प्रभावित होने पर भी साकेतकार ने कहीं भी तुलसी का अन्धानुकरण नहीं किया है। साकेत में उर्मिला के चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले स्थलों में गुप्त जी की मौलिक प्रतिभा की अनुपम छटा दृष्टिगोचर होती ही है, पर साथ ही अन्य समतापूर्ण प्रसंगों में भी उनकी मौलिक कवित्व-शक्ति का पर्याप्त परिचय मिलता है। यहाँ हम कतिपय समान प्रसंगों की परस्पर तुलना करते हुए इस कथन की पुष्टि करना उचित समझते हैं।

कैकेयी-मन्थरा-सम्वाद मानस तथा साकेत दोनों में बहुत मार्मिक शब्दों में अंकित हुआ है; पर मानस में यह सम्वाद अलौकिक-दिव्य-प्रभाव से प्रभावित दिखाई देता है। वहाँ मन्थरा की नीचता और कैकेयी की बुद्धि की विकृति में सरस्वती का हाथ दृष्टिगत होता है :—

"नामु मन्थरा मन्दमति, चेरी कैकई केरि ।
अजस पिटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि[2] ॥"

साकेत का यह प्रसंग मनोवैज्ञानिकता लिए हुए है। उसमें मानिनी कैकेई का कोप ही उसकी बुद्धि को विकृत करता है :—

"मानिनी कैकेयी का कोप, बुद्धि का करने लगा विलोप[3]।"

मानस में मन्थरा पहले तो कैकेई के पूछने पर भी कुछ नहीं बोलती और त्रिया-चरित्र करके आंसू बहाती है :—

"भरत-मातु पहँ गइ बिलखानी। का अनमनि हँसि कह हँसि रानी ॥
उतर न देइ सो लेइ उसासू। नारिचरित करि ढारसि आंसू[4] ॥"

---

१. साकेत, सर्ग ६, पृ० ११५.
२. मानस, अयो०, दो० १२
३. साकेत, सर्ग २, पृ० ४०
४. मानस, अयो०, दो० १२

पर साकेत में वह अपना माथा पीटती हुई तीक्ष्ण प्रहार करती है :—

"ठोक कर अपना क्रूर कपाल, जता कर यही कि फूटा भाल,
किंकरी ने तब कहा तुरन्त—"हो गया भोलेपन का अन्त[1] ।"

मानस की मन्थरा के लम्बी साँस लेने और आँसू बहाने की अपेक्षा साकेत की मन्थरा का माथा पीटना अधिक प्रभावशाली प्रतीत होता है।

मानस और साकेत के निम्नोद्धृत पद्यों में कुछ भाव-साम्य दिखाई देता है :—

मानस—"फोरै जोग कपार अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेउ लागा ॥
कहहिं झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहिं करुइ मैं माई ॥
हमहुँ कहबि अब ठकुरसुहाती। नाहिंत मौन रहब दिनु-राती ॥
करि कुरूप विधि परवश कीन्हा। बवा सो लुनिअ लहिअ जो दीना ॥
कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी ॥
जारै जोगु सुभाव हमारा अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ॥
तातें कछुक बात अनुसारी। क्षमिअ देबि, बड़ि चूक हमारी[2] ॥"

साकेत—"कहा दासी ने धीरज त्याग—"लगे इस मेरे मुँह में आग।
मुझे क्या, मैं होती हूँ कौन ? नहीं रहती हूँ फिर क्यों मौन ?
देख कर किन्तु स्वामि-हित-घात, निकल ही जाती है कुछ बात।
इधर भोली हैं जैसी आप, समझती सबको वैसी आप[3] ।"

'फोरै जोग कपार हमारा' और 'लगे इस मेरे मुँह में आग' इन दोनों वाक्यों में कितनी भावमयता है ? इसी प्रकार 'अनभल देखि न जाइ तुम्हारा, तातें कछुक बात अनुसारी' मानस के इन शब्दों में और साकेत के 'देख कर किन्तु स्वामि-हित-घात ; निकल ही जाती है कुछ बात' इस वाक्य में भी कुछ भावसाम्य दिखाई देता है पर 'स्वामिहित-घात' इन सब्दों के प्रयोग में साकेत की मन्थरा की स्वामि-प्रियता अधिक लक्षित होती है। मानस की मन्थरा की 'कोउ नृप होउ हमहिं का हानी, चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी' इस उक्ति में विशेष चमत्कार है पर साथ ही साकेत की मन्थरा के 'मुझे क्या, मैं होती हूँ कौन ?', ये शब्द भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं।

मानस में कैकेयी-मन्थरा-सम्वाद विस्तृत है किन्तु साकेत में वह थोड़े ही मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया गया है। मानस की मन्थरा बहुत बोलती है पर साकेत में वह केवल कतिपय शब्दों में तीखी चोट करना जानती है।

कैकेयी की वर-याचना मानस और साकेत दोनों में सुन्दर ढंग से हुई है। इस प्रसंग पर मानस का प्रभाव होते हुए भी साकेत में पर्याप्त मौलिकता वर्तमान है :—

---

१. साकेत, सर्ग २, पृ० ३३
२. मानस, अयो०, दो० १५
३. साकेत, सर्ग २, पृ० ३४

मानस—"माँगु माँगु पै कहहु पिय, कबहु न देहु न लेहु।
देन कहेउ वरदान दुइ, तेउ पावत सन्देहु॥
× × ×
झूठेहुँ दोष हमहि जनि देहू। दुइ कै चारि माँगि किन लेहू॥
रघुकुल-रीति सदा चलि आई। प्रान जाहिं वरु वचन न जाई[1]।"

साकेत—"भला माँगो तो कुछ इस बार, कि क्या दूँ दान, नहीं, उपहार ?
मानिनी बोली निज अनुरूप—'न दोगे वे दो वर भी भूप !'
कहा नृप ने लेकर निःश्वास—'दिलाऊँ मैं कैसे विश्वास ?
परीक्षा कर देखो कमलाक्षि, सुनो तुम भी सुरगण, चिरसाक्षि !
सत्य से ही स्थिर है संसार, सत्य ही सब धर्मों का सार।
राज्य ही नहीं, प्राण-परिवार, सत्य पर सकता हूँ सब वार[2]।"

यहाँ 'देन कहेउ वरदान दुइ तेउ पावत सन्देहु' मानस के इन शब्दों में और साकेत की 'न दोगे वे दो वर भी भूप' इस उक्ति में भाव-साम्य है। इसी प्रकार 'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहिं वरु वचन न जाई', मानस की इस चौपाई की तुलना साकेत के 'राज्य ही नहीं, प्राण-परिवार, सत्य पर सकता हूँ सब वार', इस वाक्य से की जा सकती है। साकेतकार ने दशरथ के मुँह से कैकेयी के लिए 'कमलाक्षि' शब्द का प्रयोग करवा कर दशरथ की वश्यता की सुन्दर व्यंजना की है।

कैकेयी के वर माँगने पर राजभवन में उपस्थित राम को हृदय से लगाते हुए शोकाकुल दशरथ का चित्र मानस तथा साकेत में इस प्रकार अंकित है :—

मानस—"लिए सनेह विकल उर लाई। गइ मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई॥
रामहि चितइ रहेउ नरनाहू। चला विलोचन वारि प्रवाहू॥
सोच विवस कछु कहै न पारा। हृदय लगावत बारहि बारा॥
विधिहि मनाव राउ मनमाहीं। जेहि रघुनाथ न कानन जाहीं[3]॥"

साकेत—"हृदय से भूप ने उनको लगाया, कहा—'विश्वास ने मुझ को ठगाया।'
निरखती कैकेयी थी भौंह तानें, चढ़ा कर कोप से दो दो कमानें।
पकड़ कर राम की ठोड़ी, ठहर के, तथा उनका वदन उस ओर करके,
कहा गतधैर्य होकर भूपवर ने—'चली है, देख तू क्या आज करने !
अभागिन ! देख कोई क्या कहेगा ? यही चौदह बरस वन में रहेगा[4]।"

मानस के दशरथ स्नेहविकल होकर बार-बार राम को हृदय से लगाते हैं। वे

१. मानस, अयो०, दो० २७
२. सकेत, सर्ग २, पृ० ४६
३. मानस, अयो०, दो० ४३
४. साकेत, सर्ग ३, पृ० ५६

शोक के कारण कुछ कह नहीं सकते पर मन ही मन विधाता को मनाते हैं कि किसी तरह राम वन न जाने पावें। साकेत के दशरथ भी उसी प्रकार शोकाकुल हैं पर कुपिता कैकेयी भौंह ताने उनकी ओर देख रही है और दशरथ भी उसका ध्यान राम की सुकुमारता और उनकी वनवास की अयोग्यता की ओर आकृष्ट करते हैं। साकेत की पंक्तियों में राम की सुकुमारता, दशरथ की कातरता और कैकेयी की कठोरता की व्यंजना एक ही साथ हो गई है। भौंह तानें हुई कैकेयी और राम की ठोड़ी पकड़े हुए दशरथ की परिस्थिति के अनुरूप मुद्राओं का नाटकीय ढंग से चित्रण साकेतकार की विशेषता है।

मानस के दशरथ शिव से प्रार्थना करते हैं कि वे राम को ऐसी बुद्धि प्रदान करें जिससे वे पिता की आज्ञा न मानें और अयोध्या न छोड़ें:—

"तुम्ह प्रेरक सब के हृदयँ, सो मति रामहि देहु।
बचन मोर तज रहहिं घर परिहरि सीलु सनेहु[1] ॥"

साकेत के दशरथ तो स्वयं राम को अपनी आज्ञा न मानने के लिए कहते हैं:—

"सुनो, हे राम! तुम भी धर्म धारो,
पिता को मृत्यु के मुहँ से उबारो।
न मानों आज तुम आदेश मेरा,
प्रबल उससे नहीं क्या क्लेश मेरा[2] ?"

जहां मानस के दशरथ के शब्दों में अलौकिकता है, वहां साकेत के दशरथ की उक्तियों में स्वाभाविकता दिखाई देती है।

जिस प्रकार मानस की सीता चित्रकूट की पर्णकुटी में राम के साथ सन्तुष्ट जीवन व्यतीत करती है:—

"परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा। प्रिय परिवारु कुरंग बिहंगा॥
सासु-ससुर-सम मुनितिय मुनिवर। असन अमिय सम कंदमूल फर[3] ॥"

उसी प्रकार साकेत में भी सीता अपनी कुटिया में राजभवन का सुख प्राप्त करती है:—

"सम्राट स्वयं प्राणेश, सचिव देवर हैं,
देते आकर आशीष हमें मुनिवर हैं।
तन तुच्छ यहाँ, यद्यपि असंख्य आकर हैं,
पानी पीते मृग-सिंह एक तट पर हैं।
सीता रानी को यहां लाभ ही लाया,
मेरी कुटिया में राजभवन मनभाया[4] ।"

---

१. मानस, अयो०, दो० ४४
२. साकेत, सर्ग ३, पृ० ६५
३. मानस, अयो०, दो० १३६
४. साकेत, सर्ग ८, पृ० १५७

मानस तथा साकेत में सुमन्त्र के अयोध्या के लिए विदा होते समय सीता कुछ सन्देश देना चाहती है परन्तु हृदय में विविध भावनाओं के आवेग के कारण वे मुँह से कुछ नहीं कह सकतीं। सीता की इस असमर्थता का चित्र मानस तथा साकेत में इस प्रकार अंकित है:—

मानस—"कहि प्रनामु कछु कहन लिय, सिय भइ सिथिल सनेह।
थकित वचन लोचन सजल, पुलक पल्लवित देह[1] ॥"

साकेत—"बोले सुमन्त्र—वे कह न सकीं, कहने जाकर भी जकीं, थकीं।
साकेत-स्मृति में मग्न हुई, करके प्रणाम भूलग्न हुई,
फिर नभ को ओर हाथ जोड़े, दृग सजल हुए थोड़े थोड़े।
आँसू वरोनियों तक आये, नीचे न किन्तु गिरने पाये।
जा खड़ी हुई पति के पीछे, ज्यों मुक्ति महा यति के पीछे[2]।"

सीता की स्नेह-शिथिलता की व्यंजना दोनों काव्यों में हुई है पर साकेत की विशेषता इस बात में है कि उसमें सीता की भावभंगी का चित्रण नाटकीय ढंग से हुआ है। गुप्त जी सीता की विवशता का सजीव चित्र हमारी आँखों के सामने उपस्थित कर देते हैं।

मानस और साकेत की निम्नोद्धृत पंक्तियों में पर्याप्त सादृश्य दिखाई देता है:—

मानस—"सबहिं विचारु कीन्ह मन माहीं। राम लखन सिय बिनु सुख नाहीं॥
जहाँ राम तहँ सुबइ समाजू। बिनु रघुवीर अवध नहिं काजू[3] ॥"

साकेत—"जहाँ हमारे राम, वहीं हम जायेंगे,
वन में ही नवनगर-निवास बनायेंगे[4]।"

× × ×

मानस—"प्रसन्नतां या न गताऽभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मंजुल-मंगलप्रदा[5]।"

साकेत—"रामभाव अभिषेक-समय जैसा रहा,
वन जाते भी सहज सौम्य वैसा रहा,
वर्षा हो या ग्रीष्म, सिन्धु रहता वही,
मर्यादा की सदा साक्षिणी है मही[6]।"

× × ×

---

१. मानस, अयो०, दो० १५२
२. साकेत, सर्ग ६, पृ० १२२
३. मानस, अयो०, दो० ८३
४. साकेत, सर्ग ५, पृ० ८८
५. मानस, अयो०, श्लोक २
६. साकेत, सर्ग ५, पृष्ठ ८८

मानस—"रघुकुल-रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचनु न जाई[१] ॥"

साकेत—"पर रघुकुल में जो वचन दिया जाता है,
लौटा कर वह कब कहाँ लिया जाता है[२] ?"

× × ×

मानस—"पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुँदरी मन मुदित उतारी ॥
कहेउ कृपाल लेहु उतराई। केवट चरन गहेउ अकुलाई ॥
नाथ आज मैं काह न पावा। मिटे दोष-दुख-दारिद-दावा ॥
बहुत काल मैं कीन्ह मजूरी। आजु दीन्ह विधि बनि भलि भूरी[३] ॥"

साकेत—"मिलन स्मृति-सी रहे यहाँ यह क्षुद्रिका,
सीता देने लगीं स्वर्ण-मणि-मुद्रिका।
गुह बोला कर जोड़ कि—यह कैसी कृपा ?
न हो दास पर देवि, कभी ऐसी कृपा।
क्षमा करो, इस भाँति न तुम तज दो मुझे,
स्वर्ण नहीं, हे राम, चरण-रज दो मुझे[४]।"

× × ×

मानस—"जानी स्रमित सीय मन माहीं। घरिक विलम्ब कीन्ह वट-छाहीं[५] ॥"

साकेत—"देख घटा सी पड़ी एक छाया घनी,
ठहर गये कुछ काल वहाँ कोसल धनी।
तुम दोनों क्या नहीं थके ? मैं हीं थकी ?
सीता कुछ भी और न आगे कह सकीं[६]।"

× × ×

इस प्रकार मानस और साकेत में कई स्थलों पर समानता दिखाई देती है पर इस समानता में कहीं भी साकेतकार की भद्दी अनुकरण-प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती। कथानक की समानता के कारण मानस का साकेत पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। पर इस प्रभाव के होते हुए भी साकेत में पर्याप्त मौलिकता और नवीनता वर्तमान है। यह साकेत-कार की मौलिक और अद्‌भुत रचना-शक्ति का ही परिणाम है कि उन्होंने एक परम्परागत कथानक को मौलिक और आधुनिक रूप देने में सफलता प्राप्त की है।

---

१. मानस, अयो० दो० २७
२. साकेत, सर्ग ८, पृष्ठ १८६
३. मानस अयो०, दो० १०१
४. साकेत, सर्ग ५, पृष्ठ १०४
५. मानस, अयो०, दो० ११४
६. साकेत, सर्ग ५, पृष्ठ १०५

साकेत और रामचन्द्रिका

साकेत और केशवदास की रामचन्द्रिका दोनों राम-काव्य हैं। दोनों के कथानक में बहुत कुछ साम्य होने पर भी रामचन्द्रिका का प्रभाव साकेत पर नहीं दिखाई देता। प्रसंगों की समानता के कारण रामचन्द्रिका के कुछ पद्यों की तुलना साकेत के पद्यों से की जा सकती है पर इसका अर्थ यह नहीं कि साकेतकार ने रामचन्द्रिका का अनुकरण किया है। महाकाव्य की दृष्टि से रामचन्द्रिका एक सफल रचना नहीं है। यहाँ हम कतिपय समान प्रसंगों की तुलना करते हुए यह सिद्ध करना चाहते हैं कि साकेतकार ने केशव की अपेक्षा कितना अधिक काव्य-कौशल साकेत में दिखाया है।

वनमार्ग में घनी छाया में थोड़ा विश्राम करने के लिए राम और सीता ठहर जाते हैं। उनका वर्णन रामचन्द्रिका और साकेत में क्रमशः इस प्रकार हुआ है :—

रामचन्द्रिका—"कहुँ बाग तड़ाग तरंगिनी तीर तमाल की छाँह विलोकि भली।
घटिका यक बैठत हैं सुख पाय, बिछाय तहाँ कुसकास थली ।।
मग को श्रम श्रीपति दूर करैं सिय को शुभ वाकल अंचल सों।
श्रम तेउ हरैं तिनको कहि केशव चंचल चारु दृगंचल सों[1] ।।"

साकेत—"देख घटा सी पड़ी एक छाया घनी,
ठहर गये कुछ काल वहाँ कोसल धनी।
'तुम दोनों क्या नहीं थके ? मैं ही थकी ?'
सीता कुछ भी और न आगे सह सकीं।
हँसते-हँसते सती अचानक रो पड़ी,
तप्त हेम की मूर्ति द्रवित-सी हो पड़ी।
मुझको अपने लिए नहीं कुछ सोच है,
तुम्हें असुविधा न हो, यही संकोच है[2] ।"

रामचन्द्रिका में राम अपने वल्कल वस्त्र से हवा करके सीता की और सीता अपनी बाँकी चितवन से राम की थकावट दूर करती हैं। यहाँ राम और सीता के शृंगार की व्यंजना परिस्थिति और मर्यादा के अनुकूल नहीं है। साकेत में मर्यादा और शिष्टता की रक्षा हुई है। 'तुम दोनों क्या नहीं थके ? मैं ही थकी ?' इन शब्दों में सीता की सुकुमारता के साथ-साथ उसकी कठिनाइयों के सहन करने की शक्ति का परिचय मिलता है। उन्हें अपनी कठिनाइयों की नहीं, राम-लक्ष्मण की असुविधाओं की विशेष चिन्ता है। यहां केशव ने सीता को एक सुकुमारी प्रेमिका के रूप में अंकित किया है पर गुप्त जी ने उन्हें एक आदर्श गृहिणी का रूप दिया है।

---

१. रामचन्द्रिका, प्रकाश १०, ४४
२. साकेत, सर्ग ५, पृष्ठ १०५

ननिहाल से लौटने पर भरत और कैकेयी के मिलन का दृश्य केशव और गुप्तजी ने क्रमशः इन शब्दों में चित्रित किया है :—

रामचन्द्रिका — "मातु कहाँ नृप ? तात गये सुरलोकहिं, क्यों ? सुतशोक लये।
सुत कौन सु ? राम, कहाँ हैं अबै, बन लच्छमन सीय समेत गये।।
बन काज कहा कहि ? केवल मों सुख, तोको कहा सुख यामें भये ?
तुमको प्रभुता, धिक तोकों कहा अपराध बिना सिगरेई हये[1] ।।"

साकेत— "तो सुनो, यह क्यों हुआ परिणाम,
प्रभु गये सुरधाम, बन को राम।
माँग मैंने ही लिया कुलकेतु,
राजसिंहासन तुम्हारे हेतु[2] ।"

रामचन्द्रिका का पद्य भरत और कैकेयी के सम्वाद के रूप में नाटकीय छटा लिए हुए है पर उसमें कृत्रिमता झलकती है। साकेत की पंक्तियों में कैकेयी का कथन गंभीर परिस्थिति के अनुकूल स्वाभाविकता और सरलता को लिए हुए है।

भरत और कौशल्या की भेंट रामचन्द्रिका और साकेत में क्रमशः इस प्रकार वर्णित है :—

"तब पाइन जाइ भरत्थ परे। उन भेंटि उठाय के अंक भरे।।
सिर सूंघि विलोक बलाइ लई। सुत तो बिन या विपरीत भई[3] ।।"

"पूर्ण महिषी का हुआ उत्संग,
जा गिरा शवरी-शरार्त-कुरंग।
वत्स रे आजा, जुड़ा यह अंक,
भानुकुल के निष्कलंक मयंक ?
मिल गया मेरा मुझे तू राम,
तू वही है भिन्न केवल नाम[4] ।"

केशव के 'भेंटि उठाय के अंक भरे' इन शब्दों और गुप्त जी की 'वत्सरे आजा, जुड़ा यह अंक' इस उक्ति में बहुत-कुछ साम्य है। 'सिर सूंघि विलोक बलाई लई' इन शब्दों में केशव की कौशल्या का भरत के प्रति स्वाभाविक प्रेम झलकता है पर साकेत की कौशल्या के 'मिल गया मेरा मुझे तू राम' इन शब्दों के आगे उनकी आभा मन्द पड़ जाती है।

इस प्रकार रामचन्द्रिका और साकेत के कतिपय समान प्रसंगों की पारस्परिक

---

१. रामचन्द्रिका, प्रकाश १०, ४
२. साकेत, सर्ग ७, पृ० १३६
३. रामचन्[illegible] प्रकाश १०, ६
४. साके[illegible] [illegible]० १४४

तुलना से यही सिद्ध होता है कि साकेतकार केशव से कई बातों में बहुत आगे बढ़ गये हैं। साकेत की मौलिकता सराहनीय है।

साकेत और प्रियप्रवास

साकेत और प्रियप्रवास दोनों खड़ीबोली के महाकाव्य हैं। गुप्त जी ने साकेत में लोक-प्रसिद्ध रामकथा को और उपाध्याय जी ने प्रियप्रवास में प्राचीन कृष्णकथा को अपनाया है। इन दोनों रचनाओं में प्राचीन कथानक आधुनिक युग की नवीन भावनाओं से प्रभावित है। साकेत के राम, लक्ष्मण, सीता और उर्मिला तथा प्रियप्रवास के कृष्ण और राधा के परम्परागत चरित्रों में आधुनिकता का रंग पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। साकेत की नायिका उर्मिला और प्रियप्रवास की राधा में बहुत-कुछ समानता है। साकेत की उर्मिला प्रियप्रवास की राधा से प्रभावित दीख पड़ती हैं। दोनों अपने अपने प्रियतम के विरह में घुलती हुई भी कर्त्तव्य का ध्यान अधिक रखती हैं। दोनों का प्रेम स्वार्थ से रहित है। त्याग की भावना दोनों के चरित्र में महत्वपूर्ण है। दोनों विरहदशा में साधारण से साधारण वस्तुओं में भी सद्गुणों को देखती हैं और पशु-पक्षियों के साथ भी सहानुभूति प्रदर्शित करती हैं। प्रियप्रवास की राधा आदर्श समाज-सेविका है किन्तु साकेत की उर्मिला आदर्श गृहिणी है। राधा का प्रेम अन्त में विश्वप्रेम में परिणत हो जाता है पर उर्मिला का प्रेम इतना विश्वव्यापी नहीं है। वह अपने प्रिय से भी अधिक उनके आराध्य-युग्म (राम-सीता) को महत्व देती है। राधा अन्त में सारे विश्व में अपने प्रिय को देखती है परन्तु उर्मिला को अपने प्रिय के आराध्य-युग्म में ही सारा विश्व दिखाई देता है। प्रियप्रवास और साकेत दोनों रचनाओं में अलौकिक घटनाओं को लौकिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है। जिस प्रकार प्रियप्रवास में गोपियां स्मृतिरूप में कृष्ण के जीवन की पिछली घटनाओं का वर्णन करती हैं उसी प्रकार साकेत की उर्मिला भी स्मृतिरूप में राम के अभिषेक से पूर्व की घटनाओं का चित्र खींचती है। युद्धघटनाओं का वर्णन प्रियप्रवास और साकेत दोनों में अप्रत्यक्ष रूप से हुआ है। इस प्रकार साकेत और प्रियप्रवास में कुछ समानता दिखाई देती है। उनके निम्नलिखित प्रसंगों की परस्पर तुलना करने से यह समानता और भी स्पष्ट हो जाती है।

कृष्ण के मथुरा-गमन के समय जिस प्रकार व्रज की सारी जनता उनके रथ को घेर लेती है। उसी प्रकार साकेत की जनता भी राम के वनगमन के समय उनके रथ के आगे लेट कर सत्याग्रह करती हुई दिखाई देती है :—

प्रियप्रवास—"बीसों बैठे पकड़ रथ का चक्र दोनों करों से।
रासें ऊँचे तुरगयुग की थाम लीं सैकड़ों ने॥
सोये भू में चपल रथ के सामने आ अनेकों।
जाना होता अति अप्रिय था बालकों का सबों को[1]॥"

१. प्रिय-प्रवास, सर्ग ५, ६७

साकेत—"राजा हमने राम, तुम्हीं को है चुना,
करो न तुम यों हाय ! लोकमत अनसुना।
जाओ, यदि जा सको रौंद हमको यहाँ,
यों कह पथ मे लेट गए वह जन वहाँ[1]।"

कृष्ण और बलराम को मथुरा में छोड़कर घर लौटते हुए नन्द की तुलना राम, लक्ष्मण और सीता को वन मे छोड़कर साकेत को लौटते हुए सुमन्त्र से की जा सकती है:—

प्रियप्रवास—"आँसू लाते कृशित दृग से फूटती थी निराशा।
छाई जाती वदन पर भी शोक की कालिमा थी।
सीधे जो थे न पग पड़ते भूमि में वे बताते।
चिन्ता द्वारा चलित उनके चित्त की वेदनाएँ[2]।।"

साकेत—"अवसन्न सचिव का तन मन था, करता समीर भी सन सन था।
सिर पर अनन्त सा आ टूटा, कटि टूटी और भाग्य फूटा[3]।।"

राधा और उर्मिला दोनों सारी सृष्टि में अपने प्रिय की कान्ति देखती है:—

प्रियप्रवास—"ताराओं मे तिमिर-हर में वह्नि-विद्युल्लता में।
नाना रत्नों, विविध मणियों में विभा है उसी की।।
पृथ्वी, पानी, पवन, नभ में, पादपों में, खगों में।
मै पाती हूँ प्रथित-प्रभुता विश्व में व्याप्त ही की[4]।।"

साकेत—"निखरती सखी, आज मे जहाँ,
दयित दीप्ति ही दीखती वहाँ[5]।"

यदि राधा खिले कमलों मे अपने प्रिय के हाथों और चरणों की आभा देखती है तो उर्मिला भी खंजन पक्षियों में लक्ष्मण के आँखों और बन्धूक पुष्पों में उनके अधरों का आभास पाती है:—

प्रियप्रवास—"कालिन्दी के पुलिन पर जा, या, सजीले-सरों में।
जो मैं फूले कमल-कुल को मुग्ध हो देखती हूँ।।
तो प्यारे के कलित कर की औ अनूठे पगों की।
छा जाती है सरस सुषमा वारिस्रावी दृगों में[6]।।"

---

१. साकेत, सर्ग ५, पृ० ८६
२. प्रियप्रवास, सर्ग ७, ७
३. साकेत, सर्ग ६, पृ० १२०
४. प्रियप्रवास, सर्ग १६, ११०
५. साकेत, सर्ग ६, पृ० २४१
६. प्रियप्रवास, सर्ग १६, ७६

साकेत— "निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन-भाये।
फैला उनके तन का आतप, मन ने सर सरसाये,
घूमे वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ छाये।
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये,
फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बन्धूक सुहाये[1]।"

जिस प्रकार प्रियप्रवास की एक गोपिका जूही से अपना तादात्म्य स्थापित करती है उसी प्रकार उर्मिला पद्मिनी में अपनी कृशता का आभास पाती है:—

प्रियप्रवास—"क्या तू भी है रुदन करती यामिनी-मध्य यों ही।
जो पत्तों में पतित इतनी वारि की बूंदियाँ हैं॥
पीड़ा द्वारा मथित उर के प्रायशः काँपती है।
या तू होती मृदु-पवन से मन्द आन्दोलिता है[2]॥"

साकेत—"एक अनोखी मैं ही क्या दुबली हो गई सखी घर में ?
देख, पद्मिमनी भी तो आज हुई नालशेष निज सर में[3]।"

राधा की तरह उर्मिला भी लता-पादपों और पशु-पक्षियों से सहानुभूति प्रकट करती है:—

प्रियप्रवास—"पत्तों को भी न तरुवर के वे वृथा तोड़ती थीं।
जी से वे थी निरत रहती भूत-संवर्द्धना में[4]॥"

साकेत—"छोड़ छोड़ फूल मत तोड़, आली, देख मेरा
हाथ लगते ही यह कैसे कुम्हलाये हैं ?
कितना विनाश निज क्षणिक विनोद में है,
दुःखिनी लता के लाल आँसुओं से छाये हैं[5]।"

इस प्रकार साकेत और प्रियप्रवास के पद्यों में थोड़ा-बहुत भाव-साम्य यत्र-तत्र लक्षित होता है। पर इतना होते हुए भी गुप्त जी ने साकेत में कहीं भी अपनी पूर्ववर्ती रचना प्रियप्रवास का कोरा अनुकरण नहीं किया है। साकेत में सर्वत्र गुप्त जी की प्रखर प्रतिमा का वैभव ही देखने को मिलता है।

वाल्मीकि-रामायण, मानस, रामचन्द्रिका और प्रियप्रवास से साकेत की तुलना करते हुए हमने साकेतकार की मौलिक सृजन-शक्ति और अद्भुत प्रतिभा पर प्रकाश

१. साकेत, सर्ग ६, पृ० २१६
२. प्रियप्रवास, सर्ग १५, १८
३. साकेत, सर्ग ६, पृ० २२१
४. प्रियप्रवास, सर्ग १७, ४८
५. साकेत, सर्ग ६, पृ० २३०

डालने का प्रयत्न किया है। उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त साकेत के पद्यों और अनेक पूर्ववर्ती कवियों की कविताओं में थोड़ा-बहुत साम्य यत्र-तत्र दिखाई देता है। यहाँ विषय में अधिक विस्तार की आशंका से हम अन्य विविध कवियों के साथ साकेतकार की तुलना नहीं कर सके है। इसलिए परिशिष्ट (२) में **'साकेत और अन्य विविध कवि'** इस शीर्षक के अन्तर्गत तुलनात्मक अध्ययन के लिए ऐसी उक्तियां उद्धृत की गई हैं।



: ७ :

कामायनी

(रचनाकाल—सन् १९३५)

हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों में कामायनी का महत्वपूर्ण स्थान है। श्री जयशंकर-प्रसाद की यह प्रौढ़तम रचना है। कामायनी से पहले हिन्दी साहित्य में प्रियप्रवास और साकेत जैसे महाकाव्यों की रचना हो चुकी थी, पर ये दोनों कृतियाँ परम्परागत कृष्ण-काव्य और राम-काव्य से प्रभावित होने के कारण सर्वथा मौलिक नहीं कही जा सकतीं। इनके पश्चात कामायनी ही एक ऐसा महाकाव्य है जिसकी मौलिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। इसमें प्रसाद जी ने प्राचीन ऐतिहासिक कथा के आधार पर मानव-जीवन का चिरन्तन और सार्वभौम रूप प्रस्तुत किया है। इसमें विश्व को आत्मसात् करने की क्षमता है। कामायनी में भारतीय इतिहास के आदिपुरुष मनु द्वारा नूतन मानवी-सृष्टि के विकास की कहानी है और साथ ही मानव-हृदय की शाश्वत मनोवृत्तियों का विश्लेषण भी वर्तमान है। एक ऐतिहासिक कथानक की पृष्ठभूमि में मानव-हृदय की चिरन्तन वृत्तियों और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करते हुए कामायनी में प्रसादजी ने इतिहास और मनोविज्ञान का अद्भुत सामंजस्य उपस्थित किया है। इसमें महाकाव्य की प्राचीन विशेषताओं के साथ नवीन प्रवृत्तियों और धारणाओं का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है। वस्तुतः कामायनी में विश्वव्यापी मानव-जीवन के मूलतत्वों की मनोवैज्ञानिक तथा कलात्मक व्यंजना है। यहाँ कवि की अन्तर्भेदिनी दृष्टि भौतिक आवरणों को भेद कर मानस-जगत् की उदात्त भावनाओं को प्रकाश में लाती है।

कामायनी का महाकाव्यत्व

कामायनी के महाकाव्यत्व के सम्बन्ध में वैसे तो सन्देह के लिए कोई स्थान ही नहीं है, पर उसमें महाकाव्य-सम्बन्धी पुरातन और नूतन मान्यताओं का जो विलक्षण सामंजस्य दृष्टिगत होता है, वह समीक्षकों को आश्चर्य-चकित अवश्य कर देता है। भारतीय साहित्य की देन होने पर भी कामायनी के महाकाव्यत्व की कसौटी केवल भारतीय आचार्यों द्वारा निर्धारित महाकाव्य-सम्बन्धी लक्षण नहीं हो सकते। इसी प्रकार विश्व-जनीन मानव-जीवन को आत्मसात् करने की क्षमता रखने पर भी कामायनी के महाकाव्यत्व का समीक्षा केवल महाकाव्य-विषयक पाश्चात्य आदर्शों के आधार पर ही समीचीन प्रतीत नहीं होती। कामायनी में कवि ने महाकाव्य की परम्परागत और नूतन शैलियों के सम्मिश्रण द्वारा एक नवीन महाकाव्य-शैली का सृजन किया है। उसमें क्रान्तदर्शी कवि

की अन्तर्भेदिनी दृष्टि जिस प्रकार देश-काल की सीमाओं का उल्लंघन करके सम्पूर्ण मानव-जीवन को आत्मसात् करती हुई ज्ञात होती है, उसी प्रकार कामायनी का महाकाव्यत्व भी देशविशेष या युगविशेष के निर्दिष्ट लक्षणों का अतिक्रमण करता हुआ विश्वजनीन महाकाव्य की भव्य-भूमि पर प्रतिष्ठित दीख पड़ता है।

कामायनी आधुनिक युग का महाकाव्य है। भामह, दण्डी और विश्वनाथ जैसे आचार्यों ने अपने लक्षणग्रन्थों में महाकाव्य के जो लक्षण दिए गए हैं, केवल उन्हीं के आधार पर प्रत्येक युग के महाकाव्यों को परखना उचित नहीं। प्रत्येक युग की परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के अनुरूप उस युग के महाकाव्य के स्वरूप में भी परिवर्तन का आना स्वाभाविक है। इस परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए महाकाव्य के स्वरूप-विधायक लक्षणों में भी समय-समय पर परिवर्तन या परिष्कार आवश्यक हो जाता है। इसलिए महाकाव्य की दृष्टि से कामायनी का मूल्यांकन महाकाव्य के प्राचीन परम्परागत लक्षणों की कसौटी पर ही युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इतना होने पर भी कामायनी में महाकाव्य-सम्बन्धी परम्परागत स्थूल लक्षणों का सामान्यतया निर्वाह हो जाता है।

[महाकाव्य-सम्बन्धी परम्परागत लक्षणों को ध्यान में रखकर प्रसाद जी ने कामायनी की रचना तो नहीं की है, पर फिर भी कामायनी में सामान्यतया इन लक्षणों का समन्वय हो जाता है। कामायनी का कथानक ऐतिहासिक है। उसका नायक मानवीसृष्टि का आदिपुरुष मनु है। शृंगाररस की कामायनी में प्रधानता है और शान्त, वीर रौद्र आदि अन्य रसों को भी उसमें स्थान प्राप्त हुआ है। नाटक की पाँचों सन्धियाँ भी उसमें पाई जाती हैं। आशा सर्ग से श्रद्धा सर्ग तक मुख-सन्धि, काम से कर्म सर्ग तक प्रतिमुख, ईर्ष्या सर्ग से इड़ा सर्ग तक गर्भ, स्वप्न से निर्वेद तक विमर्श और दर्शन से आनन्द सर्ग तक निर्वहण सन्धि की योजना कामायनी में दृष्टिगत होती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से मोक्ष की प्राप्ति कामायनी का मुख्य लक्ष्य है। मोक्ष का अर्थ यहाँ समरसता जन्य शान्ति है। सन्ध्या, रजनी, सूर्योदय, नदी, पर्वत, संयोग, वियोग, युद्ध, नगर आदि के वर्णन भी कामायनी में उपलब्ध होते हैं। कामायनी एक सर्गबद्ध रचना है। उसके सर्गों की संख्या आठ से अधिक (पन्द्रह) है और उसके प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन के नियम का पालन कामायनी में नहीं हुआ है। छन्दपरिवर्तन-सम्बन्धी नियम का पालन महाकाव्य में रोचकता और सरसता लाने के लिए होता है, पर कामायनी में इस नियम का पालन न होने पर भी रोचकता और सरसता वर्तमान है।]

इस प्रकार महाकाव्य-विषयक स्थूल लक्षणों का सामान्यतया समन्वय कामायनी में हो जाता है। पर वास्तव में कामायनी का महाकाव्यत्व इन परम्परागत लक्षणों के निर्वाहमात्र पर निर्भर नहीं है।

महाकाव्य-सम्बन्धी प्राच्य और पाश्चात्य आदर्शों के विश्लेपण द्वारा हम महाकाव्य के निम्नलिखित स्थायी तत्व स्वीकार करते हैं :—

(१) कथानक की व्यापकता और महानता, (२) महान् चरित्रों की सृष्टि, (३) रसात्मकता,(४) वर्णन-विविधता, (५) भाषा-शैली की उदात्तता, (६) सर्वांगीण जीवन की अभिव्यक्ति, (७) जातीय भावनाओं, आदर्शों और संस्कृति की व्यंजना, (८) चिरन्तन भाव-राशि का समावेश और (९) महान् उद्देश्य।

उपर्युक्त तत्वों की कसौटी पर महाकाव्य की दृष्टि से कामायनी खरी उतरती है। कामायनी का कथानक बहुत व्यापक अथवा विस्तृत न हो कर भी महान् है। महाकाव्य में कथानक का विस्तार जीवन की बहुमुखी समस्याओं को प्रकाश में लाने तथा जीवन का सर्वांग-सम्पन्न चित्र प्रस्तुत करने के लिए अपेक्षित है। कामायनी के कथानक में बहुत विस्तार के न होने पर भी सम्पूर्ण जीवन को व्यक्त करने की क्षमता है। कामायनी की कथावस्तु का सम्बन्ध आदि-पुरुष मनु और आद्या नारी श्रद्धा के उस सरल जीवन से है, जिसमें जटिलता के लिए अवकाश ही नही है। कामायनी की मुख्य कथा के साथ विविध प्रसंगों का सम्बन्ध-निर्वाह भी अच्छा हुआ है। कथावस्तु में धारावाहिकता के न होने पर भी महाकाव्योचित अविच्छिन्नता वर्तमान है। कामायनी के कथानक की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उसमें मनु, श्रद्धा और इड़ा से सम्बन्धित ऐतिहासिक कथानक के साथ मानव मन की विविध वृत्तियों के मनोवैज्ञानिक रूपक का निर्वाह आदि से लेकर अन्त तक बहुत सुन्दर बन पड़ा है। इस रूपक के निर्वाह से कथानक में सम्पूर्ण मानवता को आत्मसात् करने की क्षमता आ गई है।

महाकाव्य का महान्, व्यापक कथानक उसके महान् चरित्रों पर आश्रित रहता है। महान् चरित्रों की सृष्टि में कामायनीकार को पर्याप्त सफलता मिली है। कामायनी का नायक मनु भारतीय परम्परा के अनुसार धीरोदात्त-गुणों से युक्त, महान् चरित्र नहीं कहा जा सकता। उसमें वह शौर्य, पराक्रम और साहस नहीं है, जो कि एक महाकाव्य के नायक में अपेक्षित है। पर कामायनी का मनु परम्परागत धीरोदात्त नायक का आदर्श भले ही प्रस्तुत न कर सके, उसके चरित्र की महानता कामायनी में अच्छी तरह व्यक्त हुई है। वह एक दुर्बल व्यक्ति होने पर भी महान् है। उसके चरित्र में प्रसाद जी ने आदि-मानव का स्वाभाविक चित्र अंकित किया है। वह परिस्थितियों के प्रवाह में बहता हुआ भी अन्त में जीवन के महान् लक्ष्य तक पहुँचने में सफल हो जाता है। वह अपने 'अहं' को सामूहिकता में विलीन करके बुद्धि और श्रद्धा के समन्वय-मूलक प्रशस्त मार्ग को अपनाता हुआ दृष्टिगोचर होता है। महाकाव्य के ऐतिहासिक नायक के रूप में एक महान् चरित्र न हो कर भी मानव मन के प्रतीक के रूप में वह विविध मनोवृत्तियों की व्यंजना की पूर्ण क्षमता रखता है। कामायनी के चरित्रों में श्रद्धा तो प्रसाद जी की महत्त्वपूर्ण सृष्टि है। वह त्याग,-स्नेह, ममता, सहिष्णुता, उदारता आदि नारी-सुलभ सभी उदात्त गुणों को लिए हुए है। श्रद्धा कामायनी में प्रमुख चरित्र के रूप में हमारे सामने आती है। श्रद्धा के उज्ज्वल चरित्र के समक्ष मनु भी अपनी महानता खो बैठा है। नायक (मनु) की अपेक्षा नायिका (श्रद्धा) को प्रमुख पात्र के रूप में अधिक गौरव मिल जाने पर भी कामायनी के महा-

काव्यत्व को कोई क्षति नहीं पहुँची है।

कामायनी में महाकाव्योचित रसात्मकता पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। इसमें प्रधान रस शृंगार है। पर उसकी अन्तिम परिणति शान्त में दिखाई देती है। शृंगार के संयोग और विप्रलम्भ दोनों रूपों का सुन्दर चित्रण कामायनी में हुआ है। शृंगार के विभाव और संचारी भाव के रूप में लज्जा का जैसा हृदयग्राही और मनोवैज्ञानिक चित्र कामायनी में अंकित हुआ है। वैसा किसी अन्य महाकाव्य में दुर्लभ है। श्रद्धा का विरह-वर्णन प्राचीन महाकाव्यों की शैली पर न होकर मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। यहां विरहिणी श्रद्धा के मनोभावों की मार्मिक व्यंजना हुई है। परम्परागत महाकाव्यों के समान विविध रसों का पूर्ण परिपाक न होने पर भी कामायनी में मानव-हृदय के विविध भावों की सरस व्यंजना सुन्दर ढंग से हुई है।

महाकाव्य में विविध प्रसंगों तथा प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन को विशेष महत्त्व दिया जाता है। कामायनी में भी प्रकृति के विविध रूपों का चित्रण बहुत प्रभावशाली और हृदयग्राही बन पड़ा है। प्राकृतिक वस्तुओं के सांगोपांग स्थूल चित्र कामायनी में भले ही न हों, कवि ने यहाँ प्रकृति के अन्तस् में प्रवेश करके उसके आन्तरिक सौन्दर्य को व्यक्त करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। परम्परागत महाकाव्यों की तरह कामायनी में प्राकृतिक दृश्यों के विशुद्ध वर्णन बहुत कम पाए जाते हैं। इसका कारण यह है कि प्रसाद जी का ध्यान प्रकृति के बाह्यसौन्दर्य की ओर उतना नहीं गया है जितना कि उसके आन्तरिक सौन्दर्य की ओर। प्रकृति के विविध उपकरणों की योजना प्रसाद जी ने अधिकतर विविध मनोवृत्तियों के विश्लेषण के लिए प्रतीक रूप में की है।

कामायनी की भाषा-शैली भी महाकाव्योचित गरिमा और उदात्तता को लिए हुए है। उसमें काव्य-भाषा का प्रौढ़, परिष्कृत रूप देखने को मिलता है। उसमें लाक्षणिक प्रयोगों की प्रचुरता है। कामायनी की भाषा अत्यन्त सशक्त और समृद्ध है, उसमें भावों की गम्भीरता और सूक्ष्मता को व्यक्त करने की शक्ति है। लक्षण और व्यंजना की सहायता से कवि ने अपनी प्रतीकात्मक शैलियों को अधिक मार्मिक और प्रभावशाली बनाया है।

एक उत्कृष्ट महाकाव्य की तरह कामायनी में जीवन का सर्वांग-सुन्दर, चित्र अंकित हुआ है। कामायनी की कथावस्तु के दो पक्ष है—लौकिक और आध्यात्मिक। लौकिक पक्ष में मनु और श्रद्धा के माध्यम से कवि ने आदिकालीन मानव-जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला है। आध्यात्मिक दृष्टि से तो कामायनी समस्त मानवता और उसकी समस्याओं को प्रकाश में लाने की क्षमता रखती है।

कामायनी का सांस्कृतिक धरातल भी बहुत व्यापक और विस्तृत है। उसमें भारतीय संस्कृति के चिरन्तन तत्त्वों से परिपुष्ट सार्वभौम मानव संस्कृति की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया गया है। भारतीय आदर्शो और भावनाओं के साथ-साथ मानवतावादी विचारधाराओं की अभिव्यक्ति कामायनी में सुन्दर ढंग से हुई है। यहाँ भारतीय संस्कृति

के उच्च आदर्शों की आधार-शिला पर विश्व-संस्कृति के भव्य भवन का निर्माण हुआ है।

एक उच्चकोटि के महाकाव्य में सार्वभौम मनोभावों को समुचित स्थान प्राप्त होता है। मानव-हृदय सब देशों में एक-सा चला आया है। एक सफल महाकाव्य में विश्व के समस्त मानवों के हृदय-गत शाश्वत मनोवेगों, भावनाओं और अनुभूतियों को व्यक्त करने की शक्ति होती है। कामायनी में यह शक्ति पूर्ण रूप में वर्तमान है। उसमें केवल भारतीय ही नहीं, विश्वजनीन शाश्वत मनोभावों की अभिव्यक्ति हुई है। मनु, श्रद्धा और इड़ा जैसे चरित्र अपने देश, काल और अपनी जाति के प्रतिनिधि होकर भी मानव की विविध वृत्तियों के प्रतीक के रूप में सम्पूर्ण मानव-जाति को अपने कलेवर में समेटने की क्षमता रखते हैं। कामायनी में सार्वभौम मानव-जीवन के चिरन्तन सत्यों के उद्घाटन का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है।

विषय, चरित्र और शैली की महानता के साथ-साथ महाकाव्य का उद्देश्य भी महान् होना चाहिए। कामायनी के उद्देश्य की महानता में कोई सन्देह ही नहीं हो सकता। बौद्धिकता और भौतिकता की अतिशयता के कारण संघर्षमय मानव-जीवन को समरसतामूलक परमशान्ति का मार्ग दिखाना ही कामायनी का महान् उद्देश्य है। आज का मानव बौद्धिक दृष्टि से प्रगतिशील होकर भी सच्ची मनुष्यता को खो बैठा है। हृदय की कोमल आस्थामयी वृत्तियों के अभाव में वह संघर्ष और विनाश की ओर बढ़ रहा है। अपनी बौद्धिकता को आस्थामयी हृदय-वृत्ति (श्रद्धा) से सन्तुलित करके व्यावहारिक और आध्यात्मिक जीवन में सामंजस्य प्रस्तुत करता हुआ वह अखंड आनन्द को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। जीवन को सुख-दुख, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा आदि द्वन्द्वों की स्थिति से ऊपर उठाकर उसे समरसता-जन्य अखंड आनन्द में लीन करना कामायनी का उच्चतम लक्ष्य है।

इस प्रकार कामायनी में महाकाव्य के सम्पूर्ण तत्वों का निर्वाह दृष्टिगत होता है। रामचरित-मानस के पश्चात् मानव-जीवन का सर्वांग-सम्पन्न चित्र प्रस्तुत करने वाला महाकाव्य हिन्दी-साहित्य में कामायनी ही है।

पाश्चात्य महाकाव्यों के संकलनात्मक और कलात्मक इन दोनों वर्गों में से कामायनी की गणना कलात्मक महाकाव्यों में की जा सकती है। संकलनात्मक महाकाव्य जनसाधारण या समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं, उनमें लोकरुचि का विशेष ध्यान रखा जाता है। इसीलिये जनसाधारण में उनका प्रचार अधिक संभव होता है। वे व्यक्ति-विशेष की नहीं, सम्पूर्ण जाति या राष्ट्र की सम्पत्ति होते हैं। कलात्मक महाकाव्यों में कलापक्ष के सौन्दर्य की ओर लेखक की दृष्टि अधिक रहती है। शिक्षित समाज में उनका अधिक आदर होता है। कामायनी में काव्य-कला का उत्कृष्ट रूप वर्तमान होने के कारण वह शिक्षित समाज के हृदय को तृप्त करने में अधिक सफल हो सकती है। हिन्दी के समालोचकों ने महाकाव्य के दो भेद—घटना-प्रधान और चरित्र-प्रधान—माने हैं। कामायनी में न तो घटनाओं को प्रधानता दी गई है और न उसमें पात्रों के चरित्र-चित्रण को ही सर्वोपरि महत्व दिया गया है। कामायनी की कथावस्तु का सम्बन्ध एक ओर आदि-पुरुष मनु

और आद्या-नारी श्रद्धा से है तो दूसरी ओर वह शाश्वत मानवीय मनोवृत्तियों को भी अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार कामायनी में रूपकात्मकता के कारण हम उसे रूपकात्मक महाकाव्य कहना अधिक उचित समझते हैं।

कथावस्तु

कामायनी में देवसृष्टि से विध्वंस के पश्चात् मनु और श्रद्धा (कामपुत्री) के संयोग से मानवी सृष्टि के विकास की कथा है। यह कथा पन्द्रह सर्गों में विभिक्त है। प्रथम सर्ग (चिन्ता) में देवसृष्टि के विध्वंसकारी जलप्लावन के दृश्य को देख कर देव-सन्तान मनु का हृदय विक्षुब्ध हो उठता है। हिमालय के उच्च शिखिर पर बैठे हुए मनु धीरे-धीरे जलप्लावन से बाहर निकलती हुई पृथ्वी को देखते हैं और वे देवसृष्टि के सुख और वैभव को याद करते हुए चिन्ताकुल हो उठते हैं। द्वितीय सर्ग (आशा) में कालरात्रि की समाप्ति पर सुनहली उषा के उदय के साथ-साथ प्रकृति भी हँसती हुई दिखाई देती है। मनु के हृदय में आशा का संचार होने लगता है। एक गुहा में जीवन की प्रबल इच्छा को हृदय में स्थान देकर मनु अग्निहोत्र में संलग्न हो जाते हैं। कर्ममयी देवसंस्कृति का वे फिर से स्वागत करते हैं। जीवनमार्ग पर अग्रसर होते हुए उनके हृदय में अनेक प्रश्न उठते हैं किन्तु उनका समुचित समाधान न पाकर उनका हृदय अधीर हो उठता है। तृतीय सर्ग (श्रद्धा) में मनु की अचानक समुद्रतट पर श्रद्धा से भेंट होती है। श्रद्धा उन्हें तापस-जीवन के स्थान पर सहानुभूति, प्रेम और ममता से पूर्ण मानस जीवन को अपनाने की प्रेरणा प्रदान करती है। श्रद्धा का सहयोग पाकर मनु के जीवन का एकाकीपन दूर हो जाता है। चतुर्थ सर्ग (काम) में मनु काम का यह स्वर अन्तरिक्ष से सुनते हैं—'देवसृष्टि के नष्ट हो जाने पर मैं अनंग बन कर अतृप्ति को लिए हुए इधर उधर भटक रहा हूँ। प्रेम की प्रतिमा श्रद्धा मेरी पुत्री है। उसके योग्य बन कर ही तुम उसे पा सकते हो।' पंचम सर्ग (वासना) में मनु के हृदय में वासना जाग्रत होती है। जीवन के अनेक उपकरणों को एकत्रित करते हुए वे अपनी सहयोगिनी कामपुत्री श्रद्धा के प्रति आत्मसमर्पण कर देते हैं। षष्ठ सर्ग (लज्जा) में मनु के कोमल उपचार को पाकर श्रद्धा का नारीत्व ऊपर उठ आता है। वह मनु के प्रति पूर्णतया आत्मसमर्पण करने में संकोच करती है। उसके हृदय में लज्जा का उदय होता है किन्तु अन्त में वह मनु के जीवन-विकास में सहयोग देने के लिए 'सन्धि-पत्र' लिखने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। सप्तम सर्ग (कर्म) में मनु कर्म में प्रवृत्त होते हैं। जलप्लावन से बचे हुए असुर-पुरोहित किलात और आकुलि के सहयोग से मनु एक यज्ञ का आयोजन करते हैं, जिस में श्रद्धा के पालित पशु की बलि दी जाती है। श्रद्धा मनु की इस हिंसा-वृत्ति से असन्तुष्ट होकर गुहा में खिन्न दिखाई देती है। अन्त में मनु किसी प्रकार अनुनय-विनय करके श्रद्धा को मना लेते हैं। अष्टम सर्ग (ईर्ष्या) में एक ओर मनु आखेट में अनुरक्त दीख पड़ते हैं और दूसरी ओर आसन्न-प्रसवा श्रद्धा अपनी भावी सन्तति के लिए सुन्दर कुटिया बनाती है और तकली चला कर ऊनी वस्त्र बुनती है। मनु अब श्रद्धा को अपनी ओर उदासीन-सी पाते हैं। वे यह नहीं चाहते कि श्रद्धा अपने हृदय

का प्रेम उनके अतिरिक्त और किसी को वितरित करे। उनके हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न होती है। वे श्रद्धा को छोड़ कर स्वतन्त्र जीवन विताने के लिए घर से बाहर निकल पड़ते हैं। नवम सर्ग (इड़ा) में इधर-उधर भटकते हुए मनु की सारस्वत प्रदेश की अधिष्ठात्री देवी इड़ा से भेंट होती है। उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश के पुनर्निर्माण की इच्छा से इड़ा मनु का स्वागत करती है और सारस्वत नगर का सारा शासन-प्रबन्ध मनु को सौंप देती है। दशम सर्ग (स्वप्न) में श्रद्धा मनु के विरह में व्याकुल होकर अपने नवजात पुत्र मानव के सहारे दिन काटती है। वह एक दिन स्वप्न में यह देखती है कि 'मनु ने सारस्वत प्रदेश में इड़ा के सहयोग से एक सुन्दर नगर बसाया है। इड़ा धीरे-धीरे मनु को मोहित कर लेती है। मनु इड़ा पर पूरा अधिकार जमाना चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि सारस्वत प्रदेश की प्रजा अत्याचारी प्रजापति मनु के विरुद्ध विद्रोह कर बैठती है। मनु इस विद्रोह से घबरा कर शयनकक्ष में चले जाते हैं।' इस भयावह स्वप्न को देखकर श्रद्धा की आँखें खुलती हैं और वह भय से काँपने लगती है। ग्यारहवें (संघर्ष) सर्ग में श्रद्धा का स्वप्न सत्य सिद्ध होता है। मनु की अधिकार-चेष्टा से प्रजा में भारी क्षोभ छाया हुआ है। इड़ा मनु को नियमों के अधीन रखना चाहती है किन्तु मनु स्वेच्छाचारी शासक होकर नियमों की उपेक्षा करते हैं। फलतः सारस्वत प्रदेश की प्रजा के नेता किलात तथा आकुलि और मनु के बीच युद्ध छिड़ जाता है और मनु घायल होकर युद्धभूमि में मूर्च्छित पड़े दिखाई देते हैं। बारहवें सर्ग (निर्वेद) में युद्ध के पश्चात् सारस्वत नगर में विषाद छा जाता है। इड़ा के हृदय में भी ग्लानि उत्पन्न होती है। वह मन में तर्क-वितर्क करती हुई पिछली घटनाओं को याद करती है। इसी अवसर पर मानव के साथ श्रद्धा मनु को ढूँढ़ती हुई वहाँ पहुँच जाती है। इड़ा श्रद्धा को उस स्थान पर ले जाती है जहाँ मनु मूर्च्छित पड़े हैं। श्रद्धा मनु की दुर्दशा देख कर आँसू बहाती हुई उन्हें सहलाने लगती है। श्रद्धा का कोमल स्पर्श पाकर मनु सचेत हो उठते हैं। श्रद्धा के औदार्यपूर्ण व्यवहार से मनु का हृदय उमड़ आता है किन्तु उन्हें शान्ति नहीं मिलती। वे इड़ा से विरक्त हो जाते हैं। श्रद्धा के प्रति अपने उपेक्षापूर्ण व्यवहार से लज्जित हो मनु शान्ति की खोज में कहीं बाहर भाग जाते हैं। तेरहवें (दर्शन) सर्ग में श्रद्धा अपने पुत्र मानव को इड़ा के पास छोड़ कर मनु की खोज में इधर-उधर फिरती है। अन्त में वह सरस्वती-तट पर एक गुहा में मनु को प्राप्त कर लेती है। मनु यहाँ उदारहृदया श्रद्धा के समक्ष अपने उच्छृंखलतापूर्ण व्यवहार पर पश्चाताप प्रकट करते हैं। श्रद्धा उन्हें सान्त्वना प्रदान करती है। इसी गुहा के घोर अन्धकार में मनु नृत्य-निरत नटराज के दिव्य रूप का दर्शन करते हैं। नटराज का नृत्य देख कर वे मुग्ध हो जाते हैं। चौदहवें सर्ग (रहस्य) में श्रद्धा मनु का हाथ पकड़ कर संसार के विविध रूपों का दर्शन कराती हुई उन्हें कैलाश-शिखर-गत एक दिव्य स्थान पर ले जाती है। वहाँ श्रद्धा मनु को अधर में स्थित इच्छा, कर्म और ज्ञान इन तीनों लोकों को दिखा कर उनका रहस्य समझाती है। श्रद्धा और मनु दोनों इच्छा, कर्म और ज्ञान की सन्धिभूमि में आनन्द की साधना में लीन हो जाते हैं। पन्द्रहवें (आनन्द) सर्ग में इड़ा और मानव प्रजासहित श्रद्धा और मनु के पास पहुँचते हैं। यहाँ

उन्हें चारों ओर आनन्द ही आनन्द दिखाई देता है। मानव श्रद्धा की गोद में शान्ति पाता है। इड़ा श्रद्धा के चरण छूकर उस के प्रति कृतज्ञता प्रकट करती है। मानव और इड़ा को उपदेश देते हुए मनु अखंड आनन्द में लीन हो जाते हैं।

कथावस्तु की रूपकात्मकता

कामायनी की कथावस्तु जहाँ एक ओर ऐतिहासिक दृष्टि से आदि-पुरुष मनु और आद्या-नारी श्रद्धा के संयोग से नवीन मानव-सृष्टि से सम्बन्ध रखती है, वहाँ दूसरी ओर वह चिरंतन मानवीय मनोवृत्तियों के विकास की कहानी को भी व्यक्त करती है। कामायनी के कथानक में हमें ऐतिहासिकता के साथ ही रूपकतत्त्व का आभास भी मिलता है। कथानक की रूपकात्मकता की ओर प्रसाद जी ने स्वयं कामायनी के आमुख में इन शब्दों में संकेत किया है :—

"यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत सम्मिश्रण हो गया है। इसीलिये मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है[1] ।"

इससे यह स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने कामायनी में ऐतिहासिक कथानक को मुख्य रूप में स्थान दिया है किन्तु गौण रूप में उसमें रूपकतत्व की भी योजना हो गई है।

कामायनी के कथानक की रूपकात्मकता की अभिव्यक्ति के लिए कवि ने अपने प्रधान पात्रों के ऐतिहासिक रूप के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक रूप को भी कामायनी में उपस्थित किया है। मनु (नायक) मननशील मन के प्रतीक हैं। श्रद्धा (नायिका) आस्थामयी हृदयवृत्ति की और इड़ा बुद्धि की प्रतीक है। मनाव-मन (मनु) विविध अनुभवों और संकल्प-विकल्पों में विकास पाता हुआ श्रद्धा के सहयोग से आनन्द की प्राप्ति में समर्थ होता है। केवल बुद्धि-द्वारा उसे अखंड आनन्द की प्राप्ति संभव नहीं। श्रद्धा हृदय की वह रागात्मिका वृत्ति है जो मन में आत्मविश्वास और जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न करती हुई मन को कर्म में प्रवृत्त करती है। श्रद्धायुक्त मन शान्ति (आनन्द) की ओर अग्रसर होता है किन्तु श्रद्धा से वियुक्त होकर वह बुद्धि का अनुसरण करता हुआ संघर्ष में पड़ जाता है। इस संघर्ष में पराभूत होकर मन को जीवन से ग्लानि और विरक्ति होती है। इस दशा में पुनः श्रद्धा ही उसे आनन्द-धाम तक पहुँचा सकती है। श्रद्धा-द्वारा मन इच्छा, कर्म और ज्ञान इन तीनों वृत्तियों में सामंजस्य उपस्थित करता हुआ समरसताजन्य आनन्द में लीन हो जाता है।

कामायनी के कथानक की रूपकात्मकता उसके सर्गों के नामकरण से भी स्पष्ट होती है। कामायनी के 'चिन्ता', 'आशा', 'श्रद्धा' आदि सर्गों का नामकरण मानसिक वृत्तियों के नाम पर हुआ है। वस्तुतः इस रचना में मानसिक वृत्तियों का विकास

---

१. कामायनी, आमुख, पृ० ७-८

मनोवैज्ञानिक ढंग से ठीक उसी प्रकार दिखाया गया है जिस प्रकार वे मानव-हृदय में उत्पन्न और विकसित होती हैं। कामायनी में मानव-मन में सर्वप्रथम चिन्ता का आविर्भाव दिखाया गया है। चिन्ता मानव-मन की प्रारम्भिक वृत्ति है। अभाव-दशा में इस चिन्ता की उत्पत्ति होती है और इसके कारण मन अशान्त हो जाता है। इस अशान्ति से छुटकारा पाने के लिए मन में चिन्ता के पश्चात् आशा का उदय होता है। आशा मानव-मन को क्रियाशील बनने की क्षमता प्रदान करती है। आशा के पश्चात् मन में श्रद्धा का विकास होता है। श्रद्धा आस्थामयी वह हृदय-वृत्ति है जो चंचल मन को एकाग्रता और विश्राम देती है। पर मानव-मन श्रद्धा को पूर्णरूप में अपना नहीं पाता और इसीलिए उसमें काम और वासना ये दो वृत्तियाँ जाग्रत होती हैं। वासना के आवेग में व्यवधान पड़ने से लज्जा की उत्पत्ति होती है किन्तु लज्जा अधिक देर तक वासना की तीव्रता को रोक नहीं सकती। वासना की तीव्रता मानव-मन में तृष्णा की वृद्धि करती है और उस तृष्णा की शान्ति के लिए मन कर्म में प्रवृत्त होता है। कर्म में प्रवृत्त मन उच्छृङ्खल होकर अहंभाव का विस्तार करता है। इस अहंभाव में बाधा पहुँचाने वाले पदार्थों के प्रति मन में ईर्ष्या उत्पन्न होती है। इस दशा में श्रद्धा-वृत्ति उच्छृङ्खल मन को नियन्त्रण में रखना चाहती है पर मन अपनी अहंभावना पर नियन्त्रण नहीं चाहता। वह श्रद्धा-वृत्ति को छोड़कर बुद्धि (इड़ा) का आश्रय लेता है। आस्थामयी हृदय-वृत्ति (श्रद्धा) को खोकर जब मानव-मन बुद्धिवादी हो जाता है तब वह नए-नए स्वप्न (कल्पनाएँ) देखता है। वह बुद्धि की सहायता से उन स्वप्नों को सत्य में परिणत करना चाहता है। बुद्धि के सहारे वह भौतिक क्षेत्र में जितना ही आगे बढ़ता है, उतनी ही उसकी अधिकार-लिप्सा बढ़ती जाती है। मन स्वयं बुद्धि पर अधिकार करना चाहता है पर बुद्धि मन के अधीन नहीं रह सकती। फलतः मन के साथ बुद्धि का संघर्ष उपस्थित होता है। इस संघर्ष में असफल होने पर मन में निर्वेद (विरक्ति) उत्पन्न होती है। मन पर आघात पहुँचने से श्रद्धावृत्ति स्वयं जागरित हो जाती है। खोई हुई श्रद्धा को पुनः अपना कर मानव-मन उचित दिशा की ओर अग्रसर होता हुआ उस स्थिति को प्राप्त कर लेता है जहाँ उसे आत्मसाक्षात्कार (दर्शन) होने लगता है। इसके पश्चात् उसे अपनी पराजय का 'रहस्य' ज्ञात हो जाता है। अन्त में मानव-मन श्रद्धा के सहारे इच्छा, कर्म और ज्ञान इन तीनों वृत्तियों का समन्वय करता हुआ समरसता की दशा में पहुँच कर आनन्द में लीन हो जाता है। इस प्रकार मानव-मन चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा (बुद्धि), स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन और रहस्य की विविध दशाओं में अग्रसर होता हुआ अन्त में पूर्ण आनन्द प्राप्त करता है। इस प्रकार कामायनी में ऐतिहासिक कथानक के साथ मानव-मन के क्रमिक विकास के रूपक की योजना भी सुन्दर ढंग से की गई है।

कथावस्तु की समीक्षा

कामायनी की कथावस्तु का निर्माण भारतीय वाङ्मय के विविध ग्रन्थों में बिखरी हुई सामग्री को लेकर किया गया है। कामायनी की कथा का सम्बन्ध मुख्यतया मनु, श्रद्धा

और इड़ा से है। इनसे सम्बन्ध रखने वाले आख्यान असम्बद्ध रूप में ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद् और विविध पुराणों में पाए जाते हैं। ऋग्वेद में मनु का वर्णन एक ऋषि और राजा दोनों रूपों में पाया जाता है[1]। श्रद्धा से सम्बन्धित एक पूरा सूक्त ही उसमें वर्तमान है[2]। इड़ा का वर्णन भी ऋग्वेद के कई मंत्रों में पाया जाता है[3]। शतपथ-ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद् तथा विविध पुराणों में मनु, श्रद्धा और इड़ा की कहानी विविध रूपों में पाई जाती है[4]। प्रसाद जी ने इस प्रकार अनेक ग्रन्थों में बिखरी हुई सामग्री के आधार पर कामायनी के कथानक का निर्माण किया है। मनु, श्रद्धा और इड़ा सम्बन्धी विविध प्रसंगों को शृंखलाबद्ध करके उन्हें काव्योपयोगी कथानक का रूप दिया गया है।

---

१. देखिए—ऋग्वेद, ८ २७-३१

"मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह" —शतपथ-ब्राह्मण, काण्ड १३, ४, ३, ३

२. ऋग्वेद, १०, १५१

"ऋषिः श्रद्धा कामायनी। देवता श्रद्धा। श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।"

—ऋग्वेद, १०, १५१

"श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।"

—ऋग्वेद, १०, १५१, ४

३. "इड़ा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।"

—ऋग्वेद, १, १३, ६; ५, ५, ८

"इड़ामकृण्वन्मनुषस्य शासनीम्"

—ऋग्वेद, १, ३१, ११

"अस्य प्रजावती गृहे असिश्चन्ती दिवे दिवे इड़ा धेनुमती दुहे।"

—ऋग्वेद, ८, ३१, ४

"आ नो यज्ञं भारती तूयमे त्विड़ा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवी र्बहिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु॥"

—ऋग्वेद,१०, ११०, ८

४. "मनवे हवै प्रातः। अवनेग्यमुदकमाजहुर्यथेदं पाणिभ्यामवने।
जानायाहरन्त्येवं तस्यावने निजानस्य मतस्यः पाणी आपेदे॥"

—शतपथ-ब्राह्मण, काण्ड, १, ८, १, १

"श्रद्धादेवो वै मनु०"

—शतपथ-ब्राह्मण, काण्ड १, १, ४, १५

"यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा०"

—छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय ७, १८

"यदा वै श्रद्दधात्यय मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव०"

—छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय ७, १९

विविध ग्रन्थों में सामग्री के वर्तमान होते हुए भी प्रसाद जी ने अपने कथानक का स्वरूप स्थिर करने में मुख्यतया शतपथ-ब्राह्मण और श्रीमद्भागवत का आश्रय लिया है। कामायनी के अन्तिम तीन (दर्शन, रहस्य और आनन्द) सर्गों की रचना शैवागम के प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में प्रतिपादित आनन्दवाद के आधार पर हुई है।

कामायनी के कथानक को काव्योपयोगी रूप देने के लिए प्रसाद जी ने प्राचीन ग्रन्थों में वर्तमान विविध प्रसंगों में यत्र-तत्र यथोचित परिवर्तन किया है और साथ ही कथानक में कुछ नवीन उद्भावनाएँ भी की हैं। कामायनी के आरम्भ में जलप्लावन का दृश्य शतपथ-ब्राह्मण के आधार पर वर्णित है। शतपथ में मनु की नाव का मत्स्य के पंख के सहारे हिमालय में पहुँचना वर्णित है[1] किन्तु कामायनी में वह मत्स्य के चपेटे से हिमालय-प्रदेश में पहुँचती है। इस परिवर्तन में प्रसाद जी का अलौकिक घटना को स्वाभाविक रूप देने का प्रयास झलकता है। ऋग्वेद, शतपथ-ब्राह्मण तथा पुराणों में श्रद्धा केवल मनुपत्नी के रूप में ही वर्णित है पर कामायनी में प्रसाद जी ने उस के जन्म-स्थान गान्धार-देश, रूप, स्वभाव, दिनचर्या आदि की सुन्दर कल्पनाएँ की हैं। पुराणों में श्रद्धा से मनु के दस पुत्रों की उत्पत्ति का वर्णन है[2] पर कामायनी में केवल एक ही पुत्र मानव का उल्लेख है। इस परिवर्तन में कवि की कथानक की अनावश्यक जटिलता से रक्षा करने की भावना लक्षित होती है। नवजात शिशु की ओर श्रद्धा का अधिक आकर्षण देख कर मनु के हृदय में ईर्ष्या की उत्पत्ति प्रसाद जी की निजी कल्पना है। ऋग्वेद और शतपथ में इड़ा और मनु के सम्बन्ध का उल्लेखमात्र मिलता है। कामायनी में यह सम्बन्ध अधिक स्पष्ट और सजीव रूप लिए हुए है। सारस्वत प्रदेश में मनु का इड़ा की ओर आकृष्ट होना, मनु का वहाँ शासन करना, इड़ा पर पूर्ण अधिकार पाने की चेष्टा करना और सारस्वत प्रदेश की प्रजा का मनु के विरुद्ध विद्रोह करना आदि घटनाएँ कामायनी में मूलाधार-ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक हृदयग्राही और प्रभावशाली बन गई हैं। शतपथ के अनुसार कामायनी में भी मनु के हिंसात्मक यज्ञ में किलात और आकुलि पुरोहित का कार्य करते हैं[3]। आगे चलकर प्रसाद जी ने अपनी स्वतन्त्र कल्पना से किलात और आकुलि को सारस्वत प्रदेश की प्रजा का नेता बनाकर मनु के विरोधियों के रूप में उपस्थित किया है। इस नवीन उद्भावना से किलात और आकुलि के चरित्र की कथानक के साथ

---

१. "स यतिथिं तत्समां परिदिदेश ततिथीं समां नावमुपकल्प्योपासांचक्रे०
स होवाच। अपीपरं वै त्वा वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व०"

—शतपथ-ब्राह्मण, काण्ड १, ८, १, ५-६

२ "ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत।
श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् स आत्मवान्॥"

—भागवत, स्कन्ध, ९, १, ११

३. "किलाताकुली इति हासुरब्रह्मावासतुः। तौ होचतुः श्रद्धादेवो
वै मनुः आवं नु वेदावेति। तौ हागत्योचतुर्मनो याजयाव त्वेति।"

—शतपथ-ब्राह्मण, काण्ड १, १, ४, १४-१५

अधिक संगति संभव हो गई है। मनु के मन में उत्पन्न होने वाले निर्वेद को तीव्रता प्रदान करने में किलात और आकुलि का विद्रोह सहायक सिद्ध होता है। श्रद्धा का स्वप्न देखना, मनु का युद्ध में घायल होना, श्रद्धा का आहत मनु के पास पहुँचना, मनु का उद्विग्न होकर भाग जाना, श्रद्धा का पुनः मनु को प्राप्त करना और उन्हें कैलाश-शिखर पर ले जाकर अखंड आनन्द की प्राप्ति में सहायक होना आदि कामायनी के उत्तर भाग की सारी घटनाएँ प्रसाद जी की मौलिक उद्भावनाएँ हैं। इस प्रकार कामायनी में प्रसाद जी ने मूलाधार-ग्रन्थों में बिखरी पड़ी विविध घटनाओं को कल्पना के सूत्र में पिरोकर उन में यथोचित अन्विति का सृजन करके उन्हें काव्योपयोगी कथानक के रूप में उपस्थित किया है।

एक सफल महाकाव्य के कथानक में धाराप्रवाह और कथानक से सम्बन्धित विविध प्रसंगों में सम्बन्ध-निर्वाह आवश्यक माना जाता है। कामायनी के कथानक के प्रवाह में धारावाहिकता के न होने पर भी अविच्छिन्नता वर्तमान है। विविध प्रसंगों में सम्बन्ध-निर्वाह अच्छा बन पड़ा है। कामायनी का कथानक तीव्र गति से आगे नहीं बढ़ता, कहीं-कहीं उसमें शिथिलता आ गई है; पर विविध घटनाओं के साथ उसका सामंजस्य सर्वत्र दिखाई देता है। घटनाओं का तारतम्य कहीं टूटता नहीं है। कामायनी का मुख्य विषय मनु और श्रद्धा के संयोग से मानवी सृष्टि का विकास दिखाना है। पर इस ऐतिहासिक कथानक के साथ मानव-मन की विविध वृत्तियों के मनोवैज्ञानिक रूपक का निर्वाह भी कामायनी में आदि से लेकर अन्त तक अविच्छिन्न रूप से दिखाई देता है। मनु, श्रद्धा और इड़ा से सम्बन्धित ऐतिहासिक कथानक के विकास के साथ-साथ विविध मनोवृत्तियों का विश्लेषण करने के कारण कथानक में कुछ शिथिलता का आना स्वाभाविक ही है। फिर भी इतिहास की असम्बद्ध घटनाओं को कल्पना-द्वारा शृंखलाबद्ध करके प्रसाद जी ने उन्हें एक सुसंगठित कथानक के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित किया है। एक ऐतिहासिक कथानक के साथ रूपक का निर्वाह प्रसाद जी की निजी विशेषता है।

चरित्र-चित्रण

आधुनिक महाकाव्यों में चरित्र-चित्रण का विशेष महत्व रहता है। महाकाव्य के पात्रों के क्रियाकलाप के चित्रण के साथ-साथ उसकी कथावस्तु विकसित होती हुई अन्तिम उद्देश्य तक पहुँचती है। प्रसाद जी ने कथावस्तु के विकास और रस दोनों तत्वों की रक्षा करते हुए अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण किया है। कामायनी की कथावस्तु बहुत सरल है, उस में जटिलता का अभाव है। उस का सम्बन्ध मुख्यतया तीन पात्रों से है—मनु, श्रद्धा और इड़ा। इन तीनों पात्रों के चरित्रांकन में प्रसाद जी की चरित्र चित्रण-कला का कौशल दिखाई देता है। कथानक के ऐतिहासिक और दार्शनिक दोनों रूपों के अनुसार कामायनी के पात्र भी भौतिक और मनोवैज्ञानिक दोनों रूप लिए हुए हैं। कामायनी के पात्र मानव-मात्र की चारित्रिक विशेषताओं और चित्त-वृत्तियों को प्रकाश में लाने की क्षमता रखते हैं। प्रसाद जी ने अपने पात्रों के बाह्य और आन्तरिक दोनों रूप उपस्थित

किए हैं पर उनकी सूक्ष्म अन्तर्भेदिनी दृष्टि चरित्र-चित्रण में वहिर्मुख होने की अपेक्षा अन्तर्मुखी अधिक दीख पड़ती है। विविध घटनाओं के घात-प्रतिघात से उत्पन्न होने वाले वाह्य संघर्ष को महत्व न देकर प्रसाद जी ने अपने पात्रों के मानसिक संघर्ष और अन्तर्वृत्तियों की व्यंजना मुख्य रूप में की है। अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में प्राचीन ऐतिहासिक वातावरण की रक्षा करते हुए प्रसाद जी ने उन्हें वर्तमान युग की नवचेतना से सजग बनाया है। चरित्र-चित्रण में उन्होंने न केवल यथार्थवाद को ही अपनाया है और न आदर्शवाद को ही। उन्होंने मनु के चरित्रांकन में यदि यथार्थ को स्वीकार किया है तो श्रद्धा के चरित्र-चित्रण में आदर्श को प्रधानता दी है। कामायनी के पात्रों के चरित्र उनकी व्यक्तिगत तथा जातीय दोनों प्रकार की विशेषताएँ लिए हुए हैं और साथ ही वे चिरन्तन मानव मनोवृत्तियों की विशेषताओं की व्यंजना भी करते हैं। कामायनी के पात्रों के चरित्र सजीवता और मनोवैज्ञानिकता लिए हुए हैं। उनके चरित्र-चित्रण में इतिहास और दर्शन, आदर्श और यथार्थ तथा प्राचीनता और आधुनिकता का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है।

मनु

मनु कामायनी के नायक हैं। शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार एक महाकाव्य के नायक में जो शौर्य, साहस, उदारता और परिस्थितियों पर विजय पाने की क्षमता आदि गुण होने चाहिएँ वे कामायनी के मनु में नहीं हैं। कामायनी में मनु एक विलासी, अहंवादी, स्वार्थी और दुर्बल मानव के रूप में अंकित हैं। उनके चरित्र में प्रसाद जी ने आदि-युग के मानव का स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया है। मनु के चरित्र पर विविध परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। उनका दुर्बल चरित्र परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से विकास पाता है। कामायनी के आरम्भ में मनु के शरीर की दृढ़ गठन और सबलता की अभिव्यक्ति इन शब्दों में हुई है :—

"अवयव की दृढ़ मांसपेशियाँ,
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार।
स्फीत शिराएँ, स्वस्थ रक्त का,
होता था जिनमें संचार[1]।"

देवसृष्टि के ध्वंस के दुखद दृश्य को देखकर शरीर में बलिष्ठ होकर भी मनु मन में चिन्तित, विक्षुब्ध और पराजित दिखाई देते हैं। देवसृष्टि के विलासी और दर्पपूर्ण जीवन के क्षणभर में ध्वंस हो जाने के कारण मनु के हृदय में चिन्ता और निराशा का उदय स्वाभाविक ही है। इस नैराश्यपूर्ण स्थिति में श्रद्धा का अवलम्बन पाकर मनु के हृदय में आशा और अभिलाषा का संचार होने लगता है। अलौकिक सुन्दरी श्रद्धा की ओर आकृष्ट होकर शीघ्र ही मनु उस पर आसक्त हो जाते हैं। श्रद्धा के प्रति मनु का प्रेम वासनाजन्य है; उसमें गम्भीरता, संयम और स्थिरता नहीं है। वे लेना जानते हैं, देना नहीं। श्रद्धा पूर्णतया आत्मसमर्पण कर देती है पर मनु श्रद्धा के अधीन होकर अपनी

१. कामायनी, चिन्ता सर्ग, पृ० ४

उद्दाम अहंभावना को मिटाना नहीं चाहते। श्रद्धा की इच्छा के विरुद्ध उसके पालित पशु की बलि देकर भी वे यही चाहते हैं कि श्रद्धा उनकी उद्दाम कामवासना की तृप्ति में निस्संकोच सहयोग देती रहे। वे श्रद्धा पर पूर्ण अधिकार चाहते हैं और एकाकी ही उसके प्रेम का उपभोग करना उचित समझते हैं। श्रद्धा के प्रेम को उसके पालित पशु और भावी सन्तति की ओर विभाजित देख मनु को ईर्ष्या होने लगती है। अन्त में पुत्रवती श्रद्धा से जब उनकी वासना तृप्त नहीं होती तो वे उससे विरक्त होकर उसका परित्याग कर देते हैं।

मनु के चरित्र की सबसे बड़ी दुर्बलता उनके हृदय की चंचलता है। वे अपने हृदय को स्थिर नहीं कर पाते। श्रद्धा से विरक्त होकर वे निर्जन वन में इड़ा-जैसी सुन्दरी को देख शीघ्र ही उसकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं। अहंवादी मनु वासना की तृप्ति केलिए इड़ा पर भी एकाधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं। वे स्वयं किसी के अधीन न होकर भी दूसरों को अपने अधीन देखना चाहते हैं। जब इड़ा मनु के उस एकाधिपत्य को स्वीकार नहीं करती तब मनु अन्त में उससे भी विरक्त हो जाते हैं। सारस्वत-प्रदेश की प्रजा के विद्रोह से मनु की अहंभावना और अधिकार-लिप्सा को आघात पहुँचता है और फलतः मनु के हृदय में आत्मग्लानि उत्पन्न होती है। सांसारिक जीवन के सुखों के प्रति उन्हें विरक्ति अनुभव होने लगती है। वे स्वयं अपने को कोसते हैं :—

"शापित-सा मैं जीवन का यह
ले कंकाल भटकता हूँ,
उसी खोखलेपन में जैसे
कुछ खोजता अटकता हूँ[1]।"

वासनापूर्ण जीवन की निन्दा करते हुए मनु अन्त में श्रद्धा के प्रति अपने उपेक्षा-पूर्ण व्यवहार पर पश्चाताप करने लगते हैं। इस विक्षुब्ध दशा में पुनः श्रद्धा को पाकर भी मनु अपने व्यवहार से लज्जित हो उसके समक्ष ठहर नहीं सकते और वहाँ से भाग जाते हैं। अन्त में श्रद्धा ही उनके उद्विग्न हृदय को शान्ति का मार्ग दिखाती है। वासना-पूर्ण जीवन के कटु अनुभवों से जब उनका अहंकार और दम्भ नष्ट हो जाता है तब वे वास्तविक आनन्द को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। कामायनी के अन्तिम तीन सर्गों में मनु के चरित्र में विशेष परिवर्तन दिखाई देता है। यह परिवर्तन मनु के चरित्र को भौतिकता से ऊपर उठाकर आध्यात्मिक धरातल पर पहुँचा देता है। मनु के चरित्र में इस परिवर्तन द्वारा प्रसाद जी ने यह दिखाया है कि वासनापूर्ण भौतिक जीवन का परिणाम घोर विनाश है। इस प्रकार मनु के चरित्र में वासना, भोगलिप्सा, ईर्ष्या, अहंकार आदि को चित्रित करके कवि ने उन्हें एक दुर्बल व्यक्ति के रूप में हमारे सामने उपस्थित किया है। मन के प्रतीक के रूप में मनु का चरित्र विविध मनोवृत्तियों की व्यंजना की पूर्ण क्षमता रखता है पर महाकाव्य के ऐतिहासिक नायक के रूप में उन्हें हम एक महान्

---

१. कामायनी, निर्वेद सर्ग, पृ० २२७

चरित्र नहीं कह सकते। साधारण मानव की तरह मनु के चरित्र में पतन और उत्थान दिखाकर प्रसाद जी ने प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय प्रस्तुत किया है।

श्रद्धा

श्रद्धा कामायनी में प्रधान पात्र के रूप में हमारे सामने आती है। उसका चरित्र एक आदर्श भारतीय नारी के रूप में अंकित हुआ है। त्याग, स्नेह, ममता, दया, सहनशीलता, उदारता आदि नारी-सुलभ सभी उदात्त गुणों से उसका हृदय परिपूर्ण है। उसके चरित्र में अद्भुत सौन्दर्य के साथ हृदय की शालीनता भी व्यक्त हुई है। श्रद्धा के अनुपम सौन्दर्य का चित्र कामायनी में इस प्रकार अंकित हुआ है :—

"घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास,
नील घन-शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास[1]।"
"कुसुम कानन-अंचल में मंद
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार[2]।"

उसका शरीर और हृदय दोनों कोमलता लिए हुए हैं। उसकी लम्बी काया उसके उदार हृदय की अनुकृति है :—

"हृदय की अनुकृति बाह्य उदार
एक लम्बी काया उन्मुक्त,
मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल
सुशोभित हो सौरभ संयुक्त[3]।"

देवसृष्टि के ध्वंस से विक्षुब्ध-हृदय मनु को वह धीरज बँधाती है, उनके नैराश्यपूर्ण जीवन में आशा का संचार करती है। मनु की पत्नी के रूप में श्रद्धा त्याग, साधना और सन्तोष को अपनाती हुई एक आदर्श गृहिणी के रूप में हमारे सामने आती है। मनु के मृगया से लौटने में विलम्ब हो जाने पर वह चिन्तित दिखाई देती है। एक आदर्श गृहिणी के समान वह अपनी पर्णकुटी को सजाती है, उसमें पारिवारिक जीवन की सुविधाएँ जुटाती है, धान्यसंचय करती है और भावी सन्तति के पालन-पोषण के साधन उपस्थित करती है। मनु को कभी-कभी अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य करते देखकर भी वह पतिव्रता पत्नी के समान कभी उनका अपमान नहीं करती। मनु के प्रति उसके हृदय में विशुद्ध प्रेम है, उसमें वासनाजन्य चंचलता नहीं। पारिवारिक जीवन में वह जिस प्रेम को अपनाती है,

१. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृ० ४७
२. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृ० ४८
३. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृ० ४६

धीरे धीरे उसकी परिधि का विस्तार होने लगता है। वह प्रेम परिवार की संकुचित सीमाओं को पार करके पशुओं तक पहुँच कर अन्त में विश्वप्रेम में परिणति प्राप्त करता है। मनु से उपेक्षित होने पर श्रद्धा उनके कल्याण की कामना करती है। मनु के उसे छोड़ कर चले जाने पर वह चिन्तित और उदास रहती है। स्वप्न में मनु को संकट में देखकर वह उनके अनिष्ट की आशंका से व्याकुल हो उठती है किन्तु उसकी यह व्याकुलता उसे अकर्मण्य नहीं बनाती। धैर्य और साहस के साथ वह मनु की खोज में निकलती है और युद्ध में मनु की सेवा में निरत हो जाती है। मनु के बार बार मार्ग से विचलित होने पर भी वह उनसे घृणा नहीं करती। पति को छीनने वाली इड़ा के प्रति भी श्रद्धा का व्यवहार प्रशंसनीय है। वह इड़ा से ईर्ष्या नहीं करती, उसे क्षमा प्रदान करती हुई अन्त में अपने पुत्र मानव को भी उसे सौंप कर अपनी उदारता का परिचय देती है। श्रद्धा के हृदय में अपनी सन्तति के लिए अगाध प्रेम है पर वह प्रेम उसे कर्तव्यविमुख नहीं बनाता। सारस्वत-प्रदेश की प्रजा के कल्याण के लिए वह अपने एकमात्र पुत्र को त्यागने में भी संकोच नहीं करती।

श्रद्धा के चरित्र में आदर्श नारी-जीवन के लौकिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों पर प्रसाद जी ने प्रकाश डाला है। कामायनी के आरम्भ में श्रद्धा जिस प्रकार मनु के क्षुब्ध हृदय को सांसारिक जीवन में प्रवृत्त करती है, उसी प्रकार अन्त में वह संघर्षमय भौतिक जीवन से खिन्न मनु को सान्त्वना प्रदान करती हुई अखंड आनन्द का मार्ग भी दिखाती है। मनु ने आरम्भ में उसके सुन्दर शरीर को ही प्राप्त किया था किन्तु उसकी आत्मा को नहीं पहचाना। उपेक्षित होने पर भी श्रद्धा अपूर्व धैर्य और साहस के साथ मनु को खोजने का प्रयत्न करती है और उसके विक्षुब्ध हृदय को शान्ति पहुँचाती है। अन्त में मनु श्रद्धा का वास्तविक मूल्य आँकते हुए कहते हैं:—

"हे सर्वमंगले ! तुम महती,
सब का दुख अपने पर सहती;
कल्याणमयी वाणी कहती,
तुम क्षमा-निलय में हो रहती[1];"

मनु को अब ज्ञात होता है कि श्रद्धा केवल उनका ही नहीं, सारे विश्व का कल्याण करने वाली देवी है। श्रद्धा के चरित्र में नारी-जीवन की सम्पूर्ण विभूतियों का चित्र अंकित हुआ है। प्रतीकरूप में श्रद्धा हृदय की सारी उदात्त वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती है।

इड़ा

कामायनी में इड़ा को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। इड़ा एक स्वार्थनिरत प्रतिभाशाली चतुर नारी है। वह वासना की तृप्ति के लिए भटकते हुए प्रमादी मनु को कर्तव्य का ज्ञान कराती हुई कर्मपथ की ओर अग्रसर करती है। श्रद्धा से वियुक्त होकर मनु

१. कामायनी, दर्शन सर्ग, पृ० २४९.

इड़ा के आदेशानुसार सारस्वत-प्रदेश का शासन-प्रबन्ध अपने हाथ में ले लेते हैं। पर अहंवादी मनु सारस्वत-प्रदेश की प्रजा तथा इड़ा पर एकाधिपत्य स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। वे स्वयं नियमों की उपेक्षा करके भी दूसरों को अपने नियम के अधीन रखना चाहते हैं। इड़ा को मनु की यह अविकार-चेष्टा अच्छी नहीं लगती। वह एक व्यक्तिवादी नारी है। अपने व्यक्तित्व और अहंभाव की रक्षा करने में वह सदैव सतर्क रहती है। वह लौकिक-व्यवहार में कुशल है, उसकी व्यवस्था-शक्ति प्रशंसनीय है। मनु को अपनाने में उसका अपना स्वार्थ है। सारस्वत-नगर की व्यवस्था के लिए वह मनु का स्वागत करती है; उसके दुखी जीवन पर समवेदना से प्रभावित होकर नहीं। अपने प्रिय से प्रिय व्यक्ति को भी वह अपने अनुशासन में रखना चाहती है। जब मनु इड़ा के अधीन होकर जीवन बिताना उचित नहीं समझते तब इड़ा स्वयं उनके विरुद्ध विद्रोह कर बैठती है। लोकमर्यादा और लोकधर्म के प्रति इड़ा सदैव जागरूक दिखाई देती है। वह मनु के प्रेमपाश में बँध कर लोकमर्यादा की अवहेलना नहीं करना चाहती। राष्ट्र के कल्याण का ध्यान रखकर इड़ा मनु के बलात्कार को सह कर अपनी सहनशक्ति, धैर्य और संयम का परिचय देती है। अपनी व्यवस्था-बुद्धि और राजनीति-कुशलता से वह सारस्वत-प्रदेश को समृद्धिशाली बनाती है। इड़ा के चरित्र में अन्त में विशेष परिवर्तन दिखाई देता है। यह परिवर्तन संभवतः उदारहृदया श्रद्धा के सम्पर्क में आने से हुआ है। रणस्थल में मूर्च्छित मनु की सेवा करती हुई श्रद्धा और उसके पुत्र को देखकर वह द्रवित हो जाती है। श्रद्धा के जीवन को दुखी बनाने में अप्रत्यक्षरूप से अपना हाथ समझ इड़ा के हृदय में ग्लानि उत्पन्न होती है और वह श्रद्धा से क्षमायाचना करती हुई दृष्टिगत होती है:—

"तिस पर मैंने छीना सुहाग, हे देवि! तुम्हारा दिव्य राग,
मैं आज अकिंचन पाती हूँ, अपने को नहीं सुहाती हूँ,
मैं जो कुछ भी स्वर गाती हूँ, वह स्वयं नहीं सुन पाती हूँ;
दो क्षमा, न दो अपना विराग, सोई चेतना उठे जाग[1]।"

बुद्धिविषयक कार्य-व्यापार में निरत इड़ा का कठोर हृदय यहाँ स्निग्ध और संवेदनशील दिखाई देता है।

प्रतीकरूप में इड़ा व्यवसायात्मिका बुद्धि का प्रतिनिधित्व करती है। इड़ा के चरित्र में प्रसाद जी ने अनियन्त्रित बुद्धिवाद की विफलता और श्रद्धासंयुक्त बुद्धि की सफलता प्रदर्शित की है। श्रद्धारहित बुद्धिवाद संघर्ष, अत्याचार और विद्रोह को जन्म देता है परन्तु श्रद्धासमन्वित होकर वह मानवता को वास्तविक सुख और शान्ति प्रदान करने की क्षमता रखता है।

प्रकृति-चित्रण

कामायनी में प्रकृति विविध रूपों में हमारे सामने आती है। सारे काव्य में विश्व-सुन्दरी प्रकृति को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। कामायनी की सम्पूर्ण कथा प्रकृति की

---

१. कामायनी, दर्शन-सर्ग, पृ० २४०.

गोद में घटित हुई है; उसके पात्रों की क्रीड़ा-स्थली प्रकृति ही है। सन्ध्या, रजनी, प्रभात, पर्वत आदि विविध प्राकृतिक दृश्यों के सजीव और मनोरम चित्रों से कामायनी भरी पड़ी है। कामायनी के प्रथम सर्ग में प्रकृति का भयावह रूप विलासमयी देवसृष्टि का भयंकर परिणाम दिखाने के लिए अंकित हुआ है। समुद्र की फेनिल लहरों का उठना, अन्धकार का प्रसार, आँधियों के झटके, बिजलियों का कड़कना, ज्वालामुखियों का विस्फोट, मेघों की भयावह गर्जना आदि के वर्णन जलप्लावन का सजीव दृश्य उपस्थित करते हैं। एक उदाहरण लीजिए :—

"उधर गरजतीं सिन्धु-लहरियाँ
कुटिल काल के जालों से,
चली आ रहीं फेन उगलती
फन फैलाए व्यालों सी[1]।"

प्रकृति का यह भयावह रूप मनु के विक्षुब्ध हृदय के अनुरूप गम्भीर वातावरण प्रस्तुत करता है। प्रकृति का यह भीषण रूप शीघ्र ही अदृश्य हो जाता है और मनु के हृदय में आशा के उदय के साथ-साथ प्रकृति का सौम्य रूप कामायनी में हमारे सामने आता है :—

"उषा सुनहले तीर बरसती,
जयलक्ष्मी सी उदित हुई,
उधर पराजित कालरात्रि भी,
जल में अन्तर्निहित हुई[2]।"

प्रकृति का यह सौम्य रूप भी मनु के हृदय में आशा के उदय के लिए उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करता है।

कामायनी के प्रथम सर्ग को छोड़कर अन्यत्र प्रकृति का मंगल रूप ही अंकित हुआ है। श्रद्धा और मनु के प्रणय में, इड़ा और मनु के मिलन में तथा अन्त में मनु की अखंड आनन्दानुभूति में सर्वत्र प्रकृति सहयोग देती हुई दिखाई देती है। कामायनी की कथावस्तु के साथ प्रसाद जी ने प्रकृति का ऐसा सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत किया है कि उन दोनों को एक दूसरे से पृथक् करना संभव नहीं।

कामायनी में यथातथ्य रूप में प्रकृति का वर्णन बहुत कम स्थलों पर पाया जाता है। जैसे :—

"लहरें व्योम चूमती उठतीं
चपलाएं असंख्य नचतीं,
तरल जलद की खड़ी झड़ी में
बूँदें निज संसृति रचतीं[3]।"

---

१. कामायनी, चिन्ता सर्ग, पृ० १४
२. कामायनी, आशा सर्ग, पृ० २३
३. कामायनी, चिन्ता सर्ग, पृ० १६

"उसकी तलहटी मनोहर
श्यामल, तृण वीरुध वाली,
नवकुंज, गुहा, गृह सुन्दर,
ह्रद से भर रही निराली।
× × ×
खगकुल किलकार रहे थे
कलहंस कर रहे कलरव,
किन्नरियाँ बनी प्रतिध्वनि
लेती थीं तानें अभिनव[1]।"

प्राकृतिक वस्तुओं के सांगोपांग स्थूल चित्र कामायनी में नहीं पाए जाते। प्रकृति के बाह्य स्वरूप की ओर प्रसाद जी का ध्यान बहुत कम गया है। उसके आन्तरिक सौन्दर्य के उद्‌घाटन में ही उनकी दृष्टि अधिक रमी है।

प्रसाद जी ने प्रकृति का मानवीकरण अनेक स्थलों पर किया है। उन्होंने निर्जीव तथा मूक प्रकृति को चेतता और वाणी प्रदान की है। प्रकृति के अवयवों में मानवीय भावों और चेष्टाओं का आरोप करके भावाक्षिप्त रूप में प्रकृति के अनेक चित्र प्रसाद जी ने खींचे हैं। जैसे :—

"विश्वकमल की मृदुल मधुकरी,
रजनी तू किस कोने से—
आती चूम चूम चल जाती,
पढ़ी हुई किस टोने से।
विकल खिलखिलाती है क्यों तू?
इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर,
तुहिन कणों, फेनिल लहरों में,
मच जावेगी फिर अंधेर[2]।"

प्रकृति के इस प्रकार के सजीव चित्रों में चेतनता की प्रधानता दिखाई देती है। यहां प्रकृति मानव की तरह हास-विलास, हर्ष-उल्लास आदि से परिपूर्ण लक्षित होती है।

जहां-कहीं कामायनी में प्रकृति के स्थूल चित्र अंकित हुए हैं, वहां भी अधिकतर उन चित्रों द्वारा पात्रों के मानसिक भावों की ही व्यंजना हुई है :—

"स्वर्णशालियों की कलमें थीं
दूर दूर तक फैल रहीं,
शरद इन्दिरा के मन्दिर की
मानो कोई गैल रही[3]।"

---

१. कामायनी, आनन्द सर्ग पृ० २८५
२. कामायनी, आशा सर्ग, पृ० ३९
३. कामायनी, आशा सर्ग, पृ० २८

"अचल हिमालय का शोभनतम
लताकलित शुचि सानु शरीर,
निद्रा में सुख स्वप्न देखता
जैसे पुलकित हुआ अधीर[1] ।"

भावाक्षिप्त रूप में प्रकृति के वर्णन में प्रसाद जी को विशेष सफलता मिली है। प्रकृति के विविध रूपों और व्यापारों में मानवीय चेष्टाओं का आरोप करके उन्होंने अपनी सूक्ष्म प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचय दिया है।

कामायनी में प्रकृति के आलंकारिक वर्णन भी बहुत प्रभावशाली और रोचक बन पड़े हैं। जहाँ कवि प्रकृति के अप्रस्तुत रूपों की उपमान रूप में योजना करके प्रस्तुत का वर्णन करता है वहाँ प्रकृति आलंकारिक रूप में हमारे समक्ष आती है। श्रद्धा के सौन्दर्य के वर्णन में प्रकृति का यही रूप चित्रित हुआ है :—

"नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग[2] ।"

× × ×

"घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास,
नील घन-शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास[3] ।"

मनु और श्रद्धा के तुलनात्मक रूपवर्णन में रूपक की योजना द्वारा प्रकृति का भव्य चित्र इन पंक्तियों में अंकित हुआ है :—

"एक जीवन सिन्धु था, तो वह लहर लघु लोल,
एक नवल प्रभात, तो वह स्वर्ण किरण अमोल।
एक था आकाश वर्षा का सजल उद्दाम,
दूसरा रंजित किरण से श्रीकलित घनश्याम[4] ।"

इस प्रकार के अलंकारिक वर्णनों में उपमा, रूपक आदि अलंकारों की योजना भावों की अनुभूति में सहायता पहुँचाती है।

कहीं-कहीं प्रकृति के वाह्य रूप से हट कर कवि की दृष्टि उसके अन्तस् में प्रवेश

---

१. कामायनी, आशा सर्ग, पृ० २६
२. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृ० ४६
३. कामायनी, श्रद्धा सर्ग पृ० ४७
४. कामायनी, वासना सर्ग, पृ० ८१.

करती हुई प्रकृति के अन्दर छिपी हुई रहस्यमयी अज्ञात सत्ता की ओर संकेत करती है[1]।

अनेक स्थलों पर कवि ने पात्रों के हृदय के भावों के साथ प्राकृतिक दृश्यों का सुन्दर तादात्म्य दिखाया है:—

"वह चन्द्रहीन थी एक रात,
जिस में सोया था स्वच्छ प्रात;
उजले उजले तारक झलमल,
प्रतिविम्बित सरिता वक्षस्थल
धारा वह जाती विम्व अटल,
खुलता था धीरे पवन पटल;
चुपचाप खड़ी थी वृक्ष पाँत,
सुनती, जैसे कुछ निजी बात[2]।"

यहाँ मनु के विरह में श्रद्धा के हृदय का सूनापन रजनी की निस्तव्धता में प्रतिविम्बित दीख पड़ता है।

कामायनी में उद्दीपन विभाव के रूप में भी प्रकृति-वर्णन को स्थान दिया गया है। मनु और श्रद्धा के संयोग के अवसर पर प्रकृति उनके हर्ष और उल्लास को बढ़ाती हुई दृष्टिगत होती है। जैसे:—

"देवदारु निकुंज गह्वर सब सुधा में स्नात;
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात।
आ रही थी मदिर भीनी माधवी की गन्ध;
पवन के घन घिरे पड़ते थे बने मधु अन्ध[3]।"

इसी प्रकार मनु और श्रद्धा के विरह-वर्णन में प्रकृति विरहजनित व्यथा को उद्दीप्त करती हुई हमारे सामने आती है:—

"वन बालाओं के निकुंज सब भरे वेणु के मधु स्वर से,
लौट चुके थे आने वाले सुन पुकार अपने घर से;
किन्तु न आया वह परदेशी युग छिप गया प्रतीक्षा में,
रजनी की भीगीं पलकों से तुहिन-विन्दु कण-कण वरसे[4]।"

---

१. जैसे—महानील इस परम, व्योम में, अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण, किसका करते से सन्धान ?
—कामायनी, आशा सर्ग, पृ० २६
उस असीम नीले अंचल में नीरवता की विमल विभूति,
शीतल झरनों की धाराएँ विखरातीं जीवन अनुभूति।
—कामायनी, आशा सर्ग, पृ० २९.

२. कामायनी, दर्शन सर्ग, पृ० २३३.

३. कामायनी, वासना सर्ग, पृ० ८८.

४. कामायनी, स्वप्न सर्ग, पृ० १७८.

श्रद्धा की विरहदशा में कवि ने प्रकृति को श्रद्धा की मनोदशा के अनुकूल ही अंकित किया है। विरहजनित दुख में श्रद्धा प्रकृति के साथ तादात्म्य अनुभव करती है:—

"सन्ध्या नील सरोरुह से जो श्याम पराग बिखरते थे,
शैल घाटियों के अंचल को वे धीरे से भरते थे,
तृण-गुल्मों से रोमांचित नग सुनते उस दुख की गाथा,
श्रद्धा की सूनी साँसों से मिल कर जो स्वर भरते थे[1]।"

ऐसे स्थलों पर प्रकृति के संवेदनात्मक रूप के चित्रण में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है।

प्रसाद जी परिवर्तनशीलता के कारण प्रकृति में नित्य नवीन रूप देखते है। इस नवीनता के कारण प्रकृति के सौन्दर्य में अधिक आकर्षण दिखाई देता है :—

"पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक,
नित्य नूतनता का आनन्द
किए है परिवर्तन में टेक[2]।"

कामायनी में अंकित प्राकृतिक-चित्र बहुत सजीव और आकर्षक हैं। वे ऐश्वर्य, उल्लास और सौन्दर्य से परिपूर्ण हे। चाँदनी रात के वैभव का चित्रण यहाँ मार्मिक शब्दों में किया गया है :—

"रजत कुसुम के नव पराग सी
उड़ा न दे तू इतनी धूल,
इस ज्योत्स्ना की, अरी बावली!
तू इसमें जावेगी भूल।
पगली हाँ, सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल,
देख, बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली!
देख अकिंचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली-भाली[3]।"

---

१. कामायनी, स्वप्न सर्ग, पृ० १७६
२. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृ० ५५
३. कामायनी, आशा सर्ग, पृ० ३९-४०

प्रसाद जी ने प्रकृति में केवल सौन्दर्य को ही नहीं देखा, उसमें चेतना की अनुभूति भी की है। उन्होंने प्रकृति को केवल मानवीय रूप ही नहीं, हृदय भी प्रदान किया है। मानव-जीवन की विविध दशाओं के चित्रण के लिए उन्होंने कई स्थलों पर प्राकृतिक वस्तुओं को प्रतीक-रूप में भी अपनाया है। मानव-हृदय-स्थित भावों की सजीव प्रतिमा के रूप में प्रकृति कामायनी में उपस्थित होती है। मानव-हृदय और प्रकृति के साथ जैसा सामंजस्य इस रचना में दिखाया गया है वैसा हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। कामायनी में मानव-जीवन प्रकृति की गोद में विकसित होकर अन्त में प्रकृति की पावन-भूमि में ही परम शान्ति प्राप्त करता है।

कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि

कामायनी की रचना ऐतिहासिक कथानक को लेकर की गई है पर इस ऐतिहासिक कथानक के साथ दार्शनिकता का समन्वय प्रसाद जी ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है। मनु और श्रद्धा से सम्बन्धित ऐतिहासिक कथा का भव्य भवन दार्शनिक भूमि पर खड़ा किया गया है। कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि इतनी विशाल और चिरस्थायी है कि उसमें समस्त मानव-जाति को आश्रय देने की क्षमता आ गई है। इसी दार्शनिकता के कारण यह रचना मानव-जीवन के चिरन्तन सत्य को प्रकाश में लाती हुई एक सार्वभौम महाकाव्य कहलाने का गौरव प्राप्त कर सकती है।

कामायनी में प्रसाद जी ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' वाले दार्शनिक सिद्धान्त को नहीं अपनाया है। उन्होंने मानव-जीवन की वास्तविकता को स्वीकार करते हुए उसकी समस्याओं का वास्तविक हल हमारे सामने प्रस्तुत किया है। मानव-जीवन और उसके मुख्य उद्देश्य के विषय में विश्व के दार्शनिकों का मतभेद सदैव रहा है। कुछ विद्वान् इस जगत को असत्य, मानव-जीवन को क्षणभंगुर और सांसारिक सौन्दर्य को माया का जाल बताते हुए हमें इस सांसारिक जीवन से विरक्ति का सन्देश देते हैं, पर प्रसाद जी का दृष्टिकोण इन दार्शनिकों से भिन्न है। वे इस सृष्टि को परमात्मा की क्रीड़ाभूमि, मानव-जीवन को भूमा का वरदान और सौन्दर्य को सृष्टिकर्ता का रहस्य मानते हुए अखंड आनंद की प्राप्ति को ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार करते हैं। परमात्मा आनन्दमय है[1] और मानव-जीवन का साध्य उसी आनन्दमय परमात्मा की उपलब्धि है। कामायनी में मनु, श्रद्धा और इड़ा द्वारा शाश्वत मानव-जीवन और उसके साध्य की व्याख्या की गई है। आज का मानव उस श्रद्धा (आस्थामयी हृदय-वृत्ति) को खो बैठा है, जो उसे जीवन के स्वस्थ उपभोग की ओर प्रवृत्त करती है। वह व्यवसायात्मिका बुद्धि को अपनाकर विज्ञान की सहायता से जीवन के सम्पूर्ण सुखों को प्राप्त करने का असफल प्रयत्न कर रहा

---

१. "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।"
—तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली ३, अनुवाक ६

है, पर उसे वास्तविक शान्ति कहीं नहीं मिलती है। भौतिकवाद के चक्र में पड़ कर वह घोर विप्लव और संघर्ष की ओर अग्रसर हो रहा है। श्रद्धा का सम्बल पाकर ही वह इच्छा, कर्म और ज्ञान में सामंजस्य स्थापित करता हुआ वास्तविक सुख प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार कामायनी के आनन्दवाद में मानव-जीवन की समस्याओं का समाधान निहित है।

समरसता-जन्य आनन्द की उपलब्धि कामायनी का साध्य है। यह आनन्दवाद का सिद्धान्त प्रसाद जी ने शैवागमों के प्रत्यभिज्ञादर्शन से लिया है। शैवागमों के अनुसार यह सम्पूर्ण सृष्टि आनन्दमयी है। आनन्द से ही उसकी उत्पत्ति है, आनन्द में ही उसकी स्थिति है और आनन्द में ही उसका लय है। विश्वात्मा में जो कल्याणकारी तत्व है वही शिव है, और यह शिव आनन्दमय है। इस आनन्द की स्फूर्ति ही शक्ति है। शिव और शक्ति में समुद्र और लहरों के समान एकता है। यही शिव और शक्ति क्रमश: आनन्द और प्रकृति के रूप में व्यक्त होते हैं। जिस प्रकार शक्ति शिवमय है उसी प्रकार प्रकृति भी आनन्दमयी है। इस आनन्दमय शिव की प्राप्ति ही मानव का ध्येय है। इस आनन्दमय शिव की व्याख्या शैवागमों में विस्तार के साथ की गई है[1]। प्रसाद जी ने शैवागमों से ही आनन्दवाद को ग्रहण किया है। कामायनी के दर्शन सर्ग में शिव का ताण्डवनृत्य इसी आनन्दवाद की पुष्टि करता है।

शैवागम-प्रतिपादित आनन्दवाद सर्वथा आध्यात्मिक है पर प्रसाद जी ने उसे व्यावहारिक रूप देकर कामायनी में अपनाया है। शैवागमों में प्रतिपादित आनन्दवाद समरसतामूलक है। इच्छा, कर्म और ज्ञान इन तीनों की समरसता आनन्द को उत्पन्न करती है। यही सिद्धान्त कामायनी के रहस्य सर्ग में प्रतिपादित है। श्रद्धा मनु को इच्छा, कर्म और ज्ञान इन तीनों लोकों को दिखा कर उनके सामंजस्य में ही जीवन के वास्तविक सुख का अनुभव कराती है। इच्छा, कर्म और ज्ञान की समरसता के बिना जीवन में वास्तविक सुख संभव नहीं :—

"ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके, यह विडम्बना है जीवन की[2]।"

कामायनी के अनुसार इस समरसता-जन्य आनन्द की साधना मानव का परम लक्ष्य है। दो विरोधी वृत्तियों तथा पदार्थों के द्वन्द्व का अभाव ही समरसता है। मनुष्य के जीवन में सुख और दुःख, हर्ष और शोक आदि विरोधी वृत्तियों में समरसता (समभाव) न होने के कारण ही अशान्ति दिखाई देती है। समरसता की स्थिति में ही मनुष्य आनन्द-

---

१. "परैव सूक्ष्म्या अमाकलारूपया कुण्डलिनी शक्तिः शिवेन सह परस्परसामरस्यरूपमव्य-मव्यकभावात्मकम् संघट्टमासाद्य उत्थिता सति इच्छाज्ञान-क्रियामाश्रित्य रौद्रीत्वम् उन्मुद्रयन्ती वर्णशरीरमुल्लासयति।"
—शिवसूत्रविमर्शिनी, उन्मेष २, सूत्र ३

२. कामायनी, रहस्य सर्ग, पृ० २७२

स्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। कामायनी में इच्छा, कर्म और ज्ञान की समरसता द्वारा जीवन को आनन्ददायक बनाने का मार्ग प्रसाद जी ने दिखाया है। प्रसाद जी ने इस समरसता को केवल आध्यात्मिक क्षेत्र तक ही सीमित न रख कर लौकिक जीवन में भी इसकी सार्थकता सिद्ध की है।

संसार में आनन्द की स्थापना करने के लिए व्यक्ति और समाज के बीच सामरस्य आवश्यक है। श्रद्धा के शब्दों में प्रसाद जी ने संसार की विषमतामूलक अशान्ति और समरसता-जन्य सुख की ओर यहाँ संकेत किया है:—

"विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान,
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।
नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान,
व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुखमणि-गण द्युतिमान[1] ?"

व्यक्ति और समाज की इस समरसता में लोककल्याण निहित है। शाश्वत सुख और आनन्द की जननी यही समरसता है।

प्रसाद जी ने अपने आनन्दवाद की प्रतिष्ठा मुख्यतया शैवागमों के प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के आधार पर की है पर वेदान्त और बौद्धदर्शन के कुछ तत्वों को भी उन्होंने ग्रहण किया है। वैदिक-काल के आत्मवाद से प्रसाद जी के आनन्दवाद को प्रेरणा प्राप्त हुई है। उपनिषदों में भी आत्मा को आनन्दस्वरूप कहा गया है[2] और श्रद्धा द्वारा उसकी उपलब्धि का उल्लेख किया गया है[3]। प्रसाद जी ने जगत् को ब्रह्ममय मानकर भी शंकर के अद्वैतवाद के अनुसार उसे मिथ्या नहीं माना है। सांख्य और बौद्धदर्शन की तरह प्रसाद जी ने जगत् की दुःखात्मकता स्वीकार नहीं की है। वे जगत् को आनन्दमूर्ति शिव का विग्रह समझ कर सत्य और आनन्दमय बताते हैं। शंकर के अद्वैतवाद में ज्ञान की, परन्तु प्रसाद जी के आनन्दवाद में श्रद्धा की प्रधानता है। शंकर के अद्वैतवाद में एक ब्रह्म

१. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृ० ५४

२. "आनन्द आत्मा।"
—तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली २, अनुवाक ५

"एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति।"
—तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली २, अनुवाक ८

३. "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।"
—कठोपनिषद्, बल्ली २, अनुवाक २३

की सत्ता (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या) मानी गई है पर प्रसाद जी के आनन्दवाद में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के अनुसार ब्रह्म और जगत् दोनों में समरसता प्रतिपादित की गई है। शंकर के अद्वैतवाद में माया को आवरण मानकर उसका ब्रह्म से पार्थक्य स्वीकार किया गया है किन्तु प्रसाद जी ने माया को ब्रह्म की शक्ति माना है। ब्रह्म अपनी शक्ति माया के द्वारा अपने रूप को व्यक्त करता है। इस प्रकार प्रसाद जी के अनुसार सत्य (ब्रह्म) से उत्पन्न होने वाली माया भी सत्य है। उनका बौद्धों के नैरात्मवाद में विश्वास नहीं, पर साथ ही बौद्धधर्म की आनन्दवादी महायानशाखा का बहुत-कुछ प्रभाव उनके आनन्दवाद पर पड़ा है। शैवागमों के अतिरिक्त वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, सांख्य तथा बौद्धदर्शन और शंकर के अद्वैतवाद से भी प्रसाद जी ने प्रेरणा ग्रहण की है। उन्होंने अपने आनन्दवाद को किसी परम्परागत दार्शनिक विचारधारा में न बाँध कर उसमें यथोचित नवीनता और मौलिकता की सृष्टि की है। शैवागमों में प्रतिपादित सिद्धान्तों और कामायनी के दार्शनिक विचारों में बहुत-कुछ साम्य होने पर भी भेद दिखाई देता है। शैवदर्शन मुख्यतया व्यष्टि से सम्बन्ध रखता है जबकि कामायनी का दर्शन समष्टि से। कामायनी का दर्शन सामाजिक दर्शन है। वह व्यष्टि के ही विकास से सन्तुष्ट न होकर समष्टि के विकास को भी अपनाता हुआ शैवदर्शन की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप धारण किए हुए है।

प्रसाद जी के आनन्दवाद में श्रद्धा का विशेष स्थान है। आनन्दमय आत्मा की प्राप्ति श्रद्धा (आस्थामयी हृदयवृत्ति) द्वारा ही हो सकती है, विकल्पात्मक बुद्धि से नहीं। श्रद्धा हृदय के दया, माया, ममता, सेवा, सहानुभूति, विश्वास आदि सभी उदात्त भावों की प्रतीक है। श्रद्धा को प्रसाद जी 'सर्वमंगला,' 'विश्वमित्रे,' "कल्याण-भूमि' आदि नामों से पुकारते हे। श्रद्धा का जो स्वरूप कामायनी में मिलता है, वह तन्त्रों के अनुसार निर्मित हुआ है[1]। श्रद्धा में त्रिपुरों को मिलाने की शक्ति तथा उसकी लोककल्याण-क्षमता का वर्णन तन्त्रों में इस प्रकार मिलता है:—

"त्रिपुरानन्तशक्त्यैकरूपिणी सर्वसाक्षिणी।"
"स भवेत् सर्वतो हीनो यः श्रद्धारहितो नरः।
श्रद्धावैधुर्य्ययोगेन विनश्येज्जगतां स्थितिः[2]॥"

श्रद्धा के महत्व का वर्णन वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता आदि विविध ग्रन्थों में भी पाया जाता है। जैसे:—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष
वृणुते तेन लभ्यः[3]।"

---

१. "श्रद्धाहि जगताम् धात्री श्रद्धा सर्वस्य जीवनम्।
तस्मात् श्रद्धां समाश्रित्य लोकः सर्वप्रवर्त्तितः॥"
—त्रिपुरारहस्य, ज्ञानखंड, अध्याय ६

२. त्रिपुरारहस्य, ज्ञानखंड अध्याय ६

३. कठोपनिषद्, वल्ली २, अनुवाक २३

"अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचनी।
जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पोजीर्णमिवत्वचम्[1]।"
"श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् मत्परः संयतेन्द्रियः[2]।"

पर प्रसाद जी ने मुख्यतया तन्त्रों के अनुसार ही श्रद्धा का स्वरूप निश्चित किया है। जीवन में श्रद्धा द्वारा किस प्रकार आनन्द की प्राप्ति हो सकती है, यही बात कामायनी में मनु और श्रद्धा के चरित्र द्वारा प्रदर्शित की गई है। आनन्द की खोज में मनु श्रद्धा से रहित होकर ठोकरें खाते हैं। बुद्धि (इड़ा) की ओर आकृष्ट होकर उस के द्वारा मनु आनन्द प्राप्त करने की आशा करते हैं परन्तु आनन्द के स्थान पर उन्हें कलह, संघर्ष और अशान्ति ही मिलती है। पुनः जब तक वे श्रद्धा का आश्रय नहीं पाते तब तक उन्हें आनन्द की उपलब्धि नहीं होती। अन्त में वे श्रद्धा को अपना कर ही उसकी प्रेरणा से आनन्द की प्राप्ति में सफल होते हैं। प्रसाद जी के आनन्दवाद में बुद्धिवाद का विरोध होने पर भी बुद्धि का सर्वथा परित्याग नहीं हुआ है। बुद्धि श्रद्धा से परिष्कृत हो कर ही आनन्द की उपलब्धि में सहायक हो सकती है। श्रद्धारहित बुद्धि भेदभाव को जन्म देती है और अशान्ति की ओर ले जाती है किन्तु श्रद्धायुक्त होकर वह विश्व के साथ मैत्री उत्पन्न करती हुई आनन्द की अनुभूति में सहयोग दे सकती है। इस प्रकार प्रसाद जी के आनन्दवाद में श्रद्धा को ही आनन्द की प्राप्ति का साधन माना गया है। जीवन-यात्रा में संघर्ष-पीड़ित आत्मा को सम्बल प्रदान करती हुई श्रद्धा ही उसे शान्ति प्रदान कर सकती है:—

"तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन !
विकल होकर नित्य चंचल,
खोजती जब नींद के पल;
चेतना थक सी रही तब,
मैं मलय कीबात रे मन[3] !"

कामायनी के दर्शन में नियति की महत्ता स्वीकार की गई है। प्रसाद जी ने मनुष्य को नियति का दास कहा है। नियति विश्व की नियमन करनेवाली शक्ति है, उस के अनुशासन को सारा विश्व स्वीकार करता है। नियत होने के कारण पूर्वजन्म के कर्मों का फल ही 'नियति' है। प्रसाद जी ने शैवागम-सम्मत नियति का स्वरूप ग्रहण किया है। शैवागमों में नियति कर्मफल देने वाली शिव-शक्ति के रूप में वर्णित है। प्रसाद जी के नियतिवाद में कर्म का त्याग नहीं है। कर्मफल स्वायत्त न होने के कारण नियतिवादी मनुष्य जीवन में अपनी इच्छा के अनुकूल फल न पाकर भी अशान्त नहीं होता। वह

१. महाभारत, शान्तिपर्व २७०, १५
२. गीता, अध्याय ४, ३९
३. कामायनी, निर्वेद सर्ग, पृ० २१६

नियति को 'कर्मफलदात्री' समझ असफलता में भी सन्तुष्ट रहता है। नियतिवाद सुख-दु:ख, हर्ष-शोक, लाभ-हानि आदि दो विरोधी वृत्तियों में समभाव की प्रेरणा देता है। कामायनी में इस नियतिवाद का समर्थन कई स्थलों पर किया गया है। जैसे:—

"उस एकान्त नियति शासन में,
चले विवश धीरे धीरे[1]।"

"इस नियति-नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाच रही।
खोलती शून्यता में प्रतिपद असफलता अधिक कुलाँच रही।।
पावस रजनी में जुगनू गण को दौड़ पकड़ता मैं निराश,
उन ज्योति-कणों का कर विनाश[2]।"

कामायनी का नियतिवाद मनुष्य को निष्क्रियता और नैराश्य की ओर नहीं ले जाता, अपितु निष्काम कर्म में प्रवृत्त करता है।

कामायनी के दर्शन में केवल आध्यात्मिकता ही नहीं, व्यावहारिकता और मनोवैज्ञानिकता भी है। दार्शनिकता की दृढ़ भित्ति पर प्रसाद जी ने मानवता के लिए उस आनन्दभवन की सृष्टि की है जहाँ दु:ख, दैन्य, संघर्ष और विषमता का अन्त हो जाता है:—

"शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है,
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है[3]।"

श्रद्धा द्वारा सन्तुलित बुद्धि का सहयोग पाकर मनुष्य इच्छा, कर्म और ज्ञान का समन्वय करता हुआ अखंड आनन्द में लीन हो सकता है, यही कामायनी का दार्शनिक सन्देश है।

रस-व्यंजना

कामायनी आधुनिक युग की एक उत्कृष्ट रचना है। भावाभिव्यक्ति, रसपरिपाक, अलंकार-योजना, भाषा-सौष्ठव आदि सभी दृष्टियों से कामायनी एक सिद्धहस्त कलाकार की कृति सिद्ध होती है। इस काव्य में कलापक्ष तथा भावपक्ष दोनों का प्रौढ़ निखरा हुआ रूप वर्तमान है। काव्य के आन्तरिक और बाह्य दोनों पक्षों के सौन्दर्य का ऐसा अद्भुत सन्तुलन आधुनिक युग की किसी अन्य कृति में मिलना कठिन है। जिस प्रकार प्रसाद जी ने मानव जीवन का चरम लक्ष्य आनन्द की उपलब्धि स्वीकार किया, उसी प्रकार काव्यजगत् में भी उन्होंने रस (आनन्द) की अनुभूति को प्रमुख स्थान

---

१. कामायनी, आशा सर्ग, पृ० ३४
२. कामायनी, इड़ा सर्ग, पृ० १५८
३. कामायनी, आनन्द सर्ग, पृ० २८८

दिया है। काव्यगत रस भी साक्षात् ब्रह्म (आनन्द) स्वरूप है। कामायनी में काव्यरसिकों के हृदय को रसाभिव्यक्ति-जन्य आनन्द में लीन करने की पूर्ण क्षमता है।

कामायनी में प्रधान रस शृंगार है पर उसकी अन्तिम परिणति शान्तरस में दिखाई देती है। शृंगार के संयोग और विप्रलम्भ दोनों रूप कामायनी में वर्तमान हैं। संयोग और विप्रलम्भ दोनों प्रकार के शृंगार रस का परिपाक कामायनी में अच्छा हुआ है। मनु और श्रद्धा के मिलन-प्रसंग में संयोग शृंगार की सुन्दर व्यंजना हुई है। श्रद्धा के सौन्दर्य का चित्रण मनु के हृदय में रीति का उद्रेक करने में पूर्णतया समर्थ है। श्रद्धा के रूपवर्णन में शृंगार के अनुकूल उद्दीपन विभावों की योजना अनूठी बन पड़ी है:—

"घिर रहे थे घुंघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास,
नील घन-शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।
और उस मुख पर वह मुसक्यान!
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम[1]।"

यहाँ श्रद्धा के अंस-अवलम्बित घुंघराले बाल और उसकी मुस्कराहट मनु के हृदय में रतिभाव को तीव्र करने की पूरी क्षमता रखते हैं। मनु और श्रद्धा के मधुमिलन का एक चित्र देखिए:—

"मधु बरसती विधु किरन है कांपती सुकुमार।
पवन में है पुलक मन्थर, चल रहा मधु-भार।
तुम समीप, अधीर इतने आज क्यों है प्राण?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण[2]?"

यहाँ मनु की हृदयगत रति स्थायीभाव है, श्रद्धा आलम्बन है और मधु बरसती चन्द्रकिरण तथा सुगन्धित मन्थर पवन उद्दीपन विभाव है। मनु का उत्सुकता से श्रद्धा की ओर देखना अनुभाव है। उत्सुकता, चिन्ता, हर्ष आदि संचारीभाव हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से परिपुष्ट होकर रति स्थायीभाव यहाँ संयोगशृंगार का रूप धारण कर लेता है।

मनु के प्रेमपूर्ण व्यवहार से श्रद्धा के हृदय में रति के उदय होने पर उसकी विविध चेष्टाओं के रूप में अनुभावों की सुन्दर व्यंजना इन पंक्तियों में हुई है:—

"गिर रही पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रूलता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक!

---

१. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृ० ४७.
२. कामायनी, वासना सर्ग, पृ० ८९.

स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गदगद बोल[१] ।"

हृदय में रतिभाव के पल्लवित हो जाने पर श्रद्धा के शरीर में अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। उसकी पलकों का गिरना, नासिका की नोक का झुकना, भौंहों का कान तक खिच जाना, लज्जा के कारण कान और कपोलों पर लाली का उदय, शरीर का पुलकित होना और वाणी का गदगद हो उठना आदि अनुभावों की यहाँ सुन्दर योजना हुई है।

विप्रलम्भ शृंगार के भी मार्मिक चित्र कामायनी में अंकित हैं। मनु के विरह में श्रद्धा की दयनीय दशा का एक चित्र यहाँ प्रस्तुत किया गया है :—

"कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरन्द रहा,
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ ?
वह प्रभात का हीनकला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह सन्ध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ[२] ।"

'एक चित्र बस रेखाओं का' इन शब्दों में विरहिणी श्रद्धा की कृशता की कितनी सुन्दर व्यंजना हुई हैं ! कामायनी में श्रद्धा का विरहवर्णन संक्षिप्त होता हुआ भी भावपूर्ण और मार्मिक है। उसमें स्मृति, चिन्ता, दैन्य, विषाद आदि विविध मनोदशाओं की अभिव्यक्ति मनोवैज्ञानिक ढंग से हुई है।

शृंगार-रस के अतिरिक्त शान्त, वीर, रौद्र, बीभत्स और वात्सल्य आदि रसों की व्यंजना भी कामायनी में यत्र-तत्र दिखाई देती है। सांसारिक जीवन में संघर्ष और निस्सारता के ज्ञान से मनु के हृदय में निर्वेद (विरक्ति) उत्पन्न होता है और यही निर्वेद विकसित होकर अन्त में शान्त रस में परिणत हो जाता है। बीभत्स रस का निर्वाह निम्नलिखित पंक्तियों में अच्छा हुआ है :—

"यज्ञ समाप्त हो चुका तो भी,
धधक रही थी ज्वाला,
दारुण दृश्य रुधिर के छींटे !
अस्थिखण्ड की माला।
वेदी की निर्मम प्रसन्नता,
पशु की कातर वाणी
मिल कर वातावरण बना था,
कोई कुत्सित प्राणी[३] ।"

---

१. कामायनी, वासना सर्ग, पृ० ९४
२. कामायनी, स्वप्न सर्ग, पृ० १७५
३. कामायनी, कर्म सर्ग, पृ० ११६

श्रद्धा की इच्छा के विरुद्ध, मनु पशुवलि देकर यज्ञ रचते हैं। यज्ञ की समाप्ति पर वलिवेदी के घृणाजनक दृश्य का यहाँ सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। यहाँ वलिवेदी आलम्वन विभाव है। रुधिर के छींटे, अस्थिखंड, पशु की कातर वाणी आदि उद्दीपन विभाव हैं। नाक-भौंह सिकोड़ना, मुंह फेरना आदि अनुभाव और आवेग, मूर्च्छा आदि संचारीभाव यहाँ वर्णित नहीं हैं किन्तु उनका अध्याहार हो जाता है।

वात्सल्य रस की छटा कामायनी में श्रद्धा और उस के पुत्र मानव के प्रेमपूर्ण व्यवहार में यत्र-तत्र दिखाई देती है। एक उदाहरण लीजिए:—

"मां"—फिर एक किलक दूरागत गूंज उठी कुटिया सूनी,
मां उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कण्ठा दूनी;
लुटरी खुली अलक, रजधूसर बाहें आकर लिपट गई,
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी[1] !"

यहाँ श्रद्धा के हृदय का पुत्र-प्रेम स्थायीभाव है। मानव आलम्बन है। उसका किलकना, उस की लटकती हुई लटें और धूसर वाहें उद्दीपन विभाव हैं। श्रद्धा का उठ कर उसे हृदय से लगाना अनुभाव है। हर्ष, उत्सुकता आदि संचारीभाव हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारीभावों से परिपुष्ट होकर श्रद्धा का हृदय-गत पुत्र-प्रेम यहाँ वात्सल्य रस का रूप धारण करता है।

कामायनी में कई स्थलों पर रस के विभाव, अनुभाव, संचारी आदि सभी अवयवों की सांगोपांग योजना नहीं पाई जाती। कहीं केवल आलंबन अथवा उद्दीपन विभावों, कहीं केवल अनुभावों अथवा संचारीभावों की ही योजना देखने को मिलती है पर ऐसे स्थलों पर भी रस की व्यंजना भली-भांति हो जाती है। लज्जा सर्ग में लज्जा नामक संचारीभाव का ऐसा मार्मिक चित्र अंकित हुआ है कि वह अकेले ही रसोद्रेक में समर्थ दीख पड़ता है। इस प्रकार भावव्यंजना और रस-परिपाक की दृष्टि से कामायनी एक सफल महाकाव्य सिद्ध होता है। रामचरितमानस जैसे महाकाव्यों के समान कामायनी में विविध रसों का पूर्ण परिपाक तो नहीं दिखाई देता, पर मानव-हृदय के जितने भावों की अभिव्यक्ति उस में हुई है वे जीवन का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करने में पूर्णतया समर्थ हैं।

अलंकार-योजना

प्रसाद जी ने विविध अलंकारों की समुचित योजना द्वारा कामायनी के काव्य-सौन्दर्य की समृद्धि की है। कामायनी में अलंकार केवल वाह्य-सौन्दर्य की ही वृद्धि नहीं करते, वरन् भावाभिव्यक्ति में भी सहायता पहुँचाते हैं। शब्दालंकारों में से अनुप्रास, वीप्सा, श्लेष आदि का यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है किन्तु केवल शाब्दिक चमत्कार दिखाने के लिए कहीं भी उनकी योजना नहीं हुई है। जैसे:—

---

१. कामायनी, स्वप्न सर्ग, पृ० १७९

"कंकण क्वणित, रणित नुपुर थे,
हिलते थे छाती पर हार[1] ।"
"वह अनंग पीड़ा अनुभव-सा
अंग भंगियों का नर्त्तन,
मधुकर के मरन्द-उत्सव सा
मदिरभाव से आवर्त्तन[2] ।"
"सुरा सुरभिमय वदन अरुण वे
नयन भरे आलस अनुराग;
कल कपोल था जहाँ बिछलता
कल्पवृक्ष का पीत पराग[3] ।"
"कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मँडराती[4] ।"
"जीवन! जीवन! की पुकार है
खेल रहा है शीतल-दाह[5]।"

ऐसे स्थलों पर अनुप्रास और वीप्सा जैसे शब्दालंकारों का प्रयोग स्वाभाविकता लिए हुए है। 'कंकण क्वणित रणित नुपुर थे' इन शब्दों में अनुप्रास की छटा के साथ-साथ नाद-सौन्दर्य भी वर्तमान है।

अर्थालंकारों में से अधिकतर उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा जैसे सादृश्यमूलक अलंकारों की योजना कामायनी में अधिक हुई है, क्योंकि ये सादृश्यमूलक अलंकार भाव-व्यंजना में अधिक सहायता पहुँचाते हैं। इन अर्थालंकारों के प्रयोग में कहीं भी पाण्डित्य-प्रदर्शन की चेष्टा नहीं दिखाई देती और न उनमें कल्पनाओं की दुरूहता ही वर्तमान है। उपमा को कामायनी में विशेष स्थान मिला है। मूर्त और अमूर्त सभी प्रकार के उपमानों का प्रयोग प्रसाद जी की उपमाओं में पाया जाता है। प्रसाद जी की उपमाएँ भावपूर्ण और अनूठी हैं; वे उनके सूक्ष्म कल्पना-कौशल का परिचय देती हैं। कतिपय उदाहरण देखिए:—

"तरुण तपस्वी-सा वह बैठा,
साधन करता सुर-श्मशान[6] ।"

---

१. कामायनी, चिन्ता सर्ग, पृ० ११
२. कामायनी, चिन्ता सर्ग, पृ० ११
३. कामायनी, चिन्ता सर्ग, पृ० ११
४. कासायनी, स्वप्न सर्ग, पृ० १७५
५. कामायनी, आशा सर्ग, पृ० २७
६. कामायनी, चिन्ता सर्ग, पृ० ३

"उधर गरजतीं सिन्धु लहरियां
कुटिल काल के जालों सी;
चली आ रहीं फेन उगलती
फन फैलाये व्यालों सी[1] ।"

"उषा सुनहले तीर बरसती
जयलक्ष्मी सी उदित हुई[2] ।"

"नव कोमल आलोक विखरता
हिम संसृति पर भर अनुराग;
सित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग[3] ।"

उपमा के ऐसे अन्य कई उदाहरण कामायनी में वर्तमान हैं[4] ।

रूपक अलंकार का प्रयोग प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण तथा रूपवर्णन में कई स्थलों पर हुआ है। निम्नलिखित पद्यों में रूपक की सुन्दर योजना वन पड़ी हैं:—

"सिन्धु-सेज पर धरा-वधू अब
तनिक संकुचित वैठी सी[5] ।"

"सन्ध्या घनमाला की सुन्दर
ओढ़े रंग-विरंगी छींट,
गगन चुंविनी शैल-श्रेणियां
पहने हुए तुषार-किरीट[6] ।"

१, कामायनी, चिन्ता सर्ग, पृ० १४

२. कामायनी, आशा सर्ग, पृ० २३

३. कामायनी, आशा सर्ग, पृ० २३

४. जैसे—"थी अनन्त की गोद सदृश जो, विस्तृत गुहा वहां रमणीय।"
—कामायनी, आशा सर्ग, पृ० ३०

"घिर रहे थे घुंघराले वाल, अंस अवलम्वित मुख के पास ।
नील घन-शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास ।"
—कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृ० ४७

"केतकीगर्भ-सा पीला मुंह, आंखों में आलस भरा स्नेह,
कुछ कृशता नई लजीली थी, कंपित लतिका-सी लिये देह।"
—कामायनी, ईर्ष्या सर्ग, पृ० १४२

"शिथिल शरीर वसन विशृंखल, कवरी अधिक अधीर खुली।
छिन्न-पत्र मकरन्द लुटी-सी, ज्यों मुरझाई हुई कली ।।"
—कामायनी, निर्वेद सर्ग, पृ० २१२

५. कामायनी, आशा सर्ग, पृ० २४.

६. कामायनी, आशा सर्ग, पृ० ३०.

"ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्ववन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कम्प-सी मतवाली !
हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल रेखा !
हरी भरी-सी दौड़-धूप, ओ,
जलमाया की चल रेखा[1] !"

"विश्व-कमल की मृदुल मधुकरी
रजनी तू किस कोने से
आती चूम-चूम चल जाती
पढ़ी हुई किस टोने से[2] ।"

ऐसे उदाहरणों में कविकल्पना रूपकों का भव्यभवन खड़ा कर देती है और अमूर्त भावों की व्यंजना को हृदयंगम करने में सहायता पहुँचाती है।

उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग भी प्रसाद जी ने सफलता से किया है। उत्प्रेक्षा के प्रयोग में कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है। उनकी उत्प्रेक्षाएँ भावों में तीव्रता लाने और रसोद्रेक में सफल सिद्ध होती हैं। निम्नोद्धृत उदाहरण इस कथन की पुष्टि करते हैं:—

"बार बार उस भीषण रव से
कँपती धरती देख विशेष,
मानो नील व्योम उतरा हो
आलिंगन के हेतु अशेष[3] ।"

"नेत्र निमीलन करती मानो
प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने[4] ।"

उपर्युद्धृत पद्यों के अतिरिक्त अन्य कई स्थलों पर कामायनी में उत्प्रेक्षा की

१. कामायनी, चिन्ता सर्ग, पृ० ५

२. कामायनी, आशा सर्ग, पृ० ३६

३. कामायनी, चिन्ता सर्ग, पृ० १४

४. कामामनी, आशा सर्ग, पृ० २३

सुन्दर योजना दिखाई देती है[1]।

इस प्रकार कामायनी में कवि ने अलंकारों की योजना द्वारा अनेक सूक्ष्म और भावपूर्ण चित्र उपस्थित किए हैं। प्रसाद जी ने अनेक स्थलों पर मूर्त वस्तुओं के लिए अमूर्त और अमूर्त भावों के लिए मूर्त सादृश्य प्रस्तुत किए हैं। इस प्रकार की सादृश्य-योजना द्वारा वे भाव या वस्तु के स्वरूप-बोध कराने तथा भावों में तीव्रता लाने में अधिक समर्थ हुए हैं। उनके अलंकारों में कृत्रिमता नहीं है; भावों की अभिव्यक्ति और काव्य-सौन्दर्य की समृद्धि के लिए प्रसाद जी ने अलंकारों को अपनाया है। अलंकारों के प्रयोग से प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करने तथा विविध मनोवृत्तियों को सजीव रूप देने में प्रसाद जी ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। उनके अलंकारों में रमणीयता, मार्मिकता और सरसता वर्तमान है। काव्य के सहज सौन्दर्य को अधिक से अधिक आकर्षक और प्रभावशाली बनाने में कामायनी के अलंकार पूर्णतया समर्थ हैं। काव्य के नीरस और दुरूह विषय को सरस, प्रभावशाली और मनोरम बनाने का बहुत-कुछ श्रेय प्रसाद जी की अलंकार-योजना को ही है।

भाषा-शैली

कामायनी की भाषा सरस, भावपूर्ण और प्रांजल है। वह कवि के हृदय की अनुभूतियों को पाठक के हृदय तक पहुँचाने में पूर्णतया समर्थ है। उसमें माधुर्य गुण की प्रधानता है; कर्णकटु शब्दों का अभाव है। कामायनी की भाषा में चित्रमयता स्थल-स्थल पर दृष्टिगत होती है। शब्दचित्रों और भावचित्रों के अनेक सुन्दर उदाहरण इसमें पाए जाते हैं। शब्दों के उपयुक्त चुनाव-द्वारा विविध दृश्यों और भावों की सजीव मूर्तियाँ खड़ी करने में प्रसाद जी बड़े कुशल हैं। लज्जा सर्ग में नारी-हृदय में उत्पन्न होने वाली लज्जा के मनोरम चित्र अंकित किए गये हैं। लज्जा के कारण स्त्री-हृदय में उत्पन्न होने वाले विविध भावों और शारीरिक विकारों के चित्रण की सफलता मुख्यतया उपयुक्त भावानुकूल शब्दों के प्रयोग पर आश्रित है। लज्जा के एक-दो चित्र देखिए:—

---

१. जैसे— "मानो हँसी हिमालय की है,
फूट चली करती कल गान।"

—कामायनी, आशा सर्ग, पृ० २९

"मानो तुंग तरंग विश्व की
हिमगिरि की वह सुढर उठान।"

—कामायनी, आशा सर्ग, पृ० ३०

"सोने की सिकता में मानो,
कालिंदी बहती भर उसास।"

—कामायनी, ईर्ष्या सर्ग, पृ० १४२

"वैसी ही माया में लिपटी,
अधरों पर उँगली धरे हुए,
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुए[1] ।"
"छूने में हिचक, देखने में,
पलकें आंखों पर झुकती है,
कलरव परिहास भरी गूँजें,
अधरों तक सहसा रुकती है[2] ।"

कामायनी की भाषा में अमूर्त भावों के मूर्त चित्र अंकित करके उन भावों की अनुभूति में तीव्रता लाने की पूर्ण क्षमता है । विशेषणों के प्रयोग में प्रसाद जी बड़े निपुण हैं। चिन्ता के लिए 'विश्व-वन-व्याली,' 'अभाव की चपल बालिका' आदि विशेषण कितने भावपूर्ण हैं ? इसी प्रकार मृत्यु के लिए 'चिर-निद्रा,' रजनी के लिए 'इन्द्रजाल-जननी' नक्षत्रों के लिए 'तम के सुन्दरतम रहस्य' और विश्व के लिए 'कर्म-रंगस्थल' आदि विशेषण विविध भावों को बोधगम्य कराने में सहायक सिद्ध होते हैं । कहीं-कहीं सुन्दर विशेषणों के प्रयोग से सूक्ष्म भाव-चित्र भी प्रस्तुत किए गए हैं।

प्रसाद जी की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग । हृदय के सूक्ष्म भावों और रूप-व्यापारों को व्यक्त करने के लिए उन्होंने लक्षणा और व्यंजना का आश्रय लेकर ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो उन भावों तथा रूप-व्यापारों के प्रतीक बनकर उनके सजीव चित्र प्रस्तुत करने की क्षमता रखते हैं । कामायनी में ऐसे लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग प्रचुर परिमाण में हुआ है। भाषा की इस लाक्षणिकता और प्रतीकात्मकता के कारण भावाभिव्यक्ति में अधिक रमणीयता और सजीवता आ गई है। जैसे :—

"मधुमय वसन्त जीवन वन के
वह अन्तरिक्ष की लहरों में;
कब आए थे तुम चुपके से
रजनी के पिछले पहरों में!
क्या तुम्हें देखकर आते यों
मतवाली कोयल बोली थी!
उस नीरवता में अलसाई
कलियों ने आँखें खोली थीं[3] !"

---

१. कामयनी, लज्जा सर्ग, पृ० ६७
२. कामायनी, लज्जा सर्ग, पृ० ६६
३. कामायनी, काम सर्ग, पृ० ६३

यहाँ 'मधुमय वसन्त का' यौवन के, 'रजनी के पिछले पहर' का किशोरावस्था के, 'मतवाली कोयल' का सौन्दर्य के और 'कलियों' का प्रेम के प्रतीक के रूप में प्रयोग किया गया है। कामायनी में ऐसे प्रतीकात्मक एवं लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग वाह्य सादृश्य के आधार पर नहीं, मुख्यतया आन्तरिक प्रभाव-साम्य के आधार पर हुआ है।

कामायनी की भाषा साधारणतया वोधगम्य है। यत्र-तत्र प्रसाद जी ने मूर्त उपमानों के स्थान पर अमूर्त को अपनाया है और नवीन कल्पनाओं की भी सृष्टि की है। ऐसे स्थलों पर उनकी भाषा साधारण पाठकों के लिये दुरूह-सी हो गई है। इड़ा के रूपवर्णन में भाषा की दुरूहता का एक उदाहरण देखिये :—

"बिखरीं अलकें ज्यों तर्क जाल
वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशिखंड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक-से दृग देते अनुराग विराग ढाल
गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिस में भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा जीवन-रस सार लिये
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिये
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल
चरणों में थी गति भरी ताल[1]।"

यहाँ नवीन कल्पनाओं के प्रयोग के कारण साधारण पाठक के लिए भाषा कुछ क्लिष्ट-सी हो गई है। कामायनी की भाषा में जहाँ-कहीं दुरूहता दिखाई देती है वह मुख्यतया विषय की गहनता के कारण है। थोड़ी-बहुत दुरूहता के होते हुए भी एक गम्भीर दार्शनिक विषय को सरस, मार्मिक और हृदयंगम वनाने में प्रसाद जी को पर्याप्त सफलता मिली है। भाव-गाम्भीर्य और भाषा-सौष्ठव का अद्भुत समन्वय कामायनी में दिखाई देता है। कामायनी की भाषा में माधुर्य के साथ-साथ प्रसाद गुण भी पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। जैसे:—

"दुख की पिछली रजनी वीच, विकसता सुख का नवल प्रभात।
एक परदा यह झीना नील, छिपाये है जिस में सुख गात[2]॥"
"जहाँ तामरस इन्दीवर या सित शतदल हैं मुरझाये,
अपने नालों पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आये,
वह जलधर जिस में चपला या श्यामलता का नाम नहीं,
शिशिर कला की क्षीण स्रोत वह जो हिमतल में जम जाये[3]।"

---

१. कामायनी, इड़ा सर्ग, पृ० १६८
२. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृ० ५३
३. कामायनी, स्वप्न सर्ग, पृ० १७५

"नहीं पा सका हूँ मैं जैसे, जो तुम देना चाह रही,
क्षुद्र पात्र ! तुम उसमें कितनी, मधुधारा हो ढाल रही।
सब बाहर होता जाता है, स्वगत उसे मैं कर न सका,
बुद्धि-तर्क के छिद्र हुए थे, हृदय हमारा भर न सका[1] ।"
"मैं क्या दे सकती तुम्हें मोल, यह हृदय ? अरे दो मधुर बोल,
मैं हँसती हूँ रो लेती हूँ, मैं पाती हूँ खो देती हूँ,
इससे ले उसको देती हूँ, मैं दुख को सुख कर लेती हूँ[2] ।"

इस प्रकार कामायनी में भाषा पर प्रसाद जी का पूर्ण अधिकार दिखाई देता है। अधिक-से-अधिक भावों को व्यक्त करने के लिए कम-से-कम शब्दों के प्रयोग में उन्होंने अद्भुत कौशल दिखाया है। कामायनी में सर्वत्र भाषा की रमणीयता, भावों की मार्मिकता और शैली की प्रौढ़ता वर्तमान है।

नवयुग की अभिव्यक्ति

महाकाव्य का रचयिता एक क्रान्तदर्शी प्रतिभाशाली कवि होता है। वह अपनी अन्तर्भेदिनी दृष्टि द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों का साक्षात्कार करता है। उसकी कृति का सम्बन्ध चाहे अतीत से ही क्यों न हो, उस पर उस युग का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है जिस युग में उसके रचयिता ने जन्म लिया हो। कामायनी के रचयिता प्रसाद जी आधुनिक युग के कवि हैं। उनकी कामायनी में जहाँ पुरातन ऐतिहासिक कथानक के अनुरूप अतीत का चित्रण हुआ है, वहाँ उसमें उस वर्तमान युग का स्वर भी सुनाई देता है जिसे कवि ने स्वयं अपनी आँखों से देखा है। वर्तमान युग की विविध समस्याओं तथा विचारधाराओं से प्रभावित होकर ही प्रसाद जी ने कामायनी की रचना की है। वस्तुतः कामायनी की रचना की प्रेरणा कवि को आज के संघर्षमय बुद्धिवादी युग से ही प्राप्त हुई है। इसलिए कामायनी जहाँ एक ओर आदि-मानव मनु और आद्या-नारी श्रद्धा से सम्बन्धित आदि-युग का चित्र प्रस्तुत करती है, वहाँ दूसरी ओर वह वर्तमान युग का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता भी रखती है।

आज का बुद्धिवादी मानव विज्ञान की सहायता से भौतिक सुखों की सामग्री जुटाने में लगा हुआ है। वह सुख की खोज में निरन्तर प्रयत्नशील होकर इधर-उधर भटकता फिरता है। नवीन वैज्ञानिक अनुसन्धानों को जन्म देनेवाली बुद्धि उसे भौतिक सुखों का मार्ग दिखाती है, किन्तु जीवन को सुखमय बनाने के अनेक साधनों के अस्तित्व में भी उसकी तृप्ति नहीं होती। अन्ततः सुखप्राप्ति के प्रयत्न में उसे विफलता और निराशा ही दिखाई देती है। सुख और शान्ति के स्थान पर उसे दुःख और असन्तोष ही अधिक प्राप्त होता है। आज के बुद्धिवादी मानव की भौतिक सुखों को हस्तगत करने के

१. कामायनी, निर्वेद सर्ग, पृ० २२८
२. कामायनी, दर्शन सर्ग, पृ० २३७

लिए अन्धकार की दौड़ के फलस्वरूप विनाश की ओर अग्रसर होने वाले वर्तमान युग का सजीव चित्र कामायनी की ऐसी पंक्तियों में चित्रित हुआ है:—

"अनवरत उठे कितनी उमंग
चुम्बित हों आँसू जलधर से अभिलाषाओं के शैल शृंग
जीवन नद हाहाकार भरा, हो उठती पीड़ा की तरग
लालसा भरे यौवन के दिन, पतझड़ से सूखे जायें बीत
सन्देह नये उत्पन्न रहें उनसे सन्तप्त सदा सभीत
फैलेगा स्वजनों का वियोग बनकर तमवाली श्याम अमा
दारिद्र्य दलित बिलखाती हो यह शस्य-श्यामला प्रकृति रमा
दुख नीरद में बन इन्द्रधनुष बदले नर कितने नये रंग
बन तृष्णा ज्वाला पतंग[१]।"

कामायनी के नायक मनु के चरित्र में आज के बुद्धिवादी मानव की सुखोपभोग-लालसा और अतृप्त वासना की मनोरम अभिव्यक्ति हुई है। मनु इन्द्रिय-जन्य सुख की खोज में भटकते हुए वर्तमान युग के मानव का सच्चा प्रतिनिधि है। आज का युग विज्ञान का युग है। विज्ञान का हमारे जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ रहा है। समाज या राष्ट्र को उन्नत बनाने के लिए अनेक वैज्ञानिक साधनों का आविष्कार हो रहा है। विज्ञान के प्रभाव से आज के मनुष्य के 'स्व' का अधिक विस्तार हो गया है। वह अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए और दूसरों को समूल नष्ट करने के लिये वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों और आविष्कारों का प्रयोग करता हुआ दिखाई देता है। कामायनी में सारस्वत नगर की अस्थायी भौतिक उन्नति तथा अन्त में उसके विनाश का चित्र अंकित करके प्रसाद जी ने वर्तमान युग की इसी वैज्ञानिक उन्नति के दुष्परिणाम की ओर संकेत किया है:—

"वह सारस्वत नगर पड़ा था,
क्षुब्ध मलिन कुछ मौन बना,
जिसके ऊपर विगत कर्म का,
विष विषाद आवरण तना[२]।"

कामायनी में कवि ने आज के विलासमय भौतिक जीवन के दुष्परिणाम का सजीव चित्र अंकित करते हुए मृग-तृष्णा के समान सुखों की ओर भागते हुए मानव को समरसतामूलक शाश्वत आनन्द का मार्ग दिखाया है। संघर्ष सर्ग में आधुनिक यान्त्रिक सभ्यता की बुराइयों का उद्घाटन विस्तार के साथ किया गया है। इस यान्त्रिक सभ्यता का केन्द्र है कामायनी का सारस्वत नगर। सारस्वत नगर की अशान्ति, विद्रोह और विप्लव में इसी यान्त्रिक सभ्यता के भीषण परिणाम का चित्र अंकित हुआ है। आज का मानव

१. कामायनी, इड़ा सर्ग, पृ० १६४
२. कामायनी, निर्वेद सर्ग, पृ० २०५

नए-नए यन्त्रों और आविष्कारों द्वारा प्रकृति की शक्तियों पर विजय प्राप्त करना चाहता है। प्रकृति के साथ उसका रागात्मक सम्बन्ध टूटता जा रहा है। प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की उसकी इस चेष्टा के विरुद्ध प्रकृति समय-समय पर विद्रोह कर बैठती है। प्रकृति और मानव का यह सम्वन्ध-विच्छेद आज के जीवन में अनेक संघर्षो का कारण बन गया है। आज के मानव की प्रकृति पर विजय पाने की चेष्टा तथा उसके परिणाम-स्वरूप प्रकृति के विद्रोह की अभिव्यक्ति कामायनी के ऐसे पद्यों में हुई है :—

"रुधिर भरी वेदियाँ भयकरी उनमें ज्वाला!
विनयन का उपचार तुम्हीं से सीख निकाला।
चार वर्ण बन गये बँटा श्रम उनका अपना,
शस्त्र यन्त्र बन चले, न देखा जिनका सपना।
आज शक्ति का खेल खेलने में आतुर नर,
प्रकृति संग संघर्ष निरन्तर अब कैसा डर?
बाधा नियमों की न पास में अब आने दो।
इस हताश जीवन में क्षण सुख मिल जाने दो[1] ॥"

× × ×

"देखो यह दुर्धर्ष प्रकृति का इतना कंपन!
मेरे हृदय समक्ष क्षुद्र है इसका स्पन्दन!
इस कठोर ने प्रलय खेल है हँस कर खेला!
किन्तु आज कितना कोमल हो रहा अकेला[2]?"

प्रसाद जी की कामायनी आधुनिक युग की प्रतिनिधि रचना है। उसमें आज के युग की अनेक समस्याओं का समावेश दिखाई देता है। शासक और शासित की समस्या, पूँजीपति और श्रमिकों की समस्या एवं जाति-वर्ग-गत भेद की समस्या जैसी वर्तमान युग की समस्याओं का चित्रण कामायनी में प्रमुख रूप से हुआ है। मनु के शासन-काल में सारस्वत नगर की अशान्ति, अव्यवस्था और क्रान्ति में ये सारी समस्याएँ अच्छी तरह मुखरित हुई हैं। जैसे :—

"यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि
द्वयता में लगी निरन्तर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि
अनजान समस्याएँ गढ़ती रचती हो अपनी ही विनष्टि
कोलाहल कलह अनन्त चले, एकता नष्ट हो, बढ़े भेद

---

१. कामायनी, संघर्ष सर्ग, पृ० १६६
२. कामायनी, संघर्ष सर्ग, पृ० १६४

अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, मिले अनिच्छित दुखद खेद
हृदयों का हो आवरण सदा अपने वक्षस्थल की जड़ता
पहचान सकेंगे नहीं परस्पर चले विश्व गिरता पड़ता
तब कुछ भी हो यदि पास भरा पर दूर रहेगी सदा तुष्टि
दुख देगी यह संकुचित दृष्टि[1] ।"

"यह विज्ञानमयी अभिलाषा, पंख लगाकर उड़ने की,
जीवन की असीम आशाएँ कभी न नीचे मुड़ने की,
अधिकारों की सृष्टि और उनकी वह मोहमयी माया,
वर्गों की खाँई बन फैली कभी नहीं जो जुड़ने की[2] ।"

स्वेच्छाचारी शासक और प्रजा के बीच वैमनस्य की भावना आज प्रबल रूप धारण कर चुकी है। आज के सत्ताधारी शासक प्रजा के हितों की उपेक्षा करके उस पर अपना प्रभुत्व बनाए रखना चाहते हैं। स्वयं नियमों की उपेक्षा करते हुए वे निरीह प्रजा को अपने नियन्त्रण में रखने के लिये प्रयत्नशील हैं। शासक की यह निरंकुशता उसके और प्रजा के बीच संघर्ष को जन्म देती है। मनु के इन शब्दों में प्रसाद-युग के शासकों की वाणी का स्वर स्पष्ट सुनाई देता है:—

"कितने जब से भर कर इनका चक्र चलाया,
अलग-अलग ये एक हुई, पर इनकी छाया ।।
मैं नियमत के लिये बुद्धि-बल से प्रयत्न कर।
इनको कर एकत्र, चलाता नियम बना कर ।।
किन्तु स्वयं भी क्या वह सब कुछ मान चलूँ मैं।
तनिक न मैं स्वच्छन्द, स्वर्ण-सा सदा गलूँ मैं ।।
जो मेरी है सृष्टि उसी से भीत रहूँ मैं।
क्या अधिकार नहीं कि कभी अविनीत रहूँ मैं[3] ।।"

आज पूँजीपति और श्रमिकों के बीच भी विषमता बढ़ती जा रही है। पूँजीपति श्रमिकों के शोषण-द्वारा सम्पत्ति के संचय में लगे हुए हैं। श्रमिकों को भर-पेट भोजन भी नहीं मिलता, किन्तु उनके श्रम पर जीवित रहने वाले पूँजीपति विलासी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। पूँजीपतियों की धन-लिप्सा और निर्धन श्रमिकों के असन्तोष की ओर कामायनी में कई स्थलों पर स्पष्ट संकेत किया गया है। जाति-भेद और वर्ग-भेद के कारण आज का मानव-समाज जर्जरित हो रहा है। इस जाति-वर्ग-गत भेदभाव के कारण उत्पन्न होने वाली विषम परिस्थिति का भी कामायनी में दिग्दर्शन कराया गया है।

---

१. कामायनी, इड़ा सर्ग, पृ० १६४
२. कामायनी, स्वप्न सर्ग, पृ० १८६
३. कामायनी, संघर्ष सर्ग, पृ० १८६-१६०

आज का युग नारी-जागरण का युग है। आधुनिक नारी स्वतन्त्र होने तथा पुरुष के समान अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील है। कामायनी में नारी-स्वातन्त्र्य-सम्बन्धी नूतन विचारधाराओं की भी यत्र-तत्र सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। आज की भारतीय नारी अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होकर समाज की रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करती हुई दिखाई देती है। अब तक पुरुष ने उसे अपने नियन्त्रण में रखकर उसके प्रति समय-समय पर अन्याय भी किया और उसे अपनी वासना की पूर्ति का एक साधनमात्र समझा। प्रसाद जी ने नारी के प्रति पुरुष के ऐसे व्यवहार की तीव्र आलोचना करते हुए नारी को उसके सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। मनु के रूप में आज के मानव को उन्होंने नारी का सम्मान करने की प्रेरणा प्रदान की है :—

"मनु तुम श्रद्धा को गये भूल
उस पूर्ण आत्मविश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल
तुमने तो समझा असत विश्व जीवन धागे में रहा झूल
जो क्षण बीतें सुख-साधन में उनको ही वास्तव लिया मान
वासना तृप्ति ही स्वर्ग बनी, यह उलटी मति का व्यर्थ ज्ञान
तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की
समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की[1]।"

नारी-स्वातन्त्र्य-सम्बन्धी दो विचारधाराएँ आज हमारे सामने प्रस्तुत हैं। कुछ लोग भारतीय नारी को पाश्चात्य नारी के समान स्वतन्त्र देखना चाहते हैं और दूसरे भारतीय संस्कृति और आदर्शों के अनुसार ही नारी के उत्थान को उचित समझते हैं। प्रसाद जी ने इन दोनों विचारधाराओं के अनुरूप इड़ा और श्रद्धा के रूप में आज की नारी के दो रूप हमारे सामने प्रस्तुत किए हैं। इड़ा पाश्चात्य विचारधाराओं से प्रभावित आधुनिक नारी का और श्रद्धा आदर्श भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती है। श्रद्धा के चरित्र में भारतीय नारी की सम्पूर्ण विभूतियों को प्रकाश में लाते हुए प्रसाद जी ने आज की नारी-जाति के लिए एक अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया है। मनु की पथ-प्रदर्शिका के रूप में श्रद्धा को उच्च पद पर प्रतिष्ठित करके प्रसाद जी ने आज की युग-भावना के अनुरूप नारी-जाति का सम्मान किया है।

कामायनी गांधी-युग की देन है, इसलिये उस पर गाँधीवादी विचारधाराओं का भी पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। गांधीवाद में अहिंसा का प्रमुख स्थान है। प्रसाद जी ने कामायनी की नायिका श्रद्धा के चरित्र में जिस अहिंसा, क्षमा और शान्ति को महत्ता दी है, उसपर गांधी जी के अहिंसा-सम्बन्धी विचारों की छाप लक्षित होती है। मृगया-प्रेमी, हिंसक और विलासी मनु के हृदय का परिष्कार करने में अहिंसा की पुजारिन श्रद्धा का विशेष हाथ है। यज्ञ में श्रद्धा के पालित पशु की बलि का हृदयद्रावक दृश्य देख श्रद्धा

१. कामायनी, इड़ा सर्ग, पृ० १६२

के कोमल, दयालु हृदय को तीव्र आघात पहुँचता है और मनु के इस कुत्सित व्यवहार के प्रति वह असहयोग द्वारा विरोध प्रकट करती है :—

"वेदी की निर्मम प्रसन्नता,
पशु की कातर वाणी,
मिलकर वातावरण बना था,
कोई कुत्सित प्राणी।"
सोम पात्र भी भरा, धरा था
पुरोडाश भी आगे,
श्रद्धा वहाँ न थी मनु के तब
सुप्त भाव थे जागे[1]।"

इसी प्रकार अहिंसा के सिद्धान्त का समर्थन श्रद्धा ने इन शब्दों में भी किया है:—

"अपनी रक्षा करने में जो
चल जाय तुम्हारा कहीं अस्त्र;
वह तो कुछ समझ सकी हूँ मैं
हिंसक से रक्षा करे शस्त्र।
पर जो निरीह जीकर भी कुछ
उपकारी होने में समर्थ;
वे क्यों न जियें, उपयोगी बन
इसका मैं समझ सकी न अर्थ[2]!"

गांधी जी ने मानव को बेकार बनाने वाले यन्त्रों का विरोध करते हुए घरेलू उद्योग-धन्धों की उपादेयता की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया था। इसलिए उन्होंने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करते हुए स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने, चरखा या तकली पर सूत कातने और अपने हाथ से बुने हुए वस्त्रों को काम में लाने के लिए जनता को प्रेरित किया। तकली कातती हुई और अपने हाथ से ऊनी वस्त्रों के बुनने में निरत श्रद्धा के गीतों में गांधी जी की तकली और चरखे का स्वर सुनाई देता है:—

"मैं बैठी गाती हूँ तकली के
प्रतिवर्त्तन में स्वर विभोर—
चल री तकली धीरे धीरे
प्रिय गए खेलने को अहेर[3]।"

गांधी जी ने छूत-अछूत, उच्च-नीच और जाति-पाँति के भेदभाव को मिटाने के

---

१. कामायनी, कर्म सर्ग, पृ० ११६
२. कामायनी, ईर्ष्या सर्ग, पृ० १४६
३. कामायनी, ईर्ष्या सर्ग, पृ० १५०

लिए अछूतोद्धार-सम्बन्धी आन्दोलन आरम्भ किया और धार्मिक क्षेत्र में बढ़ती हुई साम्प्रदायिक असहिष्णुता और वैमनस्य की भावना को दूर करने का प्रयत्न किया। कामायनी में प्रसाद जी ने जिस विश्वजनीन धर्म और संस्कृति की प्रतिष्ठा की है, उस पर भी गांधीवाद का प्रभाव लक्षित होता है। गांधीवाद के सिद्धान्तों के अनुरूप ही प्रसाद जी ने कामायनी में कई स्थलों पर साम्प्रदायिक संकीर्णता और जाति-वर्ग-गत भेदभाव को मिटा कर प्राणिमात्र के प्रति प्रेम और सहानुभूति जाग्रत करने का प्रयत्न किया है।

प्रसाद जी का समय स्वाधीनता-आन्दोलन का युग था। उस समय स्वेच्छाचारी शासकों के प्रति प्रजा के हृदय में विद्रोह की भावना जाग्रत हो चुकी थी। शोषक और शोषित के बीच विषमता को मिटाने में प्रयत्नशील साम्यवादी विचारधाराएँ जन-जीवन में बल पकड़ने लगी थीं। स्वातन्त्र्य-आन्दोलन और साम्यवाद से सम्बन्धित इन नवयुग की भावनाओं की अभिव्यक्ति कामायनी में अधिकार-लोलुप शासक मनु के विरुद्ध सारस्वत नगर की प्रजा के विद्रोह में सुन्दर ढंग से हुई है। जैसे:—

"देखा उसने जनता व्याकुल राजद्वार कर रुद्ध रही,
प्रहरी के दल भी झुक आये उनके भाव विशुद्ध नहीं;
नियमन एक झुकाव दबा सा, टूटे या ऊपर उठ जाय!
प्रजा आज कुछ और सोचती अब तक जो अविरुद्ध रही!
कोलाहल में घिर, छिप बैठे मनु, कुछ सोच विचार भरे,
द्वार बन्द लख प्रजा त्रस्त सी, कैसे मन फिर धैर्य धरे!
शक्ति तरंगों में आन्दोलन, रुद्र क्रोध भीषणतम था,
महानील-लोहित-ज्वाला का नृत्य सभी से उधर परे[1]।"

प्रसाद जी ने आधुनिक युग की भौतिकवादी विचारधाराओं के आधार पर सारस्वत नगर की प्रजा की क्रान्ति का चित्रण करते हुए भी केवल भौतिकवाद पर आधारित वर्गहीन समाजवादी व्यवस्था को जीवन का साध्य नहीं माना है। कामायनी में उन्होंने भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के समन्वय द्वारा ही मानवजाति के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। वर्तमान युग की विविध परिस्थितियों और समस्याओं से प्रेरणा पाकर ही प्रसाद जी अपने अभीष्ट समरसतामूलक आनन्दमय आदर्श जीवन के चित्रण में सफल हुए हैं।

---

१. कामायनी, स्वप्न सर्ग, पृ० १८५-१८६

: ८ :

वैदेही-वनवास

(रचनाकाल—सन् १९३९)

वैदेही-वनवास श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध का दूसरा महाकाव्य है। प्रियप्रवास ने हिन्दीसाहित्य में खड़ीबोली का प्रथम महाकाव्य होने के कारण विशेष ख्याति प्राप्त की है पर महाकाव्य की दृष्टि से उसमें अनेक त्रुटियां भी वर्तमान हैं। महाकाव्य के रूप में वैदेही-वनवास प्रियप्रवास से अधिक महत्वपूर्ण रचना सिद्ध होती है। प्रियप्रवास में संस्कृत-गर्भित खड़ीबोली और संस्कृत के वर्णिक वृत्तों को विशेष महत्व दिया गया है। उसकी शैली में स्थान-स्थान पर अस्वाभाविकता-सी आ गई है, पर वैदेही-वनवास में अपेक्षाकृत सरल और भावनुसारिणी भाषा का प्रयोग किया गया है। इसकी शैली में कृत्रिमता तथा दुरूहता का अभाव है। इसमें संस्कृत के वर्णिक वृत्तों के स्थान पर हिन्दी में प्रचलित मात्रिक छन्दों को अपनाया गया है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय ने प्रियप्रवास में जिस प्रकार परम्परागत कृष्णचरित्र को नवीन बुद्धिवादी दृष्टिकोण से देखा है उसी प्रकार वैदेही-वनवास में राम को एक आदर्श राजा तथा सीता को एक आदर्श पत्नी के रूप में चित्रित किया है। वैदेही-वनवास में प्राचीन आर्य-संस्कृति के आदर्शों की आधुनिक युग की माँग के अनुरूप व्याख्या की गई है। आधुनिक युग की नवीन विचार-धाराओं को ध्यान में रख कर इस महाकाव्य की रचना हुई है। असंभव और अलौकिक घटनाओं तथा व्यापारों को इसमें स्वाभाविक और बुद्धि-संगत बनाने का प्रयत्न किया गया है। वस्तुतः वैदेही-वनवास में आदर्श और यथार्थ, प्राचीनता और नवीनता तथा कल्पना और बुद्धिवाद का सुन्दर समन्वय दृष्टिगत होता है।

वैदेही-वनवास का महाकाव्यत्व

वैदेही-वनवास की रचना एक महाकाव्य के रूप में हुई है। संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों में वर्णित महाकाव्य के अधिकांश लक्षणों का समन्वय इसमें हो जाता है। वैदेही-वनवास एक सर्गबद्ध रचना है। इसके नायक लोक-प्रसिद्ध, क्षत्रिय-कुल-भूषण रामचन्द्र हैं। इसका कथानक लोक-विश्रुत है। महाकाव्य में शृंगार, वीर और शान्त इन तीनों में से एक रस की प्रधानता होनी चाहिये, पर वैदेही-वनवास में करुणरस की प्रधानता है। गौण रूप में शृंगार, वात्सल्य, शान्त आदि अन्य रस भी इसमें वर्तमान हैं। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष में से धर्म (लोकधर्म) की सिद्धि इस काव्य का मुख्य लक्ष्य है। इसमें सर्गों की संख्या आठ से अधिक (अठारह) है। प्रायः प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द को

स्थान मिला है और प्रत्येक सर्ग के अन्त में दोहा छन्द का प्रयोग करके कवि ने सर्ग के अन्त में छन्दपरिवर्तन के नियम का पालन भी किया है। पाँचवें, छठे और सातवें जैसे कतिपय सर्गो में विविध छन्दों का प्रयोग भी दिखाई देता है। प्रातःकाल, सूर्योदय, सन्ध्या, चन्द्रमा, आश्रम, वन, पर्वत, संयोग, वियोग, मुनि, पुत्रोत्पत्ति और वर्षा, शरद, वसन्त आदि ऋतुओं के वर्णन भी इस काव्य में पाये जाते हैं। इन वर्णनों के अतिरिक्त दाम्पत्य-प्रेम की महत्ता, राजा-प्रजा का सम्बन्ध, नारी-चरित्र की पवित्रता आदि विषयों की व्याख्या भी इस रचना में पाई जाती है। वैदेही के वनवास से सम्बद्ध मुख्य कथा के आधार पर इसका नामकरण हुआ है। सर्गो के नाम भी उनमें वर्णित घटनाओं के आधार पर रखे गये हैं। इस प्रकार महाकाव्य के प्रमुख लक्षणों का निर्वाह वैदेही-वनवास में हो जाता है।

महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का सम्बन्ध मुख्यतया महाकाव्य के बाह्यस्वरूप से है। किसी रचना में इन लक्षणों के निर्वाहमात्र से उसे महाकाव्यत्व प्राप्त नहीं हो सकता। एक उच्चकोटि के महाकाव्य में इन लक्षणों के निर्वाह के साथ-साथ विषय की व्यापकता, चरित्रचित्रण-गत शालीनता और भाषा-शैली की उदात्तता भी होनी चाहिए। वैदेही-वनवास में केवल विषय की व्यापकता का अभाव है, अन्य सारी विशेषताएँ उसमें वर्तमान हैं। विचारों की उदात्तता और सांस्कृतिक पक्ष की शालीनता के कारण वैदेही-वनवास को आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यों में स्थान देना उचित ही है।

कथावस्तु

वैदेही-वनवास के कथानक का मूल स्रोत वाल्मीकि-रामायण है पर कालिदास के रघुवंश और भवभूति के उत्तररामचरित का भी उस पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। वैदेही-वनवास में लंका से लौट आने पर लोकापवाद के डर से राम-द्वारा गर्भवती सीता के निर्वासन की कथा वर्णित है। यह कथा अठारह सर्गो में विभक्त है। प्रथम सर्ग में सरयू-तट के एक सुन्दर उपवन में राम-सीता परस्पर सम्भाषण-द्वारा मनोविनोद करते हैं। इतने में अचानक लंका के भयावह दहनकाण्ड की स्मृति सीता के हृदय को व्यथित बना देती है। गर्भवती सीता को राम समझा-बुझा कर सान्त्वना देते हैं और सीता के साथ राजभवन में चले जाते हैं। द्वितीय सर्ग में राजभवन की चित्रशाला में राम विविध चित्रों के निरीक्षण में संलग्न हैं। इसी अवसर पर एक गुप्तचर उन्हें यह समाचार देता है कि एक धोबी ने अपनी स्त्री को घर से निकालते हुए परगृह-निवास के कारण सीता के चरित्र पर सन्देह प्रकट किया है और राम के सीता को अपने घर में स्थान देने की कटु आलोचना की है। सीता के सम्बन्ध में जनता में फैलती हुई अपकीर्ति को सुन कर राम को बहुत दुःख होता है। तृतीय सर्ग में भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के साथ राम मंत्रणागृह में सीता-सम्बन्धी लोकापवाद की समस्या पर विचार करते हैं। भरत और लक्ष्मण इस लोकापवाद का विरोध करते हुए राम को सान्त्वना देने का प्रयत्न करते हैं किन्तु राम को इससे सन्तोष नहीं होता। वे अपने स्वार्थ की बलि देकर भी लोकाराधन-व्रत पालने का निश्चय कर लेते हैं। चतुर्थ सर्ग में राम गुरु वशिष्ठ की सम्मति से सीता को महर्षि

वाल्मीकि के आश्रम में भेज देने का निश्चय कर लेते हैं। पंचम सर्ग में राम सीता को लोकापवाद की सारी बातें बताकर कुछ समय के लिए उसके परित्याग के निर्णय की सूचना देते हैं। सीता व्यथित हृदय से राम के लोकाराधन-व्रत का अनुमोदन करती हुई वन में प्रिय-विरह-जनित कठिनाइयों को सहन करने का निश्चय कर लेती है। षष्ठ सर्ग में सीता के आश्रम-गमन-सम्बन्धी वृत्तान्त को सुनकर कौशल्या, कैकेई, सुमित्रा, माण्डवी उर्मिला और श्रुतकीर्ति सभी दुखी दिखाई देती हैं। सप्तम सर्ग में सीता लक्ष्मण के साथ वाल्मीकि के आश्रम को प्रस्थान करती है। अष्टम सर्ग में सीता-सहित लक्ष्मण वाल्मीकि के आश्रम में पहुँचते हैं। महर्षि वाल्मीकि सीता को सान्त्वना देते हुए उसे आश्रम में स्थान देते हैं और लक्ष्मण अयोध्या के लिए विदा हो जाते हैं। नवम सर्ग में लक्ष्मण राम को सीता के सकुशल आश्रम में पहुँचने की सूचना देते हैं और सीता का सन्देश उन्हें सुनाते हैं। दसवें सर्ग में आश्रम की एक शिलावेदिका पर बैठी हुई सीता के हृदय-पटल पर अतीत की अनेक स्मृतियाँ उदित होती हैं। इतने में आरती का घंटा बजता है और सीता शीघ्र ही मन्दिर में चली जाती हैं। ग्यारहवें सर्ग में लवणासुर के वध के लिए शत्रुघ्न अयोध्या से प्रस्थान करते हैं और मार्ग में वाल्मीकि के आश्रम में ठहर कर सीता से मिलते हैं। सीता से भेंट करने के पश्चात् शत्रुघ्न आश्रम से विदा हो जाते हैं। इसी दिन सीता पुत्र-युगल को जन्म देती है। बारहवें सर्ग में सीता के पुत्र-युगल का नामकरण-संस्कार होता है और दोनों पुत्र लव और कुश नाम से आश्रम में प्रसिद्धि पाते हैं। त्रयोदश सर्ग में सीता लव-कुश के लालन-पालन में निरत होकर भी लोक-हित का ध्यान रखती है। इसी अवसर पर आत्रेयी सीता को सदुपदेश देती है। चौदहवें सर्ग में वसन्त की शोभा का वर्णन है। इसके पश्चात् विदुषी ब्रह्मचारिणी विज्ञानवती सीता के सम्मुख विवाह-बन्धन की महत्ता पर प्रकाश डालती है। पन्द्रहवें सर्ग में सीता गंगातट पर लव-कुश का ध्यान प्रकृति की रहस्यमयी विभूति की ओर आकृष्ट करती है और उन्हें जीवनोपयोगी शिक्षा देती है। सोलहवें सर्ग में लव-कुश रामायण का पाठ करते हुए दिखाई देते हैं और इसी अवसर पर शत्रुघ्न अयोध्या में होनेवाले अश्वमेध यज्ञ की सूचना देते हुए वहाँ से विदा हो जाते हैं। सत्रहवें सर्ग में शम्बूक-वध के उद्देश्य से राम जनस्थान को प्रस्थान करते हैं। पंचवटी में पहुँचने पर अतीत की स्मृतियाँ उनके मन में सजग हो जाती हैं। वनदेवी सीता की यातनाओं से व्याकुल हो राम को मधुर उपालम्भ देती है और राम लोकराधन की महत्ता प्रतिपादित करते हुए वनदेवी को सान्त्वना देते हैं। अठारहवें सर्ग में अवध के अश्वमेध-समारोह का वर्णन है। सारे नगर में सीता के आगमन की प्रतीक्षा है। वाल्मीकि के साथ जनकनन्दिनी अवध में प्रवेश करती है। राम स्वयं उसका स्वागत करने आगे बढ़ते हैं किन्तु पति-प्राणा सीता पति के पाद-पद्म का स्पर्श करते ही अपना पार्थिव शरीर छोड़कर दिव्य-ज्योति में समा जाती है।

कथानक-समीक्षा

वैदेही-वनवास के कथानक को वाल्मीकि-रामायण, रघुवंश और उत्तररामचरित

से तुलना करने पर हमें यह दिखाई देता है कि हरिऔध ने इस प्राचीन कथानक में यत्र-तत्र सुधार तथा परिवर्तन भी किया है। वाल्मीकि-रामायण, रघुवंश और उत्तररामचरित में सीता के निर्वासन का सारा उत्तरदायित्व राम पर ही है पर वैदेही-वनवास में राम-द्वारा सीता का परित्याग कुलगुरु वशिष्ठ, कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा जैसी माताओं तथा भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और माण्डवी, उर्मिला तथा श्रुतकीर्ति आदि सभी पारिवारिक जनों की सद्भावनाओं को लिए हुए है। यहां सीता को आश्रम में भेजने से पहले राम अपने भाइयों के साथ मंत्रणा-गृह में सीता-सम्बन्धी-लोकापवाद-जनित समस्या पर विचार करते हैं और गुरु वशिष्ठ से इस विषय में परामर्श लेते हैं। वैदेही-वनवास में हरिऔध ने सीता-निर्वासन के कारण-स्वरूप लोकापवाद को शक्तिशाली और अनुपेक्षणीय बनाने का प्रयत्न किया है। रामायण, रघुवंश और उत्तररामचरित इन तीनों रचनाओं में लोकापवाद सीता-निर्वासन के लिए अपर्याप्त कारण प्रतीत होता है परन्तु वैदेही-वनवास में लवणासुर और उसके सहायक गन्धर्वों जैसे शत्रुपक्ष का भी लोकापवाद में हाथ दिखाकर कवि ने सीता के परित्याग के कारण को प्रभावशाली बना दिया है[1]।

वाल्मीकि-रामायण और रघुवंश में सीता ने निर्वासन से पूर्व ऋषि-मुनियों के आश्रमों को देखने की इच्छा प्रकट की है[2]। उत्तररामचरित में शृंगी ऋषि के आश्रम से राम की माताओं ने राम को सीता की दोहद-इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए सन्देशमात्र भेजा है[3]। पर सीता के निर्वासन के मुख्य कारण के साथ सीता की तपोवन-दर्शन-लालसा

---

१. "कुछ दिनों से लवणासुर की, असुरता है बढ़ती जाती।
फूटनीतिक उसकी चालें, गहन हों पर हैं उत्पाती ॥
लोक अपवाद प्रवर्त्तन में, अधिकतर है वह रत रहता।
श्रीमती जनक-नन्दिनी को, काल दनु-कुल का है कहता ॥"
—वैदेही-वनवास, सर्ग ३, ६९-७०

"किन्तु गन्धर्वों के वध से, हो गई है दूनी हलचल।
मिला है यद्यपि उनको भी, दानवी कृत्यों का ही फल ॥"
—वैदेही-वनवास, सर्ग ३, ७३

२. "तपोवनानि पुण्यानि द्रष्टुमिच्छामि राघव।
गंगातीरोपविष्टानामृषीणामुग्रतेजसाम् ॥"
—वाल्मीकि-रामायण, उत्तरकांड, सर्ग ४२, ३३

"सा दष्टनीवारबलीनि हिंस्रैः संवद्धवैखानसकन्यकानि।
इयेष भूयः कुशवन्ति गन्तुं भागीरथीतीरतपोवनानि ॥"
—रघुवंश, सर्ग १४, २८

३. "इदं च भगवत्याऽरुन्धत्या देवीभिः शान्तया च भूयो भूयः सन्दिष्टम्।
यः कश्चिद् गर्भदोहदो भवत्यस्याः सोऽवश्यमचिरात्सम्पादयितव्य इति ॥"
—उत्तररामचरित, अंक १, पृ० ९

का समुचित समन्वय इन कृतियों में नहीं हो पाया है। उपर्युक्त तीनों कृतियों में वनगमन से पूर्व सीता को वनवास के लोकापवाद रूपी मुख्य कारण से अपरिचित ही रखा गया है। वैदेही-वनवास में हरिऔध ने गर्भवती रानियों को प्रसव के समय कुलपति-आश्रम में भेजने की प्राचीन प्रथा की नवीन उद्भावना की है[1]। यहाँ राम ने सीता को वनगमन से पूर्व लोकापवाद-जनित सारी परिस्थिति से परिचित करा दिया है।

इस प्रकार हरिऔध ने वर्तमान युग की भावनाओं के अनुकूल परम्परागत कथानक में नवीन उद्भावना करके राम और सीता दोनों के चरित्र को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया है। वैदेही-वनवास में राम सीता को धोखा नहीं देते। वे सीता के प्रति कठोरता प्रदर्शित करने के कलंक से मुक्त रहते हैं। सीता भी लोकापवाद-जनित गम्भीर परिस्थिति से परिचित होकर सहर्ष वन जाने को तैयार हो जाती है। वैदेही-वनवास में सीता के गौरव की भी रक्षा हुई है। वाल्मीकि-रामायण, रघुवंश और उत्तररामचरित तीनों रचनाओं में सीता के वनगमन का दृश्य करुणाजनक है किन्तु वैदेही-वनवास में वह आनन्द, उत्साह, गौरव और सद्भावनाओं को लिए हुए है। सीता की इस विदाई के अवसर पर गुरुजन उसे आशीर्वाद देते हैं। सारी अयोध्या सजधज कर उसके मंगल की कामना करती है। यहाँ हरिऔध ने सीता को एक निस्सहाय अबला के रूप में नहीं, एक गौरवशालिनी, आदर्श नारी के रूप में उपस्थित किया है। वाल्मीकि-रामायण और रघुवंश दोनों काव्यों में तथा उत्तररामचरित नाटक में लक्ष्मण सीता को वन में निस्सहाय छोड़ देते हैं, उसे वाल्मीकि को नहीं सौंपते परन्तु वैदेही-वनवास में लक्ष्मण सीता को स्वयं वाल्मीकि के पास ले जाते हैं और वाल्मीकि सीता का स्वागत करते हुए आश्रम में उसके रहने की समुचित व्यवस्था कर देते हैं। वाल्मीकि-रामायण और रघुवंश में शत्रुघ्न लवणासुर के वध के लिए जाते हुए मार्ग में वाल्मीकि के आश्रम में ठहरते हैं। यह प्रसंग वैदेही-वनवास में भी पाया जाता है। उत्तररामचरित में इस प्रसंग का उल्लेख नहीं है। वाल्मीकि-रामायण और रघुवंश दोनों रचनाओं में इस अवसर पर शत्रुघ्न का सीता के साथ कोई विशेष वार्तालाप नहीं दिखाया गया है। वाल्मीकि से ही शत्रुघ्न सारा वृत्तान्त जान लेते हैं। पर वैदेही-वनवास में हरिऔध ने इस प्रसंग में सीता और शत्रुघ्न के विस्तृत वार्तालाप की योजना की है। इस वार्तालाप में सीता राम, भरत, लक्ष्मण, कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा, माण्डवी, उर्मिला और श्रुतकीर्ति तथा अन्य पारिवारिक जनों एवं अयोध्यावासियों के कुशल-समाचार से परिचय प्राप्त करती है। रामायण और रघुवंश के

---

१. आर्यजाति की यह चिरकालिक है प्रथा।
गर्भवती प्रिय पत्नी को प्रायः नृपति॥
कुलपति पावन-आश्रम में हैं भेजते।
हों जिस से सब मंगल, शिशु हो शुद्धमति॥

—वैदेही-वनवास, सर्ग ४, ५२

अनुसार वैदेही-वनवास में भी सीता इसी अवसर पर लव और कुश को जन्म देती है। रामायण और रघुवंश में शत्रुघ्न आश्रम से विदा होने से पूर्व ही सीता के पुत्र-युगल की उत्पत्ति का समाचार प्राप्त कर लेते हैं[1], जबकि वैदेही-वनवास में शत्रुघ्न के विदा हो जाने पर उसी दिन सीता के पुत्रों का जन्म होता है[2]। वाल्मीकि-रामायण के अनुसार वैदेही-वनवास में शत्रुघ्न लवणासुर के वध के पश्चात् अयोध्या को लौटते समय भी वाल्मीकि के आश्रम में ठहरते हैं और वहां लवकुश के मुख से राम-कथा सुनते हैं। रघुवंश मे लौटते समय शत्रुघ्न वाल्मीकि के आश्रम में नहीं ठहरते। राम का जनस्थान में तपस्या करते हुए शूद्र शम्बूक के वध की घटना रामायण, रघुवंश और उत्तररामचरित तीनों रचनाओं मे वर्णित है[3], पर वैदेही-वनवास में शम्बूक का वध नहीं दिखाया गया है। हरिऔध ने इस घटना को आधुनिक युग की विचारधाराओं के अनुकूल न समझ कर छोड़ दिया है। रामायण, रघुवंश और उत्तररामचरित में सीता अश्वमेध यज्ञ के

---

१. "यामेव रात्रिं शत्रुघ्नः पर्णशालां समाविशत्।
तामेव रात्रिं सीताऽपि प्रसूता दारकद्वयम्॥"

—वाल्मीकि-रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ६६, १

"अर्धरात्रे तु शत्रुघ्नः शुश्राव सुमहत् प्रियम्।
पर्णशालां ततो गत्वा याता दिष्ट्येतिचाब्रवीत्॥"

—वाल्मीकि-रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ६६, १२

"तस्यामेव यामिन्यामन्तर्वत्नी प्रजावती।
सुतावसूत संपन्नौ कोशदण्डाविव क्षितिः॥
सन्तानश्रवणाद् भ्रातुः सौमित्रिः सौमनस्यवान्।
प्रांजलिर्मुनिमामंत्र्य प्रातर्युक्तरथो ययौ॥"

—रघुवंश, सर्ग १५, १३-१४

२. "पगवन्दन कर ले विदा गये दनुज-कुल-काल।
इसी दिवस सिय ने जने युगल अलौकिक लाल॥"

—वैदेही-वनवास, सर्ग ११, १८

३. "भाषतस्तस्य शूद्रस्य खड्गं सुरुचिरप्रभम्।
निष्कृष्य कोशाद् विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः॥"

—वाल्मीकि-रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ७६, ४

"तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमघावहम्।
शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्य नियन्ता शस्त्रमाददे॥"

—रघुवंश, सर्ग १५, ५१

"हे हस्त दक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।"

—उत्तररामचरित, अंक २, १०

अवसर पर महर्पि वाल्मीकि के साथ अपने पुत्रों सहित अयोध्या में पहुँचती है। यह प्रसंग वैदेही-वनवास में भी वर्तमान है, किन्तु जहाँ रामायण और रघुवंश में सीता पृथ्वी में समा जाती है वहाँ वैदेही-वनवास में वह दिव्यज्योति में परिणत हो जाती है[1]। रामायण और रघुवंश की तरह वैदेही-वनवास का कथानक दुखान्त है परन्तु उत्तररामचरित में भवभूति ने इसे सुखान्त बनाया है।

इस प्रकार वैदेही-वनवास के कथानक का विश्लेपण करने पर यह निश्चित होता है कि अयोध्यासिंह उपाध्याय ने वाल्मीकि-रामायण, रघुवंश और उत्तररामचरित के आधार पर अपने कथानक की योजना की है। मुख्यतया हरिऔध ने वाल्मीकि-रामायण और रघुवंश का ही अनुसरण किया है। इस परम्परागत कथानक में यत्र-तत्र परिवर्तन और सुधार करके उन्होंने इसे आधुनिक रूप देने का सफल प्रयत्न किया हैं। प्रियप्रवास की तरह वैदेही-वनवास का कथानक भी सीमित है। उसमें वह व्यापकता नहीं जोकि एक सफल महाकाव्य के कथानक में होनी चाहिए। फिर भी उसमें प्रियप्रवास के कथानक की अपेक्षा गतिशीलता अधिक है, उसमें सरलता और सजीवता है। आनुपंगिक घटनाओं की वैदेही-वनवास में न्यूनता है परन्तु जितनी भी ऐसी घटनाएँ उसमें वर्तमान हैं, वे मुख्य कथानक के साथ भली-भाँति अनुस्यूत दीख पड़ती हैं। वास्तव में हरिऔध ने परम्परागत प्राचीन कथानक को अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल से आधुनिक रंग में रँग कर नवीन रूप में प्रस्तुत किया है।

चरित्र-चित्रण

वैदेही-वनवास में चरित्र-चित्रण की ओर हरिऔध ने विशेप ध्यान दिया है। परम्परागत राम और सीता के चरित्र को कवि ने इस बुद्धिवादी युग के अनुकूल बनाने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। अन्य पात्रों की अपेक्षा राम और सीता के चरित्रांकन में कवि को अधिक सफलता मिली है।

राम

राम एक आदर्श राजा हैं। अपने राज्य में सुख-शान्ति की स्थापना उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य है। लोकाराधन के समक्ष वे अपने स्वार्थ की बलि देने के लिए सर्वदा प्रस्तुत हैं। शान्तिपूर्वक लोकाराधन-व्रत का पालन करने के लिए उन्होंने अपनी प्रियपत्नी जानकी का परित्याग करना उचित समझा। राम के चरित्र में त्याग, धैर्य, सहिष्णुता और लोक-हित की इच्छा की अभिव्यक्ति सीता के इन शब्दों में बहुत सुन्दर ढंग से हुई है :—

---

१. ज्योंही पति-प्राणा ने पति-पद-पद्म का, स्पर्श किया निर्जीव मूर्ति-सी बन गई।
और हुए अतिरेक चित्त उल्लास का, दिव्य ज्योति में परिणत वे पल में हुईं॥
—वैदेही-वनवास, सर्ग १८, ४०

"त्याग आपका है उदात्त धृति धन्य है।
लोकोत्तर है आपकी सहनशीलता ॥
है अपूर्व आदर्श लोकहित का जनक।
है महान भवदीय नीति-मर्मज्ञता[1] ॥"

राम शान्तिप्रिय राजा हैं। वे सामनीति के उपासक हैं, दमन उन्हें अभीष्ट नहीं :—

"दमन है मुझे कदापि न इष्ट।
क्योंकि वह है भयमूलक नीति ॥
चाह है लाभ करूँ, कर त्याग।
प्रजा की सच्ची प्रीति-प्रतीति[2] ॥"

राम की इस सामनीति पर महात्मा गांधी के अहिंसावाद की छाप दीख पड़ती है। राम की शान्ति-प्रियता इन शब्दों में प्रकट हुई है :—

"पठन कर लोकाराधन मन्त्र।
करूँगा मैं इसका प्रतिकार ॥
साध कर जन-हित-साधन सूत्र।
करूँगा घर घर शान्ति-प्रसार[3] ॥"

मथुरा में लवणासुर के अत्याचारों से पीड़ित जनता में शान्ति-स्थापना के लिए राम ने शत्रुघ्न को भेजते हुए उन्हें कम से कम रक्त-पात करने और संयम से कार्य करने का परामर्श दिया है :—

"केवल उसका ही वध हो।
कुछ ऐसा कौशल करना ॥
लोहा दानव से लेना।
भू को न लहू से भरना[4] ॥"

युद्ध-नीति का उन्होंने कई स्थलों पर विरोध किया है :—

"आर्त्त लोगों का मार्मिक कष्ट।
वह निरपराधों का संहार ॥
बाल-वृद्धों का करुण विलाप।
विवश जनता का हाहाकार ॥"

---

१. वैदेही-वनवास, सर्ग ४, ४६
२. वैदेही-वनवास, सर्ग ३, ६३
३. वैदेही-वनवास, सर्ग ३, ६७
४. वैदेही-वनवास, सर्ग ११, ६१

"आहवों में जो हैं अनिवार्य ।
मुझे करते हैं व्यथित नितान्त ।।
भूल पाये मुझको अब भी न ।
लंक के सकल-दृश्य दुःखान्त[१] ।।"

"यदि आहव होता अनर्थ होते बड़े ।
हो जाता पविपात लोक की शान्ति पर ।।
वृथा परम-पीड़ित होती कितनी प्रजा ।
काल का कवल बनता मधुपुर-सा नगर[२] ।।"

सीता के लिए राम के हृदय में अगाध प्रेम और आदरभाव है। इसीलिए वे गर्भवती सीता को प्रसन्न-मुख देखना चाहते हैं और उसकी इच्छाओं को पूर्ण करने की यथाशक्ति चेष्टा करते हैं। वाल्मीकि और कालिदास के राम की तरह हरिऔध के राम निष्ठुर नहीं हैं। लोकापवाद को शान्त करने के लिए वे सीता को वाल्मीकि के आश्रम में भेजते हैं किन्तु इससे पूर्व उन्होंने सीता को सारी परिस्थिति का ज्ञान करा दिया है। सीता को धोखा न देकर वैदेही-वनवास में राम ने अयोध्या से उसे सहर्ष विदा करते हुए अपनी प्रिय पत्नी के मान और गौरव की रक्षा की है। राम ने गुरुजनों, माताओं, भाइयों और स्वयं सीता की अनुमति लेकर सीता को आश्रम में भेजा है। इस प्रकार परित्याग का कारण बिना बताए ही सीता को निस्सहाय वन में छोड़ने के कलंक से राम बच गए हैं। वशिष्ठ जैसे गुरुजनों के प्रति राम का आदरभाव प्रशंसनीय है। लोकापवाद-जनित समस्या को हल् करने के लिए वे वशिष्ठ से विचार-विमर्श करते हैं और उनकी आज्ञा एक विनीत शिष्य के रूप में शिरोधार्य मानते हैं। अपने भाई भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न से भी उनका विशेष प्रेम है। सीता को वन में भेजने से पूर्व वे अपने भाइयों की सम्मति लेकर उनके प्रति आदरभाव व्यक्त करते हैं। दीन-दुखियों और अनाश्रितों के लिए उनके हृदय में दया, सहानुभूति और प्रेम है। यद्यपि राम के चरित्र का क्रमिक विकास वैदेही-वनवास के सीमित कथानक के अन्दर अच्छी तरह नहीं दिखाया जा सका है फिर भी कवि ने एक आदर्श राजा तथा आदर्श पति के रूप में उनके चरित्र-चित्रण में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है।

सीता

वैदेही-वनवास में सीता एक पतिप्राणा आदर्श नारी के रूप में हमारे सामने आती है। उसका सतीत्व, त्याग, आत्मसंयम और प्रेम प्रशंसनीय है। उसके हृदय में राम के प्रति विशुद्ध प्रेम है। पति के सुख में ही वह अपना सुख समझती है। चौदह वर्ष के वनवास के

---

१. वैदेही-वनवास, सर्ग ३, ८८-८९
२. वैदेही-वनवास, सर्ग १२, १४

समय उसने वन में अनेक कष्ट सहकर भी अपने पतिदेव को सुखी बनाने का पूरा प्रयत्न किया। राम स्वयं सीता के विषय में कहते हैं:—

"भूल अपना पथ का अवसाद।
बदन को बना विकच जलजात॥
पास आ व्यजन डुलाती कौन ?
देख कर स्वेद-सिक्त मम गात[1]॥"
"नहीं सकती जो पर-दुख देख।
हृदय जिसका है परम उदार॥
सर्वजन-सुख संकलन-निमित्त।
भरा है जिसके उर में प्यार॥
सरलता की जो है प्रतिमूर्ति।
सहजता है जिसकी प्रिय-नीति॥
बड़े कोमल हैं जिसके भाव।
परम पावन है जिसकी प्रीति[2]॥"

सीता का हृदय उदारता, कोमलता और सरलता से परिपूर्ण है। कुलगुरु वशिष्ठ भी सीता के गुणों पर मुग्ध हैं। सीता के चरित्र की विशेषताओं का चित्र वशिष्ठ के इन शब्दों में अंकित हुआ है:—

"सती-शिरोमणि पति-परायणा पूत-धी।
वह देवी है दिव्य विभूतियों से भरी॥
है उदारतामयी सुचरिता सद्व्रता।
जनक-सुता है परम पुनीता सुरसरी[3]।"

पति के अतिरिक्त अन्य पारिवारिक जनों के प्रति भी सीता ने अपने कर्त्तव्य का पालन एक आदर्श गृहिणी के रूप में किया है। कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा को उसने अपनी सेवा और गुणों से प्रभावित किया है। वह मन लगाकर माताओं की सेवा करती है। माण्डवी, उर्मिला और श्रुतकीर्ति के प्रति उसका व्यवहार बड़ी बहन का-सा है। राज-भवन के दास और दासियों के प्रति भी उसके हृदय में सद्भावना और सहानुभूति है। सीता का धैर्य प्रशंसा के योग्य है। लोकापवाद को शान्त करने के लिए अपने परित्याग-सम्बन्धी राम के निश्चय की सूचना पाकर सीता तनिक भी क्षोभ व्यक्त नहीं करती और अपने स्वार्थ की बलि देकर भी पति के निर्णय को सहर्ष स्वीकार कर लेती है। आरम्भ में

---

१. वैदेही-वनवास, सर्ग २, ३४
२. वैदेही-वनवास, सर्ग २, ४१-४२
३. वैदेही-वनवास, सर्ग ४, ६०

सीता राम के निर्णय को सुनकर कुछ अधीर अवश्य हो जाती है :—

"जनक-नन्दिनी ने दृग में आते आंसू को रोक कहा।
प्राणनाथ सब तो सह लूंगी क्यों जायेगा विरह सहा॥
सदा आपका चन्द्रानन अवलोके ही मैं जाती हूँ।
रूप-माधुरी-सुधा तृषित बन चकोरिका-सम पीती हूँ[1] ॥"

परन्तु शीघ्र ही उसकी कर्त्तव्य-भावना इस प्रेम-जनित अधीरता पर विजय प्राप्त कर लेती है और वह कलेजा थाम कर पति की आज्ञा पालने के लिए तैयार हो जाती है :—

"वही करूंगी जो कुछ करने की मुझको आज्ञा होगी।
त्याग करूंगी, इष्टसिद्धि के लिए बना मन को योगी॥
सुख-वासना स्वार्थ की चिन्ता दोनों से मुंह मोड़ूंगी।
लोकाराधन या प्रभु-आराधन निमित सब छोड़ूंगी[2] ॥"

वह पति के कर्त्तव्य-पथ में बाधा नहीं डालती। महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में पहुँच कर वह एक तपस्विनी का-सा जीवन बिताती है। वाल्मीकि के लिए उसके हृदय में अगाध श्रद्धा है और आश्रमवासियों के लिए विशेष प्रेम है। आश्रम के पशु-पक्षियों से भी वह प्रेमपूर्ण व्यवहार करती है :—

"देख चींटियों का दल आटा छींटती।
दाना दे-दे खग-कुल को थी पालती॥
मृग-समूह के सम्मुख, उनको प्यार कर।
कोमल-हरित तृणावलि वे थीं डालती[3] ॥"

सीता अपने उदार चरित्र द्वारा सारे आश्रम को प्रभावित करती है। वैदेही-वनवास में हम सीता को एक आदर्श जननी के रूप में भी लव-कुश के पालन में निरत देखते हैं। लव-कुश के चरित्र को उन्नत बनाने का उसे पूरा ध्यान है। वह उन्हें उनके पिता के समान सदाचारी, कर्त्तव्यपरायण और गुरुभक्त बनाने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देती है। इस प्रकार वैदेही-वनवास में सीता के चरित्र का विकास बहुत सुन्दर ढंग से हुआ है। उस का चरित्र अत्यन्त पवित्र और उज्ज्वल है। उसमें सतीत्व और दाम्पत्य-प्रेम की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। प्रियप्रवास की राधा के समान उसने अपनी सुख-लिप्सा को विश्व-प्रेम में परिणत कर दिया है :—

"सर्वोत्तम साधन है उर में।
भव-हित पूत भाव का भरना॥

---

१. वैदेही-वनवास, सर्ग ५, २२
२. वैदेही-वनवास, सर्ग ५, २७
३. वैदेही-वनवास, सर्ग १३, ६

स्वाभाविक सुख-लिप्साओं को।
विश्व प्रेम में परिणत करना[1] ॥"

वैदेही-वनवास में राम और सीता के अतिरिक्त कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, माण्डवी, उर्मिला, श्रुतकीर्ति, वशिष्ठ, वाल्मीकि, आत्रेयी, वनदेवी तथा लव-कुश के चरित्र पर भी कवि ने थोड़ा-बहुत प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। परन्तु कवि का ध्यान मुख्यतया सीता और राम के चरित्र की ओर होने के कारण अन्य चरित्रों का समुचित विकास इस रचना में नहीं हो सका है।

प्रकृति-वर्णन

प्रिय-प्रवास की तरह वैदेही-वनवास में भी हरिऔध ने प्राकृतिक दृश्यों को प्रमुख स्थान दिया है। वैदेही-वनवास में केवल द्वितीय और तृतीय सर्ग को छोड़ कर अन्य सारे सर्गों में प्रकृति से सुन्दर चित्र अंकित किए गए हैं। यहाँ प्रकृति-चित्रण विविध रूपों में पाया जाता है किन्तु अधिकांश स्थलों पर प्रकृति मानव-व्यापारों की पृष्ठभूमि के रूप में ही अंकित हुई है। ग्यारहवें सर्ग के आरम्भ में वर्षाकाल का सुन्दर वर्णन है :—

"बादल थे नभ में छाये बदला था रँग समय का ॥
थी प्रकृति भरी करुणा में कर उपचय मेघ-निचय का ॥
वे विविध रूप धारण कर नभ-तल में घूम रहे थे ॥
गिरि के ऊँचे शिखरों को गौरव से चूम रहे थे[2] ॥"

यह वर्णन आगे आने वाली रिपुसूदनागमन की घटना के लिए एक पृष्ठाधार बन गया है। इसी प्रकार चौदहवें सर्ग में वसन्त-वर्णन मानव-व्यापारों की पृष्ठभूमि के रूप में दिखाई देता है। वसन्त की शोभा का विस्तृत वर्णन करके कवि लव-कुश के साथ मनो-विनोद करती हुई जनक-सुता को हमारे सम्मुख उपस्थित करता है:—

"शान्ति-निकेतन के सुन्दर उद्यान में।
जनक नन्दिनी सुतों सहित थीं घूमती ॥
उन्हें दिखाती थीं कुसुमावलि की छटा।
बार बार उनके मुख को थीं चूमती[3] ॥"

इसी प्रकार पन्द्रहवें और अठारहवें सर्ग में प्रकृति पृष्ठभूमि के रूप में ही हमारे सामने आती है। प्रथम सर्ग में भी पहले कवि प्रकृति को जीवन की घटनाओं की भूमिका के रूप में उपस्थित करता है पर बाद में वह प्रकृति राम और सीता के हृदय में विविध विचारधाराओं को जन्म देती हुई दीख पड़ती है:—

---

१. वैदेही-वनवास, सर्ग ७, ७५
२. वैदेही-वनवास, सर्ग ११, १-२
३. वैदेही-वनवास, सर्ग १४, ३०

"सुन्दरता में कौन कर सका समता जिनकी।
उन्हें मिली है आयु एक दिन या दो दिन की॥
फूलों सा उत्फुल्ल कौन भव में दिखलाया।
किन्तु उन्होंने कितना लघु जीवन है पाया[1]॥"

फूलों की अस्थायी सुन्दरता सीता को मानव-जीवन की क्षण-भंगुरता की याद दिलाती है। कहीं-कहीं कवि ने प्रकृति को मानवीय रूप देने का अच्छा प्रयास भी किया है। कुछ उदाहरण लीजिए:—

"कुछ पहले थी निशा-सुन्दरी कैसी लसती।
सिता साटिका मिले रही कैसी वह हंसती॥
पहन तारकावलि की मंजुल मुक्ता-माला।
चन्द्र-वदन अवलोक सुधा का पी-पी प्याला[2]॥"

"प्रकृति-सुन्दरी विहँस रही थी चन्द्रानन था दमक रहा।
परम दिव्य बन कान्त अंक में तारक-चय था चमक रहा॥
पहन श्वेत-साटिका सिता की वह लसिता दिखलाती थी।
ले ले सुधा सुधाकर-कर से वसुधा पर बरसाती थी[3]॥"

"तिमिर फैलता महिमण्डल में देखकर।
मंजु मशालें लगा व्योमतल बालने॥
ग्रीवा में श्रीमती प्रकृति-सुन्दरी के।
मणि-मालाएँ लगा ललक कर डालने[4]॥"

वैदेही-वनवास में प्रकृति-वर्णन कतिपय स्थलों पर रहस्यमयी भावना और उपदेशात्मकता को भी लिए हुए है:—

"तरु जड़ हैं इन सारे कामों को कभी।
जान बूझकर वे कर सकते हैं नहीं॥
पर क्या इनमें छिपे निगूढ़ रहस्य हैं।
कैसे जा सकती हैं ये बातें कही॥
कला-कान्त कितनी लीलाएँ प्रकृति की।
हैं ललामतम किन्तु हैं जटिलतामयी॥
कब उससे मति चकित होती है नहीं।
कभी नहीं अनुभूति हुई उन पर जयी[5]॥"

---

१. वैदेही-वनवास, सर्ग १, ३८
२. वैदेही-वनवास, सर्ग १, ३०
३. वैदेही-वनवास, सर्ग ५, १
४. वैदेही-वनवास, सर्ग ६, ४
५. वैदेही-वनवास, सर्ग १५, ४३-४४

सीता अपने पुत्रों को प्रकृति से जीवन को सफल बनाने की शिक्षा प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान करती हैः—

"प्रकृति-पाठ को पठन करो शुचि-चित्त से।
पत्ते-पत्ते में है प्रिय-शिक्षा भरी॥
सोचो समझो मनन करो खोलो नयन।
जीवन-जल में ठीक चलेगी कृति-तरी[1]॥"

कहीं-कहीं प्रकृति मानव-हृदय के भावों को उद्दीप्त करती हुई हमारे सामने आती है। जैसेः—

"दिखा दिखा कर श्याम-घटा की प्रिय छटा।
दोनों सुअनों से यह कहतीं महि-सुता॥
ऐसे ही श्यामावदात कमनीय-तन।
प्यारे पुत्रो, तुम लोगों के हैं पिता॥
कहतीं कभी विलोक गुलाब प्रसून की।
बहु-विमुग्ध-कारिणी विचित्र-प्रफुल्लता॥
हैं ऐसे ही विकच-वदन रघुवंश-मणि।
ऐसी ही है उनमें महा मनोज्ञता[2]॥"

यहाँ श्याम घटा और विकसित गुलाब-प्रसून को देखकर सीता के हृदय में राम की स्मृति सजग हो जाती है।

मानव-जीवन की घटनाओं और प्राकृतिक दृश्यों में कवि ने अनेक स्थलों पर सामंजस्य दिखाया है। चतुर्थ सर्ग में प्रकृति का सौम्य रूप वशिष्ठ के आश्रम के शान्त वातावरण के अनुकूल ही दीख पड़ता हैः—

"कमल-कोष में कभी बद्ध होते न थे।
अन्धे बनते थे न पुष्प-रज से भ्रमर॥
काँटे थे छेदते न उनके गात को।
नहीं तितलियों के पर देते थे कतर[3]॥"

इस आश्रम में भ्रमर कमल-कोप में बद्ध नहीं होते, पुष्प-रज उन्हें अन्धा नहीं बनाती और काँटे भ्रमरों तथा तितलियों को कष्ट नहीं पहुँचाते।

कहीं प्राकृतिक शोभा की परिवर्तनशीलता मानव-जीवन की विविध दशाओं के अनुकूल बैठती हैः—

---

१. वैदेही-वनवास, सर्ग १५, ७५
२. वैदेही-वनवास, सर्ग १४, ३४-३५
३. वैदेही-वनवास, सर्ग ४, ६

"पहले छोटे-छोटे घन के खण्ड घूमते दिखलाये ।
फिर छाया-मय कर क्षिति-तल को सारे नभतल में छाये ॥
तारापति छिप गया आवरित हुई तारकावलि सारी ।
सिता बनी असिता, छिनती दिखलाई उसकी छवि सारी[1] ॥"

यहाँ जिस प्रकार राका-रजनी की सुन्दरता मलिनता में परिवर्तित हो जाती है, उसी प्रकार सीता के हृदय की प्रसन्नता पर विषाद की छाया पड़ने लगती है।

एकादश सर्ग में वर्षाकाल की सुन्दरता और लव-कुश की उत्पत्ति-सम्बन्धी घटना में सुन्दर समन्वय लक्षित होता है। अष्टादश सर्ग में मलिन-वसना प्रकृति-वधू सीता के जीवन के दुखद अन्त के अनुकूल ही चित्रित हुई है:—

"शीतकाल था वाष्पमय बना व्योम था ।
अवनीतल में था प्रभूत कुहरा भरा ॥
प्रकृति वधूटी रही मलिन-वसना बनी ।
प्राची सकती थी न खोल मुँह मुसुकरा[2] ॥"

वैदेही-वनवास में कवि ने प्राकृतिक दृश्यों को कहीं-कहीं उनके यथार्थ और स्वाभाविक रूप में भी अंकित किया है। मृग-शावकों तथा मृगों की स्वाभाविक चेष्टाओं का एक चित्र देखिए:—

"जहाँ-तहाँ मृग खड़े स्व-भोले नयन से ।
सभय मनोहर-दृश्य रहे अवलोकते ॥
अलस भाव से विलस तोड़ते अंग थे ।
भरते रहे छलांग जब कभी चौंकते[3] ॥"

"इधर उधर थे मृग के शावक घूमते,
कभी छलांगें भर मानस को मोहते ।
धीरे-धीरे कभी किसी के पास जा,
भोले-दृग से उसका वदन विलोकते[4] ॥"

इसी प्रकार केलि निरत विहगों और वानरों का सजीव चित्रण कवि ने इन शब्दों में किया है:—

"कभी केलि करते उड़ते फिरते कभी ।
तरु पर बैठे विहग-वृन्द थे डोलते ॥

---

१. वैदेही-वनवास, सर्ग ५, ८
२. वैदेही-वनवास, सर्ग १८, १
३. वैदेही-वनवास, सर्ग ८, ४
४. वैदेही-वनवास, सर्ग १३, ६

कभी फुदकते कभी कुतरते फल रहे।
कभी मन्दगति से भू पर थे डोलते[1] ॥"
"कभी किलकिलाते थे दाँत निकाल कर।
कभी हिलाकर डालें फल थे खा रहे॥
कहीं कूद आँखें मटका भौंहें नचा।
कपि-समूह थे निज-कपिता दिखला रहे[2] ॥"

वैदेही-वनवास के संक्षिप्त कथानक को कवि ने विविध प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन द्वारा मनोरम बनाने का प्रयत्न किया है। इस काव्य में प्रकृति-वर्णन कवि की सूक्ष्म प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचायक है। यहाँ कवि का ध्यान प्रकृति के बाह्य रूप के चित्रण की ओर अधिक रहा है। प्रकृति के वाह्य आवरण को भेदकर उसके अन्तराल में प्रवेश करने की चेष्टा हरिऔध ने नहीं की है। रमणीय प्रभात, धूमिल सन्ध्या, राका-रजनी, मेघाच्छन्न वर्षाकाल, कुहरावृत शीतकाल आदि के सजीव चित्र वैदेही-वनवास में वर्तमान हैं। वशिष्ठ और वाल्मीकि के आश्रम का वर्णन बहुत सजीव और स्वाभाविक है। प्राकृतिक दृश्यों की नैसर्गिक शोभा का चित्रण वैदेही-वनवास में बहुत अच्छा बन पड़ा है।

रसपरिपाक

वैदेही-वनवास करुणरस-प्रधान महाकाव्य है। करुणरस की व्यंजना इस रचना में अच्छी हुई है। भवभूति के उत्तररामचरित में करुण रस का जैसा मार्मिक चित्र अंकित हुआ है, वैसा वैदेही-वनवास में नहीं पाया जाता। यहाँ राम और सीता की विरह-व्यथा लोकहित-भावना से प्रभावित होकर संयत रूप धारण किए हुए है। वाल्मीकि के आश्रम के लिए प्रस्थान करने से पहले सीता की माण्डवी, उर्मिला और श्रुतकीर्ति से विदाई का दृश्य बहुत ही करुणाजनक है। जैसे:—

"तुम लोगों का पावनतम। अनुराग राग अवलोके॥
है हृदय हमारा गलता। आँसू रुक पाया रोके॥
क्या तुम लोगों को बहनो। मैं रो रो अधिक रुलाऊँ॥
क्यों आहें भर भर करके। पत्थर को भी पिघलाऊँ[3] ॥"

सीता के अयोध्या से विदा हो जाने पर उसके विरह में पशु-पक्षी भी व्याकुल दिखाई देते हैं:—

"शुक ने आज नहीं मुंह खोला नहीं नाचता दिखलाता है।
मैना भी है पड़ी मोह में उसके दृग से जल जाता है॥

---

१. वैदेही-वनवास, सर्ग १७, ६
२. वैदेही-वनवास, सर्ग १७, ९
३. वैदेही-वनवास, सर्ग ६, ७७-७८

सीता के विरह में रथ के घोड़ों की अधीरता और विषाद का चित्र यहाँ प्रस्तुत किया गया है :—

"देवि, आप कब तक आयेंगी आँखें हैं दर्शन की प्यासी।
थाम कलेजा कलप रही है पड़ी व्यथा-वारिधि में दासी[1] ।।"

"गृहजन परिजन पुरजन की तो बात क्या।
रथ के घोड़े व्याकुल हैं जब तक बड़े।।
पहले तो आश्रम को रहे न छोड़ते।
चले चलाये तो पथ में प्रायः अड़े।।
घुमा घुमा कर शिर रहे रिक्त रथ देखते।
थे निराश नयनों से आँसू ढालते।।
बार बार हिनहिना प्रकट करते व्यथा।
चौंक चौंक कर पाँव कभी थे डालते[2] ।।"

वैदेही-वनवास में सीता की विरहदशा के वर्णन में विप्रलंभ-शृंगार की क्षीण झलक भी दृष्टिगोचर होती है। वाल्मीकि के आश्रम में सीता आकाश में घनघटा को देख कर कमनीय-तन राम को याद करती है। सीता के हृदय में यहाँ रति-भावना प्रस्फुटित होती दिखाई देती है पर यह रति-भावना रसदशा को प्राप्त नहीं होती, वरन् करुणरस को ही पुष्ट करती है। वशिष्ठ और वाल्मीकि के आश्रमों के गम्भीर और प्रशान्त वातावरण में शान्तरस की झलक दिखाई देती है। लव-कुश की क्रीड़ाओं के वर्णन में वात्सल्य की अभिव्यक्ति भी अच्छी हुई है :—

"युगल-सुअन थे पाँच साल के हो चले।
उन्हें बनाती थी प्रफुल्ल कुसुमावली।।
कभी तितलियों के पीछे वे दौड़ते।
कभी किलकते सुन कोकिल की काकली।।
ठुमुक ठुमुक चल किसी फूल के पास जा।
विहँस विहँस थे तुतली-वाणी बोलते।।
टूटी फूटी निज पदावली में उमग।
बार बार थे सरस-सुधारस घोलते[3] ।।"

कतिपय स्थलों पर वीर और भयानक रस की छटा भी वैदेही-वनवास में देखने को मिलती है। सीता-विषयक लोकापवाद को फैलाने वाले रजक के प्रति लक्ष्मण की यह उक्ति वीररस से परिपूर्ण है :—

---

१. वैदेही-वनवास, सर्ग ९, ६
२. वैदेही-वनवास, सर्ग ६, ३७-३८
३. वैदेही-वनवास, सर्ग १४, ३२-३३

"सँभल कर वे मुँह को खोलें।
राज्य में है जिनको बसना॥
चाहता है यह मेरा जी।
रजक की खिचवा लूँ रसना [1]॥"

इसी प्रकार लंका की अशोकवाटिका में विविध उत्पातों से सीता को डराने वाली दानवियों के वर्णन में भयानक रस का अच्छा परिपाक हुआ है :—

"कितनी फैला वदन निगलना चाहतीं।
कितनी बन विकराल बनातीं चिंतिन्ता॥
ज्वालाएँ मुख से निकाल आँखें चढ़ा।
कितनी करती रहती थीं आतंकिता॥
कितनी दाँतों को निकाल कटकटा कर।
लेहिहान जिह्वा दिखला थीं कूदती॥
कितनी बार वीभत्स-काण्ड थीं नाचती।
आप देख जिसको आँखें थीं मूँदती [2]॥"

इस प्रकार वैदेही-वनवास में करुणरस के अतिरिक्त शृंगार, शान्त, वात्सल्य, वीर, भयानक आदि रसों का समावेश भी यथास्थान हुआ है किन्तु वे सब सामूहिक रूप से करुणरस को ही उद्दीप्त करते दिखाई देते हैं। अन्य रसों की अपेक्षा करुणरस पर हरिऔध का अच्छा अधिकार सिद्ध होता है।

अलंकार-योजना

प्रियप्रवास की तरह वैदेही-वनवास में भी हरिऔध ने अपनी काव्यशैली को विविध अलंकारों से सजाया है। प्रियप्रवास में अलंकारों की विविधता है पर वैदेही-वनवास में अपेक्षाकृत कम अलंकारों का प्रयोग हुआ है। यहाँ अनुप्रासों की योजना यत्र-तत्र स्वाभाविकता लिए हुए है। व्यर्थ के शब्दाडम्बर और वाग्जाल को हरिऔध ने कहीं नहीं अपनाया है। शब्दालंकारों की योजना केवल बाह्य चमत्कार न दिखा कर भावव्यंजना में सहायक प्रतीत होती है। जान-बूझकर अक्षर-मैत्री-प्रदर्शन की चेष्टा वैदेही-वनवास में बहुत कम स्थलों पर की गई है। अधिकांश शब्दालंकार स्वाभाविकता लिए हुए हैं। अनुप्रास का एक उदाहरण देखिए :—

"लता लहलही लाल लाल दल से लसी।
भरती थी दृग में अनुराग-ललामता॥

१. वैदेही-वनवास, सर्ग ३, ६०
२. वैदेही-वनवास, सर्ग ८, ४७-४८

श्यामल-दल की वेलि वनाती मुग्ध थी।
दिखा किसी घन-रुचि-तन की शुचि श्यामता[1] ॥"

इसी प्रकार अन्य कई स्थलों पर अनुप्रास की योजना देखने योग्य है[2]।

यमक का प्रयोग भी कतिपय पद्यों में सुन्दर ढंग से हुआ है। जैसे :—

"पावस सा प्रिय ऋतु पाकर।
वन रही रसा थी सरसा॥
जीवन प्रदान करता था।
वर-सुधा सुधाधर वरसा[3] ॥"

· "पाँव सर्वदा फूंक फूंक कर, धरती पर मैं धरती हूँ[4]।"

अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, स्मरण, समासोक्ति आदि सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविकता लिए हुए है। हरिऔध की उपमाएँ वहुत सजीव हैं। जैसे :—

"गगन विलसिता सुरसरिता सी सुन्दरी।
आश्रम-सम्मुख थी सरसा सरयू सरी[5] ॥"

"था सन्ध्या का समय भवन मणिगण दमक।
दीपक-पुंज समान जगमगा रहे थे[6] ॥"

---

१. वैदेही-वनवास, सर्ग ४, ७

२. जैसे— "कल कलरव आकलिता-लसिता पावनी।
गगन विलसिता सुरसरिता सी सुन्दरी॥
निर्मल-सलिला लीलामयी लुभावनी।
आश्रम सम्मुख थी सरसा सरयू सरी॥"
—वैदेही-वनवास सर्ग, ४, १४

"चाँदनी छिटिक छिटिक छवि से।
छवीली वनती रहती थी॥
सुधाकर-कर से वसुधा पर।
सुधा की धारा वहती थी॥"
—वैदेही-वनवास सर्ग, १०, ३

"रंग-विरंगी विविध लताएँ। ललित से ललित वन विलसित थीं॥
किसी कलित कर से ललित हो। विकच वालिका सी विकसित थीं॥"
—वैदेही-वनवास सर्ग १०, १४

३. वैदेही-वनवास, सर्ग ११, ११

४. वैदेही-वनवास, सर्ग १०, ६३

५. वैदेही-वनवास, सर्ग ४, १४

६. वैदेही-वनवास, सर्ग ६, १

"अवधपुरी है जो सुरपुरी सदृश लसी[1] ।।"
"रंग विरंगी विविध लताएँ।
× × ×
विकच बालिका सी विकसित थीं[2] ।।"
"वे कब नहीं प्रभात कमलिनी सी खिलीं[3] ।।"

वैदेही-वनवास में रूपक अलंकार की ओर कवि की अधिक रुचि दीख पड़ता है। रूपक का प्रयोग अनेक स्थलों पर पाया जाता है। जैसे :—

"लोक-रंजिनी उषा-सुन्दरी रंजन रत थी।
× × ×
ज्योति-बीज प्राची-प्रदेश में दिव बीता था[4] ।।"
"प्रकृति-सुन्दरी विहँस रही थी चन्द्रानन था दमक रहा[5] ।"

व्यतिरेक अलंकार का प्रयोग ऐसे पद्यों में दिखाई देता है :—

"श्यामल घन में वकमाला उड़ उड़ है छटा दिखाती।
पर प्रिय-उरविलसित-मुक्ता-माला है अधिक लुभाती।।
श्यामावदात को चपला चमका कर है चौंकाती।
पर प्रियतन-ज्योति दृगों में विपुल-रस बरसा जाती[6] ।।"

यहाँ श्यामल घन में उड़ती हुई वकमाला की अपेक्षा प्रिय-उरविलसित मुक्ता-माला में तथा चपला की अपेक्षा प्रिय-तन-ज्योति में उत्कर्ष दिखाकर कवि ने व्यतिरेक की अच्छी योजना की है।

निम्नलिखित पद्यों में स्मरण अलंकार की योजना सुन्दर बन पड़ी है:—

"दिखा दिखा कर श्यामघटा की प्रिय छटा।
दोनों सुअनों से यह कहतीं महि-सुता।।
ऐसे ही श्यामावदात कमनीय तन।
प्यारे पुत्रो, तुम लोगों के हैं पिता।।
कहतीं कभी विलोक गुलाब प्रसून को।
वह विमुग्ध-कारिणी विचित्र प्रफुल्लता।।

---

१. वैदेही-वनवास, सर्ग ६, ४२
२. वैदेही-वनवास, सर्ग १०, १४
३. वैदेही-वनवास, सर्ग १३, ३
४. वैदेही-वनवास, सर्ग १, १
५. वैदेही-वनवास, सर्ग ५, १
६. वैदेही-वनवास, सर्ग ११, ३४-३५

हैं ऐसे ही विकच-वदन रघुवंश-मणि।
ऐसी ही है उनमें महा मनोज्ञता[1] ॥"

निम्नलिखित पद्यों में क्रमशः उत्प्रेक्षा और समासोक्ति का प्रयोग सुन्दर ढंग से हुआ है :—

"किरणों का आगमन देख ऊषा मुसकाई।
मिले साटिका-लैस-टँकी लसिता वन पाई[2] ॥"

यहाँ प्रस्तुत उषा में अप्रस्तुत नायिका के व्यवहार की प्रतीति के कारण समासोक्ति अलंकार है।

"हिल हिल मंजुल-ध्वजा अलौकिकता थी पाती।
दर्शक-दृग को वार-वार थी मुग्ध वनाती ॥
तोरण पर से सरस-वाद्य-ध्वनि जो आती थी।
मानो सुन वह उसे नृत्य-रत दिखलाती थी[3] ॥"

यहाँ ध्वजा का वाद्य-ध्वनि सुनने के कारण नृत्य-रत होने में अहेतु में हेतु की सम्भावना की गई है, इसलिए हेतूत्प्रेक्षा है।

इस प्रकार वैदेही-वनवास में महाकवि हरिऔध ने अलंकारों की यथास्थान सुन्दर योजना में अच्छा कौशल दिखाया है।

भाषा

वैदेही-वनवास में अयोध्यासिंह उपाध्याय ने संस्कृतगर्भित खड़ीवोली को ही स्थान दिया है पर प्रियप्रवास की तरह इस काव्य में भाषा-सम्बन्धी क्लिष्टता और अस्वाभाविकता कम पाई जाती है। प्रियप्रवास की भाषा में समस्त पदों की बहुलता और कृत्रिमता स्थल-स्थल पर वर्तमान है। वैदेही-वनवास की भाषा अपेक्षाकृत सरल, कोमल और स्वाभाविक है। कहीं-कहीं संस्कृत-गर्भित समस्त पदों का प्रयोग वैदेही-वनवास में भी दीख पड़ता है। जैसे:—

"मर्यादा के धाम शील-सौजन्य-धुरन्धर।
दशरथ-नन्दन राम परम रमणीय कलेवर ॥
थीं दूसरी विदेह-नन्दिनी लोक-ललामा।
सुकृति-स्वरूपा सती विपुल-मंजुल-गुण-धामा[4] ॥"
"तम - परिपूरित - अमा - यामिनी - अंक में।
नहीं विलसती मिलती है राका-सिता ॥

---

१. वैदेही-वनवास सर्ग १४, ३४-३५
२. वैदेही-वनवास, सर्ग १, २
३. वैदेही-वनवास, सर्ग १, ९
४. वैदेही-वनवास, सर्ग १, १५

होती है मति, रहित सात्विकी-नीति से ।
स्वत्व-ममत्व महत्ता-सत्ता मोहिता[1] ॥"
"मणिमय-मुकुट-विमंडित कुण्डल-अलंकृत ।
बहु-विधि मंजुल-मुक्तावलि-माला-लसित ॥
परमोत्तम-परिधानवान सौन्दर्य-घन ।
लोकोत्तर-कमनीय-कलादिक-आकलित ॥
ये द्वितीय नयनाभिराम विकसित-वदन ।
कनक-कान्ति-माधुर्यमूर्ति मन्मथ-मथन ॥
विविध वर वसन लसित किरीटी कुण्डली ।
कर्म-परायण परम तीव्र साहस-सदन[2] ॥"

फिर भी संस्कृत-गर्भित कृत्रिम भाषा का प्रयोग वैदेही-वनवास में अधिक नहीं हुआ है। साधारणतया इस रचना की भाषा प्रसाद-गुणमयी, परिमार्जित और सुव्यवस्थित है। पदविन्यास प्रसंग और भावों के अनुकूल है। कहीं-कहीं उपयुक्त शब्दों का प्रयोग करके कवि ने सुन्दर सजीव शब्दचित्र उपस्थित किए हैं। शीतकाल का सजीव चित्र इन शब्दों में अंकित हुआ है :—

"हरे भरे तरुवर मन-मारे थे खड़े।
पत्ते कँप कँप कर थे आँसू डालते ॥
कलरव करते आज नहीं खग-वृन्द थे।
खोतों से वे मुंह भी थे न निकालते[3] ॥"

निम्नोद्धृत पद्यों की भाषा महर्षि वाल्मीकि की सजीव मूर्ति हमारे सामने प्रस्तुत करती है:—

"कुछ चल कर ही शान्त-मूर्ति मुनिवर्य की।
उन्हें दिखाई पड़ी कुशासन पर लसी ॥
जटा-जूट शिर पर था उन्नत भाल था ।
दिव्य-ज्योति उज्ज्वल आँखों में थी बसी ॥
दीर्घ-विलम्बित-श्वेत-श्मश्रु, मुख-सौम्यता ।
थी मानसिक महत्ता की उद्बोधिनी ॥
शान्त वृत्ति थी सहृदयता की सूचिका ।
थी विपत्ति-निपतित की सतत प्रबोधिनी[4] ॥"

---

१. वैदेही-वनवास, सर्ग, ४, ३८
२. वैदेही-वनवास, सर्ग १२, ३९-४०
३. वैदेही-वनवास, सर्ग १८, ४
४. वैदेही-वनवास, सर्ग [illegible]

आश्रम की फुलवाड़ी में पुष्पावचयन में निरत लव का सुन्दर चित्र इन शब्दों द्वारा खींचा गया है:—

"एक रहे उन्नत-ललाट पर विधु-वदन ।
नवनीरद-श्यामावदात नीरज-नयन ॥
पीन वक्ष आजानु-बाहु मांसल वपुष ।
धीर वीर अति सौम्य सर्व-गौरव-सदन[1] ॥"

यत्र-तत्र सुन्दर मुहावरों के प्रयोग से वैदेही-वनवास की भाषा अधिक प्रभावशाली बन गई है। जैसे:—

"सदाचारी की खिचती खाल[2] ।"
"खौलता है मेरा लोहू[3] ।"
"रजक की खिचवा लूं रसना[4] ।"
"धूल जिसने रवि पर फेंकी ।
गिरी वह उसके ही मुंह पर[5] ॥"

इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी इस रचना में वर्तमान हैं[6] ।

वैदेही-वनवास की भाषा पर कहीं-कहीं उर्दू-फ़ारसी का प्रभाव भी दिखाई देता है। मसल देना, लिबास, पेशानी, बलाएँ, चैन, मशालें आदि उर्दू के शब्दों का प्रयोग वैदेही-वनवास की संस्कृतमयी भाषा में कुछ अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है। उर्दू के

---

१. वैदेही-वनवास, सर्ग १२, ३८
२. वैदेही-वनवास, सर्ग ३, ४२
३. वैदेही-वनवास, सर्ग ३, ५५
४. वैदेही-वनवास, सर्ग ३, ६०
५. वैदेही-वनवास, सर्ग ३, ६२
६. जैसे—

"मुझे यदि आज्ञा हो तो मैं ।
पचा दूं कुजनों की बाई ॥"
वैदेही-वनवास, सर्ग ३, ६६

"काढ़ कलेजा क्यों मैं दिखलाऊँ तुम्हें ।"
वैदेही-वनवास, सर्ग ६,४८

"पांव सदा फूंक फूंक कर । धरती पर मैं धरती हूं ॥"
वैदेही-वनवास, सर्ग १०, ६३

"लोहा दानव से लेना । भू को न लहू से भरना ॥"
वैदेही-वनवास, सर्ग ११, ६१

मुहावरों का प्रयोग भी कहीं-कहीं इस रचना में हुआ है। जैसे:—

"चाह थी चित्रकार मिल जाय।
हाथ तो उसके लेवें चूम[१] ॥"

साटिका शब्द का प्रयोग कई पद्यों में हुआ है:—

"मिले साटिका-लैस-टँकी लसिता वन पाई[२]।"
"सिता साटिका मिले रही कैसी वह हँसती[३]।"
"पहन श्वेत साटिका सिता की वह लसिता दिखलाती थी[४]।"
"प्रकृति का नीलाम्बर उतरे। श्वेत साड़ी उसने पाई[५]।"
"मिले सिता की दिव्य साटिका[६]।"
"थी प्रकृति कभी वसुधा को उज्ज्वल साटिका पिन्हाती[७]।"
"सजी साटिका पहनाती थी अवनि को[८]।"

इसी प्रकार प्रकृति-वर्णन में भी कई स्थलों पर शब्दों और भावों की पुनरावृत्ति दिखाई देती है। जैसे:—

"नाच-नाच कर मोर दिखा नीलम-जटित।
अपने मंजुलतम पंखों की माधुरी ॥
खेल रहे थे गरल-रहित अहिवृन्द से।
बजा बजा कर पूत-वृत्ति की बांसुरी[९] ॥"

तथा

"कीचक की अति मधुर मुरलिका थी बजी।
अहि समूह वन मत्त उसे था सुन रहा ॥
नर्तन-रत थे मोर अतीव विमुग्ध हो।
रस-निमित्त अलि कुसुमावलि था चुन रहा[१०] ॥"

---

१. वैदेही-वनवास, सर्ग २, ५
२. वैदेही-वनवास, सर्ग १, २
३. वैदेही-वनवास, सर्ग १, ३०
४. वैदेही-वनवास, सर्ग ५, १
५. वैदेही-वनवास, सर्ग १०, १
६. वैदेही-वनवास, सर्ग १०, ११
७. वैदेही-वनवास, सर्ग ११, १५
८. वैदेही-वनवास, सर्ग १४, २१

"जहां तहां मृग खड़े स्वभोले नयन से ।
सभय मनोहर दृश्य रहे अवलोकते ॥
अलस-भाव से विलस तोड़ते अंग थे ।
भरते रहे छलांग जब कभी चौंकते[1] ॥"

तथा

"इधर-उधर ये मृग के शावक घूमते ।
कभी छलांगें भर मानस को मोहते ॥
धीरे-धीरे कभी किसी के पास जा ।
भोले-दृग से उसका बदन विलोकते[2] ॥"

प्रकृति को एक सुन्दरी के रूप में कई स्थलों पर अंकित किया गया है[3] । इस प्रकार के कतिपय दोषों के होते हुए भी वैदेही-वनवास की भाषा सामान्यतया भावानुकूल प्रौढ़ और प्रांजल दिखाई देती है ।



---

१. वैदेही-वनवास, सर्ग ८, ४
२. वैदेही-वनवास, सर्ग १३, ६
३. "लोकरंजिनी उषा-सुन्दरी रंजन-रत थीं ।"

—वैदेही-वनवास, सर्ग १, १

"रवि-स्वागत को उषा-सुन्दरी थी खड़ी ।"

—वैदेही-वनवास, सर्ग ४, १७

"प्रकृति-सुन्दरी विहँस रही थी चन्द्रानन था दमक रहा ।"

—वैदेही-वनवास, सर्ग ५, १

"ग्रीवा में श्रीमती प्रकृति-सुन्दरी के ।"

—वैदेही-वनवास, सर्ग ६, ४

"मणिमालाएँ लगा ललक कर डालने ॥"

—वैदेही-वनवास, सर्ग ६, ४

"प्रकृति-सुन्दरी रही दिव्य-वसना बनी ।"

—वैदेही-वनवास, सर्ग १४, १

"प्रकृति-वधूटी रही मलिन वसना बनी ।"

—वैदेही-वनवास, सर्ग १८, १

: ९ :

कृष्णायन

(रचनाकाल–सन् १९४३)

हिन्दीसाहित्य के आधुनिक महाकाव्यों में श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र-कृत कृष्णायन को पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। राम और कृष्ण के जीवन को लेकर संस्कृत तथा हिन्दी में अनेक काव्यों की रचना हुई है। राम के सम्पूर्ण जीवन का चित्र तो वाल्मीकि-रामायण, रामचरित-मानस, रामचन्द्रिका और साकेत आदि अनेक काव्यों में हुआ है पर कृष्ण के सम्पूर्ण चरित्र को प्रकाश में लाने वाली कोई रचना संस्कृत तथा हिन्दी में अभी तक उपलब्ध नहीं होती। संस्कृत के महाभारत और श्रीमद्भागवत में कृष्ण-चरित का विस्तृत वर्णन मिलता है, किन्तु इन दोनों विशालकाय कृतियों में भी कृष्ण का सर्वांगीण चरित्र चित्रित नहीं हुआ है। हिन्दी में विविध कृष्णभक्त कवियों ने अपने इष्टदेव की बाल-लीला और यौवन-लीला को लेकर अनेक गीतों एवं मुक्तक काव्यों की रचना की। उन्होंने कृष्ण के जीवन के जिस रूप को अपनाया वह महाकाव्य की भूमि पर पल्लवित नहीं हो सकता था। उसमें मानव-जीवन की अनेकरूपता को व्यक्त करने की क्षमता न थी। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय के प्रियप्रवास की रचना कृष्ण के चरित्र को लेकर हुई है पर उसमें भी कृष्ण मुख्यतया गोपीजन-वल्लभ रूप में ही हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र ने कृष्णायन में पूर्णावतार श्रीकृष्ण के जीवन की जन्म से लेकर स्वर्गारोहण तक की सम्पूर्ण घटनाओं को सुसम्बद्ध रूप में उपस्थित करके उनके जीवन के विविध पहलुओं पर समुचित प्रकाश डालने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। कृष्णायन में गोपीजनवल्लभ, भक्तवत्सल और असुरसंहारक कृष्ण आज के युग की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं का समाधान करते हुए एक धर्मसंस्थापक, समाजसुधारक और राष्ट्रनायक के रूप में हमारे सामने आते हैं। मिश्र जी ने श्रीकृष्ण के विविध रूपों को एकत्र सुसंगठित करके उनके चरित्र को महाकाव्य के अनुरूप व्यापक रूप प्रदान किया है। विषय की व्यापकता, दृश्य-चित्रण की मनोरमता, रसपरिपाक, भाषा-शैली की विशदता और उदात्त जातीय भावनाओं की अभिव्यक्ति की दृष्टि से कृष्णायन की गणना हिन्दी के प्रमुख महाकाव्यों में की जा सकती है।

कृष्णायन का महाकाव्यत्व

कृष्णायन के महाकाव्यत्व में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। केवल सर्ग-संख्या और छन्दोविधान सम्बन्धी नियमों को छोड़ कर महाकाव्य के परम्परागत सारे

नियमों का पालन कृष्णायन में हुआ है। महाकाव्य के प्राचीन शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार कृष्णायन का कृष्णचरित्र-सम्बन्धी कथानक ऐतिहासिक तथा लोक-विश्रुत है। यह कथानक अष्टाधिक सर्गों में विभक्त न होकर रामचरित-मानस की तरह सात काण्डों में विभक्त है। धीरोदात्त गुणोंसे युक्त श्रीकृष्ण इसके नायक हैं। शृंगार, वीर और शान्त इन तीन रसों में से वीररस की इसमें प्रधानता है। शृंगार, शान्त, करुण, रौद्र आदि अन्य सभी रसों का इसमें यथास्थान समावेश हुआ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से धर्म की प्राप्ति (न्याय की स्थापना) इसका मुख्य उद्देश्य है। इस सम्पूर्ण महाकाव्य की रचना में दोहा, सोरठा और चौपाई इन तीन छन्दों को अपनाया गया है। महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्दपरिवर्तन तथा कहीं-कहीं विविध छन्दों के प्रयोग-सम्बन्धी नियम का निर्वाह इसमें नहीं हुआ है। परम्परागत महाकाव्यों के अनुसार इसके आरम्भ में मंगलाचरण को स्थान दिया गया है। नगर, वन, ऋतु, नदी, पर्वत, समुद्र आदि प्राकृतिक दृश्यों तथा संयोग, वियोग, विवाह, युद्ध आदि विविध विषयों के सजीव तथा मनोहर वर्णन इसमें वर्तमान हैं। इस प्रकार महाकाव्य के स्थूल नियमों का यथासाध्य पालन कृष्णायनकार ने किया है। पर वास्तव में इन नियमों का पालन ही कृष्णायन के महाकाव्यत्व की कसौटी नहीं है। महाकाव्य की सफलता केवल सर्गसंख्या, छन्दोविधान, मंगलाचरण और प्रकृति-वर्णन आदि से सम्बन्धित स्थूल शास्त्रीय लक्षणों के निर्वाह में नहीं, वरन् जातीय जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति, कथानक की धारावाहिकता, चरित्रांकन की कुशलता और भाषा-शैली की विशदता पर निर्भर है। महाकाव्य की इस कसौटी पर भी कृष्णायन खरा उतरता है। कृष्णायन में मिश्र जी ने भारत की प्राचीन संस्कृति तथा नूतन युग की राष्ट्रीय-चेतना को पूर्णतया मुखरित किया है। उसका कृष्णचरित-सम्बन्धी कथानक प्रशस्त और व्यापक है। उसमें जीवन के विविध अंगों को स्पर्श करने की क्षमता है। चरित्र-योजना महाकाव्योचित गरिमा को लिए हुए है और उसकी भाषा-शैली में भी प्रौढ़ता तथा हृदयग्राहिता वर्तमान है। इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए महाकाव्य की दृष्टि से कृष्णायन एक सफल कृति सिद्ध होती है।

कथानक

श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र ने कृष्णायन में कृष्णचरित-सम्बन्धी परम्परागत काव्य-विषय और तुलसीदास के रामचरित-मानस की पुरातन रचना-पद्धति को अपनाया है। रामचरित-मानस की तरह कृष्णायन का कथानक सात काण्डों में विभक्त है—(१) अवतरण-काण्ड, (२) मथुरा-काण्ड, (३) द्वारकाकाण्ड, (४) पूजाकाण्ड, (५) गीता-काण्ड, (६) जयकाण्ड और (७) आरोहण-काण्ड। प्रथम (अवतरण) काण्ड में उग्रसेन के शासन-काल में मथुरा की सुख-समृद्धि, कंस की उत्पत्ति तथा उसकी राक्षसी वृत्ति से प्रजा में अशान्ति, कंस की बहन देवकी का यदुवंशी राजा वसुदेव से विवाह और कंस के कारागार में देवकी के गर्भ से कृष्ण की उत्पत्ति का वर्णन है। तदनन्तर वसुदेव कंस के डर

से अपने नवजात पुत्र कृष्ण को गोकुल में नन्द-पत्नी यशोदा के पास पहुँचा देते हैं और यशोदा की नवजात पुत्री को देवकी के पास ले आते हैं। नन्द-यशोदा के घर कृष्ण अपनी मनोहर बाल-लीलाओं से ब्रजजनों को मुग्ध करते हैं। वे अपने अद्‌भुत पराक्रम से पूतना, शकटासुर, बकासुर आदि का संहार करते हैं। वृषभानु-कुमारी राधिका के साथ क्रीड़ा करते हुए धीरे-धीरे कृष्ण का उससे विशेष प्रेम हो जाता है। कालीदह में कालीनाग का दमन, दावाग्नि-शमन और गोवर्धन धारण करके कृष्ण ब्रजजनों की रक्षा करते हैं। उधर कंस अक्रूर को नन्द के पास जाकर धनुष-यज्ञ में सम्मिलित होने के बहाने कृष्ण और बलराम को मथुरा ले आने की आज्ञा देता है। कंस की आज्ञा के अनुसार अक्रूर ब्रज में पहुँचते हैं। वहाँ नन्द को कंस का संदेश देकर कृष्ण और बलराम के साथ वे मथुरा को प्रस्थान करते हैं। ब्रजवासी गोप-गोपिकाएँ और विशेष कर राधा कृष्ण के विरह में व्याकुल दिखाई देते हैं।

द्वितीय (मथुरा) काण्ड में कंस की कुटिल योजनाओं को विफल बनाते हुए कृष्ण कुवलयापीड, मुष्टिक, चाणूर आदि का संहार करके अन्त में कंस का वध करने में सफल होते हैं। कंसवध के पश्चात् कृष्ण मथुरा का राज्य उग्रसेन को सौंप देते हैं। तदनन्तर कृष्ण विद्याध्ययन के निमित्त उज्जयिनी में सान्दीपनि ऋषि के आश्रम में प्रवेश करते हैं। शिक्षा समाप्त करने पर वे मृतक गुरुपुत्र को यमलोक से लाकर गुरुपत्नी की इच्छा पूर्ण करके गुरुदक्षिणा चुकाते हैं। इसी अवसर पर अवन्ती की राजकुमारी मित्रविन्दा और उसकी सखी, विदर्भराज भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी कृष्ण पर मुग्ध हो जाती है। शिक्षा समाप्त करके कृष्ण मथुरा लौट आते हैं। मगधनरेश जरासन्ध मथुरा पर चढ़ाई के लिए तैयार हो जाता है। कृष्ण जरासंध और उसके साथी अन्य राजाओं से युद्ध करने में निर्दोष प्रजा का रक्तपात अनुचित समझ मथुरा छोड़ कर यदुवंशियों के साथ द्वारका में बसने का निश्चय कर लेते हैं, और ब्रजजनों को सान्त्वना देने के लिए उद्धव को ब्रज में भेजते हैं। उद्धव कृष्ण के विरह में व्याकुल ब्रजजनों को समझा-बुझाकर ब्रज से मथुरा लौट आते हैं। इधर जरासंध अवसर पाकर मथुरा को घेर लेता है और कृष्ण को बन्दी बनाने की आज्ञा देता है। कृष्ण बलराम-सहित प्रवर्पण-पर्वत पर चढ़ जाते हैं। जरासंध पर्वत के चारों ओर आग लगा देता है और कृष्ण को आग में जला समझ मगध को लौट आता है। उधर कृष्ण और बलराम योगबल से द्वारका पहुँच जाते हैं।

तृतीय (द्वारका) काण्ड में कृष्ण यदुजनों-सहित द्वारका में एक समृद्ध आर्य-साम्राज्य की स्थापना का प्रयत्न करते हैं। इस काण्ड के आरम्भ में द्वारका के सौन्दर्य और अतुल वैभव का वर्णन है। इसके पश्चात् कृष्ण-द्वारा रुक्मिणी-परिणय की कथा वर्णित है; कृष्ण के कथनानुसार अक्रूर हस्तिनापुर में जाकर कौरव-पाण्डवों की स्थिति का पूर्ण परिचय प्राप्त करते हैं। इधर कृष्ण अवन्ती की राजकुमारी मित्रविन्दा को स्वयंवर में जीत-कर द्वारका ले आते हैं। तदनन्तर इस काण्ड में सत्राजित-आख्यान, स्यमन्तक मणि की कथा, जाम्बवन्त-कन्या और सत्राजित की पुत्री सत्यभामा के साथ कृष्ण के परिणय का

वर्णन है। अक्रूर और विदुर से कृष्ण पाण्डवों की दुखद दशा का परिचय प्राप्त करते हैं। तदनन्तर वे सुलक्षणा के साथ विवाह करके द्रौपदी-स्वयम्वर में सम्मिलित होते हैं। पाण्डवों के पास जाकर कृष्ण उन्हें सान्त्वना देते हैं। कौरवों से आधा राज्य स्वीकार करते हुए पाण्डव इन्द्रप्रस्थ नगर में निवास करते हैं। द्वारका में कृष्ण सूर्यसुता कालिन्दी से विवाह करते हैं। अर्जुन भी सुभद्रा का हरण करके कृष्ण की सम्मति से उसके साथ विवाह कर लेता है। अर्जुन और सुभद्रा के साथ कृष्ण इन्द्रप्रस्थ में पहुँचते हैं। सुभद्रा के गर्भ से अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु का जन्म होता है। कृष्ण उसका जात-कर्म संस्कार करके द्वारका लौट आते हैं।

चतुर्थ (पूजा) काण्ड में कृष्ण युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए इन्द्रप्रस्थ में पहुँचते हैं। यज्ञ में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति के रूप में कृष्ण की पूजा होती है। अपने विरोधी जरासन्ध और शिशुपाल का वध करके कृष्ण राजसूय यज्ञ की समाप्ति पर द्वारका लौट जाते हैं। द्वारका में उत्पात मचाने वाले शाल्व से उनका युद्ध होता है। उधर धृतराष्ट्र युधिष्ठिर को द्यूतक्रीड़ा के लिए बुलाते हैं। शकुनि के चातुर्य से युधिष्ठिर द्यूत में सब कुछ हार जाते हैं। दुःशासन भरी सभा में द्रौपदी का चीर हरण करता है पर कृष्ण के अनुग्रह से द्रौपदी की लज्जा बच जाती है। पाण्डव बारह वर्ष का बनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास स्वीकार कर लेते हैं। शाल्व का वध करके कृष्ण पाण्डवों को धीरज बंधाकर पुनः द्वारका लौट आते हैं।

पंचम (गीता) काण्ड में दुर्योधन और अर्जुन दोनों कृष्ण से युद्ध में सहायता की याचना करते हैं। कृष्ण दुर्योधन को अपनी सारी सेना और अर्जुन को केवल अपनी व्यक्तिगत सहायता देने की प्रतिज्ञा कर दोनों को संतुष्ट करते हैं। तदनन्तर कृष्ण सन्धि का प्रस्ताव लेकर दुर्योधन के दरबार में पहुँचते हैं। दुर्योधन सन्धि के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करता। फलतः कौरवों और पाण्डवों के दोनों पक्ष कुरुक्षेत्र में युद्ध के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी अवसर पर कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण के धार्मिक पर्व को मनाने की तैयारी होती है और कृष्ण के समझाने-बुझाने पर दोनों पक्ष सूर्यग्रहण के मेले की समाप्ति पर युद्ध करना स्वीकार कर लेते हैं। इस धार्मिक उत्सव में भाग लेने के लिए द्वारका से यदुजन और नन्द, यशोदा, राधा आदि ब्रजजन भी कुरुक्षेत्र में पहुँचते हैं। कृष्ण ब्रजजनों को सान्त्वना देकर सन्तुष्ट करते हैं। सूर्यग्रहण की समाप्ति पर जब सब यात्री लौट जाते हैं तब कौरव और पाण्डव दोनों पक्ष युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। युद्ध के भयावह परिणाम को ध्यान में रखकर अर्जुन को युद्ध से विरक्ति-सी होने लगती है पर कृष्ण गीता का उपदेश देकर उसे प्रोत्साहित करते हैं। अर्जुन का मोह दूर हो जाता है और वह युद्ध के लिए तैयार हो जाता है।

षष्ठ (जय) काण्ड में महाभारत के युद्ध का विस्तार के साथ वर्णन है। आरम्भ में युधिष्ठिर भीष्म के पास जाकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। तदनन्तर कौरव और पाण्डवों का तुमुल युद्ध छिड़ जाता है, जिसमें भीष्म, द्रोण, कर्ण, भीम, अर्जुन

आदि वीर अपना अद्भुत शौर्य प्रदर्शित करते हैं। अर्जुन और भीष्म का भयावह युद्ध होता है। भीष्म की शरवर्षा से अपने सैनिकों का संहार देख पाण्डवों को निराशा-सी होने लगती है पर अन्त में शिखण्डी को आगे करके अर्जुन भीष्म को परास्त करने में सफल होता है। भीष्म शर-शय्या पर लेटे हुए कौरवों और पाण्डवों को नरसंहारकारी युद्ध से विरत होने का उपदेश देते हैं। तदनन्तर चक्रव्यूह में जयद्रथ के षड्यन्त्र से अभिमन्यु की मृत्यु होती है। कृष्ण शोकाकुल अर्जुन को सान्त्वना देकर उसे अभिमन्यु के शत्रु जयद्रथ का वध करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। युद्ध-क्षेत्र में अर्जुन जयद्रथ का वध कर डालता है। इसके पश्चात् भीम और अर्जुन द्वारा द्रोण, दुःशासन और कर्ण आदि वीरों के संहार से विक्षुब्ध-हृदय दुर्योधन रणभूमि से भाग कर तालाब में छिप जाता है पर पाण्डवों के मर्मभेदी वचन सुनकर वह फिर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाता है। युद्ध में भीम दुर्योधन का अन्त कर देता है। समस्त कुरुकुल के विनाश पर गान्धारी कृष्ण को कोसती है। इस भयावह नरसंहार के पश्चात् धर्मराज विजयी होकर भी अपनी हार स्वीकार करते हैं। भीम गुरुपुत्र अश्वत्थामा को द्रौपदी के समक्ष ले जाकर उसे उचित दण्ड देना चाहता है, किन्तु द्रौपदी उसे क्षमा कर देती है। कृष्ण द्रौपदी की उदारता की प्रशंसा करते हुए भीम के क्रोध को भी शान्त कर देते हैं।

सप्तम (आरोहण) काण्ड के आरम्भ में समरविजयी धर्मराज हस्तिनापुर के सिंहासन पर प्रतिष्ठा पाते हैं। बन्धुवध से प्राप्त राज्य के प्रति उनके हृदय में विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। पर कृष्ण के समझाने पर वे उदासीन होकर भी राज्य करना स्वीकार कर लेते हैं। शरशय्या पर पड़े भीष्म युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश देते हुए सूर्य के उत्तरायण होने के साथ-साथ प्राणत्याग करते हैं। युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ का आयोजन करते हैं। उसकी समाप्ति पर कृष्ण द्वारिका लौट जाते हैं। वहाँ अपने पुराने मित्र सुदामा से उनकी भेंट होती है और उसके दुख-दारिद्र्य को दूर करके कृष्ण मित्र के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं। द्वारिका में यदुवंशी विलासी जीवन को अपना कर आपस में लड़-भिड़ कर नष्ट हो जाते हैं। द्वारिका को पाण्डव-राज्य के अधीन करके कृष्ण स्वर्गारोहण की इच्छा से वन को प्रस्थान करते हैं और वन में एक लुब्धक के बाण से घायल हो जाते हैं। इतने में मैत्रेय कृष्ण के पास पहुँच जाते हैं। कृष्ण मैत्रेय को उपदेश देते हुए अपना भौतिक शरीर छोड़कर स्वर्गारोहण करते हैं।

कथानक-समीक्षा

कृष्णायन के अवतरणकाण्ड में कृष्ण के बाल-चरित्र का वर्णन श्रीमद्भागवत और सूरसागर के आधार पर किया गया है; पर मिश्र जी ने बाललीला-वर्णन में व्यावहारिकता और वास्तविकता लाने की चेष्टा की है। राधा और कृष्ण के प्रेम का विकास उनकी बाल्यावस्था को ध्यान में रखकर समाज की मर्यादा के अनुकूल ही हुआ है। अवतरण और मथुराकाण्ड की असुरसंहार-सम्बन्धी विविध घटनाओं में भागवत और

सूरसागर के अनुसार अलौकिकता के होते हुए भी पर्याप्त मानवीयता दीख पड़ती है।

कृष्ण के बाल्यकाल की घटनाओं का परवर्ती घटनाओं के साथ सामंजस्य स्थापित करके मिश्र जी ने कथानक को प्रबन्धकाव्य के अनुरूप सुसंगठित करने में अच्छा कौशल दिखाया है। मथुराकाण्ड में उज्जयिनी में सान्दीपनि के आश्रम में कृष्ण की शिक्षाप्राप्ति की योजना पर्याप्त मौलिकता लिए हुए है। यह घटना मथुराकाण्ड और द्वारकाकाण्ड को सुसंगठित रूप देने में महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। द्वारकाकाण्ड में अनेक राजकुमारियों के साथ कृष्ण के विवाह-सम्बन्ध की योजना विविध राज्यों के साथ मैत्री स्थापित करके विपक्षियों के दमन के लिए मुख्यतया राजनीतिक स्तर पर की गई है।

कृष्णायन के अन्तिम चार (पूजा, गीता, जय और आरोहण) काण्डों की कथा-सामग्री मुख्यतया महाभारत से ली गई है। द्वारकाकाण्ड की घटनाओं की परवर्ती घटनाओं के साथ अन्विति स्थापित करने में मिश्र जी ने अच्छा कौशल दिखाया है। द्वारकाधीश कृष्ण और महाभारत के कृष्ण के चरित्र में सामंजस्य दिखाने वाली कोई रचना अब तक संस्कृत तथा हिन्दी में उपलब्ध नहीं होती। कृष्णायन में मिश्र जी ने कृष्णचरित्र के इन दोनों रूपों को सुसंगठित किया है। द्वारकाकाण्ड में रुक्मिणी-परिणय के अवसर पर अक्रूर कौरव-पाण्डवों की गति-विधि से परिचय प्राप्त करने के लिए हस्तिनापुर जाते हैं। यह घटना मिश्र जी की निजी उद्भावना है और द्वारकाकाण्ड का परवर्ती काण्डों के साथ सामंजस्य स्थापित करने में सहायता पहुँचाती है। द्वारका की घटनाओं और कौरव-पाण्डवों के युद्ध से सम्बन्धित महाभारत के प्रसंगों में भी सुन्दर समन्वय दिखाया गया है। महाभारत में कृष्णचरित्र को प्रधानता नहीं दी गई है किन्तु कृष्णायनकार ने आरम्भ से लेकर अन्त तक कृष्ण को नायक के रूप में प्रतिष्ठित करने में सफलता प्राप्त की है। महाभारत के कथानक में कोई विशेष परिवर्तन न करके भी मिश्र जी ने कृष्णचरित्र को प्रमुखता दी है। पूजाकाण्ड की राजसूय-यज्ञ, द्यूतक्रीडा, द्रौपदी चीरहरण आदि अधिकांश घटनाएँ महाभारत से ही ली गई हैं। फिर भी उनके वर्णन में यहाँ पर्याप्त काव्योचित कवि-कौशल लक्षित होता है। गीताकाण्ड में मुख्य कथानक का प्रवाह अवरुद्ध-सा दिखाई देता है। श्रीमद्भगवद्गीता के आधार पर ही इस काण्ड की रचना हुई है। महाकाव्य की दृष्टि से इस काण्ड में कृष्ण का विस्तृत दार्शनिक उपदेश दोषपूर्ण अवश्य है; वह मुख्य कथा को अग्रसर करने में बाधा पहुँचाता है। इस काण्ड में कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण के अवसर पर नन्द, यशोदा और राधा आदि व्रजजनों से कृष्ण की भेंट में भी मिश्र जी ने पर्याप्त मौलिकता दिखाई है।

जयकाण्ड के कथानक का मुख्य आधार महाभारत ही है। यहाँ महाभारत की कौरव-पाण्डव-युद्ध-सम्बन्धी मुख्य घटनाओं को कृष्ण-कथा से सुसम्बद्ध करने का सफल प्रयास दिखाई देता है। महाभारत की विविध घटनाओं में महाकाव्योचित धाराप्रवाह का अभाव है किन्तु कृष्णायन में उसकी यथोचित रक्षा की गई है। जयकाण्ड के युद्ध-प्रसंगों में यत्र-तत्र पात्रों के कथनोपकथन महाकाव्योचित सजीवता लिए हुए कथानक की

गति में तीव्रता उत्पन्न करते हैं।

आरोहणकाण्ड में घटनाओं का विस्तार अधिक नहीं है। महाभारत पर आधारित होते हुए भी शरशय्याशायी भीष्म का उपदेश तथा मैत्रेय के समक्ष कृष्ण का जीवन-दर्शन पर्याप्त मौलिकता और काव्य-सौन्दर्य से समन्वित है।

इस प्रकार मिश्र जी ने कृष्णायन में पूर्ववर्ती विविध रचनाओं में बिखरी पड़ी कथासामग्री को सुसम्बद्ध करके उसे महाकाव्योचित कथानक के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। कथानक के प्रवाह में कहीं-कहीं शिथिलता अवश्य आ जाती है किन्तु उसका क्रम कहीं भी टूटता हुआ नहीं दिखाई देता।

चरित्रचित्रण

पात्रों के चरित्रचित्रण में कृष्णायनकार को पर्याप्त सफलता मिली है। कृष्णायन का कथानक बहुत व्यापक है और उसका सम्बन्ध अनेक पात्रों से है। मिश्र जी के सारे पात्र ऐतिहासिक (पौराणिक) और प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपनी कल्पना से पात्रों की नूतन सृष्टि नहीं की है। परम्परागत होते हुए भी उनके अधिकांश पात्र अपना पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व लिए हुए हमारे सामने आते हैं। कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीष्म, दुर्योधन आदि पात्रों के चरित्र के विकास में जहाँ उनके पौराणिक रूप की पूर्ण रक्षा हुई है, वहाँ साथ ही उनके चरित्र नवयुग की चेतना से अनुप्राणित भी दिखाई देते हैं। इन परम्परागत पात्रों के चरित्रचित्रण में मिश्र जी मानव-हृदय की गहराइयों में अधिक नहीं उतरे हैं, फिर भी विविध परिस्थितियों में मानव-हृदय के असंख्य भावों के उत्थान और पतन के सजीव चित्रों की कृष्णायन में कमी नहीं है। सात्विक, राजस और तामस सभी प्रकार के पात्र कृष्णायन में वर्तमान हैं। पात्रों की संख्या अधिक होने के कारण मिश्र जी अनेक पात्रों के चरित्र को पूर्णतया उभारने में समर्थ नहीं हुए। हाँ, प्रमुख और महान् चरित्रों का विकास स्वाभाविक ढंग से पौराणिक पार्श्वभूमि पर हुआ है।

कृष्ण

कृष्ण का चरित्र कृष्णायन में सबसे अधिक व्यापक है। आरम्भ से लेकर अन्त तक कृष्ण प्रधान पात्र के रूप में हमारे सामने आते हैं। विविध घटनाओं का सम्बन्ध मुख्यतया कृष्ण के चरित्र से है। कृष्णायन के कृष्ण एक आदर्श चरित्र हैं। वे अपनी पौराणिकता को लिए हुए ब्रह्म के अवतार हैं। दुष्टों के दमन-द्वारा पृथ्वी का भार हरने और धर्म की स्थापना के लिए उन्होंने इस पृथ्वी पर जन्म लिया है:—

"भयेउ कला षोडश सहित, कृष्णचन्द्र अवतार।
पूर्ण ब्रह्म हरि यश विमल, वरनहुँ मति अनुसार[1] ॥"

कृष्ण के चरित्र में देवत्व और मानवत्व का सामंजस्य है, पर मानवत्व के साथ देवत्व का अंश अधिक मात्रा में जुड़ा हुआ है। बचपन में वे जहाँ साधारण बाललीलाओं

---

१. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ३

से व्रजजनों का मनोविनोद करते हैं, वहाँ असुरवधादि अलौकिक कृत्यों से उन्हें चकित करते हुए मानवता को कोटि से ऊपर उठ जाते हैं। कृष्णायन के कृष्ण एक साथ ही गोपी-जन-वल्लभ, असुरसंहारक, धर्म-संस्थापक, राजनीति-कुशल और दार्शनिक भी हैं। भागवत और महाभारत के कृष्ण के चरित्र में जो वैषम्य दिखाई देता है, उसे कृष्णायन में दूर करने का सफल प्रयास हुआ है। गोपियों के प्रति कृष्ण का प्रेम सात्विक और सीमित है; उसमें विलासिता या उच्छृंखलता नहीं है, लोकमंगल की भावना है। कृष्ण की गोपी-चीरहरणलीला उनके आदर्श चरित्र को आघात पहुँचाती है। मिश्र जी ने ऐसे स्थलों पर भी कृष्ण के चरित्र को गिरने से बचाया है। चीरहरण-प्रसंग में कृष्ण एक समाजसुधारक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं :—

"वारि माँहि निवसत वरुण, तिनकँ लाज विहाय।
लोकलाजहू त्यागि तुम, धसत नग्न जल जाय[1] ॥"

मिश्र जी ने राधा को कृष्ण की प्रेमिका के रूप में अंकित किया है। पर साथ ही उसे कृष्ण की पूर्वजन्म की सहचरी बताकर उसके प्रेम-सम्बन्ध को समाज की मर्यादा के अनुरूप दिखाया है :—

"एक दिवस खेलत व्रज खोरी,
देखी श्याम राधिका भोरी।
जनु कछु क्षीर-सिन्धु सुधि आई,
औचक मोहित भये कन्हाई[2] ॥"

विविध राजकुमारियों से कृष्ण के परिणय-सम्बन्ध के मूल में विपक्षी राज्यों से साहाय्य-प्राप्ति और मैत्री द्वारा राष्ट्रहित की भावना निहित है। कृष्ण के चरित्र में शील, सौन्दर्य और शक्ति तीनों तत्वों का समन्वय करके मिश्र जी ने अपने असाधारण कौशल का परिचय दिया है। गोपीजन-वल्लभ कृष्ण कंस, जरासंध, शिशुपाल आदि आसुरी शक्तियों का दमन करते हुए आगे चलकर एक धर्मसंस्थापक और राष्ट्रसेवा में निरत महान् नेता के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे भारत में एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन की स्थापना करने का प्रयत्न करते हैं। राष्ट्र की समुन्नति के लिए युधिष्ठिर को एक योग्य शासक समझकर महाभारत के युद्ध में कृष्ण पाण्डवों का पक्ष लेते हैं। वे स्वयं सम्राट् बनना नहीं चाहते। अन्त में युधिष्ठिर को राज्यसिंहासन पर प्रतिष्ठित करके वे स्वयं कर्मभूमि से अन्तर्हित हो जाते हैं। वास्तव में कृष्ण एक आदर्श और महान् चरित्र हैं; उनमें मानवोचित दुर्बलताओं का अभाव है।

अन्य चरित्र

कृष्णायन में नन्द, यशोदा और राधा के चरित्र का पूर्ण विकास नहीं दिखाई

---

१. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ११३

२. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ८८

देता। अवतरणकाण्ड में नन्द एक पुत्रवत्सल पिता, यशोदा एक ममतालु माता और राधा कृष्ण की एक बाललीला-सहचरी के रूप में दृष्टिगोचर होती है। मथुराकाण्ड में कृष्ण के सन्देशवाहक उद्धव के साथ हम उनके दर्शन करते हैं और अन्त में गीताकाण्ड में सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में उनकी एक झलक दीख पड़ती है। कंस, जरासन्ध, शिशुपाल आदि पात्र आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं। उनके चरित्र में दम्भ, अभिमान, विलासिता, स्वार्थ, ईर्ष्या आदि तामसी वृत्तियों की प्रचुरता है।

कृष्णायन के अन्तिम चार काण्डों में महाभारत के वीरचरित्रों को प्रमुख स्थान मिला है। युधिष्ठिर, अर्जुन, भीष्म, कर्ण, दुर्योधन जैसे चरित्र परम्परागत होते हुए भी अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं को लिए हुए हैं। युधिष्ठिर की सत्यनिष्ठा, अर्जुन की वीरता, भीष्म की कर्तव्यपरायणता, कर्ण का अदम्य उत्साह और दुर्योधन की कुटिलता के सजीव चित्र कृष्णायन में अंकित हुए हैं। युधिष्ठिर जैसे महान् पात्रों पर परिस्थितियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उनमें संस्कारों की प्रधानता दिखाई पड़ती है। प्रत्येक परिस्थिति में वे अपने चरित्र को एक ही रूप में सुरक्षित रखते हैं। अश्वत्थामा (हाथी) की मृत्यु की सूचना–जैसी महाभारत की घटना युधिष्ठिर की सत्यवादिता को आघात पहुँचाती है, कृष्णायनकार ने उसका उल्लेख नहीं किया है। मिश्र जी ने अपने पात्रों के चरित्रचित्रण में वर्णनात्मक प्रणाली को विशेष स्थान दिया है। अर्जुन, कर्ण और भीष्म का सजीव चित्र ऐसी पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है:—

अर्जुन —"वदन ओज सर्वांग सुलक्षण,
भुज विशाल कर्कश ज्याघर्षण।
रक्षित वर्म सुवर्ण शरीरा,
बाण-प्रपूर्ण पृष्ठ तूणीरा।
करतल विलसत धनुष महाना,
सुदृढ़ अँगुरियन अंगुलि-त्राणा।
जनु रवि-विद्युत-सुरधनु-द्योतित,
सन्ध्या राग-युक्त घन शोभित।
मूर्त वीररस रंग विलोकी,
सकी न सभा मुग्ध मुद रोकी[1]।"

कर्ण—"दर्पित पद-गति सिंह समाना,
वज्र-वक्ष युग बाहु महाना।
शैल-विशाल शरीर सुहावा,
विन्ध्याचलहि मनहुँ चलि आवा।

१. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा ५७

सहज कवच सहजहिं श्रुति कुंडल,
रवि आभा रविसुत मुख-मंडल[1] ।।"

भीष्म— "शूर-शिरोमणि ध्वज जनु काया,
महि सम क्षमाशील उर दाया।
ब्रह्मचर्यव्रतव्रती विरागी,
पितु-हित महि जीवन सुख त्यागी।
ज्येष्ठ श्रेष्ठ कुल शान्तनु-नन्दन,
प्रमुदित वभ्रु करत पग-वन्दन[2] ।।"

कृष्णायन के महाभारत-सम्बन्धी वीर चरित्रों के सम्वादों में उनकी चारित्रिक विशेषताओं और अन्तर्वृत्तियों की व्यंजना अच्छी हुई है। स्त्री-पात्रों में द्रौपदी, कुन्ती, अवन्ति-साम्राज्ञी और सत्यभामा का चरित्रांकन सुन्दर वन पड़ा है।

प्रकृति-वर्णन

महाकाव्यों में प्रकृति के विविध दृश्यों की मनोरम योजना को प्रमुख स्थान दिया जाता है। कृष्णायन में भी मिश्र जी ने नगर, पर्वत, नदी, समुद्र, सन्ध्या, रात्रि, वसन्त आदि प्राकृतिक दृश्यों के सुन्दर, सजीव चित्र उपस्थित किए हैं। मिश्र जी का प्रकृति-वर्णन प्रायः परम्परागत प्राचीन शैली को लिए हुए हैं। मथुरा नगरी का भव्य चित्र इन पंक्तियों में अंकित हुआ है:—

"पुर-प्राकार मनहुँ कटि किंकिणि,
पथ-जन-घोष मनहुँ नूपुर-ध्वनि।
अंजलि विपिन-प्रसून ललामा,
अलि स्वर स्वस्ति-पाठ अभिरामा।
कलश उरोज, ध्वजा जनु अंचल,
सँभरत नाहिं दरस-हित चंचल।
उपवन वसन, भवन आभूषण,
धामछत्रजनु वेणी-बन्धन ।
नवल नागरी मधुपुरी, शिर प्रासाद उठाय ।
झाँकति वातायन-दृगन, गये प्राणपति आय[3] ।।"

यहाँ रूपक, उत्प्रेक्षा जैसे अलंकारों की योजना-द्वारा मथुरा एक सुन्दर नागरी के रूप में वर्णित है।

---

१. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा ६०
२. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा ४६
३. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा १२-१३

यमुना-वर्णन भी इसी प्रकार कवि-कौशल का परिचायक है:—

"अन्तर्वाहि जमुन-जल श्यामल,
जनु महि देवि मुकुर मणि निर्मल।
अथवा सलिल रूप अपनायी,
जनु वैदूर्य-शैल महिशायी।
नीलस्फटिक मनहुँ कमनीया,
परिणत वारि वेष रमणीया।
पुंजित त्रिभुवन पुण्य अनूपा,
शोभित महि जनु सलिल स्वरूपा[1] ॥"

उषा का मनोरम चित्रण इन पंक्तियों में अंकित हुआ है:—

"विहँसी उषा प्राचि दिवप्रांगण,
गूंजी अरुणशिखा-ध्वनि कानन।
राशि राशि नीहार विनाशी,
उदित अंशुमत-रश्मि प्रकाशी।
मुदित गरुड़ चढ़ि गगन उड़ाना,
मुखरित खग पुनि तरुन विताना।
सजल धरणि, जल-कण तृण पाता,
जग जनु नवल प्रलय पश्चाता[2] ॥"

विविध पक्षियों की क्रीड़ा का स्वाभाविक चित्र इन चौपाइयों में खींचा गया है:—

"नीलकंठ वँधि मनसिज-पाशा,
प्रेयसि-संग उड़त आकाशा।
रीझि रिझावत उड़ि विधि नाना,
स्वरित प्रणय आदान-प्रदाना।
शुक-ढिग शुकिहु मनोभव भोरी,
प्रकटति छवि बहु विधि अंग मोरी।
शुकहु रीझि शुकशिर सोहरायी,
प्रकटत मुद पुट चंचु मिलायी[3] ॥"

द्वारकापुरी के वर्णन में उसकी रूपराशि और समृद्धि की ओर कवि का विशेष ध्यान गया है:—

---

१. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा ६
२. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा १२०
३. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा ३७

"दुर्गसमावृत पुरी-प्रसारा,
करति कला जहँ प्रकृति-सिगारा।
सितमणि-रचित भवन, प्रासादा,
धवलित सुधा, नयन आह्लादा।
प्रसरत भूमि व्योम आलोका,
दिन-भ्रम वसत सुखी निशि कोका।
शिशिर हेतु गृह सौध सोहाये,
दिनमणि कान्तमणिन निर्माये[1] ॥"

प्रकृति-वर्णन में परम्परागत प्राचीन शैली का अनुसरण करते हुए भी मिश्र जी ने रोचकता लाने की यथेष्ट चेष्टा की है। उनका प्रकृति-वर्णन कहीं विविध घटनाओं के चित्रण के लिए पृष्ठभूमि के रूप में, कहीं यथार्थ और कहीं आलंकारिक रूप में कृष्णायन में पाया जाता है। प्रकृति के अन्तस्तल में प्रवेश करने का प्रयास मिश्र जी ने नहीं किया है। वे अधिकतर प्रकृति के वाह्य सौन्दर्य के उद्घाटन में ही सफल हुए हैं।

रस-निर्वाह

कृष्णायन में विविध रसों का निर्वाह भी अच्छा हुआ है। उसमें प्रधानता वीररस को प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त वात्सल्य, शृंगार, शान्त, रौद्र और बीभत्स आदि रस इसमें अंग रूप में वर्तमान हैं। कृष्ण के असुर-वधादि शौर्यपूर्ण कृत्यों तथा कौरव-पाण्डवों के युद्ध से सम्बन्धित घटनाओं के वर्णन में अनेक स्थलों पर वीररस की अभिव्यक्ति हुई है। वीररस का एक उदाहरण लीजिए :—

"रोधी पाण्डव ध्वजिनि जयद्रथ,
सकेउ न पै अवरोधि कुँवर-रथ।
बरसो विषम विशिख-परिपाटी,
मृत गज वाजि पत्ति महि पाटी।
बाणाहत बहु रथि निष्प्राणा,
दीन्हेउ बहु पथ-संग अँगदाना।
प्रमुख भटहु तजि समर पराने,
जीर्ण पर्ण जनु अनिल उड़ाने।
शोभित अरि-अनि मथत वीरवर,
अम्बुधि-भँवर मनहुँ गिरि मन्दर[2] ॥"

यहाँ अभिमन्यु के हृदयगत उत्साह की परिणति वीर रस में हुई है।

कृष्ण की वाल-लीलाओं के वर्णन में वात्सल्य की सुन्दर व्यंजना हुई है। गोपियों

१. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा २
२. कृष्णायन, जय-काण्ड, दोहा १२८

के साथ कृष्ण की रास-क्रीड़ा, रुक्मिणी-परिणय, द्रौपदी-स्वयम्वर आदि प्रसंगों में शृंगार की सुन्दर छटा दीख पड़ती है। रुक्मिणी के पाणिग्रहण के अवसर पर कृष्ण के हृदय की रति की संयोग-शृंगार के रूप में सुन्दर अभिव्यक्ति इस दोहे में हुई है :—

पुलक-जाल प्रस्वेद-जल ललित बालमणि-हाथ।
गहेउ मृदु-स्मित मुग्ध मुख मुकुलित-दृग यदुनाथ[1] ॥"

कृष्णायन में वीर रस की प्रधानता के कारण उसके सहायक रूप में रौद्र और वीभत्स रस भी अनेक स्थलों पर व्यक्त हुए हैं। विविध युद्ध-प्रसंगों में रौद्र, बीभत्स और भयानक रस की अभिव्यक्ति एक साथ ही दीख पड़ती है। वीभत्स की अपेक्षा रौद्र को कृष्णायन में विशेष स्थान मिला है। रौद्र और बीभत्स का क्रमशः एक एक उदाहरण देखिए :—

रौद्र :— "सुने सुयोधन-शब्द वृकोदर,
भयी भंग भ्रू, वदन भयंकर।
नयन अँगार अरिहिं जनु जारी,
फुरत अधर कटु गिरा उचारी[2] ॥"

वीभत्स :—"समर-मही शोणित-नदी प्रचलित विपुल कबन्ध।
उड़त गृद्ध, जम्बुक फिरत कर्षित मज्जा गन्ध[3] ॥"

आरोहणकाण्ड में युद्ध में बन्धु-वध से प्राप्त राज्य के प्रति युधिष्ठिर के हृदय में विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। वहाँ शान्तरस की व्यंजना अच्छी हुई है। शान्तरस का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है :—

"सुख सुर-दुर्लभ संचित जागे,
नयन विरक्त जात जनु भागे।
राज्य रोग जनु, श्री जनु शापा,
मही नरक जीवन जनु पापा।
भोग भुजंग, हार जनु भारा,
मलयज अनल, गरल आहारा।
विकल विभव विच नृप निज धामा,
जनु अलि कमल-निलीन त्रियामा ॥

× × ×

सोचत को मैं ? का धन-धामा ?
अन्त काह विषयन-परिणामा[4] ?"

---

१. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा २३
२. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा ६१
३. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा २५
४. कृष्णायन, आरोहण-काण्ड, दोहा २१

इस प्रकार कृष्णायन में विविध रसों की व्यंजना में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है।

अलंकार-योजना

मिश्र जी ने विविध अलंकारों की योजना से कृष्णायन के कलापक्ष को समृद्ध किया है। कृष्णायन में अलंकारों का प्रयोग कई स्थलों पर यत्न-साध्य है। पर साथ ही ऐसे स्थलों की भी उस में कमी नहीं है, जहां अलंकार रसोद्रेक तथा भावव्यंजना में सहायक सिद्ध होते हैं। शब्दालंकारों में से अनुप्रास की मनोहर योजना कई स्थलों पर हुई है, पर केवल शाब्दिक चमत्कार दिखाने का प्रयास मिश्र जी ने कहीं नहीं किया है। इन पंक्तियों में अनुप्रास की स्वाभाविक और हृदयहारी छटा देखने को मिलती है :—

"विकसित कुन्द, फलिनि खिलि फूली,
लहि अलि-अवलि लवलि झुकि झूली[1]।"
"चकित कपोत करत नहिं कूजन,
करत न कुट कुट कुक्कुट कूलन[2]।"
"तरुन प्रसून खिले हुलसायी,
झूली अवलि अलिहु कल गायी[3]।"
"विन्दुरेख कहुँ कुंजन गावत,
छादन छहरि सुछवि दरसावत[4]।"

अर्थालंकारों में से उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि परम्परागत अलंकारों को ही कवि ने अधिक अपनाया है। उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग कृष्णायन में सब से अधिक पाया जाता है। उत्प्रेक्षा के निम्नोद्धृत कतिपय उदाहरणों में कवि की अनुपम कल्पनाशक्ति का परिचय मिलता है :—

"दही मथति राधा तहँ ठाढ़ी,
मनहुँ मदन साँचे धरि काढ़ी।
डोलत तनु, आन्दोलित अंचल,
वेणी झूमति इत उत चंचल।
जनु विधु वदन दुग्ध अनुमानी,
नागिनि पान हेतु अकुलानी[5]॥"

---

१. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा ११८
२. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा ६
३. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा १८१
४. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा ३६
५. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ११५

"मंच उच्च मानहुँ गिरि शृंगा,
मनहर आसन नाना रंगा[१] ।"
अँग पंकज - किंजल्क - सुवासा,
मलय समीर मनहुँ निःश्वासा[२] ।"
"प्रमुख भटहु तजि समर पराने,
जीर्ण पर्ण जनु अनिल उड़ाने[३] ।"
"लखे अन्ध अवनिप गान्धारी,
मनहुँ शोक करुणा तनुधारी[४] ।"

निम्नलिखित पंक्तियों में उपमा की विशद अवतारणा हुई है:—

"मृदुल कुमुद-सम हरि हृदय आकुल करुणाकन्द[५] ।"
"गरजि हृष्ट शार्दूल समाना,
पियेउ उष्ण शोणित पणवाना[६] ।"
"भुजप्रचण्ड गज-शुण्ड प्रमाणा,
गवनत चतुदिशि सिंह समाना[७] ।"
"मूर्ति मधुर रस-सार दोउ, मदन मनोहर वेष ।
लखहु अशंक मृगेन्द्र सम, मख-महि करत प्रवेश[८] ।।"
"लहरत भव्य दुकूल विताना,
विशद गगन-सरि फेन समाना[९] ।"

इसी प्रकार मालोपमा का एक भावपूर्ण चित्र यहाँ उपस्थित किया गया है:—

"दे न सकत जो प्रजहिं सहारा,
मृतक श्वान सम सो भू-भारा ।
सो जलविरहित जलद-समाना,
काष्ठ मतंग-सदृश निष्प्राणा[१०] ।।"

---

१. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा ११६
२. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा ११८
३. कृष्णायन, जय-काण्ड, दोहा १२८
४. कृष्णायन, जय-काण्ड, दोहा २६१
५. कृष्णायन, आरोहण-काण्ड, दोहा ६६
६. कृष्णायन, जय-काण्ड, दोहा २१४
७. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा १२४
८. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा २८
९. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा ५१
१०. कृष्णायन, आरोहण-काण्ड, दोहा ७०

निम्नलिखित पंक्तियों में रूपक की योजना सुन्दर बन पड़ी है। सांग रूपक की योजना में कई स्थलों पर अच्छा कौशल दिखाई देता है। जैसे :—

"नवल नागरी मधुपुरी, शिर-प्रासाद उठाय।
झांकति वातायन-दृगन, गये प्राणपति आय[1] ॥"
"क्रम-क्रम निशा निशाचरि आयी,
केशराशि महि नभ छिटकायो[2] ।"
"तजि प्राची दिशि-कन्दरा, केसर-किरण पसारि,
प्रकटेउ इन्दु मृगेन्द्र जनु, वारण-तिमिर विदारि[3] ।"

अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग भी अनेक स्थलों पर हुआ है। जैसे:—

"व्योम-विचुम्बित नृप-भवन, राजत ध्वज अभिराम।
फहरत, प्रेरत भानु-रथ, लहत अरुण विश्राम[4] ॥"

इन सादृश्यमूलक अलंकारों के प्रयोग में मिश्र जी ने परम्परागत प्राचीन उपमानों को ही अपनाया है। मौलिकता और नूतनता के अभाव में भी उनमें पर्याप्त सजीवता और आकर्षण है।

भाषा

कृष्णायन की भाषा रामचरितमानस की-जैसी अवधी है। कृष्णायन के आरम्भ में मिश्र जी ने तुलसीदास की भाषा-शैली को मान्यता दी है :—

"तुलसी-शैलिहि मोहि प्रिय लागी,
भाषहु विनु विवाद, रस पागी[5] ।"

कृष्णायन की भाषा ठेठ अवधी न होकर संस्कृत-गर्भित अवधी है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग उसमें मानस की अपेक्षा अधिक हुआ है। यत्र-तत्र क्रियापद भी संस्कृतमय दृष्टिगोचर होते हैं। संस्कृत-बहुला होने के कारण कहीं-कहीं तो वह आधुनिक खड़ीबोली के अधिक निकट आ गई है। जैसे:—

"वारि-विमलता रंजति नयनन,
हंस-मुखरता तोषति श्रवणन।
कमल-गन्ध आमोदित नासा,
परस-सुखद शीतल वातासा।

---

१. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा १२
२. कृष्णायन, जय-काण्ड, दोहा ६०
३. कृष्णायन, जय-काण्ड, दोहा १६०
४. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा ४
५. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ४

रसना-सरस तापत्रयहारी,
सम सर्वेन्द्रिय मन सुखकारी[1]।"
"कान्ति हरित-मणि मही विहायी,
स्वर्णिम शस्य-विपाक सोहायी।
पर्ण-अशोक विलोचन मोहन,
वनश्रीचरण-अलक्तक शोभन[2]।"

मिश्र जी की भाषा सुसंस्कृत, प्रौढ़, और साहित्यिक है। उसमें बोधगम्यता और सरलता है। विविध प्रसंगों के अनुरूप वह कहीं कोमल, कहीं मधुर और कहीं ओजस्विनी दिखाई देती है। कहीं-कहीं मिश्र जी ने व्याकरण-विरुद्ध दिनप्रति (प्रतिदिन), शब्द-प्रति (प्रतिशब्द), पर्ण-अशोक (अशोक-पर्ण), जायावीर (वीर-जाया), सर्वस्वहृत (हृतसर्वस्व) जैसे समस्त पदों का प्रयोग भी किया है। पादान्त में राशि, रीति, प्रीति, नीति, भीति आदि ह्रस्वान्त शब्दों का दीर्घान्त प्रयोग अवधी-सम्मत है, उसमें कोई आपत्ति नहीं, पर संस्कृत के शब्दों के साथ जमुन, वाहिनि, आसुरि, प्राचि, महि, कामिनि आदि ह्रस्वान्त शब्द खटकते अवश्य हैं। सामान्यतया भाषा पर मिश्र जी का अच्छा अधिकार लक्षित होता है। उनकी शब्दयोजना सुसंगठित और भावानुकूल है।

काव्य-सौन्दर्य

कृष्णायन में रसनिर्वाह, अलंकार-योजना और भाषा पर विचार करने के पश्चात् हम यहां कुछ ऐसे स्थलों का उल्लेख आवश्यक समझते हैं, जहाँ कवि की उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति तथा रचना-कौशल का अच्छा परिचय मिलता है। कृष्णायन में अनेक प्रसंग अद्भुत काव्य-सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं। वाललीला-वर्णन में सूरदास अद्वितीय हैं और उनका मिश्र जी ने अनुकरण भी किया है। फिर भी मिश्र जी के वालवर्णन-सम्बन्धी कई पद्य मौलिकता और काव्यसौन्दर्य को लिए हुए हैं। एक उदाहरण देखिए:—

"माखन खाहिं, दूध ढरकावहिं,
दही काढ़ि मुख अंग लगावहिं।
गृह भाजन सब डारहिं फोरी,
देहिं धेनु बछरन कहँ छोरी।
दरस-परस-सुख बतरस लागी,
सहहिं सकल उत्पात सभागी।
गहि सस्नेह हृदय भरि लेहीं,
छटपटाहिं पै जान न देहीं।

---

१. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा ६
२. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा ३४

भागहिं हरिहु हाथ झकझोरी,
कंचुकि फारि हार गर तोरी[1]॥"

यहाँ बालक कृष्ण की चेष्टाओं का चित्रण बहुत ही सुन्दर और स्वाभाविक बन पड़ा है।

इसी प्रकार दधिमथन में लगी हुई, कृष्ण-दर्शनोत्सुक राधा की चेष्टाओं का मार्मिक चित्र इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है:—

"दही मथति राधा तहँ ठाढ़ी,
मनहुँ मदन सांचे धरि काढ़ी।
डोलत तनु, आन्दोलित अंचल,
वेणी झूमति इत उत चंचल।
जनु विधुवदन दुग्ध अनुमानी,
नागिनि पान हेतु अकुलानी।
देखेउ आये कुँवर कन्हाई,
मथति कहूँ कहुँ दृष्टि लगाई[2]॥"

कृष्ण के साथ गोपियों की रासलीला का भावपूर्ण वर्णन इन पंक्तियों में हुआ है:—

"नर्तत मुद मिलि नटवर संगा,
दमकत वदन ललित भ्रूभंगा।
अनुहरि ताल चरण चलि जाहीं,
थिरकत अंग, अधर मुसकाहीं।
पटकत पग उपजत उल्लासा,
पद-पद बाढ़त लास विलासा।
भुज फेरत कर भाव बतावत,
वलय मुद्रिका रस बरसावत।
कबरी शिथिल सुमन झरि लागी,
वदन कमल कच अलि अनुरागी।
लहरत वसन, उड़त उर अंचल,
अनुहरि हरिहिं विलोल दृगंचल।
दरकत कंचुकि, तरकत माला,
प्रकटत आनन श्रम-कण-जाला[3]॥"

यहाँ कृष्णायनकार एक चतुर कलाकार के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। उपर्युक्त

१. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ६६
२. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ११५
३. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा १५७

शब्दों के चुनाव द्वारा वे रासलीला का हृदयग्राही सजीव चित्र चित्रित करने में समर्थ हुए हैं। कृष्ण के लिए यहां 'नवटर' शब्द का प्रयोग बहुत ही भावपूर्ण है। शब्दों में एक प्रकार की ध्वनि और गति है, जोकि रासलीला के अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करने की क्षमता रखती है।,

कृष्ण के मथुरा-प्रवेश के अवसर पर नगर-युवतियों के हृदयगत उल्लास की मनोरम व्यंजना यहाँ हुई है:—

"युवतिन-यूथ गवाक्षन छाये,
पंथ प्रतीक्षत पलक बिछाये।
जैसेहि प्रभु पुर-पथ पगु धारा,
उठेउ गूँजि दिशि दिशि जयकारा।
मंगल खील झरे सब ओरा,
बरसे सुमन न ओर न छोरा।
मूर्ति मनोहर मृदुल निहारी,
जनु छवि-पाश-बद्ध नर-नारी[1]॥"

राजकुमारी मित्रविन्दा के सौन्दर्य का भव्य चित्र इन चौपाइयों में खींचा गया है:—

"कनक लता तनु-यष्टि सोहायी,
आनन शरद-इन्दु-छवि छायी।
नयन विशाल भ्रमत लगि श्रवणन,
अंजन-रज्जु-बद्ध जनु खंजन।
चितवति तरल विलोचन जेही,
मज्जति सुधा-उदधि जनु-तेही।
परसति पद प्रवाल जहँ वामा,
झरत सहस सरसिज तेहि ठामा।
उड़त वसन अँग गवनति कामिनि,
औचक दमकि जाति जनु दामिनि।
करि संचित जनु सुषमा सारा,
दीन्हि तियहिं विधि रूप अपारा[2] ॥"

यहाँ कविपरम्परा-भुक्त प्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग होने पर भी रूपचित्रण में पर्याप्त कविकौशल झलकता है।

कृष्ण के विरह में गोपियों को व्याकुल देख उद्धव अपना ज्ञान-ध्यान सब-कुछ भूल बैठते हैं। उनकी तत्कालीन दशा की कलापूर्ण अभिव्यक्ति यहाँ हुई है:—

१. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा २१
२. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा १०३

"लखि करुणा उद्धव अकुलाने,
ज्ञान, ध्यान, श्रुति, शास्त्र भुलाने।
गये समुझि समुझाय न पावा,
धैर्य देत निज धैर्य गँवावा।
आये पोंछत व्रजजन-आंसू,
झलकेउ दृग जल, उष्ण उसासू[1]॥"

विषम अलंकार की योजना-द्वारा यहां उद्धव की मनोदशा का सजीव चित्र अंकित हुआ है।

द्रौपदी-स्वयम्वर-प्रसंग में द्रौपदी की सुन्दरता और मुद्राओं के अंकन में कवि का अनुपम कौशल दिखाई देता है। जैसे :—

"मनोराग अरुणित मुख रोचन,
पुलक कपोल, प्रफुल्ल विलोचन।
मधुरस्मित बिम्बाधर भासुर,
रशना क्वणित, रणित पद नूपुर।
आनँद निर्भर बाल मराली,
गवनी प्रिय-समीप पांचाली।
उन्मुख कुँवरि पटांचल चंचल,
तरल कर्णिका, अलक दृगंचल।
उठत हस्त कंकणमणि दमकी,
भासित रंग बिज्जु जनु चमकी[2]॥"

इसी प्रकार कुन्ती की वैधव्य-दशा का मार्मिक चित्र इन शब्दों में खींचा गया है :—

"असमय गत-धव, दव जनु जारी,
चीन्हि परति नहिं शूर-कुमारी।
आनन म्लान लता तनु क्षीणा,
शीश शिरोरुह सुमन-विहीना।
वसन श्वेत, भूषण अँग नाहीं,
अचल कपोल पाणि-तल माहीं,
दिवस उदित मानहुँ शशि-लेखा,
गत-द्युति शेष रही कछु रेखा[3]॥"

यहां कवि की सूक्ष्म भावुकता कुन्ती के वैधव्य का सजीव चित्र उभारने में समर्थ

---

१. कृष्णायन, मथुराकाण्ड, दोहा १८०
२. कृष्णायन, द्वारकाकाण्ड, दोहा १२५
३. कृष्णायन, द्वारकाकाण्ड, दोहा ४०

हुई है। 'अचल कपोल पाणि-तल माहीं' इन शब्दों में कुन्ती की विषाद-भरी मुद्रा की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। 'दिवस-उदित शशिलेखा' के साथ क्षीण-काय कुन्ती की तुलना अत्यन्त उपयुक्त और भावपूर्ण है।

कृष्णायन पर अन्य कृतियों का प्रभाव

कृष्णायन और महाभारत

कृष्णायन पर पूर्ववर्ती अनेक रचनाओं का प्रभाव यत्र-तत्र दिखाई देता है। कृष्णायन के अन्तिम चार काण्डों की सामग्री मुख्यतया महाभारत से ली गई है। महाभारत में जो घटनाएँ विस्तार के साथ वर्णित हैं, कृष्णायन में वे संक्षिप्त तथा सुसंगठित रूप में पाई जाती हैं। कृष्णायन का गीताकाण्ड तो महाभारत के अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्-गीता का अनुवाद है ही, इसमें कोई सन्देह नहीं; पर पूजाकाण्ड, जयकाण्ड और आरोहण-काण्ड पर भी महाभारत की गहरी छाप दिखाई देती है। महाभारत के पात्रों के सम्वाद कृष्णायन में अधिक संयत, सजीव और गम्भीर बन पड़े हैं। महाभारत से प्रभावित होने पर भी कृष्णायन के अनेक स्थल कवि की मौलिक रचनाशक्ति के परिचायक हैं। महाभारत के प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए यहाँ हम कतिपय उदाहरण उपस्थित करते हैं।

भीम और जरासन्ध के भीषण युद्ध का वर्णन महाभारत और कृष्णायन में इस प्रकार पाया जाता है :—

महाभरत :—"बाहुपाशादिकं कृत्वा पादाहतशिरावुभौ।
उरोहस्तं ततश्चक्रे पूर्णकुम्भौ प्रयुज्य तौ॥
करसम्पीडनं कृत्वा गर्जन्तौ वारणाविव।
नर्दन्तौ मेघसंकाशौ बाहुप्रहरणावुभौ॥
तलेनाहन्यमानौ तु अन्योन्यं कृतवीक्षणौ।
सिंहाविव सुसंक्रुद्धावाकृष्याकृष्य युध्यताम्॥
अंगेनांगं समापीड्य बाहुभ्यामुभयोरपि।
आवृत्य बाहुभिश्चापि उदरं च प्रचक्रतुः॥
उभौ कट्यां सुपार्श्वे तु तक्षवन्तौ च शिक्षितौ।
अधोहस्तं स्वकण्ठे तूदरस्योरसि चाक्षिपत्[1]॥"

कृष्णायन :— "भरि युग बाहु बहुरि बिलगाहीं,
उरोहस्त डारहिं महि माहीं।
पाणि-पाणि अंग-अंगन मारी,
झपटत सिमटत, हटत पछारी।

१. महाभारत, सभापर्व, अध्याय २३, १४-१८

गरजत घोर मनहुँ पंचानन,
छिटकत दृग-अंगार अग्निकण।
युद्धत मनहुँ उदग्र मतंगा,
शोणित स्रवत दीर्ण अँग अंगा।
विकल वार शत अधर भँवायो,
पटकेउ महि बल सकल लगायो।
जानु-प्रहार मेरु करि घोरा,
मर्दि अस्थिपंजर अरि तोरा।
गहि दोउ चरण, चीरि करि खण्डा,
कीन्हेउ गर्जन भीम प्रचण्डा[1] ॥"

× × ×

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में शिशुपाल के कटुवचनों को सुनकर भीम के क्रोध का वर्णन महाभारत तथा कृष्णायन में इस प्रकार साम्य लिए हुए हैं :—

महाभारत :— "तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रूक्षं रूक्षाक्षरं बहु।
चुकोप बलिनां श्रेष्ठो भीमसेनः प्रतापवान् ॥
तथा पद्मप्रतीकाशे स्वभावायतविस्तृते।
भूयः क्रोधाभिताम्राक्षे रक्ते नेत्रे बभूवतुः ॥
त्रिशिखां भ्रुकुटीं चास्य ददृशुः सर्वपार्थिवाः।
ललाटस्थां त्रिकूटस्थां गंगां त्रिपथगामिव ॥
दन्तान्संदशतस्तस्य कोपाद् ददृशुराननम्।
युगान्ते सर्वभूतानि कालस्येव जिघत्सतः[2] ॥"

कृष्णायन :— "सुने वृकोदर वचन कराला,
सहजहि रक्त दृगन रिस ज्वाला।
भाल विशाल सजग सब रेखा,
भयी वक्र भ्रू वक्र विसेखा।
भीषण ओष्ठ विखण्डित दशनन,
झपटे भीम करत गुरु गर्जन।
धाय भीष्म गहि कीन्ह निवारण,
वत्स, सभा यह, नहिं समरांगण[3] ॥"

× × ×

भरी सभा में दुःशासन-द्वारा अपमानित होने पर द्रौपदी का करुण-क्रन्दन इन

१. कृष्णायन, पूजा-काण्ड, दोहा ३२
२. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ४३, ६-१२
३. कृष्णायन, पूजा-काण्ड, दोहा ५१

शब्दों में अंकित हुआ है :—

महाभारत :—"आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्या चिन्तितो हरिः।
गोविन्द ! द्वारकावासिन् ! कृष्ण ! गोपीजनप्रिय !
कौरव परिभूतां मां किं न जानासि केशव !
हे नाथ ! हे रमानाथ ! व्रजनाथार्तिनाशन !
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन !
कृष्ण ! कृष्ण ! महायोगिन् ! विश्वात्मन् ! विश्वभावन !
प्रपन्नां पाहि गोविन्द ! कुरुमध्येऽवसीदतीम्[1] ॥"

कृष्णायन:— "कर्षी पुनि दुश्शासन सारी,
'कृष्ण ! कृष्ण !' द्रौपदी पुकारी–
दीनबन्धु ! जगदीश्वर ! स्वामी !
गोपीवल्लभ ! जन-अनुगामी !
माधव ! मधुसूदन ! दुखहारी !
सकत को तुम बिनु अब उद्धारी ?
रमानाथ ! व्रजनाथ ! उबारहु !
बूड़ति नाव नाथ ! अब तारहु[2]॥"

× × ×

अपनी प्रतिज्ञा का ध्यान न रखकर चक्र धारण कर भीष्म के साथ युद्ध करने के लिए उद्यत कृष्ण को अर्जुन इन शब्दों में रोकते हैं:—

महाभारत:— "रथादवप्लुत्य ततस्त्वरावान् पार्थोऽप्यनुद्रुत्य यदुप्रवीरम्।
जग्राह पीनोत्तमलम्बबाहुं बाह्वोर्हरिं व्यायतपीनबाहुः ॥
निगृह्यमाणश्च तदादिदेवो भृशं सरोषः किल चात्मयोगी।
आदाय वेगेन जगाम विष्णुर्जिष्णुं महावात इवैकवृक्षम् ॥
पार्थस्तु विष्टभ्य बलेन पादौ भीष्मान्तिकं तूर्णमभिद्रवन्तम्।
बलान्निजग्राह हरिं किरीटी पदेऽथ राजन् दशमे कथंचित् ॥
अवस्थितं च प्रणिपत्य कृष्णं प्रीतोऽर्जुनः कांचनचित्रमाली।
उवाच कोपं प्रतिसंहरेति गतिर्भवान् केशव पाण्डवानाम् ॥
न हास्यते कर्म यथाप्रतिज्ञं पुत्रैः शपे केशव सोदरैश्च।
अन्तं करिष्यामि यथा कुरूणां त्वयाहमिन्द्रानुज सम्प्रयुक्तः[3] ॥"

कृष्णायन:— "चकित भीत इत पार्थ अधीरा,
तजि रथ धाय गहे यदुवीरा।

---

1. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ६८, ४१-४३
2. कृष्णायन, पूजा-काण्ड, दोहा ६५
3. महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ५६, ९९-१०३

करि बल पुनि पुनि रोकन चाहा,
रुके न पै हरि, रोष अथाहा।
कर्षत पृथा-सुतहु निज साथा,
बढ़े भीष्म दिशि हठि यदुनाथा।
विकल विजय तब बाहु बिहायी,
विनय-वाणि पद प्रणत सुनायी।
छमहु ! छमहु मम मोह अशोभा,
रोकहु जग-क्षय-क्षम यह क्षोभा।
विनसहिं बस पाण्डव रण माहीं,
उचित नाथ प्रण-विप्लव नाहीं।
नव दिन प्रभु ! मोरेहि अपराधा,
हती पितामह सैन्य अबाधा।
प्रभु-पद शपथ करत प्रण घोरा,
करिहौं अब नित समर कठोरा[1] ॥"

× × ×

कृष्णायन और भगवद्गीता

कृष्णायन पर श्रीमद्भगवद्-गीता का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। गीताकाण्ड की रचना का मुख्य आधार गीता ही है। इस काण्ड में गीता का कहीं अक्षरशः और कहीं भावानुसारी अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। मौलिकता की कमी होने पर भी अनुवाद की दृष्टि से गीता-काण्ड को भगवद्गीता का सफल अनुवाद कहा जा सकता है। तुलना के लिए कतिपय उदाहरण यहां दिए जाते हैं :—

गीता :— "कथं भीष्महं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन[2] ॥"

कृष्णाकन :— "सव्यसाचि सुनि वचन उचारे,
भीष्म द्रोण दोउ पूज्य हमारे।
कहहु तुमहिं संगर मधुसूदन,
करहुँ शरन कस इन सँग प्रतिरण[3] ॥"

× × ×

गीता :— "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः[4] ॥"

---

१. कृष्णायन, जयकाण्ड, दोहा ६३
२. गीता, अध्याय २, ४
३. कृष्णायन, गीताकाण्ड, दोहा ११७
४. गीता, अध्याय २, ११

कृष्णायन :— "सोचि अशोच्य क्लेश तुम पावत,
तेहि पै पण्डितपन प्रकटावत ।
मृत, जीवितहु हेतु जग माहीं,
शोच करत पण्डित जन नाहीं[1] ॥"

× × ×

गीता :— "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः[2] ॥"

कृष्णायन :— "विद्यमान कर नाहिं अभावा,
नहिं अभाव कर संभव भावा ।
दोउन केर अन्त पहिचानी,
रूप निरूपेउ तत्वज्ञानी[3] ॥"

× × ×

गीता :— "वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही[4] ॥"

कृष्णायन :—"धारत वसन नवान्य जिमि, जर्जर मनुज उतारि,
तजि तिमि आत्महु जीर्ण तनु, लेत अन्य नव धारि[5] ।"

× × ×

गीता :— "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि[6] ॥"

कृष्णायन: — "कर्महि महँ अधिकार तुम्हारा,
नाहिं कर्मफल पै अधिकारा ।
फलहित करहु कर्म तुम नाहीं,
नहि आसक्ति अकर्महु माहीं[7] ॥"

× × ×

गीता: — "आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

---

१. कृष्णायन, गीताकाण्ड, दोहा ११९
२. गीता, अध्याय २, १६
३. कृष्णायन, गीताकाण्ड, दोहा १२०
४. गीता, अध्याय २, २२
५. कृष्णायन, गीताकाण्ड, दोहा १२१
६. गीता, अध्याय २, ४७
७. कृष्णायन, गीताकाण्ड, दोहा १२६

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी[1] ॥"

कृष्णायन :— "भरत जदपि जल नित तेहि माहीं,
तजत उदधि मर्यादा नाहीं ।
विषय-भोग सब ताहि विधि, जेहि महँ आय समाहिं ।
लहत संयमी शान्ति सोइ, कामार्थी जन नाहिं[2] ॥"

× × × ×

कृष्णायन और श्रीमद्भागवत

कृष्णायन के प्रथम तीन काण्डों के कथानक का मुख्य आधार श्रीमद्भागवत है । कृष्णायन और भागवत के दशम स्कन्ध की अनेक घटनाओं में साम्य दिखाई देता है । कृष्ण की बाल-लीला और अनेक-असुर-वधादि घटनाएँ कृष्णायन और भागवत में समान रूप से वर्णित हैं । फिर भी कृष्णायनकार ने अनेक स्थलों पर नवीन उद्भावनाओं द्वारा मौलिकता लाने का सफल प्रयत्न किया है । कृष्ण की बाल्यकेलियों, गोपियों के हृदय में कृष्ण के प्रति माता का-जैसा वात्सल्य, कृष्ण और राधा के हृदय में बालस्वभावोचित प्रेम का विकास, चीरहरण, श्रीकृष्ण के मथुरा-प्रवेश के अवसर पर नगरी-वर्णन, सान्दीपनि के आश्रम में कृष्ण की शिक्षा-प्राप्ति, द्वारका के वैभव का मनोरम चित्रण आदि प्रसंगों में कवि की मौलिक कवित्वशक्ति का पर्याप्त परिचय मिलता है । कृष्णायन और भागवत में साम्य दिखाने के लिए हम यहां कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं :—

भागवत :— "तस्मिन् स्तनं दुर्जरवीर्यमुल्वणं
घोरांकमादाय शिशोर्ददावय ।
गाढं कराभ्यां भगवान् प्रपीड्य तत्
प्राणैः समं रोषसमन्वितोऽपिबत् ॥
सा मुंच मुंचालमिति प्रभाषिणी
निष्पीड्यमानाखिलजीवमर्मणि ।
विवृत्य नेत्रे चरणौ भुजौ मुहुः
प्रस्विन्नगात्रा क्षिपती रुरोदह[3] ॥"

कृष्णायन :— "दिग्ध पयोधर दृढ़ गहेउ, सहठ कीन्ह पयपान ।
प्रलपति विलपति पूतना, देत न पै प्रभु जान ।
विष-पय सँग कर्षं प्रभु प्राणा,
परी धरणि विरहित गति ज्ञाना[4] ।"

१. गीता, अध्याय २, ७०
२. कृष्णायन, गीताकाण्ड, दोहा १३०
३. भागवत, दशम-स्कन्ध, अध्याय ६, १०-११
४. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ५०-५१

कालिय नाग के भयावह प्रभाव का उल्लेख भागवत तथा कृष्णायन में इस प्रकार पाया जाता है:—

भागवत :— "कालिन्द्यां कालियस्यासीद्ध्रदः कश्चिद् विषाग्निना ।
श्रप्यमाणपया यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः खगाः ॥
विप्रुष्मता विषोदोर्मिमारुतेनाभिमर्शिताः ।
म्रियन्ते तीरगा यस्य प्राणिनः स्थिरजंगमाः[1] ॥"

कृष्णायन :— "गरल-ज्वाल जरि जात सब, तट तरुवर तृण पात ।
तप्त वात डोलत, लगत, उड़त विहग गिरि जात[2] ॥"

कृष्ण के दावानल-पान-प्रसंग से एक-एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है:—

भागवत :— "वचोनिशम्य कृपणं बन्धूनां भगवान् हरिः ।
निमीलयत मा भैष्ट लोचनानीत्यभाषत ॥
तथेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्वणम् ।
पीत्वा मुखेन तान् कृच्छ्राद् योगाधीशो व्यमोचयत्[3] ॥"

कृष्णायन :— "विलपत यशुदा नंद पुकारी,
कान्ह ! आजु व्रज शरण तुम्हारी ।
'मूंदहु लोचन, कहेउ कन्हाई,
पल महँ अनल जाल मिटि जाई ॥'
व्रजवासिन मूंदे नयन, कीन्ह अग्नि प्रभु पान ।
सिमिटि समानी ज्वाल मुख, शीतल नीर समान[4] ॥"

कृष्णायन और सूरसागर

कृष्ण की बाल-लीलाओं के वर्णन में कृष्णायनकार सूरदास के ऋणी हैं । सूर ने कृष्ण के लोकसंग्रही रूप को नहीं अपनाया पर कृष्णायनकार ने कृष्ण के चरित्र में शील, सौन्दर्य और शक्ति इन तीनों तत्वों का समावेश करके इसे लोकमर्यादा के अनुकूल बनाने का प्रयास किया है । सूरसागर में मुख्यतया शृंगाररस की अभिव्यक्ति हुई है । सूरसागर में माधुर्य है, ओज का अभाव है, किन्तु कृष्णायन में ओज प्रचुर मात्रा में वर्तमान है ।

सूरसागर के बाललीला-सम्बन्धी पदों का अनुसरण मिश्र जी ने अनेक स्थलों पर किया है । कृष्णायन के आरम्भ में मिश्र जी ने स्वयं सूरदास का ऋण स्वीकार किया है:—

---

१. भागवत, दशम-स्कन्ध, अध्याय १६, ४-५
२. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ९२
३. भागवत, दशम-स्कन्ध, अध्याय १९, ११-१२
४. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा १०५

"सूरदास - पद - ज्योति सहारे,
बरने बाल-चरित मैं सारे[1] ॥"

कृष्णायन के बाललीला-सम्बन्धी अनेक पद्यों पर सूर के पदों की छाप स्पष्ट दीख पड़ती है। कहीं-कहीं तो सूर के पदों को उनके वास्तविक रूप में कृष्णायन में स्थान दिया गया है। जैसे:—

सूरसागर:— "मैया ! मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीन्हों, तू जसुमति कब जायो ॥
कहा कहौं, इहि रिस के मारे खेलन हौं नहि जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तात ॥
गोरे नंद जसोदा गोरी, तू कत स्याम सरीर।
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर ॥
तू मोही कों मारन सीखी, दाउहि कबहुं न खीजै।
मोहन-मुख रिस की बातें जसुमति सुनि सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।
सूर, स्याम मोहि गोधन की सौं, हौं माता, तू पूत[2]॥"

कृष्णायन :— "मैया ! दाऊ बहुत खिझावा,
कहत—'बबा तोहि हाट बिसावा।'
पूछत सखा-'कहां तव ताता ?'
सब मिलि कहत तुमहु नहि माता।
नन्द यशोदा गौर तनु, तुम कत श्याम शरीर।
चुटकी दे पूछत सखा, सिखै देत बलवीर॥
मुसकत श्याम कहत अति खीझत,
रोष विलोकि मातु मन रीझत।
सुनहु कान्ह, बलराम चबाई,
को अस गोकुल तेहि पतियायी ?
गोधन सौं सुनु सांच कन्हैया,
मोहन पूत, यशोमति मैया[3]॥"

× × ×

बाललीला-वर्णन में सूर की समता कोई नहीं कर सकता। सूर से प्रभावित होते हुए भी मिश्र जी का बाल-वर्णन सुसंगठित और प्रबन्ध के अनुरूप है, जब कि सूरसागर में

---

१. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ४
२. सूरसागर, दशम-स्कन्ध, २१५
३. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ६४-६५

वह बिखरा हुआ तथा पुनरावृत्तिपूर्ण दृष्टिगत होता है।

उद्धव की व्रज-यात्रा—जैसे प्रसंगों में भी यत्र-तत्र सूर के भ्रमर-गीत की छाप दीख पड़ती है जैसे:—

सूरसागर :— "ऊधौ हमहिं कहा समुझावहु।
पसु-पंछी सुरभी व्रज को सब, देखि स्रवन सुनि आवहु॥
त्रिन न चरत गो, पिवत न सुत पय, ढूँढ़त बन-बन डोलै।
अलि कोकिल दै आदि विहंगम, भाँति भयानक बोलै॥
जमुना भई स्याम स्यामहि विनु, इन्दु छीन छय रोगी[1]"

कृष्णायन:— "निर्जन वृन्दावन द्युति-हीना,
सूखे तृण-तरु, जीव मलीना।
अनल-पुंज इव कुंज लखाहीं,
खग-मृग भीत समीप न जाहीं।
देखि न परत चरत कहुँ धेनू,
कतहुँ न बाल बजावत वेणू।
विरह विकल यमुना अति कारी,
हहरति वहति विरह ज्वर जारी[2]॥"

× × ×

कृष्णायन और रामचरितमानस

कृष्णायन और रामचरितमानस की तुलना से यह सिद्ध होता है कि दोनों में अपने समय की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक अवस्थाओं एवं समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। तुलसी और मिश्र जी की काव्य-मनोवृत्तियों में भी थोड़ी-बहुत समानता है। लोककल्याण की भावना मानस और कृष्णायन दोनों में प्रधान रूप से वर्तमान है। कृष्णायन पर रामचरितमानस का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। कृष्णायन की रचना मानस को आदर्श मान कर की गई है। कृष्णायन में मिश्र जी ने मानस की भाषा-शैली को अपनाया है। कृष्णायन के आरम्भ में मिश्र जी ने स्वयं तुलसी का आभार स्वीकार किया है:—

"तुलसी-शैलिहि मोहिं प्रिय लागी,
भाषहु विनु विवाद, रस पागी[3]॥"

कृष्णायन मे मिश्र जी ने केवल दोहा, सोरठा और चौपाई इन तीन छन्दों को स्थान दिया है, जबकि मानस में इनके अतिरिक्त अन्य छन्दों को भी यत्र-तत्र अपनाया

---

१. सूरसागर, दशम-स्कन्ध, ३७९८
२. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा १६८
३. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ४

गया है। कृष्णायन की भाषा भी मानस की-जैसी अवधी है, पर संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग मानस की अपेक्षा कृष्णायन में अधिक हुआ है। मानस की भाषा-शैली को अपनाते हुए भी मिश्र जी ने तुलसी की भाव-धाराओं का अन्धानुकरण नहीं किया है। मानस की तरह कृष्णायन की कथा भी सात काण्डों में विभक्त की गई है।

विषयसाम्य की दृष्टि से कृष्णायन के आरोहणकाण्ड पर मानस के उत्तरकाण्ड का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। जिस प्रकार मानस के उत्तरकाण्ड में राम के राज्याभिषेक का वर्णन है, उसी प्रकार कृष्णायन के आरोहणकाण्ड में युधिष्ठिर राज्यपद पर प्रतिष्ठा पाते हैं। मानस के रामराज्य-वर्णन और कृष्णायन के धर्मराज्य-वर्णन में बहुत-कुछ समानता दिखाई देती है। जैसे:—

मानस :— "अल्पमृत्यु नहिं कवनिहुँ पीरा।
सब सुन्दर सब निरुज शरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नहिं कोउ अबुध न लक्षण-हीना[1]॥"
"लता विटप मांगे फल स्रवहीं।
मन-भावती धेनु पय स्रवहीं॥
शशि-सम्पन्न सदा रह धरणी।
त्रेता भइ सतयुग की करणी[2]॥"

कृष्णायन :— "सहज स्वभाव लता तरु धारा,
फूलि फलहिं सब ऋतु अनुसारा।
गोधन विपुल देत पय गाईं,
जात सकल व्रज, ग्राम नहाईं।
पुर जनपद धन-धान्य-निधाना,
प्रजा धर्म-प्रिय नित मख दाना।
आधि-व्याधि बिनु मनुज निरोगी,
हृष्ट समस्त सहज सुख भोगी[3]॥

× × ×

कृष्णायन और मानस में यत्र-तत्र भावसाम्य भी दिखाई देता है परन्तु यह साम्य आकस्मिक ही है, अनुकरण-प्रवृत्ति-सूचक नहीं। राम-लक्ष्मण के जनकपुरी में प्रवेश करते समय वहां की जनता की दशा की तुलना कृष्ण के मथुरा-प्रवेश के समय पुरवासियों की दशा से की जा सकती है:—

---

१. मानस, उत्तर-काण्ड, दोहा २०
२. मानस, उत्तर-काण्ड, दोहा २२
३. कृष्णायन, आरोहण-काण्ड, दोहा १२८

मानस :— "देखन नगर भूप सुत आये,
समाचार पुरवासिन पाये।
धाये धाम काम सब त्यागी,
मनहुँ रंक निधि लूटन लागी।
निरखि सहज सुन्दर दोउ भाई,
होहिं सुखी लोचन फल पाई।
युवती भवन झरोखन लागीं,
निरखहिं रामरूप अनुरागी[1]॥"

कृष्णायन :— "सुनत पुरी प्रविशे व्रजराजू,
धाये पुरजन तजि सब काजू।
घिरि दिशि दिशि ते दरस-पियासी,
उमही राजमार्ग जन-राशी।
युवतिन-यूथ गवाक्षन छाये,
पंथ प्रतीक्षत पलक बिछाये[2]॥"

× × ×

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानस का-सा प्रबन्धनिर्वाह, मानवीय मनाभावों का सूक्ष्म विश्लेशण, मनोरम रसपरिपाक और रचनाकौशल कृष्णायन में दृष्टिगोचर नहीं होता। फिर भी रामचरित की भाँति कृष्णचरित को महाकाव्योचित रूप प्रदान करने में कृष्णायनकार को पर्याप्त सफलता मिली है।

कृष्णायन और प्रियप्रवास

कृष्णायन और प्रियप्रवास दोनों महाकाव्यों की रचना कृष्णचरित को लेकर हुई है। प्रियप्रवास का कथानक बहुत सीमित है, पर कृष्णायन का व्यापक। प्रियप्रवास में कृष्ण एक आदर्श महापुरुष के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। उनका पौराणिक रूप प्रियप्रवास में लुप्त हो गया है। प्रियप्रवास में राधा के चरित्र का विकास एक आदर्श प्रेमिका और समाजसेविका के रूप में हुआ है। कृष्णायन में उसके चरित्र का पूरा विकास नहीं हो सका है। वह यहाँ कृष्ण की बाल्य-सहचरी के रूप में अंकित है। प्रियप्रवास में गोवर्धन-धारण, असुर-संहार आदि घटनाओं में अलौकिकता को दूर रखने का प्रयत्न किया गया है, पर कृष्णायन में वे अलौकिकता को लिए हुए हैं। कृष्ण के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक घटनाएँ प्रियप्रवास में व्रजजनों-द्वारा स्मृति रूप में वर्णित हैं। उनमें सजीवता और प्रत्यक्षानुभूति का अभाव है। कृष्णायन में ऐसी घटनाएँ सजीवता और प्रबन्ध-काव्योपयोगी धारावाहिकता लिए हुई हैं। प्रियप्रवास की अपेक्षा कृष्णायन में प्रबन्धात्म-

---

१. मानस, बाल-काण्ड, दोहा २१६

२. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा २१

कता और जीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालने की क्षमता अधिक है। वैसे तो प्रियप्रवास का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव कृष्णायन पर नहीं दिखाई देता, कहीं-कहीं भाव-साम्य अवश्य दीख पड़ता है, पर अनुकरण की प्रवृत्ति कृष्णायन में कहीं नहीं लक्षित होती। उदाहरण के लिए एक-दो पद्य देखिये। कृष्ण के विरह में यशोदा की दशा का चित्र प्रियप्रवास और कृष्णायन में इस प्रकार अंकित है :—

प्रियप्रवास :— "आवेगों से विपुल विकला शीर्णकाया कृशांगी।
चिन्ता-दग्धा व्यथित-हृदया शुष्क-ओष्ठा अधीरा॥
आसीना थी निकट पति के अम्बु-नेत्रा यशोदा।
खिन्ना दीना विनत-वदना मोहमग्ना मलीना[1]॥"

कृष्णायन :— "आयी सुनत धाय नँदरानी,
लागति औरहि जात न जानी।
बिछुरत श्याम नयन भरि आये,
बहत अबहुँ, नहिं थमत थमाये।
सुमिरि सुमिरि उपजत उर पीरा,
बहति नयन-मग, गलत शरीरा।
अस्थिमात्र अब अम्ब लखायी,
जनु ब्रज-व्यथा देह धरि आयी[2]॥"

जहाँ प्रियप्रवास में शब्दाडम्बर है, वहाँ कृष्णायन में स्वाभाविकता। 'अस्थिमात्र अब अम्ब लखायी, जनु ब्रज-व्यथा देह धरि आई', ये शब्द विरह-विधुरा यशोदा की सजीव मूर्ति हमारे समक्ष खड़ी कर देते हैं।

इसी प्रकार देवकी के लिए यशोदा का संदेश इन दोनों रचनाओं में इन शब्दों में वर्णित है :—

प्रियप्रवास :— "मैं रोती हूँ हृदय अपना कूटती हूँ सदा ही।
हा, ऐसी ही व्यथित अब क्यों देवकी को करूँगी॥
प्यारे जीवें पुलकित रहें औ बनें भी उन्हीं के।
धाई नाते वदन दिखला एकदा और देवें[3]॥"

कृष्णायन :— "ताते मैं विनती करहुँ, मानि मोहि हरि धाय।
मोहन मूरति बार इक, कैसेहु देव दिखाय[4]॥"

ऐसे स्थलों पर भाव-साम्य के होते हुए भी कृष्णायन पर प्रियप्रवास का कोई

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग १०, ६
२. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा १७०
३. प्रियप्रवास, सर्ग १०, ६५
४. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा १७२

विशेष प्रभाव सिद्ध नहीं होता ।

कृष्णायन तथा विविध रचनाएँ

महाभारत, श्रीमद्भागवत और सूरसागर का विशेष प्रभाव कृष्णायन पर पड़ा है, यह हम पहले दिखा चुके हैं । इन रचनाओं के अतिरिक्त संस्कृत के अन्य कई कवियों की छाप कृष्णायन पर दिखाई देती है । यहाँ हम कुछ प्रमुख कवियों की ऐसी उक्तियाँ उद्धृत करते हैं जो कृष्णायनकार की उक्तियों से समानता रखती हैं :—

कुमारसंभव:— "मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे,
पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ॥
शृंगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं,
मृगीमकण्डूयत् कृष्णसारः[1] ॥"

कृष्णायन:— "मृगहु शृंग-सोहराय मृगि, रहेउ पुलक उपजाय ।
कुसुम-चषक मधु प्रेयसिहिं, मधुपहु रहेउ पियाय[2] ॥"

× × ×

रघुवंश:— "प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः[3] ।"

कृष्णायन:— "रवि-सम कर्षि स्वल्प धन वारी,
बरसि सहस गुण करत सुखारी[4] ॥"

× × ×

किरातार्जुनीय:— "परिश्रमंल्लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरिरेणुरूषितः ।
महारथः सत्यधनस्य मानसं दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः ॥
विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान् कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः ।
स वल्कवासांसि तवाधुना हरन् करोति मन्युं न कथं धनंजयः ॥
वनान्तशय्या कठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम्[5] ॥"

कृष्णायन:— "चन्दन-चर्चित अँग जिन केरे,
रथ चढ़ि चलत, रहत जन घेरे ।
सोइ भीम वनचर अनुहारी,
धूसर धूलि आजु पदचारी ।

१. कुमारसंभव, सर्ग ३, ३६
२. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा ३७
३. रघुवंश, सर्ग १, १८
४. कृष्णायन, आरोहण-काण्ड, दोहा १२७
५. किरातार्जुनीय, सर्ग १, ३४-३६

जीति उत्तरापथ जेहि सारा,
दीन्ह नृपहिं धन, सुयश अपारा।
सोइ अर्जुन अस भाग्यविधाना,
देत लाय वल्कल-परिधाना।
कोमल अंग नकुल सहदेवा,
सेवक सहस करत नित सेवा।
महि कठोर सोवत अब सोई,
कीर्ण केश जनु वन-गज दोई[1] ॥"

× × ×

किरातार्जुनीयः— "किमवेक्ष्य फलं पयोधरान्,
ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः
सहते नान्यसमुन्नतिं यया[2] ॥"

कृष्णायनः— "वारिद वसत दूरि नभ माहीं,
मृगपति पहुँच तहाँ लगि नाहीं।
तबहुँ सुनत घनगर्जन घोरा,
करत कटाक्ष गरजि तेहि ओरा।
तेजस्विन उर सहज अमर्षा,
सहत न कबहुँ शत्रु-उत्कर्षा[3] ॥"

× × ×

शिशुपालवधः— "तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुमन्तं चिरेण यत्।
हिमांशुमाशु ग्रसते तन्म्रदिम्नः स्फुटं फलम्[4] ॥
अंकाधिरोपितमृगश्चन्द्रमा मृगलांछनः।
केसरी निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथो मृगाधिपः[5] ॥"

कृष्णायनः— "वैर जदपि सम रवि शशि साथा,
ग्रसत सतर्क राहु दिननाथा।
ग्रसत हिमांशु न लावत देरी,
सो महिमा सब म्रदिमा केरी।

---

१. कृष्णायन, पूजा-काण्ड, दोहा ११५
२. किरातार्जुनीय, सर्ग २, २१
३. कृष्णायन, पूजा-काण्ड, दोहा ११८
४. शिशुपालवध, सर्ग २, ४६
५. शिशुपालवध, सर्ग २, ५३

औरहु प्रकट चन्द्र-मृदुताई,
धारत मृगहि अंक अपनाई।
तबहुँ न ताहि प्रशंसत सज्जन,
निन्दत जगत कहत मृगलांछन।
निठुर सिंह मृगयूथ नसावत,
कहत मृगेश विश्व यश गावत[1] ॥"



१. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा १८७

साकेत-सन्त

(रचनाकाल—सन् १९४६)

हिन्दी के वर्तमान महाकाव्यों में श्री बलदेवप्रसाद मिश्र-कृत साकेत-सन्त की गणना समुचित ही प्रतीत होती है। भरत के चरित्र की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए साकेत-सन्त की रचना हुई है। साकेत-सन्त के हिन्दी-साहित्य में आने से पहले परम्परागत प्राचीन रामकथा को लेकर रामचरितमानस और साकेत इन दो लब्धप्रतिष्ठ महाकाव्यों की रचना हो चुकी थी। उनमें भी भरत के चरित्रगत आदर्श भ्रातृ-प्रेम, त्याग और साधना का विशद चित्रण हुआ है, पर एक महाकाव्य के नायक के रूप में वहाँ भरत को प्रमुख स्थान नहीं मिल सका। भरत का महान् चरित्र स्वतन्त्र रूप से एक महाकाव्य के नायक के पद पर प्रतिष्ठित होने की क्षमता रखता है। मिश्र जी ने साकेत-सन्त में भरत को उनके चरित्र की सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ एक प्रमुख पात्र के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। जिस प्रकार गुप्त जी ने साकेत में उर्मिला और लक्ष्मण के चरित्र को प्रधानता दी है, उसी प्रकार साकेत-सन्त में भरत और माण्डवी के चरित्र पर विशेष प्रकाश डाला गया है। यहाँ मिश्र जी ने भरत के पावन चरित्र को एक स्वतन्त्र महाकाव्य का विषय बनाने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है।

साकेत-सन्त का महाकाव्यत्व

महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों को ध्यान में रखते हुए साकेत-सन्त एक सफल महाकाव्य कहा जा सकता है। महाकाव्य के प्राचीन परम्परागत लक्षणों के अनुसार साकेत-सन्त एक सर्गबद्ध रचना है। इसके नायक भरत धीरोदात्त गुणों से युक्त एक क्षत्रिय-वंशीय प्रसिद्ध महापुरुष हैं। इसकी कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध तथा लोकविश्रुत है। शृंगार, वीर, और शान्त इन तीन रसों में से शान्त रस को इसमें प्रधानता दी गई है। शृंगार, करुण, वीर, रौद्र आदि अन्य रस भी इसमें अंग रूप में वर्तमान हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से धर्म का पालन इसका मुख्य लक्ष्य है। इसके आरम्भ में भरत की स्तुति के रूप में मंगलाचरण भी वर्तमान है। आठ से अधिक चौदह सर्गों में इनकी कथा कही गई है। प्रत्येक सर्ग की रचना प्रायः एक ही छन्द में हुई है और प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्दपरिवर्तन-सम्बन्धी नियम का पालन भी कवि ने किया है। चौदहवें सर्ग में विविध छन्दों का प्रयोग दिखाई देता है। महाकाव्य में विविध प्रसंगों तथा प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों को अधिक महत्व दिया जाता है। साकेत-सन्त में भी राजभवन, प्रातः, सन्ध्या, वसन्त, ग्रीष्म, गंगा,

यमुना, भारद्वाज के आश्रम, दण्डक वन और आँधी, वर्षा आदि के सुन्दर वर्णन पाये जाते हैं। इस प्रकार साकेत-सन्त में महाकाव्य-सम्बन्धी परम्परागत नियमों का पालन किया गया है। महाकाव्य के प्राचीन लक्षणों का निर्वाह इस रचना में अवश्य हुआ है पर कथावस्तु के सीमित होने के कारण उसमें महाकाव्योचित सम्पूर्ण जीवन की, उसकी विविध विशेषताओं के साथ, अभिव्यक्ति नहीं होने पाई है। संकुचित कथावस्तु के आधार पर भी शिशुपालवध, नैषधीयचरित जैसे सफल महाकाव्यों की रचना संस्कृत-साहित्य में हुई है। इसलिए केवल कथावस्तु की व्यापकता के अभाव में साकेत-सन्त को हम महाकाव्यों की श्रेणी से पृथक् नहीं कर सकते। कथाप्रवाह, वर्णन-सौष्ठव, जातीय आदर्शों और भावनाओं की अभिव्यक्ति, सांस्कृतिक महत्ता और-शैली की गरिमा आदि की दृष्टि से भी साकेत-सन्त के महाकाव्यत्व में सन्देह नहीं किया जा सकता।

कथावस्तु

साकेत-सन्त की कथावस्तु चौदह सर्गों में वर्णित है। इसका आरम्भ विवाह के पश्चात् भरत और माण्डवी के दाम्पत्य-जीवन के चित्रण से होता है। प्रथम सर्ग में भरत माण्डवी के साथ प्रेमालाप करते हुए मामा युधाजित् की प्रेरणा पाकर अपने ननिहाल केकय देश में जाने की इच्छा प्रकट करते हैं। भरत माण्डवी के साथ वहाँ पहुँचकर हिमालय की शोभा देखना चाहते हैं। प्रेमालाप और संगीत द्वारा मनोविनोद करते हुए नवविवाहित दम्पति सारी रात बिता देते हैं और प्रातःकाल होते ही केकय देश को प्रस्थान करते हैं। मार्ग में प्रकृति के विविध दृश्यों को देखते हुए वे केकय-देश के राजभवन में पहुँचते हैं। द्वितीय सर्ग में भरत मामा युधाजित् के साथ आखेट खेलने के लिए हिमालय में पहुँचते हैं। वहाँ एक कस्तूरिका मृग भरत के बाण से घायल होकर गिर पड़ता है। आहत मृग की दयनीय दशा से भरत का हृदय द्रवित हो उठता है। युधाजित् भरत को उदास देखकर अपनी ओजस्विनी वक्तृता-द्वारा उन्हें एक निर्भय शक्तिशाली शासक बनने को प्रोत्साहित करता है। भरत मामा की हिंसात्मक नीति का विरोध करते हुए अहिंसा और शान्ति का समर्थन करते हैं। युधाजित् भरत को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाने की चेष्टा करता है। वह भरत को बता देता है कि कैकेयी के विवाह से पूर्व राजा दशरथ ने उसके औरस पुत्र को राजगद्दी देने का प्रण किया था और वह भरत के हितों का ध्यान रखने के लिए साकेत में मन्थरा को भी सावधान कर चुका है। यह सुन कर भरत स्तब्ध हो जाते हैं। वे साकेत लौटने का विचार कर ही रहे थे कि इतने में अवध के दूत उन्हें बुलाने के लिए वहाँ पहुँच जाते हैं। भरत चिन्तित दशा में अयोध्या के लिए प्रस्थान करते हैं। तृतीय सर्ग में भरत आशंकित हृदय से अयोध्या में प्रवेश करते हैं। वहाँ माता कैकेयी से राम के वनगमन और दशरथ के मरण की सूचना पाकर वे विह्वल हो जाते हैं। कैकेई और मन्थरा के षड्यंत्र की निन्दा करते हुए भरत अपनी आत्मा को कोसने लगते हैं। माता कौशल्या की गोद में वे कुछ सान्त्वना प्राप्त करते हैं। इतने में शत्रुघ्न-द्वारा

मन्थरा की दुर्दशा की सूचना पाकर भरत माता कौशल्या के आदेशानुसार मन्थरा की प्राणरक्षा में प्रवृत्त होते हैं। चतुर्थ सर्ग में भरत अपने भवन में व्याकुल और चिन्तित दीख पड़ते हैं। वे माण्डवी को उर्मिला की देख-रेख रखने की आज्ञा देते हैं और सारी रात चिन्ता ही में बिता देते हैं। अपने ही कारण राम, सीता और लक्ष्मण के दुख और दशरथ की मृत्यु की कल्पना करके वे अधीर हो उठते हैं और अन्त में राम को वन से लाने तथा उन्हें राज्य सौंपने का निश्चय कर लेते हैं। पंचम सर्ग में मन्त्रणागार की भरी सभा में वशिष्ठ भरत को राज्य संभालने और दशरथ के शव की अन्त्येष्टि-क्रिया करने का आदेश देते हैं। भरत वशिष्ठ का यह आदेश सुनकर निस्तब्ध हो जाते हैं। राम के वन में दुख सहते हुए स्वयं राज्य करना अन्यायपूर्ण समझ भरत अन्त में राम को ही अवध का राजा और अपने को उनका सेवक घोषित करते हैं। वे वन में जाकर राम को लौटा लाने का दृढ़ संकल्प कर पिता के शव का दाह-संस्कार सम्पन्न करने की अनुमति दे देते हैं। साकेतनिवासी भरत के निर्णय की सराहना करते हुए उनके साथ राम के पास पहुँचने के लिए तैयार हो जाते हैं। कैकेयी अपनी इच्छा के विरुद्ध भरत का निर्णय सुनकर मूर्च्छित हो जाती है। षष्ठ सर्ग में चेतना प्राप्त करने पर कैकेयी पश्चाताप की अग्नि में जलती हुई वशिष्ठ के पास पहुँचती है और उनसे दशरथ को पुनर्जीवित करने के लिए प्रार्थना करती है। उधर दशरथ के शव के दाह-संस्कार की तैयारी होती है। दशरथ का पुनर्जीवन संभव न देख कैकेयी पति के साथ चिता पर सती होने के लिए उद्यत हो जाती है। भरत उसे रोकते हुए उसके संक्षुब्ध हृदय को शान्त करते हैं। सप्तम सर्ग में नगर की व्यवस्था करके भरत मुनिगण, माताओं, परिजन, पुरजन और सेना को साथ लेकर राम से मिलने के लिए साकेत से विदा होकर शृंगवेरपुर पहुँच जाते हैं। अष्टम सर्ग में निषादराज भरत को दलबल-सहित राम के पास जाते देख भरत के चरित्र पर सन्देह करता हुआ उनसे लड़ने के लिए तैयार हो जाता है पर भरत से भेंट होने पर उसका सारा सन्देह दूर हो जाता है। उसके साथ भरत गंगा को पार करते हुए प्रयाग में भरद्वाज के आश्रम में पहुँच जाते हैं। नवम सर्ग में भरद्वाज के आश्रम का वर्णन है। आश्रम में आतिथ्य-लाभ करते हुए भरत भरद्वाज के निर्देशानुसार राम के निवास-स्थान चित्रकूट की ओर प्रस्थान करते हैं। दशम सर्ग में भरत वनमार्ग में ग्रीष्मकालीन कठिन परिस्थितियों का सामना करते हुए अपने गन्तव्य स्थान चित्रकूट में पहुँच जाते हैं। वहाँ कुछ दूर से राम की पर्णकुटी को देख वे आत्मविभोर हो उठते हैं। एकादश सर्ग में कोलों से ससमाज भरत के आगमन की सूचना पाकर राम स्वयं उनसे मिलने के लिए चल पड़ते हैं। चित्रकूट के मार्ग के मध्य में ही राम भरत को गले लगाते हैं और उन्हें अपने निवासस्थान पर ले आते हैं। यहाँ लक्ष्मण और सीता से भेंट करके भरत राम के साथ गुरुजनों और माताओं के पास पहुँचते हैं। गुरुजनों का आशीर्वाद पाकर राम की माताओं से भेंट होती है। कैकेयी राम को गले लगाकर अपने संतप्त हृदय को शान्त करती है। वशिष्ठ से पिता के निधन का समाचार पाकर राम व्याकुल हो जाते हैं। वशिष्ठ उन्हें

सान्त्वना प्रदान करते हैं। भरत अपने हृदय की बात कहे बिना ही कुछ दिन चित्रकूट में विता देते हैं। द्वादश सर्ग में भरत के दलबल-सहित चित्रकूट में पहुँचने से शंकित हो मिथिलेश जनक भी वहाँ पहुँच जाते हैं। चित्रकूट में कई दिन वीत गए और किसी को राम से खुलकर बातें करने का अवसर न मिला। अन्त में भरत एक दिन अवसर पाकर राम का हृदय टटोलते हैं। लौट चलने का सीधा प्रस्ताव न करके भरत ने प्रेम और कर्त्तव्य के संघर्ष के विषय में राम से बात छेड़ी। राम ने बड़े चातुर्य से भरत की इच्छा के विरुद्ध उन्हें वता दिया कि लोकसेवा में निरत होकर चौदह वर्षों तक अवध का शासन-क्रम चलाना ही उनके लिए उचित है। त्रयोदश सर्ग में रात्रि को भीषण आँधी और वर्षा का प्रकोप दीख पड़ता है। उनके शान्त हो जाने पर प्रातःकाल होते ही सभा जुटती है। इसमें कैकेयी, जावालि, अत्रि और जनक राम को अयोध्या लौट चलने की सलाह देते हैं। राम सारी परिषद् के निर्णय को मानने के लिए तैयार हो जाते हैं। वशिष्ठ इस निर्णय का सारा भार भरत पर छोड़ देते हैं। अपने ऊपर दायित्व के आ जाने से भरत के हृदय में उथल-पुथल मच जाती है और अन्त में वे राम की इच्छा के अनुसार चौदह वर्षों के लिए राज्यभार स्वीकार कर लेते हैं और इस भार को उठाने के लिए उनकी चरण-पादुकाओं का सहारा माँगते हैं। चतुर्दश सर्ग में भरत चित्रकूट से लौटकर नन्दिग्राम में तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए अवध का शासन-क्रम चलाते हैं। तपस्विनी माण्डवी भी माताओं एवं उर्मिला की सेवा में निरत दीख पड़ती है। अपने तपस्वी पति के लिए प्रतिदिन फलाहार की व्यवस्था करती हुई वह उनकी साधना में सहयोग देती है। इस प्रकार प्रभुसेवा और लोककल्याण में निरत भरत एक दिन संजीवनी वूटी को लेकर उड़ते हुए हनुमान को राक्षस समझ वाण से नीचे गिरा देते हैं। हनुमान से सीताहरण और लक्ष्मण की मूर्च्छा का समाचार पाकर भरत विक्षुब्ध हो जाते हैं। वे योगबल से राम की सहायता के लिए लंका पहुँचने की तैयारी करने लगते हैं किन्तु वशिष्ठ अपनी दिव्यदृष्टि-द्वारा उन्हें निकट भविष्य में राम की विजय का दृश्य दिखा देते हैं। इसी तरह चौदह वर्ष वीत जाते हैं। लंकाविजय के पश्चात् राम अयोध्या को लौटते हैं। उनसे भेंट करने पर भरत प्रभु की थाती प्रभु को सौंप कर परम शान्ति लाभ करते हैं। अन्त में भरत अपनी तपस्विनी पत्नी माण्डवी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए हिमालय की-सी शान्ति घर में ही अनुभव करते हैं।

कथानक-समीक्षा

साकेत-सन्त की कथावस्तु का मुख्य आधार रामायण के अयोध्याकाण्ड की कथा है। अयोध्याकाण्ड में भी भरत के ननिहाल से अयोध्या में लौटने से लेकर चित्रकूट में राम-भरत-मिलन तक की कथा को ही साकेत-सन्त में प्रमुख स्थान मिला है। मिश्र जी का मुख्य उद्देश्य भरत के चरित्र पर विशेष प्रकाश डालना है। इसलिए परम्परागत रामकथा के उसी अंश को उन्होंने चुना है जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध भरत से है। परम्परागत कथा में

मिश्र जी ने कुछ परिवर्तन करते हुए नवीन उद्भावनाएँ भी की हैं। साकेत-सन्त के आरम्भ में भरत और माण्डवी का प्रेमालाप, केकय देश में मामा युधाजित् के साथ भरत का मृगयार्थ हिमालय में जाना और आहत मृग की करुणाजनक दशा से प्रभावित होकर हिंसा-वृत्ति की निन्दा करना आदि प्रसंग सर्वथा मौलिक हैं। भरत के ननिहाल से लौटकर चित्रकूट में राम से भेंट तक की कथावस्तु रामायण से अवश्य ली गई है किन्तु उसमें यत्र-तत्र कुछ परिवर्तन भी किए गए हैं। मिश्र जी आदि से लेकर अन्त तक भरत के साथ रहते हैं। उनकी अनुपस्थिति में अयोध्या में जो घटनाएँ घटती हैं उनका प्रत्यक्ष रूप में वर्णन साकेत-सन्त में नहीं हुआ है। साकेत-सन्त में युधाजित् के कहने पर भरत केकय देश में पहुँचते हैं, इसलिए राम के राज्याभिषेक के समय भरत की अनुपस्थिति के कारण दशरथ के व्यवहार में सन्देह के लिए विशेष अवकाश नहीं रहता। मन्थरा की कुटिल नीति में भी मिश्र जी ने भरत के मामा युधाजित् का विशेष हाथ बताया है :—

"है धन्य मन्थरा हो यह, यद्यपि दासों की दारा।
जो समझ गई सब बातें, पाकर बस एक इशारा[1] ॥"

साकेत-सन्त में मिश्र जी ने कैकेयी के दशरथ से भरत के राज्याभिषेक-सम्बन्धी वर प्राप्त करने के लिए विशेष कारण यह बताया है कि दशरथ के साथ कैकेयी के विवाह से पूर्व दशरथ ने यह प्रतिज्ञा की थी कि कैकेयी का औरस पुत्र राज्य का अधिकारी होगा :—

"रघुपति से यह प्रण लेकर, कैकेयी हमने दी है।
तुम समझो, युवा हुए हो, अब बालक-बुद्धि नहीं है[2] ॥"

मिश्र जी की इस नवीन उद्भावना से अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करने के कारण दशरथ के चरित्र को आघात अवश्य पहुँचता है, पर कैकेयी की कुटिलता के लिए यहां पर्याप्त मनोवैज्ञानिक आधार उपस्थित हो जाता है।

कैकेयी का वशिष्ठ से दशरथ को पुनर्जीवित करने के लिए प्रार्थना करना और उसमें सफल न होने पर पति की चिता पर सती होने के लिए प्रस्तुत होना भी कवि की निजी उद्भावनाएँ हैं। इनसे कैकेयी के पश्चाताप की तीव्रता बढ़ जाती है।

साकेत-सन्त में राम से मिलने के लिए भरत के राजसी ठाठ-बाट से युक्त होकर सेना सहित प्रस्थान करने का कारण भी कवि ने स्पष्ट बता दिया है :—

"भूप के अभिषेक के सब साज लो, तीर्थ के जल और पावन ताज लो।
छत्र चँवर गजादि वाहन संग हों, चक्रवर्ती के सभी वह रंग हों ॥
साथ सेना हो कि नृप को मान दे, साथ हो मुनिमण्डली कि विधान दे।
साथ परिजन हों कि सेवा भार लें, साथ पुरजन हों कि प्रभु स्वीकार लें[3] ॥"

---

१. साकेत-सन्त, सर्ग २, ७५

२. साकेत-सन्त, सर्ग २, ७४

३. साकेत-सन्त, सर्ग ७, ४८-४९

भरत राम के उचित सम्मान के लिए उनके राज्याभिषेक की सारी सामग्री और सेना को साथ ले चलना उचित समझते हैं।

मिश्र जी ने चित्रकूट में भरत के आगमन की सूचना कोलों द्वारा पहले ही राम को दिला दी है। लक्ष्मण को भी इसलिए भरत के चरित्र पर सन्देह करते हुए अनुचित क्रोध दिखाने का अवसर नहीं दिया गया है। साकेत-सन्त में चित्रकूट की बृहत्सभा की आयोजना से पूर्व ही एकान्त में भरत और राम का मिलन प्रस्तुत करके मिश्र जी ने उन दोनों को एक दूसरे के हृदय को टटोलने का अवसर दे दिया है। चित्रकूट की सभा में राम अपने कर्तव्य के सम्बन्ध में सारा निर्णय सभासदों को सौंप देते हैं और वशिष्ठ इस निर्णय का दायित्व भरत पर डालते हैं। अन्त में रामायण की तरह साकेत-सन्त में राम भरत को राज्य सँभालने का आदेश नहीं देते अपितु अपने ऊपर दायित्व आ जाने से भरत स्वयं ही प्रभु की इच्छा के आगे अपने को अर्पण कर देते हैं। वे राम के सेवक के रूप में उनकी चरणपादुकाओं के सहारे चौदह वर्ष तक राज्यभार स्वयं स्वीकार कर लेते हैं। चित्रकूट से लौट आने पर नन्दिग्राम में तपस्वी भरत की दिनचर्या के विशद चित्रण में भी कवि की मौलिक सृजन-शक्ति की छाप दिखाई देती है।

भरत का हनुमान से सीतापहरण और लक्ष्मण-मूर्च्छा की सूचना प्राप्त करना, राम की सहायता के लिए लंका में पहुँचने के लिए उद्यत होना, वशिष्ठ से दिव्य-दृष्टि लाभ कर राम की लंकाविजय का दृश्य देखना और अन्त में राम से मिलना आदि घटनाएँ साकेत के आधार पर संक्षेप से वर्णित हैं। उपसंहार में तपस्विनी माण्डवी और साकेत के सन्त का मिलन भी मिश्र जी की अपनी सूझ है।

इस प्रकार साकेत-सन्त में मिश्र जी ने कथा की परम्परा को स्थिर रखते हुए भी यत्र-तत्र परिवर्तन और नवीन उद्भावनाओं द्वारा अपने काव्य को मौलिक रूप देने का प्रयत्न किया है। अधिकांश परिवर्तन और नवीन उद्भावनाएँ भरत के चरित्र की गरिमा को प्रकाश में लाने के लिए हुई हैं। साकेत-सन्त का वास्तविक कथानक विस्तृत नहीं है, उसमें जीवन की विविधता और व्यापकता का चित्र उपस्थित करने की क्षमता नहीं। कहीं-कहीं कथानक के प्रवाह में शैथिल्य भी आ गया है। कई जगह सरलता और भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता और नीरसता भी दृष्टिगत होती है। अन्तिम सर्ग में प्रबन्धात्मकता के स्थान पर मुक्तक काव्य की सी स्फुटता भी दिखाई देती है। इन कतिपय त्रुटियों के होते हुए भी मिश्र जी का एक सीमित कथानक को महाकाव्योचित रूप देने का प्रयास प्रशंसनीय है।

चरित्र-चित्रण

भरत—

साकेत-सन्त एक चरित्र-प्रधान महाकाव्य है। इसमें घटनाओं का विस्तार नहीं है। रामायण की केवल उन्हीं घटनाओं को कवि ने चुना है जो भरत के चरित्र से प्रत्यक्ष

सम्बन्ध रखती हैं। भरत के पावन चरित्र की विशेषताओं का चित्रण ही साकेत-सन्त के रचयिता का मुख्य उद्देश्य है और इसकी पूर्ति में उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है। भरत ही साकेत-सन्त का प्रमुख चरित्र है। आरम्भ से लेकर अन्त तक मिश्र जी अपने नायक के साथ दिखाई देते हैं। वाल्मीकि-रामायण, रामचरितमानस और साकेत में भी भरत का उदात्त चरित्र वर्णित है किन्तु इन तीनों महाकाव्यों में उन्हें नायक का स्थान नहीं मिल सका है। साकेत-सन्त में कैकेयी, कौशल्या, वशिष्ठ, राम, लक्ष्मण, सीता आदि अन्य सभी पात्र भरत के चरित्र के विकास में सहायक हैं।

भरत के चरित्र में त्याग, भ्रातृ-भक्ति, सेवाभाव, अहिंसा, दया, क्षमा, कर्तव्य-निष्ठा आदि उदात्त वृत्तियों की सुन्दर व्यंजना हुई है। साकेत-सन्त के आरम्भ में माण्डवी के साथ उनका प्रेमालाप बहुत शिष्ट और संयत बन पड़ा है। यह उनकी त्यागमयी मनो-वृत्ति के अनुकूल ही है। आखेट में निपुण होने पर भी आहत मृग की दयनीय दशा को देखकर उनका कोमल हृदय द्रवित हो जाता है और वे हिंसा से विरक्त हो जाते हैं:—

"कुछ ऐसी कातरता थी, मृग की आंखों में व्यापी।
शुद्धात्मा भरत कुंवर की, करुणा पूरित हो कांपी[1] ॥"

केकय देश में मामा युधाजित् की युद्ध और हिंसा की समर्थक नीति का विरोध करते हुए भरत राज्य के प्रति उदासीनता और राम के प्रति अपनी दृढ़ भक्ति का परिचय देते हैं[2]।

ननिहाल से लौटने पर कैकेयी की स्वार्थ-लिप्सा से दशरथ की मृत्यु और राम के वनगमन की दुखद सूचना पाकर भरत का त्याग और भ्रातृ-प्रेम अधिक विकसित होता हुआ पश्चाताप की अग्नि में तप कर उज्ज्वल रूप धारण कर लेता है। माता कैकेयी से राम के वनगमन और दशरथ की मृत्यु की सूचना पाकर भरत स्तब्ध हो जाते हैं:—

"झंझा से कांपे, धधक उठे दावा से,
क्षण भर में रुक कर अचल हुए ग्रावा से।
मस्तक पर सौ-सौ गिरीं बिजलियां आकर,
गिर पड़े भूमि पर भरत सुचेत गंवा कर[3] ॥"

भरत के चरित्र में आत्मग्लानि की व्यंजना मनोवैज्ञानिक ढंग से हुई है। अपने आपको दशरथ-निधन और राम के वनवास तथा साकेत के उपद्रव का मूलकारण समझ वे अपनी आत्मा को इस प्रकार कोसने लगते हैं:—

---

१. साकेत-सन्त, सर्ग २, १५
२. देखिए—साकेत-सन्त, सर्ग २, ५६
३. साकेत-सन्त, सर्ग ३, १६

"मेरे कारण ही अवध राम ने छोड़ा,
मेरे कारण तनु-बन्ध पिता ने तोड़ा।
मेरे कारण यह दशा तुम्हारी माता,
दानव हूँ दानव, विपुल व्यथा का दाता[1] ॥"

भरत के चरित्र में उनकी विविध मनोवृत्तियों का चित्रण कवि ने बड़े कौशल से किया है। चित्रकूट की सभा में भरत के विक्षुब्ध हृदय का चित्र इन शब्दों में अंकित हुआ है :—

"भरत जिधर थे उधर सबों की, उत्सुक आँखें बरबस धाईं।
दौड़े इतने भाव, न सकीं, सँभाल, भरत आँखें भर आईं।
चढ़ा दृगों में ज्वार, और, मुख के रंगों पर भाटा छाया।
लहरों ने टकरा टकरा कर उर सागर में तुमुल मचाया[2] ॥"

राम भरत के आराध्य देव हैं, पर साकेत-सन्त में भगवान् की नहीं, भक्त की विजय दिखाई गई है। राम स्वयं भरत के समक्ष अपनी हार स्वीकार करते हैं :—

"आज भरत खोकर भी जीते,
और जीत कर भी मैं हारा[3]।"

भरत के चरित्र की सबसे बड़ी विभूति उनका त्याग है। यह त्याग ज्ञान-जनित नहीं, अनुराग (भ्रातृ-भक्ति) का परिणाम है। अन्त में भरत राम की चरण-पादुकाओं के सहारे नन्दिग्राम में राम के सेवक के रूप में शम, दम, नियम और संयम को अपनाते हुए लोकसेवा में निरत होकर अनासक्त जीवन व्यतीत करते हैं। यदि राम-लक्ष्मण वन में तपस्या करते हैं तो भरत साकेत में भोगों के बीच रहते हुए भी योगी बन जाते हैं। वे वास्तव में साकेत के सन्त हैं।

माण्डवी

माण्डवी साकेत के सन्त भरत की धर्मपत्नी है। उर्मिला के साथ ही उपेक्षिता माण्डवी की ओर साकेत में गुप्त जी का ध्यान आकृष्ट हुआ था किन्तु वहाँ माण्डवी के चरित्र का पूर्ण विकास नहीं हो सका। साकेत-सन्त में माण्डवी नायिका के पद पर प्रतिष्ठित हुई है। हाँ, भरत के चरित्र की तरह माण्डवी के चरित्र की विशेषताओं पर पूर्ण प्रकाश डालने में मिश्र जी भी समर्थ नहीं हुए। उन्होंने माण्डवी को एक आदर्श, सती-साध्वी भारतीय नारी के रूप में अंकित किया है। भरत के प्रति उसका प्रेम संयत और गम्भीर है, उसमें उच्छृंखलता का अभाव है। साकेत-सन्त के आरम्भ में अपने प्रियतम

---

१. साकेत-सन्त, सर्ग ३, ४४
२. साकेत-सन्त, सर्ग १३, ५१
३. साकेत-सन्त, सर्ग १३, ६६

भरत के साथ प्रेमालाप में वह एक कुलवधू के समान मर्यादा का पालन करना उचित समझती है :—

"कुलवधू कब रहती स्वच्छन्द, उसे बस अपना भवन पसन्द।
आपके रहें अचल सुख-साज, उसे प्रिय अपना स्वजन-समाज[1] ॥"

वह सारे विश्व को अपने आराध्यदेव भरत में देखती है :—

"और मैं ? तुम्हें हृदय में थाप, बनूँगी अर्घ्य आरती आप।
विश्व की सारी कान्ति समेट, करूँगी एक तुम्हारी भेंट[2] ॥

ननिहाल से लौटने पर दशरथ की मृत्यु और राम, लक्ष्मण एवं सीता के वनगमन पर भरत को दुखी देख माण्डवी भी उनके दुख में हाथ बँटाती है। वह स्वयं तीव्र वेदना अनुभव करती है। उसके हृदय की व्यथा की व्यंजना मिश्र जी ने शब्दों में नहीं, उसके आँसुओं द्वारा की है :—

"माण्डवी ने धीरे, पट खोल, उदासी और अधिक दी घोल।
आगई करने करुणा-पूर्ति, म्लानता की दयनीया मूर्ति ॥
नम्र स्वर में वह बोली नाथ, बटाऊँ कैसे दुख में हाथ।
बता दो यदि हो कहीं उपाय, टपाटप गिरे अश्रु असहाय[3] ॥"

भरत के आदेशानुसार वह उर्मिला को धीरज बँधाने में लग जाती है। सीता और उर्मिला से भी अधिक दयनीय दशा माण्डवी की है। सीता को वन में भी पति का सहारा प्राप्त हुआ। लक्ष्मण के विरह में फूट-फूट कर आँसू बहाकर उर्मिला ने भी अपने दुख का भार हल्का किया पर माण्डवी को पति के निकट रह कर भी मूक वेदना सहनी पड़ी। उसे फूट-फूट कर रोने और आह भरने का भी अधिकार न मिल सका। वह राजमहल के वैभव में रहती हुई भी तपस्विनी बनी रही। इस तपस्विनी का सजीव चित्र मिश्र जी ने इन शब्दों में खींचा है :—

"आई उतर तपस्या भू पर नारी बन सुकुमारी।
पर सुकुमारी अग्नि शिखा थी, जग-जग पावनकारी ॥
तन पर दो खादी के टुकड़े, चार चूड़ियाँ प्यारी।
एकछत्र शासक की यह थी आधी देह दुलारी[4] ॥"

माण्डवी की मूक वेदना और दयनीय दशा की मार्मिक व्यंजना यहाँ हुई है :—

"था वसन्त आँखों के आगे, पर कीलित हो पिक का स्वर था।
अहह ! माण्डवी को तो आहों का भरना भी वर्जित-तर था ॥

---

१. साकेत-सन्त, सर्ग १, २२
२. साकेत-सन्त, सर्ग १, ४४
३. साकेत-सन्त, सर्ग ४, ७-८
४. साकेत-सन्त, सर्ग १४, (४) ब

जो है दूर उसी को आशा रख कर मन समझाया जाये।
समझ सराहूँ मैं उस मन की, पास रहे पर पास न आये[1] ।।"

माण्डवी के चरित्र में उसकी कर्त्तव्यपरायणता, सहिष्णुता, आत्मसंयम और सेवावृत्ति का सुन्दर चित्रण हुआ है।

कैकेयी

वाल्मीकि और तुलसी की कुटिल कैकेयी गुप्त जी के साकेत में आकर पश्चाताप के आँसुओं से अपनी कालिमा को धोकर उज्ज्वल रूप धारण कर लेती है। साकेत-सन्त में भी मिश्र जी ने साकेतकार की तरह उसके चरित्र को ऊपर उठाया है। मिश्र जी की कैकेयी एक ममतालु माता है। यह स्त्रीस्वभाव-सुलभ दुर्बलता लिए हुई है। कैकेयी के दशरथ से राम के वनगमन और भरत के राज्याभिषेक के रूप में दो वर माँगने में भरत के मामा युधाजित् और मन्थरा का दायित्व अधिक है। साकेत-सन्त की कैकेयी वास्तव में कोमलहृदया जननी है, उसे परिस्थिति ने कुटिल बनाया है और दशरथ-मरण तथा भरत की राज्य-विमुखता से परिस्थिति के वदल जाने पर उसकी कुटिलता भी विलीन हो जाती है। राम के लिए कैकेयी के हृदय में अगाध स्नेह था, यह भरत भी स्वीकार करते हैं :—

" मैं और राम थे युगल नयन से जिसके,
मुझसे बढ़ कर श्रीराम सुवन थे जिसके।
वात्सल्यमयी-सी गई कहाँ वह माता,
उस आकृति में हूँ मूर्त कुटिलता पाता[2] ।।"

भरत कैकेयी को कोसते हैं पर साथ ही साकेत की अशान्ति में युधाजित् और मन्थरा के षड्यन्त्र की भी निन्दा करते हैं :—

"धिक् धिक् कैकेयी की भूमि कुचक्रों वाली,
जिसने मन्थरा समान नागिनी पाली।
माँ ! कहूँ मानवी या कि दानवी नारी,
डाकिनी ने दुर्धर मूठ अवध पर मारी[3] ।।"

कैकेयी अपने पुत्र भरत को सुखी बनाने के लिए सब कुछ कर सकती है पर भरत के राज्य को ठुकरा देने पर वह अपने किये पर पश्चात्ताप करने लगती है। वह दशरथ के पुनर्जीवन के लिए प्रयत्न करती है और उसमें सफल न होने पर उसके साथ सती हो जाने के लिए तैयार हो जाती है। यहाँ भी सफल न होने पर वह राम को वन से लौटा लाने की चेष्टा करती है। जब वह इस प्रयास में भी विफल होती है तब अन्त में साकेत-राज्य का पश्चिमी नाका साधने का भार अपने ऊपर ले लेती है। इस प्रकार साकेत-सन्त में कैकेयी

---

१. साकेत-सन्त, सर्ग १४, (४) आ
२. साकेत-सन्त, सर्ग ३, २६
३. साकेत-सन्त, सर्ग ३, २२

क्रियात्मक पश्चाताप द्वारा अपने कलंक को धो डालती है। चित्रकूट में राम को गले लगा कर वह अपने संतप्त हृदय को शान्त करती है:—

"घर घर आंसू की धार बहाई सिर पर, अवरुद्ध हो उठा कंठ सिसकियां लेकर।
अपनी ऊष्मा में आप जली जाती थी, स्थिर थी पर फिर भी वही चली जाती थी[1] ॥"

अन्त में वह निर्भीक होकर राम से अयोध्या लौट चलने का अनुरोध करती हुई अपने चरित्र का उज्ज्वल रूप उपस्थित करती है:—

"साथ सबों के यदि न चलोगे,
आज द्वार पर धरना दूंगी।
इन पापी प्राणों को धारण,
कर घर में क्यों और मरूंगी।
प्रायश्चित्त करूंगी वन में,
जिससे क्षमा तुम्हारी पाऊं।
तुम मां कह मुझसे फिर लिपटो,
मैं 'लल्ला' कह बलि बलि जाऊं[2] ॥"

राम और सीता के परम्परागत आदर्श चरित्र में साकेत-सन्त के लेखक ने कोई परिवर्तन या संशोधन नहीं किया है और वास्तव में वहां किसी प्रकार के परिवर्तन की गुंजाइश भी नहीं थी। साकेत-सन्त में राम आदर्श मानव हैं, देवता नहीं। आर्यसंस्कृति का उत्थान, भारत की अखंडता की रक्षा, दलित जातियों का उद्धार आदि आज के युग की समस्याओं का समाधान करते हुए राम के चरित्र में नवचेतना का स्पन्दन अवश्य दीख पड़ता है। लक्ष्मण इस रचना में अपनी परम्परागत उद्धतता और दर्पशक्ति को खो बैठे हैं। वे चित्रकूट में सेनासहित भरत के आगमन पर क्रुद्ध होकर उनसे लड़ने के लिए तैयार नहीं होते, अपितु नम्रतापूर्वक भरत का हृदय से स्वागत करते हैं:—

"लक्ष्मण बोले, क्या भेद आप में मुझ में,
प्रभु देखा करते सदा आपको मुझ में।
उनकी इच्छा का उभय उरों में घर है,
हैं आप वहां, मैं यहां, यही अन्तर है[3] ॥"

कौशल्या के चरित्र में दया, सरलता, क्षमा और उदारता की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रकार साकेत-सन्त में विविध पात्रों का चरित्रांकन अच्छा हुआ है। यहां सभी पात्र भरत के चरित्र को उभारने में समर्थ दिखाई देते हैं।

---

१. साकेत-सन्त, सर्ग ११, ४३
२. साकेत-सन्त, सर्ग १३, १७
३. साकेत-सन्त, सर्ग ११, ३१

प्रकृति-चित्रण

साकेत-सन्त में मिश्र जी ने प्रकृति के चित्र सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किए हैं। प्रातः-काल, सन्ध्या, रजनी, वनभूमि, ग्रीष्म, वर्षा, आँधी आदि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कवि की सूक्ष्म प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचय मिलता है। इस रचना में प्रकृति कहीं यथार्थ और कहीं आलंकारिक रूप में चित्रित हुई है। प्रकृति का मानवीकरण भी यत्र-तत्र दीख पड़ता है। हिमालय में प्रकृति की शोभा का यथातथ्य चित्रण इन पंक्तियों में हुआ है:—

"रत्नों की चित्रित झाँकी, सुमनों से झांक रही है।
अवनी निज उर की सुषमा, अम्बर पर आँक रही है॥
प्रतितरु पर इन्द्रधनुष की, है रंग रंगीली माया।
झलमल होती है जिसकी, झरनों में कंचन काया॥
झरझर झरझर के स्वर में, झरझर झरती छवि-धारा।
जिसका कण कण मोती है, जिन पर है हीरक हारा[१]॥"

प्रथम सर्ग में माण्डवी के सौन्दर्य-वर्णन में प्रकृति का आलंकारिक रूप हमारे सामने आता है:—

"लता, पल्लव-पुष्पों के साथ,
निरख कर हाथ, मले निज हाथ।
और मुख ? उसके सम हो कौन,
सुधाकर इसीलिए है मौन[२]॥"
तुम्हारा सुनकर मधुरालाप,
कोकिलाएँ जायेंगी काँप।
तुम्हारी गति का देख विलास,
लहरियाँ तजें लास्य उल्लास[३]॥"

यहाँ लता, चन्द्रमा, कोकिला, लहर आदि उपमानों का अपकर्ष दिखाकर प्रतीप अलंकार द्वारा माण्डवी के हाथ, मुख, वाणी और गति की महत्ता प्रदर्शित की गई है। ऐसे स्थलों पर मानवीय सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए कवि ने उपमा, रूपक, प्रतीप आदि सादृश्यमूलक अलंकारों द्वारा प्रकृति के पदार्थों का चित्रण किया है।

मिश्र जी ने यत्र-तत्र प्रकृति को मानवीय रूप देने का प्रयास भी किया है। मानवीकरण के कुछ सुन्दर उदाहरण साकेत-सन्त में पाये जाते हैं। दिग्बाला का यहाँ एक भव्य चित्र अंकित हुआ है:—

---

१. साकेत-सन्त, सर्ग २, ६४-६६
२. साकेत-सन्त, सर्ग १, ३१
३. साकेत-सन्त, सर्ग १, ३४

"दिग्बाला के गालों पर, लज्जा के भाव निहारे।
होकर विभोर मस्ती में, मुंद चले गगन-दृग-तारे[1]॥"

इसी प्रकार प्रकाश और रजनी को क्रमशः राजा और रानी के रूप में यहां प्रस्तुत किया गया है:—

"गिरि पर प्रकाश है राजा, गह्वर में श्यामा रानी।
दोनों ने आंख-मिचौनी, कितनी मनमोहक ठानी[2]॥"

कहीं-कहीं प्रकृति में मानवीय व्यापारों और चेष्टाओं के आरोप के भी कतिपय सुन्दर उदाहरण साकेत-सन्त में पाये जाते हैं:—

"मादक मधु से भर भर कर, फूलों की प्याली प्याली।
इतराती हैं मस्ती में, वासन्ती वैभवशाली॥
कुसुमांजलियों से बिखरे—सौरभ में करता खेला।
जन-मन थिरकाता मारुत है, थिरक रहा अलबेला[3]॥"

मानव-हृदय के हर्ष, शोक आदि भावों को प्रकृति में प्रतिबिम्बित दिखाकर कहीं-कहीं कवि ने मानव-हृदय और प्रकृति में तादात्म्य स्थापित किया है :—

"मिली जमुना, विरह में दग्ध श्यामा,
तपस्या में निरत-सी शान्त क्षामा।
मिले बहुग्रान पुंज विषाद के से,
मिले मैदान सूखे से जले से[4]॥
थमी आंधी विलखते वृक्ष, डोले,
शिलाओं पर उठे दुख के फफोले।
गिरा खग के मुखों से आप चारा,
मृगों तक ने बहाई अश्रुधारा[5]॥"

इन पद्यों में राम के विरह में व्याकुल भरत के हृदय का विषाद प्रकृति में प्रतिबिम्बित दीख पड़ता है।

राजा दशरथ के शव के दाह-संस्कार के समय मानव-हृदय के शोक में सूर्य भी हाथ बँटाता हुआ दिखाई देता है :—

"लगी आग जल उठी चिता वह,
भड़का कर उर उर की आग।

---

१. साकेत-सन्त, सर्ग २, २
२. साकेत-सन्त, सर्ग २, ६७
३. साकेत-सन्त, सर्ग २, ६८-६६
४. साकेत-सन्त, सर्ग १०, ३१
५. साकेत-सन्त, सर्ग १०, ५६

डूबे शोक-सिन्धु में दिनमणि,
लपटें गईं क्षितिज तक भाग[1] ।।"

इसी प्रकार केकय देश में भरत के आगमन पर प्रकृति भी हँसती हुई दिखाई देती है :—

"कोकिल के कलकण्ठों से, निर्झर दरियों के द्वारा।
होती थी ध्वनित प्रतिध्वनि, स्वागत हैं भरत तुम्हारा[2] ।।"

साकेत-सन्त के कवि ने प्रकृति के मधुर-मंजुल स्वरूप को ही नहीं अपनाया, उसके भीषण स्वरूप का भी सजीव चित्रण किया है। दण्डक वन, ग्रीष्म, आँधी और वर्षा के वर्णन में प्रकृति की भीषणता के दर्शन होते हैं। दण्डक वन के भयावह रूप का एक उदाहरण लीजिए :—

"किसी तरु के तले भालू छिपा था,
किसी तरु पर भँवर का दल उड़ा था।
इधर यदि बाघ झुरमुट में पड़े थे,
उधर कुछ साँप ही आकर अड़े थे[3] ।।"

इन पद्यों में आँधी और वर्षा की नैसर्गिक भीषणता का सजीव चित्र अंकित है :—

"धूल-धूल ही धूल सब कहीं,
व्योम धूल से यों भर आया।
रवि ने अपना तेज गँवा कर,
पश्चिम में मुंह आप छिपाया।
फिर भी शान्त हुईं न आँधियाँ,
जब तक वे न अँधेरा लाईं।
पटी, बात कहते, अंजन से,
अन्तरिक्ष की दुर्भर खाई[4] ।।"
"अरर् अरर् का घोर रोर वह,
सभी ओर था जोर दिखाता।
घड़ घड़ गिरती धाराओं की,
गति को भी गतिशील बनाता।
कड़क-कड़क कर तड़प-तड़प कर,
तड़िता जिसका पीछा करती।

---

१. साकेत-सन्त, सर्ग ६, ५४
२. साकेत-सन्त, सर्ग २, ८
३. साकेत-सन्त, सर्ग १०, ४
४. साकेत-सन्त, सर्ग १३, २

छप-छप कर, छिप-छिप कर, जिसमें,
क्षुब्ध प्रलय-विप्लव सा भरती[1] ॥"

स्यवादी अथवा छायावादी कवियों की तरह मिश्र जी ने प्रकृति के अन्तस्तल के परम तत्व को ढूंढ़ने का प्रयास तो नहीं किया है, पर कहीं-कहीं प्रकृति में त्मा की झलक अवश्य दीख पड़ी है :—

"वह जीव ब्रह्म में लीन हुआ, खोकर अस्तित्व अदीन हुआ।
घुल गया श्याम होकर निर्मल, रह गया एक गंगा का जल[2] ॥"

ाँ यमुना और गंगा के संगम पर कवि को आत्मा और परमात्मा की एकता की है।

प्रकार साकेत-सन्त में प्रकृति विविध रूपों में हमारे सामने आती है। कहीं-वर्णन परम्परागत और यत्नसाध्य-सा अवश्य दीख पड़ता है, फिर भी उसमें र सजीवता की कमी नहीं है।

ह

ाकाव्य में जीवन का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करने के लिए विविध घटनाओं प विविध रसों को स्थान दिया जाता है। साकेत-सन्त में घटनाओं का विस्तार सके सीमित कथानक में विविध रसों के पूर्ण परिपाक को अवसर नहीं मिल समें शान्तरस की प्रधानता है। शान्तरस में वैराग्य की भावना प्रमुख होती है। यीभाव निर्वेद माना जाता है। सांसारिक सुखों के प्रति वैराग्य ही निर्वेद -सन्त के नायक भरत के हृदय में दशरथ-मरण और राम के वनगमन पर खों के प्रति तिरस्कार की भावना व्यक्त होती है। भरत के चरित्र में आदि से तक वैराग्य की प्रधानता है। विविध स्थलों पर इस काव्य मे शान्तरस की दर ढंग से हुई है। कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते है :—

"नश्वर तन है क्षणिक पंच तत्वों का मेला,
जिसको पाकर जीव एक-दो पल कुछ खेला।
जिस क्षण आया काल उसी क्षण मेला टूटा,
एक एक परमाणु अपरिचित-सा हो छूटा[3] ॥"

"घर सबके घर नहीं, घाट हैं काली नदी के,
सम्बन्धी हैं जहां जुड़े, बस, दो क्षण ही के।
आई जिसको नाव वही तज घाट सिधारा,
रहा यहीं का यहीं क्षणिक नाता वह सारा[4] ॥"

. साकेत-सन्त, सर्ग १३, ९
. साकेत-सन्त, सर्ग ८, ५७
. साकेत-सन्त, सर्ग ५, ६
. साकेत-सन्त, सर्ग ५, २०

"मैं भोगूं वह राज्य, नरक जीते जी झेलूं,
जन्म जन्म की साध एक पल में यों ढेलूं।
वन वन घूमें राम, करूँ मैं मौज यहाँ पर,
यह कैसा उपदेश, देश-हित कितना सुन्दर[1] ॥"

"उदधि में एक बुद्बुद था, ढला वह,
हवा का एक झोंका था चला वह।
रहा कब विश्व पर अधिकार उसका,
न अपनी सांस पर अधिकार जिसका[2] ॥"

इन पद्यों में सांसारिक जीवन की क्षणभंगुरता और तज्जन्य विरक्ति की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।

प्रथम सर्ग में भरत और माण्डवी के दाम्पत्य-जीवन का चित्र अंकित किया गया है। वहां संयोग-शृंगार की एक हलकी सी छटा दिखाई देती है। माण्डवी का रूपवर्णन भरत की हृदयगत रति के उद्रेक में सहायक है। इन पद्यों में संयोग-शृंगार की सुन्दर व्यंजना हुई है:—

"भरत खिल उठे, बढ़ उठे हाथ,
कहा, 'लो जीवित वीणा साथ!'
मिले फिर से रति और अनंग,
सजे फिर घन विद्युत का संग॥
तनिक रुक गई माण्डवी आप,
'इसे आलाप कहूँ कि प्रलाप?'
अधर पर एक मधुर मुस्कान,
लोल-सी लहरा गई अजान[3] ॥"

यहाँ भरत और माण्डवी एक-दूसरे की हृदयगत रति के आलम्बन हैं। वीणा की स्वरलहरी, राजभवन की शोभा, दीपकों की जगमगाहट आदि उद्दीपन विभाव हैं। भरत का हर्ष से पुलकित होना, हाथ बढ़ाना और माण्डवी का मुस्कराना आदि अनुभाव हैं। हर्ष, औत्सुक्य, लज्जा आदि संचारीभाव हैं। साकेत-सन्त में संयोग-शृंगार का वर्णन शिष्ट और संयत है, उसका पूर्ण विकास यहाँ नहीं हुआ है। विप्रलम्भ शृंगार का तो इसमें सर्वथा अभाव है।

दशरथ की मृत्यु पर करुणरस का परिपाक अच्छा हुआ है। दशरथ की मृत्यु की सूचना पाकर भरत के शोकाकुल हृदय का मार्मिक चित्र इन शब्दों में खींचा गया है:—

---

१. साकेत-सन्त, सर्ग ५, ३२
२. साकेत-सन्त, सर्ग ६, २७
३. साकेत-सन्त, सर्ग १, १४-१५

"झंझा से कांपे, धधक उठे दावा से,
क्षण भर में रुक कर अचल हुए ग्रावा से।
मस्तक पर सौ-सौ गिरीं बिजलियां आकर,
गिर पड़े भूमि पर भरत सुचेत गँवा कर[1] ॥"

दशरथ के मृतक शरीर को लेकर जलती हुई चिता का दृश्य करुणरस के उद्रेक में समर्थ दिखाई देता है:—

"लगी आग जल उठी चिता वह,
भड़का कर उर-उर की आग।
डूबे शोक-सिन्धु में दिन-मणि,
लपटें गईं क्षितिज तक भाग।
प्रेत-क्रिया से पूत जीव का,
करने को स्वागत सत्कार।
ज्वलित किये नक्षत्रों के मिस,
अमरवृन्द ने दीप अपार[2] ॥"

वीररस की व्यंजना भी साकेत-सन्त में कतिपय स्थलों पर हुई है। दलबल-सहित भरत के चित्रकूट की ओर प्रस्थान करने में राम के अनिष्ट की सम्भावना से कुछ नागरिक तथा निषाद भरत का सामना करने के लिए तैयार हो जाते हैं। ऐसे स्थलों पर वीररस के स्थायीभाव उत्साह की व्यंजना दीख पड़ती है। जैसे:—

नागरिक:— "राम का यदि बाल भी बांका हुआ,
जान लो कर्तव्य-पथ आंका हुआ।
मार कर चाहे न लें बदला कहीं,
मर मिटेंगे न्याय पर हम सब वहीं[3] ॥"

निषाद:— "सब नाके साधो लड़ो अड़ो,
बढ़कर सेना पर टूट पड़ो।
वे खा न सकें, वे सो न सकें,
वे हंस न सकें, वे रो न सकें[4] ॥"

वीररस के स्थायीभाव उत्साह की अभिव्यक्ति युद्ध के अतिरिक्त दानशीलता, दयालुता और धर्मपरायणता में भी देखी जाती है। इसलिए वीररस के युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर ये चार भेद माने गए हैं। साकेत-सन्त में युद्धवीर के अतिरिक्त

१. साकेत-सन्त, सर्ग ३, १९
२. साकेत-सन्त, सर्ग ६, ५४
३. साकेत-सन्त, सर्ग ७, १९
४. साकेत-सन्त, सर्ग ८, २०

धर्मवीर की अभिव्यक्ति भरत के धर्मपालन में दिखाई देती हैं। जैसे:—

> पुकारें सी प्रकृति से आ रही थीं, शिलाएँ तक यही समझा रही थीं—
> हुआ रवि रुष्ट अपने को सँभालो, 'पथिक ! ठहरो न आगे पाँव डालो' ।।
> भरत की तो लगी लौ श्याम घन से, विकल होते कहाँ वे रवि-किरन से ।
> परीक्षा आग की दे जा रहे थे, चले से आग पर वे जा रहे थे[1] ।।"

एक-दो प्रसंगों में बीभत्सरस की झलक भी साकेत-सन्त में दिखाई देती है[2]। हास्यरस का इसमें अभाव ही दिखाई देता है । भरत के प्रति माण्डवी की इस उक्ति में हास्य की छटा दीख पड़ती है, किन्तु यहाँ हास्य स्वतन्त्र रूप में नहीं, शृंगार का अंग बन गया है:—

> "तान मैं हूँ, मैं जीवित वीन, अहा, उपमाएँ मधुर नवीन ।
> शब्दों में हो यों अनुराग, सन्त दिखलाया करते त्याग[3] ।।"

अलंकार-योजना—

साकेत-सन्त के कलापक्ष की समृद्धि के लिए कवि ने विविध अलंकारों का प्रयोग किया है। अलंकारों की योजना भावों और उनकी अभिव्यक्ति की शैली को अधिक प्रभावोत्पादक और आकर्षक बनाने के लिए हुई है। केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए अलंकारों का प्रयोग इस रचना में कहीं नहीं हुआ है। अधिकांश अलंकार स्वाभाविकता लिए हुए हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास, पुनरुक्ति, यमक जैसे अलंकारों का प्रयोग साकेत-सन्त में कहीं-कहीं दिखाई देता है पर केवल शाब्दिक चमत्कार लाने के लिए इनकी योजना कहीं नहीं हुई है। अनुप्रास के कतिपय सुन्दर उदाहरण साकेत-सन्त में वर्तमान हैं[४]। जैसे:—

> "लघु लघु लहराती लहर लहर,
> छल छल छवि छाती छहर छहर ।
> रवि-कर-रंजित झलमल झलमल,
> आलोक-भरा गंगा का जल[४] ।"

---

१. साकेत-सन्त, सर्ग १०, २४-२५

जैसे:—

२. सड़ने लगती देह बिगड़ने लगती आकृति,
कृमि कीटों की भक्ष्य भयावह उसकी संसृति ।
—साकेत-सन्त, सर्ग ५, ८

गये उड़ गिद्ध और शृगाल भागे, सड़ी सी लोथ चोथी छोड़ आगे ।
मगर की राह ने परवाह किसकी, उसे थी आह किसकी चाह किस की ।।
—साकेत-सन्त, सर्ग ६, ३०

३. साकेत-सन्त, सर्ग १, ४७

४. साकेत-सन्त, सर्ग ८, ४८

"कड़क कड़क कर तड़प तड़प कर,
तड़िता जिसका पीछा करती ।
छम छम कर, छिप छिप कर जिसमें,
क्षुब्ध प्रलय-विप्लव सा भरती[1] ॥"

"तव भावना में भारतीयता का भव्य रूप,
भर कर भारत भरतगुण गाता है[2] ।"
भरत-प्रभाव से भरित पूर्ण हो जो जीव,
भोगी रह के भी वही योगी वही यागी है[3] ।"

यमक अलंकार की सुन्दर योजना ऐसे स्थलों पर दीख पड़ती है:—

"उसी क्षण क्षणदा सी अभिराम,
माण्डवी पहुँची वहां ललाम[4] ।"
"भयानक था रजनी का राज,
प्रसाद-रहित प्रासाद-समाज[5] ।"
"जुड़े विशिष्ट विशिष्ट शिष्ट सज्जन पुरवासी।
तपोनिष्ठ ब्रह्मर्षि वरिष्ठ वशिष्ठ पधारे[6] ।"
"सूना पाकर काल काल ने छापा मारा[7] ।"

अर्थालंकारों में से सादृश्यमूलक उपमा, प्रतीप, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति आदि अलंकारों का प्रयोग यत्र-तत्र हुआ है। उपमा की सुन्दर योजना ऐसे पद्यों में हुई है:—

"थी पूंछ चँवर सी सुन्दर[8] ।"
"बिजली-सा उनका यान तड़पता आया[9] ॥"
"हा ! हा ! कर भरत तुरन्त गिरे अवनीतल,
गिरता है खाकर वज्र जिस तरह पीपल[10] ।"

---

१. साकेत-सन्त, सर्ग १३, ६
२. साकेत-सन्त, उपक्रम १
३. साकेत-सन्त, उपक्रम २
४. साकेत-सन्त, सर्ग १, १२
५. साकेत-सन्त, सर्ग ४, ३
६. साकेत-सन्त, सर्ग ५, २-३
७. साकेत-सन्त, सर्ग ५, १२
८. साकेत-सन्त, सर्ग २, ११
९. साकेत-सन्त, सर्ग ३, १
१०. साकेत-सन्त, सर्ग ३, ६

मालोपमा के कतिपय अच्छे उदाहरण साकेत-सन्त में वर्तमान हैं :—

"भूपतिवर ने पूर्ण आयु अपनी है भोगी,
भोगी शक्र समान रहे मनु से वे योगी[१] ॥"

यहाँ दशरथ के शक्र और मनु ये दो उपमान हैं।

"तब निश्चल निश्चेष्ट भरत बोले यह वाणी,
पावन श्रुति सी परम जाह्नवी सी कल्याणी[२]।"

उपर्युद्धृत पंक्तियों में भरत की वाणी उपमेय है और श्रुति तथा जाह्नवी दो उपमान हैं।

"बनी जब स्वर्ग की सोपान सी वह,
बनी जब एक भव्य विमान सी वह[3]।"

यहाँ चिता उपमेय है और स्वर्ग-सोपान तथा भव्य विमान दो उपमान हैं।

प्रथम सर्ग में माण्डवी के रूपवर्णन में प्रतीप अलंकार की सुन्दर योजना हुई है :—

"लता, पल्लव पुष्पों के साथ,
निरख कर हाथ- मले निज हाथ।
और मुख ? उसके सम हो कौन,
सुधाकर इसीलिए है मौन[४] ॥"

इसी प्रकार रूपक[५], उत्प्रेक्षा[६], और अपह्नुति[७] के अनेक सुन्दर उदाहरण साकेत-सन्त में पाए जाते हैं।

---

१. साकेत-सन्त, सर्ग ५, २३

२. साकेत-सन्त, सर्ग ५, ३०

३. साकेत-सन्त, सर्ग ६, ३७

४. साकेत-सन्त, सर्ग १, ३१

५. रूपक के लिए देखिए—

साकेत-सन्त, सर्ग २, २

साकेत-सन्त, सर्ग २, ६७

६. उत्प्रेक्षा के लिए देखिए—

साकेत-सन्त, उपक्रम ४

साकेत-सन्त, सर्ग २, ६३

साकेत-सन्त, सर्ग ७, ५२

७. अपह्नुति का प्रयोग भी ऐसे पद्यों में हुआ है :—

घर मरघट घर नहीं, घाट हैं काल नदी के।

—साकेत-सन्त, सर्ग ५, २०

विरोधाभास का प्रयोग भी कवि ने कहीं-कहीं सफलता के साथ किया है। जैसे :—

"राम-हेतु लोक-अनुरागी महात्यागी है[1] ।"
"भयानक, पर विरति-जननी भली थी,
अपावन, पर परम पावन थली थी[2] ।"
"थिर थी पर फिर भी वही चली जाती थी[3] ।"
"आज भरत खोकर भी जीते,
और जीत कर भी मैं हारा[4] ।"

इस प्रकार साकेत-सन्त में अलंकारों की सुन्दर योजना अनेक स्थलों पर दिखाई देती है। इन अलंकारों में चमत्कार की प्रधानता नहीं है। परम्परागत होते हुए भी उनमें पर्याप्त स्वाभाविकता और रमणीयता है। अधिकांश स्थलों पर वे रसों तथा भावों की अनुभूति में सहायक सिद्ध होते हैं।

भाषा

साकेत-सन्त की भाषा प्रौढ़ और मँजी हुई खड़ीबोली है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग इसमें पर्याप्त संख्या में पाया जाता है किन्तु उनके कारण भाषा में दुर्बोधता नहीं आने पाई है। अरबी-फ़ारसी के ताज, खासे, बाजी, बेहाल, तमाशा, हरदम जैसे प्रचलित शब्दों को भी कवि ने यथास्थान अपनाया है। बोलचाल की खड़ीबोली में ऐसे शब्दों का प्रयोग अनुचित नहीं, पर कहीं-कहीं संस्कृत की तत्सम शब्दावली के साथ ऐसे शब्द खटकते अवश्य हैं। जैसे :—

"निष्ठुर माली भी रहता, संघर्षशील कब हरदम[5] ?"
"अवधपुरी की शान भव्य भवनों में उत्तम[6] ।"

ज्वलित किए नक्षत्रों के मिस,
अमरवृन्द ने दीप अपार।

—साकेत-सन्त, सर्ग ६, ५४

न सेमर लाल मुँह दिखला रहा था,
धरा-अनुराग ऊपर आ रहा था।
न पीली पत्तियों का था कसाला,
हरिद्रा-युक्त थी मांगल्य-माला।

—साकेत-सन्त, सर्ग १०, १२

१. साकेत-सन्त, उपक्रम २
२. साकेत-सन्त, सर्ग ६, ३५
३. साकेत-सन्त, सर्ग ११, ४३
४. साकेत-सन्त, सर्ग १३, ६६
५. साकेत-सन्त, सर्ग २, ४८
६. साकेत-सन्त, सर्ग ५, १

"भूप के अभिषेक के सब साज लो,
तीर्थ के जल और पावन ताज लो[1]।"

लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग साकेत-सन्त में बड़ी कुशलता से किया है। उनसे भाषा में सजीवता और भावमयता आ गई है[2]। कहीं-कहीं क्रिया पदों

---

१. साकेत-सन्त, सर्ग ७, ४७

२. जैसे:—हो गया हवा सा सहसा, संकेत मिला जब थोड़ा।

—साकेत-सन्त, सर्ग २, १२

लता, पल्लव-पुष्पों के साथ, निरख कर हाथ, मले निज हाथ।

—साकेत-सन्त, सर्ग, १, ३१

तुम्हारा लख कर केश-कलाप, अचल उर पर लोटेंगे सांप।

—साकेत-सन्त, सर्ग १, ३३

जिसके हाथों है लाठी, वह भैंस हांक ही लेगा।

—साकेत-सन्त, सर्ग २, ३३

पैरों पर तूने आप कुल्हाड़ी मारी।

—साकेत-सन्त, सर्ग ३, ३७

उसके सुत पर आंच न फिर भी आवे।

—साकेत-सन्त, सर्ग ३, ४८

राम का यदि बाल भी बांका हुआ।

—साकेत-सन्त, सर्ग ७, १९

ऐसा मरदाना राजा था, अन्धों में काना राजा था।

—साकेत-सन्त, सर्ग ८, ८

बस, उनका बेड़ा पार करो।

—साकेत-सन्त, सर्ग ८, २४

कीड़ों ने पंख-समूह गहा।

—साकेत-सन्त, सर्ग ८, २६

मेरी आंखों के तारे हो।

—साकेत-सन्त, सर्ग ८, ३६

अग जग की आंखों का तारा।

—साकेत-सन्त, सर्ग १३,७६

जिसने कुल की नाक कटाई।

—साकेत-सन्त, सर्ग १४, (ई)

का प्रयोग व्याकरण-सम्मत न होकर विचित्र ढंग से हुआ है। जैसे:—

"द्रुम देख यही दिखता है[1]।"
"उसी रात दुःस्वप्न भयंकर,
दिखे भरत को विविध प्रकार[2]।"
"तकते थे उनको मौन, अवध के वासी[3]।"
"बेटा, उनको रुच गये अमरपुर डेरे[4]।"
"आज दिखते थे निपट उदास[5]।"
"भ्रम रहे थे उद्देश्य-विहीन[6]।"

छन्द की सुविधा के अनुसार यत्र-तत्र जननी और डाकिनी जैसे दीर्घान्त शब्दों को ह्रस्वान्त और सुखराशि जैसे ह्रस्वान्त शब्दों को कवि ने दीर्घान्त बनाकर अपनाया है, किन्तु इस प्रकार की त्रुटियाँ नगण्य ही समझी गई हैं।

साधारणतया मिश्र जी की भाषा भावानुवर्तिनी है। प्रसंगों के अनुसार वह कहीं कोमल तो कहीं ओजस्विनी दिखाई देती है। भाषा में प्रसादगुण की प्रधानता है, कहीं भी उसमें दुरूहता नहीं आने पाई है। ऐसे पद्यों में प्रसादगुण का निर्वाह अच्छा हुआ है :—

"सभी को एक गोदी में खिलाती,
सभी को पाठ समता का पढ़ाती।
विषम उस भूमि में सम ठौर लख कर,
चिता विरची गई शव-हेतु सत्वर[7]॥"
"तवा-सी तप्त धरती तप रही थी,
हवा जल-जल व्यथा में काँप रही थी।
लता द्रुम पुंज झुलसे से खड़े थे,
सरोवर तक पिपासाकुल पड़े थे[8]॥"

१. साकेत-सन्त, सर्ग २, ६३
२. साकेत-सन्त, सर्ग २, ७८
३. साकेत-सन्त, सर्ग ३, १
४. साकेत-सन्त, सर्ग ३, ६
५. साकेत-सन्त, सर्ग ४, १
६. साकेत-सन्त, सर्ग ४, ६
७. साकेत-सन्त, सर्ग ६, ३६
८. साकेत-सन्त, सर्ग १०, १७

नवयुग का प्रभाव

साकेत-सन्त का कथानक रामायण-युग से सम्बन्ध रखता है, इसलिए उसमें उस प्राचीन युग का प्रत्यक्ष रूप में चित्रण स्वाभाविक ही है। पर उसके रचयिता के वर्तमान युग से प्रभावित होने के कारण साकेत-सन्त में आज की समस्याओं का स्वर भी यत्र-तत्र मुखरित हो उठा है। आज का युग निर्धन कृषकों और श्रमिकों का युग है। उनके शोषण पर पनपने वाले पूंजीवाद का आज अन्त हो रहा है। भरत के इन शब्दों में मिश्र जी ने पूंजीपतियों की शोषण-नीति की निन्दा की है :—

"निर्धन की कुटिया ढाकर,
जो अपना महल बनाते।
आहों की फूंकों से ही,
वे एक दिवस ढह जाते[1] ॥"

आज के वैज्ञानिक युग में साकेत-सन्त चलचित्र जैसे वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रभाव से अछूता नहीं रह सका है :—

"छाया और प्रभा भर बाहें,
लगी दिखाने अपनी चाहें।
प्रति तरुतल पर छिपा-छिपी सी,
चलचित्रों की भांति दिपी सी[2] ॥"
चलचित्रों सी क्रमशः आईं,
और गईं ऐसी बहु बातें[3] ॥

वर्गभेद, वर्णभेद और जातिभेद के कारण आज का भारतीय राष्ट्र शक्तिहीन हो गया है। इस भेदभाव के मिट जाने पर ही वह समुन्नत हो सकेगा। इस पद्य में इस भेदभाव की अभिव्यक्ति हुई है :—

"कहीं ब्राह्मण क्षत्रिय में वैर,
कहीं क्षत्रिय-क्षत्रिय संग्राम।
कहीं है आर्य-अनार्य विरोध,
लुट गए मानवता के धाम।
कभी जो पुण्यश्लोक महान्,
विदित था जग में आर्यावर्त्त।
आज बर्बरता से आक्रान्त,
गिरा वह हो दुःखों के गर्त्त[4] ॥"

---

१. साकेत-सन्त, सर्ग, १, ५२
२. साकेत-सन्त, सर्ग ६, ४०
३. साकेत-सन्त, सर्ग १३, ५५
४. साकेत-सन्त, सर्ग १२, २१

वर्तमान युग प्रजातन्त्र का पक्षपाती है, पर रामायण-काल में राजतन्त्र को ही महत्ता दी गई थी। साकेत-सन्त में मिश्र जी ने प्राचीन युग के अनुरूप राजा का अस्तित्व स्वीकार किया है, पर साथ ही उसे स्वेच्छाचारी शासक न बनाकर नवयुग की प्रजातन्त्र की माँग के अनुसार एक आदर्श लोकसेवक के रूप में उपस्थित किया है। राजा के कर्तव्यों की व्याख्या मिश्र जी ने इन शब्दों में की है :—

"भूप इससे ही प्रभु का रूप,
कि उसके सिर है इतना भार।
न अपने किन्तु लोक के लिए,
सदा उसका जीवन-संचार[1] ॥"
"राज्य व्यक्ति का या कि वर्ग का,
राज्य प्रजा का या राजा का।
चर्चा ही है व्यर्थ, क्योंकि वह,
है त्रिभुवन के अधिराजा का।
जितना जिसको न्यास मिला है,
उचित है कि वह उसे सँभाले।
और अन्त में उज्ज्वल मुख से,
जिसकी वस्तु उसे दे डाले[2] ॥"

साकेत-सन्त गांधी-युग की रचना है। इसलिए गांधी जी के विचारों और आदर्शों का उस पर गहरा प्रभाव पड़ा है। साकेत के सन्त भरत गांधी जी की तरह अहिंसा के उपासक हैं। शेगांव-सन्त (गांधी) के समान साकेत-सन्त (भरत) भी नन्दिग्राम की कुटिया में त्यागमय जीवन को अपनाते हुए दीन-दुखियों की सेवा में लग जाते हैं:—

"हों मजदूर किसान बन्धु बान्धव से अपने,
अपने होकर रहें उन सबों के सुख-सपने।
भरत हुए ग्रामीण कुटी लघु एक बनाई,
मन पर संयम-डोर लंगोटी तन पर छाई[3] ॥"

सन्त भरत की जीवनसहचरी माण्डवी को चरखा कातने का अवसर तो नहीं मिला, पर गांधी जी की शिष्याओं की तरह वे खादी की धोती अवश्य पहन लेती हैं:—

"तन पर दो खादी के टुकड़े, चार चूड़ियां प्यारी।
एकछत्र शासक की यह थी भावी देह दुलारी[4] ॥"

महात्मा गांधी के समान भरत भी जनता में जनार्दन को देखते हुए जनता की सेवा

---

१. साकेत-सन्त, सर्ग १२, ४१
२. साकेत-सन्त, सर्ग १३, ४५
३. साकेत-सन्त, सर्ग १४, ४
४. साकेत-सन्त, सर्ग १४, (४) अ

को ही प्रभुसेवा समझते हैं:—

"जनार्दन को जनता में लखो,
यही है सब धर्मों का सार।
इसी के स्पन्दन से भर उठे,
मनुष्यों का समग्र संसार[1] ॥"

"नारायण को लखा उन्होंने नरों-नरों में[2]।"

कैकेयी के इन शब्दों में गांधी जी के सत्याग्रह का स्वर सुनाई देता है:—

"साथ सबों के यदि न चलोगे,
आज द्वार पर धरना दूँगी[3]।"

इन पंक्तियों में गांधीयुग की देशभक्ति, भारत की अखण्डता, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और राष्ट्रीय एकता की प्रतिध्वनि गूंजती है:—

"हो उठें उत्तर दक्षिण एक
तुम्हारा भारत बने अभंग[4]।"

"वृहत्तर आर्यावर्त्त ललाम,
भरत का भारत हो विख्यात।
समन्वित संस्कृति इसकी करे,
विश्व भर को उज्ज्वल अवदात।
पूज्य हो इसकी कण-कण भूमि,
बढ़े यों महिमा अमिट अपा।
रहें इच्छुक निर्जर भी सदा,
यहां पर लेने को अवतार[5] ॥"

यह न किसी को कांक्ष्य, विदेशी,
आकर अपनी लक्ष्मी लूटे[6]।
करो व्यवस्था भरत! कि मणि,
की जगह विदेशी कांच न आवे[7]।"

गांधी जी के आदर्शों के अनुसार साकेत-सन्त में राम हृदय-परिवर्तन में विश्वास रखते हुए देश की एकता के समर्थक हैं:—

१. साकेत-सन्त, सर्ग १२, ४२
२. साकेत-सन्त, सर्ग १४, ३
३. साकेत-सन्त, सर्ग १३, १७
४. साकेत-सन्त, सर्ग १२, ३०
५. साकेत-सन्त, सर्ग १२, ३१
६. साकेत-सन्त, सर्ग १३, ४१
७. साकेत-सन्त, सर्ग १३, ७५

"बनेंगे दक्षिण उत्तर एक,
उरों का जब हो उर से मेल[1] ।"

आदर्श राज्य के सम्बन्ध में मिश्र जी के विचार सर्वथा गांधीवाद के अनुकूल ही हैं[2] । गांधी जी की देशभक्ति के समान साकेत-सन्त में भी देशभक्ति अन्त में विश्व-प्रेम में परिणत हो जाती है:—

"सभी निज संस्कृति के अनुकूल, एक हो रचें राष्ट्र-उत्थान ।
इसलिए नहीं कि करें सशक्त, निर्बलों को अपने में लीन—
इसलिए कि हों विश्वहित-हेतु, समुन्नति-पथ पर सब स्वाधीन[3] ॥"

इस प्रकार साकेत-सन्त पर वर्तमान युग का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है । प्राचीन युग के कथानक को लेकर जो महाकाव्य लिखे जाते हैं उनमें कवि को इतनी स्वतन्त्रता नहीं रहती कि वह वर्तमान का विशद चित्रण कर सके । इसीलिए साकेत-सन्त में वर्तमान समस्याओं पर प्रत्यक्षरूप में विशेष प्रकाश नहीं पड़ सका है । उसमें नवयुग की अभिव्यक्ति स्वतः हो गई है किन्तु साथ ही उस (अभिव्यक्ति) में कालदोष नहीं आने पाया है ।

साकेत-सन्त और साकेत

बलदेवप्रसाद मिश्र के साकेत-सन्त और मैथिलीशरण गुप्त के साकेत में यत्र-तत्र बहुत-कुछ साम्य दिखाई देता है । मिश्र जी ने साकेत की भाषा और भावधाराओं का प्रत्यक्षतः अनुकरण तो कहीं नहीं किया है, पर फिर भी साकेत-सन्त की रचना पर साकेत का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है । जिस प्रकार साकेत का आरम्भ उर्मिला और लक्ष्मण के वाग्विनोद से होता है, इसी प्रकार साकेत-सन्त के आरम्भ में भरत और माण्डवी के प्रेमालाप को स्थान दिया गया है । नन्दिग्राम में भरत के तापस जीवन का चित्र साकेत और साकेत-सन्त में एक ही ढंग से चित्रित हुआ है :—

---

१. साकेत-सन्त, सर्ग १२, ४५

२. अभय हों सभी, शक्त हों सभी,
न कोई कहीं दुखी हों लोग ।
राज्य से खुले रहें सब ओर,
अशक्तों की रक्षा के योग ।
योग्यता भर सब ही श्रम करें,
और आवश्यकता भर प्राप्ति ।
राज्य का हो यह ही आदर्श,
राज्य ही की हो पूर्ण समाप्ति ॥

—साकेत-सन्त, सर्ग १२, ४४

३. साकेत-सन्त, सर्ग १२, ४६

अन्य महाकाव्य

: ११ :

अन्य महाकाव्य

पिछले अध्यायों में हम आधुनिक काल के प्रमुख महाकाव्यों का विवेचन कर चुके हैं। यहाँ हम उन महाकाव्यों को लेते हैं जो महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों की कसौटी पर उच्चकोटि के महाकाव्य सिद्ध नहीं होते। उनमें महाकाव्य-विषयक सारे आदर्शों में से कतिपय का समुचित निर्वाह न होने पर भी हम उन्हें साधारण कोटि के महाकाव्यों में स्थान देना उचित समझते हैं।

नूरजहाँ
(रचनाकाल—सन् १९३५)

श्री गुरुभक्तसिंह द्वारा रचित नूरजहाँ को आधुनिक महाकाव्यों में पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई है। यह महाकाव्य १८ सर्गों में विभक्त है। इतिहास-प्रसिद्ध मुगल साम्राज्ञी नूरजहाँ की जीवन-गाथा को लेकर इसकी रचना हुई है। ग़यासबेग का अपनी बेगम के साथ ईरान को छोड़कर हिन्दुस्तान के लिए प्रस्थान, मार्ग में मेहरुन्निसा की उत्पत्ति, आगरा में उसका पालन-पोषण, सलीम की उस पर आसक्ति, शेर अफ़गन के साथ मेहरुन्निसा का विवाह और बंगाल-गमन, अकबर की मृत्यु, कुतुबुद्दीन द्वारा शेर अफ़गन की हत्या, मेहरुन्निसा और जहाँगीर का पुनर्मिलन, जहाँगीर की अपनी प्रेयसी के साथ काश्मीर-यात्रा और अन्त में नूरजहाँ की मुग़ल-साम्राज्ञी के रूप में सिंहासन पर प्रतिष्ठा आदि घटनाएँ इस महाकाव्य में सुन्दर ढंग से वर्णित हैं।

इस कृति में इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है। इसकी कथा-वस्तु सुसंगठित और प्रवाहमयी है। चरित्र-चित्रण में कवि का पर्याप्त कौशल झलकता है। विशेषकर नायिका नूरजहाँ के बाह्य सौन्दर्य और चरित्रगत विशेषताओं का उद्घाटन इसमें बहुत सुन्दर बन पड़ा है। नूरजहाँ अपने अद्भुत सौन्दर्य के साथ स्वाभाविक भोलापन लिए हुए है:—

"यह किरण जाल-सी उज्ज्वल है, मानस की विमल मराली है,
अंग-अंग में चपला खेल रही है, फिर भी भोली-भाली है[1]।"

---

१. नूरजहाँ, सर्ग ६, पृ० ४४

पुरुष-पात्रों में जहाँगीर को प्रमुखता प्राप्त हुई है। उसमें नायकोचित शौर्य और पराक्रम का अभाव है। उसे हम एक अकर्मण्य, विलासी, साधारण प्रेमी के रूप में ही देखते हैं। वह अपनी प्रेयसी नूरजहाँ के हाथों दो जाम प्राप्त करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझता है:—

"वचन हार तुम चुकीं, ताज यह अब हो गया तुम्हारा है,
यह साम्राज्य, प्राण, धन-दौलत सब कुछ तुम पर वारा है।
राज्य करो तुम मूर्ति तुम्हारी रहूँ देखता मैं प्रतियाम,
अपने हाथों से नित केवल मुझे पिला देना दो जाम[1]।"

नूरजहाँ में प्रकृति-वर्णन को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। प्रकृति के मनोरम और सजीव चित्रों से यह कृति भरी पड़ी है। प्रकृति-वर्णन में वन्य-प्रदेश की प्राकृतिक विशेषताओं की ओर कवि का ध्यान बराबर बना रहा है। इस महाकाव्य की नायिका मेहरुन्निसा ने प्रकृति की गोद में जन्म लेकर अपने अनुपम सौन्दर्य को विकसित किया है। उसके जन्म के समय वनस्थली के मनोरम दृश्य का चित्र इन पंक्तियों में अंकित है:—

"इन घासों के मैदानों में, इन हरे-भरे मखतूलों पर,
इन गिरि-शिखरों के अंचल में, इन सरिताओं के कूलों पर,
जो रहा चाटता ओस रात भर प्यासा ही था घूम रहा,
वह मारुत पुष्पों का प्याला खाली कर कर है झूम रहा।
पर्वत के चरणों में लिपटी वह हरी भरी जो घाटी है,
जिसमें झरने की झर झर है, फूलों ही से जो पाटी है,
उसके तट के सुरम्य भू पर झाड़ी के झिलमिल घूंघट में,
है नई कली इक झांक रही लिपटी घासों ही के पट में[2]।"

इसी प्रकार उषा सुन्दरी का एक सजीव चित्र यहां प्रस्तुत किया गया है:—

"नव कुसुमों का मृदुल हास रह-रह ले रहा हिलोरें,
भृंगपुंज कर रहा गुंजरित वन उपवन की छोरें।
ओस बिन्दु की मालाओं का भूषण भार सम्हाले,
उतर रही मुग्धा ऊषा रवि के कर में कर डाले[3]।"

नूरजहाँ में शृंगाररस की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त हास्य, करुण, वीर, रौद्र, आदि अन्य रसों को भी इसमें यथोचित स्थान मिला है। मार्मिक प्रसंगों के कलापूर्ण वर्णन में कवि ने अपनी उत्कृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। नूरजहाँ की भाषा प्रसाद-गुण से युक्त, प्रांजल और प्रवाहमयी है। मुहावरों के प्रयोग में कवि को अद्भुत

१. नूरजहाँ, सर्ग १८, पृ० १४५
२. नूरजहाँ, सर्ग २, पृ० १७
३. नूरजहाँ, सर्ग ७, पृ० ५५

सफलता मिली है। उनके प्रयोग से भाषा में अधिक सजीवता और भावमयता आगई है। इस रचना में संवादों की योजना भी सुन्दर नाटकीय ढंग से हुई है। गयास और बेगम, मेहरुन्निसा और सर्वसुन्दरी, सलीम और मेहरुन्निसा के पारस्परिक कथनोपकथन पर्याप्त नाटकीय छटा लिए हुए हैं।

इस प्रकार सामान्यतया नूरजहाँ में महाकाव्य के अनेक तत्त्वों का समुचित निर्वाह दृष्टिगत होता है। हाँ, नायक जहाँगीर के चरित्र में महाकाव्योचित शालीनता और गरिमा का अभाव आदर्शवादी भारतीय हृदय को खटकता अवश्य है। नूरजहाँ के प्रति जहाँगीर का प्रेम आदर्श प्रेम नहीं कहा जा सकता। उसमें लोक-मर्यादा की अवहेलना दिखाई देती है। विवाह से पूर्व ही जहाँगीर का मेहरुन्निसा का बार-बार चुम्बन तथा आलिंगन और विवाह हो जाने पर उसके पति शेर अफ़गन को मरवा कर उसे अपनी प्रेयसी के रूप में पुनः प्राप्त करना एक महाकाव्य के नायक के उदात्त चरित्र के अनुकूल नहीं दिखाई देता। नायक के चरित्र में महानता के अभाव में भी कथावस्तु का समुचित निर्वाह, प्रकृति-वर्णन और भाषा-शैली की उत्कृष्टता की दृष्टि से नूरजहाँ एक उत्कृष्ट रचना सिद्ध होती है।

सिद्धार्थ

(रचनाकाल—सन् १९३७)

अनूप शर्मा द्वारा रचित सिद्धार्थ भी एक महाकाव्य है। इसमें जन्म से लेकर निर्वाण तक महात्मा बुद्ध की सम्पूर्ण जीवन-कथा वर्णित है। कथानक अठारह सर्गों में विभाजित है। हरिऔध के प्रियप्रवास को आदर्श मानकर कवि ने प्रियप्रवास की शैली पर इसकी रचना की है। प्रियप्रवास के समान इसमें भी रचयिता ने शुद्ध संस्कृत-गर्भित खड़ीबोली और संस्कृत के भिन्नतुकान्त वर्णिक वृत्तों को स्थान दिया है। सिद्धार्थ की रचना महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों के अनुसार की गई है। इसका कथानक इतिहास-प्रसिद्ध है। धीरोदात्त गुणों से युक्त क्षत्रियवंशीय राजकुमार सिद्धार्थ इसके नायक हैं। शृंगार-रस को इसमें प्रमुख स्थान दिया गया है। शान्त, वात्सल्य आदि अन्य रसों की छटा भी इसमें देखने को मिलती है। सन्ध्या, रजनी, सूर्योदय, वर्षा, वसन्त आदि ऋतुओं तथा विविध प्राकृतिक दृश्यों के सुन्दर वर्णन भी इसमें वर्तमान हैं। महाकाव्य-सम्बन्धी परम्परागत लक्षणों के निर्वाह के अतिरिक्त सिद्धार्थ में महाकाव्योचित विविधतापूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति, मार्मिक प्रसंगों की सृष्टि और उद्देश्य की महानता भी पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। इसलिए हम इस रचना को महाकाव्यों की श्रेणी में स्थान देना उचित ही समझते हैं।

सिद्धार्थ का कथानक सुसम्बद्ध है। राजकुमार सिद्धार्थ की विरक्ति, साधना और सिद्धि से सम्बन्धित आधिकारिक कथा के साथ विविध घटनाओं की अन्विति दिखाई देती है।

विविध वर्णन कथावस्तु के प्रवाह में मनोरम विराम अवश्य उपस्थित करते हैं पर कथा-सूत्र कहीं टूटता नहीं दिखाई देता।

सिद्धार्थ में राजकुमार सिद्धार्थ और उनकी पत्नी यशोधरा के चरित्र पर विशेष प्रकाश डाला गया है। सिद्धार्थ के चरित्र का विकास स्वाभाविक ढंग से हुआ है पर यशोधरा के चरित्रांकन में स्वाभाविकता की रक्षा नहीं हो पाई है। यशोधरा के रूपवर्णन, वसन्त-विहार-वर्णन और नवदम्पती की प्रेम-क्रीड़ाओं के वर्णन में यशोधरा एक विलासिनी नायिका के रूप में ही हमारे सामने आती है। वसन्तोत्सव के अवसर पर वह एक कामातुरा नवयुवती के समान राजकुमार सिद्धार्थ के हृदय को मुग्ध करती हुई दिखाई देती है:—

"छविमयी अतिधन्य यशोधरा, विशिख से जिसने स्वकटाक्ष के।
श्रवण लौं भ्रुव का धनु तान के, क्षत किया मृगराज-कुमार को[1] ॥"

इसी प्रकार विरहवर्णन में भी यशोधरा एक पुत्रवती गृहिणी के रूप में नहीं, विरह-विधुरा कामिनी के रूप में ही अंकित हुई है। सुमन को सम्बोधित करती हुई यशोधरा कहती है:—

"सुमन, तू अलि-चुम्बन से कभी, बन नहीं सकता इतना सुखी।
बन चुकी जितनी अनुरक्त मैं, अधर-चुम्बन से शकनाथ के ॥
दयित के प्रति चुम्बन-काल में, नयन मीलन मैं करती रही।
पर न तू, प्रिय मीलित-नेत्र हो, भ्रमर को करता रसदान है[2] ॥"

कहीं-कहीं सिद्धार्थ के विरह में यशोधरा के हृद्गत भावों की व्यंजना मनोवैज्ञानिक ढंग से हुई है। राजकुमार सिद्धार्थ को भिक्षुक के रूप में पाकर यशोधरा की मनोव्यथा का मनोवैज्ञानिक चित्र यहाँ प्रस्तुत किया गया है:—

"हट गए पट श्वेत पयोद-से, खुल गया मुख पूर्ण सुधांशु-सा।
सिसकती 'पति, आर्य' पुकारती, गिर पड़ी प्रभु के पद-पद्म पै[3] ॥"

सिद्धार्थ में प्रकृति-वर्णन के अनेक सुन्दर स्थल वर्तमान हैं। प्रकृति-वर्णन मुख्यतया परम्परागत प्राचीन शैली पर किया गया है। आलम्बन, उद्दीपन और आलंकारिक इन तीनों रूपों में कवि ने प्रकृति के सुन्दर चित्र खीचे हैं। आलम्बन के रूप में वर्षाकालीन प्रकृति का एक चित्र देखिए:—

"सुहावना सावन मास मंजु था, प्रशस्त था शीतल गन्धवाह भी।
पयोदमाला नभ में घिरी हुई, प्रसार व्यापा निविडान्धकार का ॥
हुई तृणों से हरिता वसुन्धरा, यथार्थ-नाम्नी सरसा रसा लसी।
इतस्ततः यों फिरतीं वनान्त में, मनोरमा रक्तिम इन्द्रगोपिका[4] ॥"

१. सिद्धार्थ, सर्ग ५, पृ० ६६
२. सिद्धार्थ, सर्ग १६, पृ० २४७-४८
३. सिद्धार्थ, सर्ग १७, पृ० २७५
४. सिद्धार्थ, सर्ग ८, पृ० १०१

यशोधरा के विरह-वर्णन में उद्दीपन विभाव के रूप में प्रकृति-चित्रण के अनेक उदाहरण इस में वर्तमान हैं। जैसे:—

"प्यारे पक्षी, अतिशय सुखी संग ले स्वीय हंसी।
मेरे आगे विहर तन में आग क्यों तू लगाता॥
संयोगी को निरख, मन में विप्रयुक्ता दुखी हो।
संतापों की विषम गुरुता झेलती है कृशांगी[1]॥"

"कलरव-पिक-केकी मत्त हो कूजते हैं।
समद हरिण दौड़े सामने आ रहे हैं॥
प्रमुदित शुक-सारी कुंज में कूजते हैं।
पर मुझ मरती को कौन आके जिलावे[2]॥"

शृंगाररस का परिपाक सिद्धार्थ में अच्छा हुआ है। यहाँ शृंगार के संयोग और विप्रलम्भ दोनों रूपों की विशद व्यंजना हुई है। यशोधरा के सौन्दर्य-वर्णन और नवदम्पती के विरह-वर्णन में संयोगशृंगार की और यशोधरा के विरहवर्णन में विप्रलम्भ शृंगार की अभिव्यक्ति हुई है। संयोग शृंगार का एक उदाहरण लीजिए:—

"समक्ष ही राजकुमार को लखा, मदालसा चंचल-लोचना हुई।
उन्हें दृगों के पथ से स्वचित्त में, बिठा लिया लोचन मूंद प्रेम से[3]॥"

राजकुमार सिद्धार्थ की बाल्य-क्रीड़ाओं के वर्णन में वात्सल्य की छटा दीख पड़ती है[4] और सिद्धार्थ की वैराग्यभरी उक्तियों में शान्तरस का निर्वाह अच्छा हुआ है[5]।

सिद्धार्थ में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का परम्परागत रूप में प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है। अनेक पद्यों में इन अलंकारों का प्रयोग यत्नसाध्य ही दीख पड़ता है; उनमें स्वाभाविकता और भावोद्रेक की क्षमता बहुत कम लक्षित होती है। हाँ, काव्य के कलापक्ष की समृद्धि में वे पूर्णतया समर्थ हैं। निम्नोद्धृत पद्यों में क्रमशः उपमेयोपमा, उपमा, उत्प्रेक्षा और सन्देह अलंकार की योजना हुई है:—

---

१. सिद्धार्थ, सर्ग १६, पृ० २५५

२. सिद्धार्थ, सर्ग १३, पृ० १९३

३. सिद्धार्थ, सर्ग ६ पृ० ८१

४. जैसे:—पकड़ के जननी कर-तर्जनी, उछलते हिलते-डुलते हुए।
जब लगे चलने कुछ दूर वे, लख निमग्न हुए सुख में सभी॥
—सिद्धार्थ, सर्ग ३, पृ० ४१

५. जैसे:—अहो प्राणी कैसे अवनितल पै क्लेश सहते।
दुखी हो रोगी हो मृत बन पुनः जन्म धरते॥
सदा भोगों में वे रत रह अघी हाय बनते।
यही क्या लोगों का अय इति यही क्या जगत की॥
—सिद्धार्थ, सर्ग १२, पृ० १७५

उपमेयोपमाः— "मति रही कमला-सम कोमला।
नवनवा कमला मति-सी रही ॥
तनु-समान विभा अति रम्य थी।
तनु विभा-सम था प्रतिभूप का[1]॥"

उपमाः—"है पुण्डरीक-सम आनन चारु शोभी।
आभा कपोल पर कोकनदोपमा है ॥
इन्दीवराम्बक समावृत हैं निशा में।
हैं योषिता सकल मंजु मृणालिनी-सी[2]॥"

उत्प्रेक्षाः— "देखो, सरोज-कर एक उरोज पै है।
है दूसरा सुमुखि के मुख को छिपाए ॥
मानों सनाल सरसीरुह शम्भु पै, या।
राकेश पै स-विस कैरव की कली है[3]॥

सन्देहः— "कमल थे, मृग थे, कि सुनेत्र थे।
विहग थे, शिव थे कि उरोज थे ॥
मुकुर था, विधु था कि मुखाब्ज था।
तड़ित थी, रति थी कि यशोधरा[4]॥"

सिद्धार्थ की भाषा शुद्ध संस्कृतमयी खड़ीबोली है। कई स्थलों पर संस्कृत के अप्रचलित शब्दों के प्रयोग के कारण भाषा में दुरूहता भी आ गई है। विपंचिका (वीणा), पश्यतोहर (भ्रमर), एण (मृग), कुशेशय (कमल), भगण (नक्षत्र), भेकयूथ (मंडूक-समूह) भेकारि (सर्प) आदि संस्कृत के ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ का ज्ञान पाठक को सरलता से नहीं हो सकता। प्रियप्रवास की तरह लम्बे-लम्बे समस्त पदों का प्रयोग बहुत कम स्थलों पर हुआ है। जहां-कहीं कवि ने समास-बहुला भाषा को अपनाया है वहां भाषा में अस्वाभाविकता और दुरूहता आ गई है। जैसेः—

"आजन्म-कोकनद-कानन-कामचारी।
मातंग-गंड-मद-चारण-चक्रवर्ती ॥
मन्दार-मेदुर-मरन्द-रसाल-लोभी।
हैं पश्यतोहर सुखी सर-मध्य-वर्ती[5]॥"

सिद्धार्थ के रचयिता ने मुख्यतया प्रियप्रवास की शुद्ध संस्कृतमयी, अलंकृत भाषा-

---

१. सिद्धार्थ, सर्ग १, पृ० २
२. सिद्धार्थ, सर्ग १२, पृ० १६४
३. सिद्धार्थ, सर्ग १२, पृ० १६३
४. सिद्धार्थ, सर्ग ५, पृ० ७०

शैली को अपनाया है। द्रुतविलम्बित, वंशस्थ, वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित आदि विविध वर्णिक वृत्तों का प्रयोग संस्कृतमयी भाषा के अनुकूल ही हुआ है। छन्दयोजना भी सामान्यतया प्रसंगों और भावों के अनुकूल ही हुई है।

हरिऔध के प्रियप्रवास का अनुकरण करते हुए अनूप शर्मा ने सिद्धार्थ की रचना की है। इसकी भाषा-शैली पर प्रियप्रवास की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। प्रियप्रवास और सिद्धार्थ के अनेक प्रसंगों में भी साम्य दिखाई देता है। कृष्ण और सिद्धार्थ के बाल्य-वर्णन में, राधा और यशोधरा के विरह-वर्णन में और पवनदूती तथा हंसदूत जैसे प्रसंगों में पर्याप्त समानता पाई जाती है। सिद्धार्थ के अनेक पद्यों में प्रियप्रवास की छाया लक्षित होती है। तुलना के लिए कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं:—

प्रियप्रवास:— "क्वणित होकर के कटि किंकिणी।
विदित थी करती इस बात को॥
× × ×
कलित नुपूर की कलवादिता।
जगत को यह थी जतला रही॥
कब भला न अजीव सजीवता।
परस के पदपंकज पा सके[1]॥"

सिद्धार्थ:— "क्वणित हो कटि की कलकिंकिणी।
परम मुग्ध हुई निज भाग्य पै॥
रणन नूपुर यों करने लगे।
हम बड़े पद-वंदन से हुए[2]॥"
× × ×

प्रियप्रवास:— "ठुमुकते गिरते पड़ते हुए। जननि के कर की उँगली गहे।
सदन में चलते जब श्याम थे। उमड़ता जब हर्ष-पयोधि था[3]॥"

सिद्धार्थ:— "पकड़ के जननी कर-तर्जनी, उछलते हिलते-डुलते हुए।
जब लगे चलने कुछ दूर वे, लख निमग्न हुए सुख में सभी[4]॥"
× × ×

प्रियप्रवास:—"निसर्ग ने, सौरभ ने, पराग ने। प्रदान की थी अतिकान्तभाव से।
वसुन्धरा को, पिक को, मिलिन्द को। मनोज्ञता, मादकता, मदान्धता॥
बसन्त की भाव-भरी विभूति-सी। मनोज की मंजुल पीठिका-समा।
लसी कहीं थी सरसा सरोजिनी। कुमोदिनी मानस-मोदिनी कहीं[5]॥"

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग ८, ४६-४७
२. सिद्धार्थ, सर्ग ३, पृ० ४१
३. प्रियप्रवास, सर्ग ८, ४५
४. सिद्धार्थ, सर्ग ३, पृ० ४१
५. प्रियप्रवास, सर्ग १६, ४-५

सिद्धार्थ:— "सुखद प्रकृति ने दी भूमि को मंजु शोभा।
मृदु परभृत को भी गन्ध ने मत्तता दी॥
सरज सुमन ने दी भृंग को भ्रान्तिमत्ता।
छवि सकल धरा पै शोभनीया लसी थी॥
वह मनसिज की जो पीठिका है प्रसिद्धा।
नव मधु-ऋतु की जो भावना भूतिरम्या॥
अति सुभग अनूठी दर्शकानन्ददात्री।
विकसित सुषमा थी माधवी वाटिका में[1]॥"

× × ×

प्रियप्रवास:—"कोई प्यारा कुसुम कुम्हला गेह में जो पड़ा हो।
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना, उसी को[2]॥"

सिद्धार्थ:— "कासारों में भ्रमण करके रक्त अंभोज लाना।
धीरे धीरे सरक उसको पांव पै डाल देना[3]॥"

× × ×

प्रियप्रवास:—"उद्यानों में सु-उपवन में वाटिका में सरों में।
फूलों वाले नवल तरु में पत्रशोभी द्रुमों में॥
आते जाते न रम रहना औ न आसक्त होना।
कुंजों में औ कमलकुल में वीथिका में वनों में[4]॥"

सिद्धार्थ:— "आते जाते विपुल सरिता मार्ग में जा मिलेगी।
होंगे पक्षी स-मुद कितने खेलते निर्झरों में॥
सीधे जाना, विरम रहना तू वहां पै न प्यारे।
ज्ञानी सारे विषय तज के ध्येय ही चाहते हैं[5]॥"

प्रियप्रवास के अतिरिक्त अश्वघोष के बुद्धचरित, कालिदास के मेघदूत, भर्तृहरि के वैराग्यशतक आदि संस्कृत की रचनाओं का प्रभाव भी सिद्धार्थ पर यत्र-तत्र दिखाई देता है।

---

१. सिद्धार्थ, सर्ग १६, पृ० २३६
२. प्रियप्रवास, सर्ग ६, ७०
३. सिद्धार्थ, सर्ग १६, पृ० २६३
४. प्रियप्रवास, सर्ग ६, ४७
५. सिद्धार्थ, सर्ग १६, पृ० २५७

दैत्य वंश

(रचनाकाल—सन् १९४७)

श्री हरदयालुसिंह द्वारा रचित दैत्यवंश महाकाव्य अठारह सर्गों में विभक्त है। इसकी रचना व्रजभाषा में हुई है। इसमें राजा हिरण्याक्ष से लेकर स्कन्द तक सम्पूर्ण दैत्यवंश को महाकाव्य के विषय के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। कालिदास के रघुवंश और माइकेल मधुसूदन दत्त के मेघनादवध से कवि ने दैत्यवंश के लिखने की प्रेरणा प्राप्त की है। आज के मानवतावाद से प्रभावित होकर कवि ने दैत्यों-जैसे चिरतिरस्कृत पात्रों के चरित्र को इस महाकाव्य का विषय बनाया है। प्राचीन पौराणिक कथानक, पुरानी व्रजभाषा और पुरानी काव्यशैली को अपनाकर भी कवि ने इस रचना में नवीन सौन्दर्य और नवीन मानव-भावनाओं की सृष्टि की है। प्राचीन पौराणिक आख्यानों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि देवों के चरित्र में सद्गुणों के होते हुए भी छल-कपट, स्वार्थलिप्सा, विश्वासघात आदि अनेक दोष भी विद्यमान हैं और दैत्यों में अनेक दुर्बलताओं के होते हुए भी संयम, दानशीलता, औदार्य आदि अनेक गुण पाए जाते हैं। फिर भी देवगण अधिक सम्मान तथा सहानुभूति के पात्र बने रहे हैं और उन्हीं के भाई दैत्य देवों के प्रतिद्वन्द्वी होने के कारण युग-युग से तिरस्कृत होते रहे हैं। दैत्यवंश के रचयिता ने दैत्यों के चरित्रगत विशेषताओं को प्रकाश में लाते हुए उनके प्रति मानवीय सहानुभूति जाग्रत करने का सफल प्रयास किया है।

दैत्यवंश की रचना महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों के आधार पर की गई है। हाँ, महाकाव्य के नायक के सम्बन्ध में प्राचीन परम्परा का पालन दैत्यवंश में नहीं हुआ है। कवि ने दैत्यों में ही धीरोदात्त गुणों की उद्भावना करके उन्हें नायक के पद पर प्रतिष्ठित किया है। कालिदास के रघुवंश की तरह इसके अनेक (दैत्यवंशीय छः भूपाल) नायक हैं। प्राचीन परम्परा के अनुसार दैत्यवंश के आरम्भ में मंगलाचरण (सरस्वती-वन्दना) और दैत्यवंशीय राजाओं का गुणानुवाद किया गया है। इसका कथानक पुराण-प्रसिद्ध और १८ सर्गों में विभक्त है। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग और सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन के नियम का पालन भी इस रचना में ठीक हुआ है। शृंगार और वीर रस को प्रमुख स्थान दिया गया है और रौद्र, वीभत्स, भयानक, वात्सल्य तथा हास्य जैसे अन्य रसों की अवतारणा भी इसमें यत्र-तत्र हुई है। सन्ध्या, प्रभात, समुद्र, सरोवर और भिन्न-भिन्न ऋतुओं के सुन्दर वर्णन भी इसमें पर्याप्त मात्रा में वर्तमान हैं। इस प्रकार महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह दैत्यवंश में अच्छी तरह हुआ है। कथानक में महाकाव्योचित सम्बन्ध-निर्वाह नहीं हो पाया है; कहीं-कहीं कथाप्रवाह खंडित सा दिखाई देता है। इतिवृत्तात्मक स्थलों की भी इस में न्यूनता नहीं है। इस प्रकार की त्रुटियों के होते हुए भी दैत्यवंश के अनेक प्रसंग महाकाव्योचित गरिमा को लिए हुए हैं। रघुवंश-जैसा उच्चकोटि का महाकाव्य न होने पर भी हम इसे साधारण कोटि के रीतिबद्ध महा-

काव्यों में स्थान देना उचित ही समझते हैं।

दैत्यवंश का कथानक पौराणिक है। उसका मुख्य आधार श्रीमद्भागवत है। कवि ने परम्परागत कथानक में यत्र-तत्र परिवर्तन भी किया है। शूकर के रूप में विष्णु का हिरण्याक्ष के उद्यान को नष्ट-भ्रष्ट करके उसके हृदय में क्रोध उत्तेजित करना,[1] लक्ष्मी के स्वयंवर में सरस्वती का लक्ष्मी को विविध देवों का परिचय देना[2], दैत्यों के डर से मानसरोवर में छिपे इन्द्र का हंस-द्वारा शची को संदेश देना[3], और वामन की बाल-क्रीड़ाओं का विशद चित्रण[4] आदि प्रसंगों में कवि ने नवीन और मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। दैत्यवंश के कथानक का सम्बन्ध मुख्यतया हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, विरोचन, बलि, बाण और स्कन्द इन छः दैत्यवंशीय राजाओं से है। सम्पूर्ण दैत्यवंश से सम्बन्धित यह कथानक बहुत विस्तृत है। उसके विकास में कवि ने समास-पद्धति को अपनाया है। इसलिए उसमें महाकाव्योचित सम्बन्ध-निर्वाह नहीं दिखाई देता। कथानक के विविध अंगों में शृंखलाबद्धता नहीं आने पाई है।

चरित्रचित्रण की दृष्टि से दैत्यवंश के लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है। दैत्यों के चरित्र की विशेषताओं को प्रकाश में लाने के लिए देवों के चरित्र को गिराना आवश्यक नहीं समझा गया है। कवि ने देवों के प्रति लोकमत की अवहेलना नहीं की है। इन्द्र, शची और वामन के चरित्रांकन में देवों के प्रति पर्याप्त सहानुभूति दिखाते हुए स्वाभाविकता की रक्षा हुई है। देवों के बन्धु होने के नाते ही दैत्यों का गुण-गान किया गया है[5]। मानसरोवर में हंसों की जोड़ी को देख कर शची के लिए सन्देश भेजने में इन्द्र की उत्सुकता का मनोवैज्ञानिक चित्र यहाँ प्रस्तुत किया गया है:—

"हंस के द्वन्दहि देखत ही,
अपने दृग ते अँसुवा बरसायो।
प्रेम-सँदेस पठाइबे को,
मघवा अभिलाष कछू दरसायो॥
सीस हिलायकै राज मराल,
मनो सिर धारिबै को सरसायो।
सोक-अवेग सों पै तबहीं,
कछु भापि सक्यो न गरो भरि आयो[6]॥"

---

१. देखिए—दैत्यवंश, सर्ग १, ३३

२. देखिए—दैत्यवंश, सर्ग ४, १३-३६

३. देखिए—दैत्यवंश, सर्ग ७, ३६-६०

४. देखिए—दैत्यवंश, सर्ग १०, ६-१७

५. याही व्याज देवनि के बन्धु दैत्यवंसिनिको, रुचिर चरित्र चारु प्रमुदित गाइहौं।
—दैत्यवंश, सर्ग १, ४

६. देखिए—दैत्यवंश, सर्ग १, ५-११

इसी प्रकार बालक वामन की साहसपूर्ण चेष्टाओं की अभिव्यक्ति ऐसे पद्यों में हुई है:—

"जबै खेलन कौं मुनि-बालन के संग,
सो बिच कानन जायो करै।
मतवारे मतंगनि की गहि सुण्डनि,
कौतुक ही वह धायो करै।
दसनावली कौं गिनै बाघन की,
चढ़ि कै तिन्हें कौहूं चलायो करै।
पय पीवत सिंहिनी कौ शिसु खैंचि,
कबौं बल सौं गहि लायो करै[1] ॥"

दैत्यवंशीय राजाओं का चरित्रांकन भी अच्छा बन पड़ा है। उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं का क्रमिक विकास इस रचना के सीमित क्षेत्र में संभव नहीं हो सका है, किन्तु उनकी जातिगत विशेषताओं पर कवि ने यथेष्ट प्रकाश डालने का प्रयास किया है[2]। दैत्यवंशीय वीर निहत्थे शत्रुओं पर प्रहार नहीं करते:—

"निबल अरिन पै दैत्यवंश के वीर न तीर चलावत[3]।"

इन्द्र-पत्नी शची और उसके पुत्र जयन्त के प्रति दैत्यों की उदारता की व्यंजना शची के इन शब्दों में हुई है:—

"मेरो अँदेसो करौ न कछू,
बलि मोंहि बिलोकि विनीति दिखाइहै।
त्यौं अबला गुनि कै वर वीर
पुलोमजा पै नहिं हाथ चलाइहै।
औ नृपनीति कौ धारि हिये,
न जयन्तहू की दिसि दीठ उठाइहै।
बैर है वाको लला तुम सौं,
हम लोगनि सौं कटु क्यों बतराइहै[4] ॥"

कहीं-कहीं कवि को पात्रों के सजीव चित्र अंकित करने में पर्याप्त सफलता मिली है। शुक्राचार्य का एक चित्र देखिए:—

---

१. दैत्यवंश, सर्ग १०, १२
२. दैत्यवंश, सर्ग १, ५-११
३. दैत्यवंश, सर्ग १५, ३५
४. दैत्यवंश, सर्ग ७, १६

दैत्यवंश में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उन्मीलित, परिसंख्या आदि परम्परागत अलंकारों का प्रयोग प्रचुर परिमाण में पाया जाता है। अधिकांश अलंकारों का प्रयोग भावों में तीव्रता लाने की क्षमता रखता है किन्तु कहीं-कहीं उनमें अस्वाभाविकता-सी आ गई है। रूपक का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है:—

"मृगपति-सरिस निसंक निसाकर कानन गगन विहारी।
मुकता-नखत बिखेरि दियो नभ तम-गज-कुंभ विदारी॥
दिजपति ग्रसन पाप सों राहुहिं रोग भयो दुखकारी।
अब विरहिन-मुख-चन्द्र ग्रसन हित धावत वदन पसारी[1] ॥"

निम्नोद्धृत पद्यों में क्रमशः उन्मीलित और परिसंख्या की श्रमसाध्य योजना दिखाई देती है:—

उन्मीलित :—"जोरी मरालनि की तब लौं,
मोतिया चुनिवे तेहि ओर सिधारी।
जोन्ह में ऐसी मिली तहँ वा,
नहिं ढूँढ़िहू पावति सो निज प्यारी॥
पै सुनि पैंजनी की झनकारहिं,
हंस भयो तेहि को अनुसारी।
पालतू हैं चले आये इतै,
सुरनायक यों निज हीय विचारी[2] ॥"

परिसंख्या :—"रहे त्रिसूलहि सूल, भिषग गेहनि खल देखे।
पर-नारी-कर परस करत तिनहिन अवरेखे॥
जुआ वृषभ के कन्ध, जतिन कर दण्ड सोहाहीं।
नर्तक गन में भेद, वान-नृप-सासन माहीं[3] ॥"

दैत्यवंश की भाषा साधारणतया प्रौढ, परिमार्जित व्रजभाषा है, पर कहीं-कहीं उस पर खड़ी बोली का प्रभाव भी दिखाई देता है। प्रसंगों के अनुसार वह कहीं कोमल तो कहीं ओजपूर्ण दिखाई देती है। उसमें दुरूहता कहीं नहीं आने पाई है। उदाहरण के लिए दैत्यों के डर से शची की व्याकुलता तदनुकूल कोमल और मार्मिक शब्दों में व्यक्त हुई है:—

"चारु दुकूलनि. त्यागि सची,
तन पै पहरी एक कारिये सारी।
कंकन किंकिनी नूपुर औ,
पदकंज सों पैंजनियानि उतारी॥

---

१. दैत्यवंश, सर्ग १२, ५
२. दैत्यवंश, सर्ग ७, ३६
३. दैत्यवंश, सर्ग १४, ४७

दासिन में दुरि के भगी बाम,
जयन्त पै कातर दीठि कौ डारी।
धीरज नैकौ न धारि सकी,
अमरावति-नाथ सुरेस की नारी[1] ॥"

इसी प्रकार वाणासुर की सेना का प्रस्थान ओजस्विनी भाषा में वर्णित है:—

"बाजत सैन सैन पर डंका। होत महा रव घोर अतंका॥
धुन्ध पूरी इमि चहुँ दिसि रहेऊ। मनहुँ साँझ दिनमनि छिपि गयऊ॥
हाली धरा सेस फन डोले। करि चिक्कार द्विरद बहु बोले॥
गुहा माँहि निंदिया तजि गाढ़ी। सिंहिन आइ द्वार पै ठाढ़ी[2] ॥"

भाषा में भावमयता और सजीवता लाने के लिए दैत्यवंश में यत्र-तत्र लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी अच्छा हुआ है। जैसे:—

"जो करै हठ तेहि को दबावत यह बड़ेन की रीति है[3]।"
"लै अपने ही हाथ परसु निज पायन मारयौ[4]।"
"जो खनत औरन के निधन हित कूप मग में जायकै,
ह्वै सावधान तथापि तेही गिरत वामैं आयकै[5] ॥"
"सब कहत सज्जन कबहुँ निज मरजाद को छोरैं नहीं[6]।"
"पूत कपूत बनै तौ बनै, तऊ मातु कुमातु बनै कबौं नाहीं[7]।"

दैत्यवंश में कवि ने कवित्त, रोला, हरिगीतिका, सवैया, दोहा, चौपाई, रूपमाला और सार आदि छन्दों का प्रयोग किया है। मात्रिक छन्दों का प्रयोग ब्रजभाषा की प्रवृत्ति के अनुकूल ही दिखाई देता है।

दैत्यवंश का कथानक पुराणों से लिया गया है, इसलिए उसमें तदनुरूप प्राचीन युग की अभिव्यक्ति ही प्रधानतया हुई है। पर साथ ही नवयुग की रचना होने के कारण आधुनिक काल की नवीन विचारधाराओं को भी उसमें यत्र-तत्र स्थान दिया गया है। राजा बलि ने अपने शासनकाल में प्रजा के हित के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य और कृषि-सम्बन्धी जो योजनाएँ बनाईं उनमें समाज-कल्याण-सम्बन्धी नवयुग की भावनाएँ मुखरित

---

१. दैत्यवंश, सर्ग १०, ३३
२. दैत्यवंश, सर्ग ५, दोहा १२
३. दैत्यवंश, सर्ग ३, ७
४. दैत्यवंश, सर्ग २, २८
५. दैत्यवंश, सर्ग ३, ४२
६. दैत्यवंश, सर्ग ३, ३२
७. दैत्यवंश, सर्ग १०, ५८

हुई है[१]। इसी प्रकार स्कन्द के शासनकाल में गाँवों की स्थिति सुधारने के लिए पुस्तका औषधालय और पंचायत आदि की जो व्यवस्था की गई है उस पर ग्रामसुधार-सम्ब नवयुग की योजनाओं का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है[२]।

दैत्यवंश पर अनेक पूर्ववर्ती रचनाओं का प्रभाव लक्षित होता है। कवि ने रघु से प्रेरणा पाकर कतिपय स्थलों पर उसका अनुकरण भी किया है। रघुवंश के अति दैत्यवंश के हंसदूत-प्रसंग पर कालिदास के मेघदूत और श्रीहर्ष के नैषधीयचरित का प्र भी दृष्टिगोचर होता है। इसीप्रकार वामन के बाल्यवर्णन में सूरदास के बालली सम्बन्धी पदों की छाया लक्षित होती है। यत्र-तत्र कवि ने भारवि, तुलसी, बिहारी, भ तेन्दु आदि अन्य कवियों के भावों को भी अपनाया है। तुलना के लिए हम यहाँ कवि उदाहरण प्रस्तुत करते हैं:—

"विलोचनं दक्षिणमंजनेन संभाव्य तद्वंचितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसन्निकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती[३]॥"
"हरवराय तिय चली एक दृग अंजन दीन्हें।
दूजो रंजन काज मसी अँगुरी मँह लीन्हें[४]॥"

× × ×

"क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा।
पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव संनद्धमनोज्ञपल्लवा[५]।"
दोहद को दुख बीतत ही, अँगना अँग अंगनि छाई अभा-सी।
गात विकास प्रिया को भयो, जगी और हो दीपति दीपसिखा-सी॥
आनन चंद अमंद गहों दुति, बाढ़ी हिये अभिलाषनि रासी॥
जीरन पात गिरे तें भई, किसलै जुत सो लतिका लतिका-सी[६]॥

× × ×

"दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम्।
तिरश्चकार भ्रमराभिनीलयोः सुजातयोः पंकजकोशयोः श्रियम्[७]॥"
"कुच दोउन के मुख पै वर वाम के, ऐसी लसी कछु स्यामलताई।
अरविन्दनि के मनो कोसनि पै, भ्रमरावलि की छवि मंजुल छाई[८]॥"

× × ×

१. देखिए—दैत्यवंश, सर्ग २, ३७-४०
२. देखिए—दैत्यवंश, सर्ग १८, दोहा ५-६
३. रघुवंश, सर्ग ७, ८
४. दैत्यवंश, सर्ग ८, ३४
५. रघुवंश, सर्ग ३, ७
६. दैत्यवंश, सर्ग १०, ३
७. रघुवंश, सर्ग ३, ८
८. दैत्यवंश, सर्ग १०, २

"उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चांगुलिम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः[1] ॥
"धाय के बैन कहै तुतराय, सँकेत पै माथ नवावन लागो ।
त्यों अँगुरी गहिकै तिय की, हुरुए हुरुए महि आवन लागो ॥
भावन लागो मनै सबके, सुख कोद चहूँ सरसावन लागो ।
या विधि बामन बाल नितै, पितु मातु को मोद बढ़ावन लागो[2]॥"

× × ×

"पुराधिरूढः शयनं महाधनं विबोध्यसे यस्तुतिगीतिमंगलैः ।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः[3] ।"
"फेन-सी सेज पै पौढ़ि समोद, बिभावरि जो नित सोय बितावत ।
प्रातहि होत प्रबोधन काज, अनन्द सौं किन्नर बीन बजावत ॥
जा वर बंस प्रसंसिबै कौ, बिरुदावली चारन चाव सौं गावत ।
सो मही सोय सिवा के बिलापनि, हाय ! सुने निंदियाहि भगावत[4] ॥"

× × ×

"कौन सी हाँक पर चौंक चंडीस विधि,
चंडकर थकित फिरि तुरँग हाँके[5] ।"
बाँकी हाँक जाकी सुनि असनि निपात सम,
रवि रथ वाजि मग छाँड़ि भरकै लगे[6] ।"

× × ×

"बरसा बिगत सरद ऋतु आई । लछिमन देखहु परम सुहाई ॥
फूले कास सकल महि छाई । जनु बरषा कृत प्रगट बुढ़ाई[7] ॥"
"वर्षा विगत सरद ऋतु आई । पके धान चहुँ ओर सुहाई ॥
चहुँ दिसि लसत धवल छवि कासा । घनविहीन भो विमल अकासा[8] ॥"

× × ×

१. रघुवंश, सर्ग ३, २५
२. दैत्यवंश, सर्ग १०, ११
३. किरातार्जुनीय, सर्ग १, ३८
४. दैत्यवंश, सर्ग १०, ४५
५. कवितावली, लंकाकाण्ड, ४५
६. दैत्यवंश, सर्ग १, २८
७. मानस, किष्किन्धा काण्ड, दोहा १५
८. दैत्यवंश, सर्ग १८, दोहा २५

"मानहुँ मुंह दिखरावनी, दुलहिहिं करि अनुरागु।
सासु सदनु मनु ललनहूँ, सौतिनि दियौ सुहागु[1] ॥"
"मानहुँ मुखदिखरावनी मँह करि अमित अनुराग।
सासु सौंप्यो सदन, पिय मन सुमुखि सौति सोहाग[2] ॥"

× × ×

"सूक्ष्म कटि परब्रह्म लौं अलख लखी नहिं जाइ[3]।"
"या तिय की कटि की उपमा, परब्रह्म लौं जात नहीं कछु भाखी[4] ॥"

× × ×

"कहुँ सुन्दरी नहात वारि कर जुगुल उछारत।
जुग अंबुज मिलि मुक्त गुच्छ मनु सुच्छ निकारत ॥
धोवति सुन्दरि वदन करन अति ही छवि पावत।
वारिधि नाते ससिकलंक मनु कमल मिटावत[5] ॥"
"अंजलि भरि जल रानि उछारत।
नहि उपमा कछु वनत विचारत ॥
जनु अंबुज भरि कोसनि माहीं।
मुक्तगुच्छ जल डारत जाहीं ॥
सखि वर सलिल वदन पर डारी।
मृग मद-विन्दु धोव सुकुमारी ॥
मनहुँ कमल जल नात विचारी।
दीन्ह मयंक कलंक पखारी[6] ॥"

× × ×

---

१. विहारी-सतसई, २८८
२. दैत्यवंश, सर्ग १६, ४९
३. विहारी-सतसई, ६४८
४. दैत्यवंश, सर्ग ४, ५४
५. भारतेन्दु, गंगावर्णन
६. दैत्यवंश, सर्ग १८, दोहा २१

अंगराज

(रचनाकाल—सन् १९५०)

श्री आनन्दकुमार-रचित अंगराज पच्चीस सर्गों में विभक्त एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। इसमें महाभारत के प्रसिद्ध सेनानी, दानवीर, सत्य-पराक्रमी, महारथी कर्ण के चरित्र का उज्ज्वल रूप उपस्थित किया गया है। कर्ण के चरित्रचित्रण के साथ-साथ इस रचना में महाभारत की सम्पूर्ण कथा भी आ गई है। कर्ण के शौर्य, औदार्य, मित्रप्रेम और आत्माभिमान का वर्णन महाभारत तथा कौरव-पांडवों के युद्ध से सम्बन्धित अनेक काव्यों में मिलता है। कौरव-समाज में कर्ण ही एक ऐसा प्रभावशाली महान् चरित्र है जिसकी प्रशंसा युधिष्ठिर, अर्जुन और कृष्ण जैसे विपक्षियों ने भी मुक्तकंठ से की है। इसी महिमामय चरित्र को एक स्वतन्त्र नायक के रूप में प्रस्तुत कर अंगराज की रचना की गई है।

कर्ण के चरित्र की विशेषताओं को प्रकाश में लाने के लिए अंगराज में महाभारत की मूलकथा में यत्र-तत्र परिवर्तन और नवीन उद्भावनाएँ भी की गई हैं। परम्परागत प्राचीन कथानक में मौलिकता लाने के लिए कवि ने स्तुत्य प्रयत्न किया है। सूर्यलोक-वर्णन, द्रौपदी के पंचपतित्व तथा चीरहरण और पांडवों के (स्वर्गारोहण के स्थान पर) देशनिर्वासन जैसे प्रसंगों में पर्याप्त मौलिकता दीख पड़ती है। अंगराज में कर्ण की जीवन-गाथा के साथ विविध घटनाओं का सुन्दर सामंजस्य दिखाया गया है।

चरित्रचित्रण की दृष्टि से भी कवि को अंगराज में पर्याप्त सफलता मिली है। कर्ण के चरित्र की विशेषताओं की अभिव्यक्ति सुन्दर बन पड़ी है। युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम और द्रौपदी के चरित्र को कवि ने गिरा दिया है। वस्तुतः पाण्डवों के लोकप्रसिद्ध पावन चरित्र को गिरा कर दुर्योधन और उसके मित्र कर्ण को ऊपर उठाने में कवि का दुस्साहस लक्षित होता है। कर्ण का चरित्र स्वयंमेव इतना उदात्त और शक्तिशाली है कि धर्मराज युधिष्ठिर और सती साध्वी द्रौपदी के चरित्र को गिराए बिना भी उसे महत्ता मिल सकती थी। युधिष्ठिर को चरित्रहीन और द्रौपदी को पाण्डवों की पंचायती पत्नी बनाकर कवि ने चिर-प्रतिष्ठित लोकधारणा का विरोध किया है[1]। कुन्ती के कानीन अथवा सूतपुत्र होने के कारण महाभारत के कर्ण के चरित्रगत कलंक को धोकर कवि ने उसे अपने महाकाव्य के चरितनायक के रूप में उपस्थित किया है। महारथी कर्ण के निधन पर कवि ने उसकी चारित्रिक विभूतियों का उल्लेख इस पद्य में किया है:—

"मानवीय शक्ति का प्रतीक भारतीय वीर,
कर्ण शस्त्र-पूत होके वीरलोक को गया।

---

१. देखिए—अंगराज, सर्ग ६, ३८

दीन-हीन प्राणियों का चिन्तामणि रत्न तथा,
रत्नवती-रत्न नर-रत्नराज खो गया।
सज्जनों का कल्पवृक्ष मूल से विनष्ट हुआ,
जागरूक द्वारप स्वतन्त्रता का सो गया॥
हो गया अजीव राज-अंग अंगराज विना,
और अंगराज-दिनराज अस्त हो गया[१]॥"

सर्वगुणसम्पन्न कर्ण का द्विजवेश में परशुराम के आश्रम में अस्त्रविद्या की शिक्षा प्राप्त करना उसके महिमामय उत्कृष्ट चरित्र को आघात अवश्य पहुँचाता है।

अंगराज में प्रकृतिवर्णन को भी विशेष स्थान मिला है। निम्नोद्धृत पद्यों में क्रमशः मधुयामिनी, चन्द्रोदय और गंगा के सुन्दर चित्र अंकित किए गए हैं:—

"गगन मन्दिर से प्रिय, देखिए. परम रूपवती मधुयामिनी।
घट सुधाकर का कर में लिए, नवसुधा वसुधा पर डालती॥
नवलता-तरु-पल्लव-कुंज में नवलता अधिकाधिक आ गई।
वन गई कमनीय विशेष है, पवन सेवन से द्रुम-राजिका[२]॥"

"उदय है कमनीय मयंक का, गगन मस्तक का शुभ स्वप्न है।
लगा रहा यह विश्व-कवीन्द्र के, सरस मानस-मान-समान है॥
यह शशांक नहीं द्विजराज है, कर रहा तप शून्य प्रदेश में।
हृदय में उसके यह व्याप्त है, विदित श्रीवर श्रीवर-रूप की[३]॥"

"अम्बु नहीं, वह उत्सुक होकर थी सुख के नयनाम्बु वहाती।
लोल तरंग नहीं, वह थी निज अंग-उमंग अभंग दिखाती॥
थान प्रवाह-निनाद, स्वयं पद-नूपुर थी अति मंजु वजाती।
सिन्धु-समागम को वह थी सुखदा, सुखदा प्रमदा-सम जाती[४]॥"

अंगराज में प्रकृतिवर्णन संस्कृत के कवियों की परम्परागत प्राचीन शैली को लिए हुए है। प्रकृतिचित्रण के अतिरिक्त विविध दृश्यों के वर्णन में भी पर्याप्त रोचकता और सजीवता है।

अंगराज एक वीररस-प्रधान महाकाव्य है। युद्ध वर्णन में वीररस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। वीर के साथ ही शृंगार, करुण और शान्त रस का समावेश भी इसमें दिखाई देता है। रौद्र, वीभत्स और भयानक वीररस के सहायक वन कर इसमें आए हैं। अंगराज की भाषा शुद्ध संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली है। उसमें कई स्थलों पर संस्कृत के

१. अंगराम, सर्ग २१, २२५
२. अंगराज, सर्ग १४, २-३
३. अंगराज, सर्ग १४, १८-१९
४. अंगराज, सर्ग १५, २२

अप्रचलित शब्दों के प्रयोग से अस्वाभाविकता और दुरूहता आ गई है। अलंकारों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। शब्दालंकारों में यमक और अर्थालंकारों में से अपह्नुति की ओर कवि की विशेष रुचि लक्षित होती है। अधिकांश अलंकारों का प्रयोग यत्नसाध्य है, स्वाभाविक नहीं। इसमें कवि ने भावपक्ष की ओर विशेष ध्यान न देकर कलापक्ष को समृद्ध करने का अधिक प्रयास किया है। चमत्कारपूर्ण शैली का अनुसरण करते हुए कवि ने अपने विषय को अधिक आकर्षक और प्रभावशाली बनाया है। महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह अंगराज में अच्छा हुआ है। इतिहास-प्रसिद्ध कथानक, नायक में उदात्त गुणों की प्रतिष्ठा, सर्ग-रचना और छन्द-सम्बन्धी नियमों का पालन, वीररस की प्रमुखता और विविध दृश्यों के वर्णन आदि प्रायः सभी तत्व इस रचना के महाकाव्यत्व की पुष्टि करते हैं।

वर्द्धमान

(रचनाकाल—सन् १९५१)

श्री अनूप शर्मा द्वारा रचित वर्द्धमान महाकाव्य सत्रह सर्गों में उपलब्ध होता है। इसमें जैनधर्म के उन्नायक, महामहिम भगवान् महावीर (वर्द्धमान) का सांगोपांग जीवन-चरित्र एक महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। महाराज सिद्धार्थ और उनकी पत्नी त्रिशिला के दाम्पत्य-जीवन, त्रिशिला के गर्भ से महावीर (वर्द्धमान) की उत्पत्ति, उनके बाल्य-जीवन, गृहत्याग, तपश्चर्या, ज्ञानप्राप्ति और धर्मोपदेश आदि का विस्तृत वर्णन इस रचना में पाया जाता है। अनूप शर्मा ने सिद्धार्थ के समान इस रचना में भी संस्कृत के महाकाव्यों की प्राचीन परिपाटी का अनुसरण किया है। हरिऔध के प्रियप्रवास की तरह इसमें भी कवि ने संस्कृत के वंशस्थ, मालिनी, द्रुतविलम्बित आदि वर्णिक वृत्तों को स्थान दिया है किन्तु प्रधानता वंशस्थ वृत्त को ही प्राप्त हुई है। इसकी भाषाशैली भी प्रियप्रवास से मिलती-जुलती है।

महाकाव्यों की परम्परागत परिपाटी के अनुरूप वर्द्धमान में सिद्धार्थ के यशः-प्रताप, त्रिशिला के रूपगुण तथा वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् आदि षट् ऋतुओं के सुन्दर सजीव वर्णन प्रस्तुत किए गए हैं। इसमें शान्तरस की प्रधानता है। नायक महावीर के विवाह-बन्धन में न पड़ने के कारण शृंगाररस के लिए यहां कोई अवकाश न था, फिर भी कवि ने महाराज सिद्धार्थ और रानी त्रिशिला के दाम्पत्य-प्रेम के सरस, मार्मिक चित्र प्रस्तुत कर शृंगाररस की सुन्दर छटा दिखाई है। काव्य की नायिका के अभाव में भगवान् महावीर की माता के रूप में रानी त्रिशिला के नख-शिख और रतिक्रीड़ा का वर्णन प्राचीन काव्यपरम्परा के अनुकूल होता हुआ भी खटकता अवश्य है।

भगवान् महावीर के चरित्र का विकास वर्द्धमान में अच्छे ढंग से हुआ है। वे बाल्यावस्था से ही चिन्तनशील और दयालु दीख पड़ते हैं। धीरे-धीरे संसार के प्रति

उनकी वैराग्यभावना बलवती हो जाती है। मनुष्य-जीवन की क्षण-भंगुरता का चित्र वे इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं:—

"मनुष्य का जीवन एक पुष्प है, प्रफुल्ल होता यह है प्रभात में।
परन्तु छाया लख सान्ध्यकाल की, विकीर्ण होके गिरता दिनान्त में॥
मनुष्य का जीवन रंगभूमि है, जहां दिखाते सब पात्र खेल हैं।
जभी हिलाया कर सूत्रधार ने, हुआ पटाक्षेप तुरन्त मृत्यु का[1]॥"

संसार के हित की भावनाओं से परिपूर्ण महावीर के धार्मिक उपदेश भी सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य और सरस हैं।

वर्द्धमान की भाषा प्रियप्रवास की-सी संस्कृत-बहुला शुद्ध खड़ीबोली है पर उसमें सुदीर्घ समस्त पदावली की प्रचुरता नहीं है। रूपक, उपमा आदि अलंकारों की छटा पद-पद पर देखने को मिलती है। उनका प्रयोग परम्परागत और कहीं-कहीं श्रमसाध्य होने पर भी काव्य की सौन्दर्य-वृद्धि में समर्थ है।

रानी त्रिशिला के रूपवर्णन में कवि ने उपमा, रूपक जैसे अलंकारों की योजना सुन्दर ढंग से की है। उपमा का एक उदाहरण देखिए:—

"प्रभा शरच्चन्द्र-मरीचि-तुल्य है,
विभा शरत्कंज-समान नेत्र की।
शुभा शरद्-हंस-समा सुचाल है,
विशाल तेरी छवि वाम-लोचने[2]॥"

रावण
(रचनाकाल—सन् १९५२)

वर्तमान युग के मानवतावाद से प्रभावित होकर उपेक्षित पात्रों की चरित्रगत विशेताओं को प्रकाश में लाने के उद्देश्य से श्री हरदयालुसिंह ने दैत्यवंश के पश्चात् रावण महाकाव्य हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। रावण महाकाव्य में वाल्मीकि और तुलसी के प्रतिनायक रावण को नायक के पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। इस रचना में कवि ने सीतापहरण रूपी कलंक से कलंकित होते हुए भी रावण के चरित्र की महत्ता प्रतिपादित की है। रावण महाकाव्य का कथानक सत्रह सर्गों में विभक्त है। विन्ध्याटवी के वर्णन से काव्य का आरम्भ करके कवि ने कैकसी के गर्भ से विश्रवा के तीन पुत्र रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद और एक कन्या शूर्पणखा की उत्पत्ति, रावण का धान्यमालिनी और मन्दोदरी से विवाह, लंका में रावण के राज्य की प्रतिष्ठा, लक्ष्मण-द्वारा शूर्पणखा के अपमान से

१. वर्द्धमान, सर्ग १०, ८५-८६
२. वर्द्धमान, सर्ग २, ८४

क्रुद्ध होकर रावण-द्वारा सीतापहरण, राम-रावण-युद्ध और रावण की मृत्यु, विभीषण का लंका पर अधिकार, रावण के पुत्र अरिमर्दन का विभीषण से युद्ध, विभीषण की पराजय और अन्त में अरिमर्दन की अध्यक्षता में लंका को स्वाधीनता की प्रतिष्ठा आदि का वर्णन सुन्दर और मौलिक ढंग से किया है।

कथानक का मूल आधार वाल्मीकि-रामायण है पर उसके विकास में कवि ने अपनी मौलिक सृजन-शक्ति का यथेष्ट परिचय दिया है। कथानक का विकास कहीं मन्द तो कहीं तीव्र गति से हुआ है। जहां तक कथानक का सम्बन्ध रावण के चरित्र से है, वहां कथा मन्दगति से आगे बढ़ती है पर अन्य प्रसंगों में वह प्रवाहमयी दीख पड़ती है।

रावण के चरित्रचित्रण में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। राम के अनन्य भक्त होने के कारण तुलसी ने राम का उत्कर्ष दिखाने के लिए रावण के चरित्र को बहुत गिरा दिया है। रावण महाकाव्य में रावण के चरित्र का उज्ज्वल और प्रभावशाली रूप हमारे सामने आता है। रावण के चरित्र में उसके अपरिमेय पराक्रम, अदम्य उत्साह, लोकोत्तर शौर्य, आत्मगौरव और पाण्डित्य की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। वह विशुद्ध वैरप्रतिशोधन की भावना से ही सीता का अपहरण करता है और उसे लंका में राजबन्दिनी बना देता है। सीता के प्रति उसका व्यवहार राजोचित शिष्टता लिए हुए है:—

"सोचि इमि दसकन्ध ने तब सीय कौं हरि लीन्ह।
ल्याइकै तेहि लंक में निज राजवन्दी कीन्ह॥
तासु सुख की सब व्यवस्था करी लंक-नरेश।
तथा पूछत रह्यौ वाकौ कुशल-वृत्त हमेश[1]॥"

रावण अपने देश, जाति और राष्ट्र का सच्चा हितैषी है। वह शूर्पणखा के अपमान को समस्त राक्षसजाति का अपमान समझता है।

रावण के अतिरिक्त अन्य राक्षसों के चरित्र में भी कवि ने विद्वत्ता, आत्मगौरव, शौर्य आदि गुणों की प्रतिष्ठा की है। तुलसी के समान उन्होंने राक्षसों का बीभत्स और निन्दनीय रूप नहीं दिखाया है। स्त्रीपात्रों में से कैकसी, मन्दोदरी और सुलोचना का चरित्रचित्रण बहुत सुन्दर और हृदयग्राही बन पड़ा है। उनके चरित्र में शारीरिक सौन्दर्य और चरित्रगत शालीनता का सुन्दर समन्वय हुआ है। मन्दोदरी के सौन्दर्य का एक चित्र देखिए:—

"जा बिन ते मय दानव-नन्दिनी, व्याहि कै लंक पुरी मँह आई।
मानसरोवर में मनो हेम, सरोज खिल्यौ सुखमा वगराई॥
कै नभ नील मैं राजत मंजु, कलाधर-मंडल मंडि जुन्हाई।
तारिका-माल सी आलिन सौं घिरो, या विधि वाल रही छवि छाई[2]॥"

---

१. रावण, सर्ग १२, ११

२. रावण, सर्ग ६, १

विभीषण के चरित्र में कवि का नवीन दृष्टिकोण लक्षित होता है। अन्तिम तीन सर्गों में विभीषण को ही प्रधानता मिली है। विभीषण के चरित्र में-विश्वासघात, बन्धु-विरोध, राज्य-लिप्सा और कुत्सित वासना दिखाकर कवि ने उसे एक स्वार्थी, देशद्रोही व्यक्ति के रूप में अंकित किया है। तुलसी ने उसे राम का आपद्बन्धु समझ बहुत ऊपर उठा दिया है पर रावण के रचयिता ने उसके दुर्गुणों की उपेक्षा नहीं की है।

प्रकृति के अनेक मनोरम चित्र रावण महाकाव्य में देखने को मिलते हैं। विन्ध्याटवी, तद्गत सरोवर, सन्ध्या, चन्द्रोदय, प्रभात आदि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन महाकाव्योचित सजीवता और शालीनता को लिए हुए हैं। प्रभात का एक चित्र देखिए:—

"चन्द्रिका सों ससि रीतो भयो, छनदा छन में अब चाहती चाली।
लागे विहंगम वृन्द उड़ान, चहूँ दिसि कूजि उठी चटकाली॥
मन्द वहे लगी सीरी समीर, औ व्योम पै छाय रही चहुँ लाली।
भाल पै प्राची दिसा के मनों, धरि सिंदुर-बिन्दु दियो उषा आली[1]॥"

रावण महाकाव्य की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है; उसपर कवि का पूरा अधिकार दिखाई देता है। कवित्त, घनाक्षरी, सवैया, रोला आदि प्राचीन छन्दों का प्रयोग रसों के अनुकूल दिखाई देता है। शृंगार और वीर रस का परिपाक इस कृति में अच्छा हुआ है। कादम्बरी, रघुवंश, मेघदूत आदि संस्कृत के काव्यों का पर्याप्त प्रभाव इस रचना पर दिखाई देता है। विन्ध्याटवी और तद्गत सरोवर के वर्णन में कादम्बरी की छाया स्पष्ट है। गर्भभरालसा मन्दोदरी की तुलना रघुवंश की सुदक्षिणा से की जा सकती है। सुलोचना तक सन्देश पहुँचाने के लिए मेघनाद के चन्द्रदूत पर मेघदूत का प्रभाव भी स्पष्ट दीख पड़ता है। अपने पूर्ववर्ती अनेक कवियों की भावधाराओं और विषयों को अपनाते हुए भी कवि ने उनका अन्धानुकरण कहीं नहीं किया है। कहीं-कहीं तो उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को अधिक आकर्षक और प्रभावशाली बना दिया है।

इस प्रकार रावण की गणना आधुनिक रीतिबद्ध महाकाव्यों में की जा सकती है। विषय और भाषाशैली में प्राचीनता के होते हुए भी इस रचना में पर्याप्त मौलिकता और नवीनता दृष्टिगोचर होती है। वर्तमान युग की परिस्थितियों की अभिव्यक्ति भी उसमें यत्र-तत्र हुई है। अपने युग में श्रीमती सरोजिनी नायडू और विजयलक्ष्मी पंडिता जैसी महिलाओं को उच्च राजनैतिक पद पर प्रतिष्ठित होते देख कवि ने शूर्पणखा को जनस्थान के गवर्नर के रूप में अंकित किया है। रावण-द्वारा ऋषि-मुनियों के विद्रोह के दमन में राष्ट्रीय महासभा के सत्याग्रह के दमन का प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है। विभीषण को राज्यच्युत करके अरिमर्दन की अध्यक्षता में लंका की स्वतन्त्रता में वर्तमान प्रजातंत्र शासन की झलक दिखाई देती है।

---

१. रावण, सर्ग २, १

जय-भारत

(रचनाकाल—सन् १९५२)

श्री मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित जय-भारत की गणना हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों में की जा सकती है। जय-भारत का मुख्य आधार महाभारत है। इसमें नहुष के वृत्तान्त और कौरव-पाण्डवों के जन्म से लेकर पाण्डवों के स्वर्गारोहण तक की सम्पूर्ण कथा सैंतालीस सर्गों में वर्णित है। सर्गो का नामकरण उनके प्रतिपाद्य विषय के आधार पर (१—नहुष, २—यदु और पुरु, ३—योजनगन्धा, ४—कौरव—पाण्डव, ५—बन्धु-विद्वेष, ६—द्रोणाचार्य, ७—एकलव्य, ८—परीक्षा, ९—याज्ञसेनी, १०—लाक्षागृह, आदि) किया गया है। महाभारत का कथानक इतना व्यापक, जटिल और वैविध्यपूर्ण है कि उसे एक ही रचना में सुसम्बद्ध प्रबन्धोचित रूप देना एक दुस्साध्य कार्य सिद्ध होता है। महाभारत की मूलकथा के साथ अनेक ऐसे उपाख्यान जुड़े हुए हैं जिनको लेकर स्वतन्त्र रूप से अनेक महाकाव्यों की रचना विभिन्न कवियों ने की है। संस्कृत में किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधीयचरित जैसे महाकाव्यों की रचना ऐसे ही प्रसंगों और उपाख्यानों को लेकर हुई है। जय-भारत में गुप्त जी ने महाभारत की कौरव-पाण्डव-सम्बन्धी मूलकथा को ही अपने काव्य का विषय बनाया है। महाभारत की केवल उन्हीं प्रमुख घटनाओं को कवि ने चुना है जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध कौरव-पाण्डवों से है। उन्होंने शकुन्तला, नल, विदुला, सावित्री आदि से सम्बन्धित कई उपाख्यानों तथा प्रसंगों को छोड़ दिया है।

जय-भारत के कथानक में महाकाव्योचित धारावाहिकता नहीं है। वह कहीं तीव्र और कहीं मन्दगति से आगे बढ़ता है। महाभारत की घटनासंकुल और विस्तृत कथा के वर्णन में गुप्त जी को समासशैली अपनानी पड़ी है फिर भी उन्होंने मुख्यकथा और विविध घटनाओं के बीच अन्विति लाने का सफल प्रयास किया है। महाभारत के विविध प्रसंगों में आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग कवि ने इतने कौशल से किया है कि कथा का अन्विति-सूत्र कहीं भी टूटता हुआ नहीं दिखाई देता। वस्तुतः महाभारत की विस्तृत-मूलकथा को संक्षिप्त रूप में जय-भारत में स्थान दिया गया है; इसलिए गुप्त जी मुख्यकथा के कई मार्मिक स्थलों पर यथोचित प्रकाश डालने में समर्थ नहीं हुए। कौरव-पाण्डवों के महायुद्ध का वर्णन केवल एक ही छोटे से सर्ग में स्वच्छन्द-छन्द को अपनाते हुए संक्षेप से कर दिया गया है। जय-भारत के कथानक के सुसंगठित और प्रवाहमय होते हुए भी उसमें यत्र-तत्र इतिवृत्तात्मकता और नीरसता आ गई है।

महाभारत में अलौकिक घटनाओं की प्रचुरता है। जय-भारत में गुप्त जी ने उनको प्रायः उसी परम्परागत रूप में अपनाया है। हाँ, कहीं-कहीं उन अतिप्राकृतिक और अतिमानवीय प्रसंगों को बुद्धिग्राह्य, स्वाभाविक और समाज की मर्यादा के अनुकूल बनाने का प्रयास अवश्य किया गया है। उदाहरण के लिए द्रौपदी के पंचपतित्व-सम्बन्धी प्रसंग में लोकमर्यादा की रक्षा करने के लिए अर्जुन को ही द्रौपदी का पति स्वीकार किया

गया है[1]। हिडिम्बा के चरित्र में स्वाभाविकता और द्रौपदी-चीरहरण-प्रसंग में मनोवैज्ञानिकता लाने की चेष्टा की गई है[2]।

जय-भारत के सभी पात्र इतिहास-प्रसिद्ध और परम्परागत हैं। साकेत के लक्ष्मण, उर्मिला, कैकेयी, माण्डवी जैसे पात्रों के समान जय-भारत के पात्रों के चरित्रचित्रण में कोई विशेष मौलिकता नहीं दीख पड़ती। जय-भारत के प्रमुख पात्र युधिष्ठिर हैं। उनकी सत्यनिष्ठा और धर्मपरायणता परम्परागत ही है। महाभारत के युधिष्ठिर के समान वे भी धर्म के समक्ष सब कुछ तुच्छ समझते हैं:—

"जीवन, यशस्, सम्मान, धन, सन्तान, सुख सब मर्म के।
मुझको परन्तु शतांश भी लगते नहीं निज धर्म के[3]।"

महाभारत के अन्य पात्रों की अपेक्षा युधिष्ठिर के चरित्रांकन की ओर गुप्त जी ने विशेष ध्यान दिया है। सत्य और अहिंसा की अभिव्यक्ति उनके चरित्र में सुन्दर बन पड़ी है। अर्जुन, भीम, कर्ण, दुर्योधन आदि चरित्र भी अपनी इतिहास-प्रसिद्ध विशेषताओं को लिए हुए हैं। महाभारत के भीष्म जैसे शक्तिशाली चरित्र का पूर्ण विकास जय-भारत में नहीं हो पाया है। कहीं-कहीं महाभारत के पात्रों का पुनर्निर्माण आज के मानवतावाद के आधार पर किया गया है। महाभारत का दुर्योधन भी जय-भारत में सुयोधन बन गया है। उसका अन्त बहुत मर्मस्पर्शी है। दुःशासन जैसे दुष्ट चरित्र को भी गुप्तजी ने भ्रातृभक्ति से गौरवान्वित किया है[4]।

स्त्री पात्रों में द्रौपदी, कुन्ती और गान्धारी के चरित्र का विकास सुन्दर ढंग से हुआ है। द्रौपदी के चरित्र में आत्माभिमान, साहस, उदारता, सहनशीलता के साथ-साथ परिहास-कौशल और वाक्चातुर्य की अभिव्यक्ति भी यत्र-तत्र हुई है। स्वर्ग से लौटने पर अर्जुन के साथ मधुर वाग्विनोद में द्रौपदी की परिहास-कुशलता का एक चित्र इन शब्दों में अंकित हुआ है:—

---

१. बोले धर्मात्मज धृतिशाली, 'वर पार्थ वधू है पांचाली।
दो वर ज्येष्ठ का पद पावें, दो देवरत्व पर बलि जावें।
भोगें यों पांचों सुख इसका, ताकें सदैव शुभ मुख इसका।'
—जय-भारत, लक्ष्यवेध, पृ० ११०

२. सहसा दुःशासन ने देखा अन्धकार सा चारों ओर,
जान पड़ा अम्बर-सा वह पट, जिसका कोई ओर न छोर।
आकर अकस्मात अति भय-सा उसके भीतर पैठ गया,
फर जड़ हुए और पद कांपे, गिरता सा वह बैठ गया।
—जयभारत, द्यूत, पृ० १३८

३. जय-भारत, केशों की कथा, पृ० ३०८

४. भाई नहीं फिकर में तुम्हारा, मैं चाहता राज्य नहीं, तुम्हें ही।
—जयभारत, दुर्योधन का दूत, पृ० २०५

"नहीं भूलता यह मुख मुझको, चाहे जहाँ रहूँ मैं।"
"इसको निज सौभाग्य कहूँ वा निज दुर्भाग्य कहूँ मैं ?
मेरे कारण रह न सके तुम सुरपुर में भी सुख से।"
"फिर भी मेरा मुख न मिले क्या प्रिये तुम्हारे मुख से ?"
"किन्तु अमृत तो यहाँ नहीं है, रहो, वहीं वह छूटा।
दोष तुम्हारा ही है तुमने उसे नहीं यदि लूटा[1] ॥"

जय-भारत में प्रकृतिवर्णन को अन्य महाकाव्यों की तरह कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है फिर भी उसमें कतिपय सुन्दर प्रकृति-चित्र देखने को मिलते हैं। शरद ऋतु का एक चित्र देखिए :—

"जल बरसा कर चित्राम्बर ने फिर मोती बरसाये,
भरीं उषा की नलिनांजलियाँ, गये हंस फिर आये।
पय का पंक सूर्य ने सोखा, अमृत चन्द्र ने सींचा,
कनक कलम लेकर सुकाल का चित्र प्रकृति ने खींचा[2] ॥"

शृंगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र आदि प्रायः सभी रसों का समावेश जय-भारत में हुआ है पर उनमें से शृंगार, वीर, करुण और शान्त की व्यंजना अच्छी हुई है। जय-भारत की भाषा प्रसंगानुसारिणी, प्रवाहमयी और प्रसादगुण से युक्त है। अलंकारों का प्रयोग भी इस रचना में स्वाभाविकता लिए हुए है। साकेत के जैसे मर्मस्पर्शी, सरस और भावपूर्ण चित्र जय-भारत में नहीं मिलते फिर भी कई स्थलों पर कवि का काव्य-कौशल सहज ही प्रस्फुटित हो गया है। पाण्डवों के देहपात का दृश्य बहुत ही मर्मस्पर्शी है। नाव चलाती हुई धीवरसुता सत्यवती का कितना भव्य और भावपूर्ण चित्र यहाँ चित्रित हुआ है :—

"उभरे अंग सांस भरने से हिलकोरे से लेते थे,
स्वेद-बिन्दु माथे के मोती भाग्य-सूचना देते थे।
लम्बा बाँस लिए थी कर में निज विजयध्वज-दण्ड यथा,
चली चलाने को प्रभाव से मानों कोई नई प्रथा।
जल-पट पर अरुणातप रेखा उसका चित्रण करती थी,
वह श्रम विफल देखकर बाला मुस्काती मन भरती थी।
अलकें वा यमुना की लहरों से सूंघ रही थीं सिर उसका,
भोले मुख पर खेल रहा था बाल्यभाव अस्थिर उसका।
खड़ा कछोटा, किन्तु कँधेला पड़ा-पड़ा उड़ चलता था,
गोरे बाहु मूल में यौवन फूला-फूला फलता था[3] ।"

---

१. जय-भारत, द्रौपदी और सत्यभामा, पृ० १७६
२. जय-भारत, द्रौपदी और सत्यभामा, पृ० १७५
३. जय-भारत, योजनगन्धा, पृ० २२

पार्वती
(रचनाकाल—सन् १९५५)

श्री रामानन्द तिवारी-द्वारा रचित पार्वती महाकाव्य २७ सर्गों में विभक्त है। उसकी रचना मुख्यतया कालिदास के कुमारसंभव के आधार पर की गई है। कुमारसंभव में कथानक का आरम्भ हिमालय-वर्णन से होता है और कुमार-द्वारा तारकासुर के वध में उसकी समाप्ति हो जाती है। पार्वती में कथावस्तु यहाँ से भी आगे बढ़ती है और जयन्त-अभिषेक, विजय-महोत्सव, तारक पुत्रों द्वारा तीन (राजत, आयस और कांचन) पुरों की स्थापना, शिव-द्वारा उनका उद्धार तथा शिव-धर्म, शिव-नीति और शिव-संस्कृति के वर्णन में समाप्त होती है। १७ सर्गों में विभक्त कुमारसंभव की सम्पूर्ण कथा पार्वती के प्रथम १७ सर्गों में वर्णित है। प्रथम १७ सर्गों पर कुमारसंभव का गहरा प्रभाव लक्षित होता है पर अन्तिम १० सर्ग पर्याप्त मौलिकता लिए हुए हैं।

तिवारी जी ने कुमारसंभव को आधार मानकर पार्वती में जिस कथानक को अपनाया है उसमें नवयुग की रुचि के अनुसार कतिपय स्थलों पर कुछ हेर-फार भी किया है। पार्वती के पिता हिमाचल को हिमवान् देश का तेजस्वी राजा[1] स्वीकार करके कथानक को अधिक बुद्धिग्राह्य बनाने का प्रयास किया गया है। कुमारसंभव में मदन-दहन के पश्चात् रति का विलाप एक सम्पूर्ण सर्ग (चतुर्थ) में विस्तार के साथ वर्णित है। करुणरस की व्यंजना इस सर्ग में बहुत सुन्दर बन पड़ी है, पर कथावस्तु के विकास की दृष्टि से रति-विलाप का यह विस्तार आवश्यक प्रतीत होता है। पार्वती में कवि ने इस प्रसंग को केवल तीन पद्यों में संक्षिप्त करते हुए[2] औचित्य की रक्षा करने की चेष्टा की है। कुमारसंभव के अष्टम सर्ग-गत शिव-पार्वती के सुरत-वर्णन को आज के समाज की परिष्कृत रुचि और लोक-मर्यादा के विरुद्ध समझ कर पार्वती में स्थान नहीं दिया गया है। कैलाश-प्रयाण नामक सर्ग के अन्त में केवल दो-तीन पद्यों में शिव-पार्वती के मधुर-मिलन का मंगलमय चित्रण पर्याप्त समझा गया है। कुमारसंभव में कुमार की उत्पत्ति-विषयक अलौकिकता का परिहार करके पार्वतीकार ने कुमार को पार्वती का औरस पुत्र ही स्वीकार किया है। कुमार की शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में कुमारसंभव में कुछ नहीं कहा गया है किन्तु पार्वती-कार ने 'कुमार-दीक्षा' शीर्षक वाले सर्ग में परशुराम के आश्रम में कुमार की समुचित शिक्षा की व्यवस्था मौलिक ढँग से की है। कवि की यह उद्भावना कुमार के चरित्र के स्वाभाविक विकास के लिए उपयुक्त सिद्ध होती है।

---

१. उस विशाल हिमवान देश के राजा तेजोधारी
वीर हिमाचल थे यथार्थ निज संज्ञा के अधिकारी,
अचल हिमाचल के समस्त गुण उनमें सहज समाये,
सोने में सुगन्ध आत्मा के गुण भूपति ने पाये।
—पार्वती, सर्ग २, पृ० ५०

२. देखिए—पार्वती, सर्ग ५, पृ० १२५-१२६

इस प्रकार परम्परागत कथानक में यत्र तत्र संशोधन और परिवर्तन करके कवि ने उसे आधुनिक युग के अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया है। पार्वती का कथानक साधारणतया सुसम्बद्ध है। हाँ, तारक-वध के अनन्तर कथानक के प्रवाह में शिथिलता अवश्य आ गई है।

पार्वती में विविध पात्रों के चरित्र-चित्रण में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। पार्वती को प्रमुख पात्र (नायिका) के रूप में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उसके चरित्र में शील, सौन्दर्य, तपोनिष्ठा, पातिव्रत्य और विश्वमंगल की भावना की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। शिव का चरित्र अतिमानवीय तत्वों को लिए हुए है, पर पार्वती को कवि ने मनुष्यलोक की आदर्श गृहिणी के रूप में अंकित किया है। पार्वती के पिता हिमाचल और माता मेना भी विशुद्ध मानवीय रूप में हमारे सामने आते हैं। राजा हिमाचल के बल-वैभव का सजीव चित्र इन पंक्तियों में अंकित हुआ है:—

"दिव्य हिमालय के समान थी उनकी उज्ज्वल काया,
जिसके अंग-अंग में अक्षय बल औ वीर्य समाया।
दिव्य तेज की कान्ति सूर्य की आभा-सी थी दिपती,
विद्युत की लेखा लज्जित हो अन्तरिक्ष में छिपती[1] ।।"

रानी मेना की चारित्रिक विशेषताओं पर यहाँ अच्छा प्रकाश डाला गया है:—

"उनकी लक्षणमयी धरा-सी कुललक्ष्मी कल्याणी,
साम्राज्ञी थी, धर्म-प्रेम की प्रतिमा मेना रानी;
स्नेह, शील, सौन्दर्य, तेज की मर्यादा वह जग में,
करती जीवन-रस संचारित शासन की रग-रग में[2] ।।"

पार्वती के विवाह-प्रसंग में पुत्री को विदा करते समय मेना एक ममतामयी माता के समान विह्वल दीख पड़ती है:—

"उर में उमंग औ' भर कर नीर नयन में,
फिरती थीं मेना व्यस्त व्यग्र आँगन में;
कन्या परिणय से थीं कृतार्थ वे मन में,
विह्वल-सी थीं वे किन्तु विदा के क्षण में[3] ।।"

कुमारसंभव में कुमार के अतिमानवीय चरित्र का क्रमिक विकास स्वाभाविक ढंग से नहीं दिखाया गया है, किन्तु पार्वती में वह बालस्वभावोचित क्रीड़ा करता हुआ धीरे-धीरे परशुधर के आश्रम में शिक्षा प्राप्त करके देवताओं के सेनानी के पद पर प्रतिष्ठित होता है। कुमार के अतुल पराक्रम, शौर्य, अभिमान और तेज से देवगण प्रभावित हो

---

१. पार्वती, सर्ग २, पृ० ४९
२. पार्वती, सर्ग २, पृ० ५०
३. पार्वती, सर्ग १२, पृ० २४९

जाते हैं[1]।

पार्वती में कवि ने विविध प्रसंगों और प्राकृतिक दृश्यों के मनोरम वर्णन प्रस्तुत किए हैं। हिमालय पर्वत, पार्वती-सौन्दर्य, वसन्त-शोभा, शिवदर्शनोत्सुक पुरनारियों, परशुधर के आश्रम, असुरों के साथ कुमार के युद्ध तथा राजत, आयस और कांचन इन तीन पुरों के विशद वर्णन पार्वती में वर्तमान हैं। हिमालय-वर्णन बहुत प्रभावशाली और सजीव है। हिमालय-स्थित भीमाकार शिलाओं और गुहाओं का एक चित्र देखिए:—

"अमित अजेय अमोघ शक्ति-सी पड़ी शिलाएँ भीमाकार,
जिनका किंचित संचालन भी करता जाग्रत हाहाकार;
अयुत शतघ्नी तुल्य गुहाएँ वज्रघोष से निज गम्भीर,
कर देती विचलित असुरों के दृप्त दलों का साहस धीर[2] ॥"

पार्वती का नखशिख-सौन्दर्य-वर्णन प्राचीन परम्परा के अनुकूल होने पर भी हृदयग्राही बन पड़ा है। कवि ने विविध अलंकारों की समुचित योजना से पार्वती के सौन्दर्य की श्रीवृद्धि की है। जैसे:—

"अरुणिम अधरों के स्पन्दन में आदि उषा-सी खिलती,
शारदीय ज्योत्स्ना की निर्मल आभा स्मिति में मिलती;
आनन के अपरूप रूप से शंकित होकर मन में,
अन्तर की लज्जा से कलुषित हुआ मयंक गगन में[3] ॥"

शिवदर्शनोत्सुक नारियों की व्यग्रता का एक चित्र यहाँ प्रस्तुत किया जाता है:—

"कोई शिशु को करा रही पय पान थी,
किन्तु दे रही वातायन पर कान थी;
निकट देख रव दौड़ी, ले शिशु गोद में,
ढांक सकी न पयोधर उत्सुक मोद में[4] ॥"

प्रकृतिवर्णन के अनेक सुन्दर उदाहरण पार्वती में वर्तमान हैं। सूर्योदय का एक रमणीय चित्र यहाँ अंकित किया गया है:—

१. सबने किया प्रणाम स्कन्द को लखकर आते,
सिंह वक्ष से औ' गति से गजराज लजाते।
वृषभ स्कन्ध की गति-विधि से गर्वित अभिमानी,
हुए देवता हृष्ट देख अपना सेनानी ॥
—पार्वती, सर्ग १६, पृ० ३३०

२. पार्वती, सर्ग १, पृ० ३२

३. पार्वती, सर्ग २, पृ० ६०

४. पार्वती, सर्ग ११, पृ० २३४

"प्राची ने प्रसन्न हो रवि की शुचि आरती उतारी,
हुई प्रहर्षित कन्याओं-सी दिग्वालाएँ सारी,
सुर-वधुओं ने रत्नराशि-से तारक पुंज लुटाए,
जो कानन के पत्रदलों में ओस-विन्दु वन आए[1] ॥"

विविध रसों का निर्वाह भी पार्वती में अच्छा हुआ है। इसमें शृंगार और वीर इन दोनों रसों को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। करुण और वात्सल्य की छटा भी इसमें यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है। शृंगारवर्णन में उदात्तता और शिष्टता है। इसमें कुमार-संभव की तरह अश्लीलता कहीं नहीं आने पाई है। एक उदाहरण लीजिए:—

"हो रति-सी तन्मय उमा भान-सा भूली,
परवश-सी होकर शम्भु-स्कन्ध पर झूली;
पर युगल वाहु के दृढ़ मधु आलिंगन में,
शिव ने पाया विश्राम विश्रब्ध शयन में[2] ॥"

इसी प्रकार असुरों के साथ स्कन्द के युद्धवर्णन में वीर रस की व्यंजना सुन्दर ढंग से हुई है। जैसे:—

"सुन तारक के वचन गर्व से वोला वढ़ कर स्कन्द कुमार,
दानवेन्द्र ! कर चुके वहुत तुम जग में करुणा का विस्तार,
शिशुओं का चीत्कार करुण औ अवलाओं का हाहाकार,
गूँज रहा शाश्वत दिगन्त में वन तव करुणा का जयकार[3] ॥"

कुमार की वाल-लीलाओं के वर्णन में वात्सल्य और रतिविलाप तथा तारक की मृत्यु के पश्चात् शोणितपुर में शोक के वर्णन में करुण रस की सुन्दर व्यंजना हुई है। वात्सल्य का एक सुन्दर चित्र देखिए:—

"गोद में लेकर कभी यदि ईश करते प्यार,
खेलता था पन्नगों से, सुन अभय फुंकार;
पकड़ने को भाल का विधु वढ़ाता लघु हाथ,
स्नेह-निर्भर शम्भु सुख से झुकाते निज माथ[4] ॥"

पार्वती में कवि ने भावानुसारिणी, परिष्कृत भाषा को अपनाया है। भाषा के सौन्दर्य को वढ़ाने के लिए विविध अलंकारों की योजना भी की गई है। उपमाओं की योजना में कवि ने विशेष कौशल दिखाया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप आदि अधिकांश अलंकारों का प्रयोग परम्परागत प्राचीन शैली के अनुसार किया गया है।

---

१. पार्वती, सर्ग २, पृ० ५३
२. पार्वती, सर्ग १२, पृ० २६६
३. पार्वती, सर्ग १७, पृ० ३६४
४. पार्वती, सर्ग १४, पृ० २६६

कुमारसंभव का प्रभाव पार्वती पर अनेक स्थलों पर लक्षित होता है। पंचम (मदन-दहन), षष्ठ (तपस्विनी उमा) और सप्तम (शिव-दर्शन) इन तीनों सर्गों पर कुमारसंभव के तृतीय और पंचम सर्ग का गहरा प्रभाव पड़ा है। कहीं-कहीं तो कवि ने कुमारसंभव के पद्यों का अक्षरशः अनुवाद प्रस्तुत कर दिया है। कतिपय उदाहरण तुलना के लिए यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं:—

कुमारसंभव:— "क्रोधं प्रभो! संहर संहरेति यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार[1] ॥"

पार्वती:— "क्षमा! क्षमा! शिव! मरुद गणों की वाणी वेध गगन को,
श्रुतिगोचर हो सकी न, तब तक ज्वालालीढ़ मदन को,
भस्म शेष कर चुकी वह्नि वह निस्सृत दृग से हर के,
व्याकुल हुए विमोह-भीति से सुहृद समाहृत स्मर के[2] ॥"

× × ×

कुमारसंभव:— "वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद् बालमृगाक्षि! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने[3] ॥"

पार्वती:— "रूप दिव्य विरूप, कुल औ जन्म हैं अज्ञात उनके,
औ दिगम्बर वेष से हैं विदित वैभव-जाल उनके,
अयि मृगेक्षणि! काम्य हैं जो रूप, धन, कुल आदि वर में,
एक भी है क्या कथंचित प्राप्य ईषन्मात्र हर में[4] ॥"

× × ×

कुमारसंभव:— "मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये[5] ॥"

पार्वती:— "मन्दाकिनी नदी के तट पर सिकता के पुलिनों में,
कन्दुक और पुत्रिकाओं से सखियों संग दिनों में,
खेल खेल कर बाल्यकाल में, मातु समीप निशा में,
कह कह चित्र कथाएँ, हरती मन दृग फेर दिशा में[6] ॥"

× × ×

इस प्रकार अनेक स्थलों पर कुमारसंभव की छाया के होते हुए भी पार्वती में

१. कुमारसंभव, सर्ग ३, ७२
२. पार्वती, सर्ग ५, पृ० १२४
३. कुमारसंभव, सर्ग ५, ७२
४. पार्वती, सर्ग ७, पृ० १६४
५. कुमारसंभव, सर्ग १, २६
६. पार्वती, सर्ग २, पृ० ५६

ऐसे प्रसंगों की कमी नहीं है, जहाँ मौलिकता और उच्चकोटि का काव्यसौन्दर्य देखने को मिलता है।

पार्वती की रचना महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों के अनुसार हुई है। इसका कथानक २७ सर्गों में विभाजित है और प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग किया गया है। सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन इसमें नहीं हुआ है। कथावस्तु का समुचित निर्वाह, रसपरिपाक और मनोहर प्रकृतिचित्रण आदि महाकाव्य-सम्बन्धी परम्परागत तत्वों का इसमें समावेश हुआ है। कतिपय इतिवृत्तात्मक स्थलों के वर्तमान होते हुए भी मार्मिक और रसात्मक प्रसंगों की सृष्टि में कवि ने अपनी कवित्वशक्ति और भावुकता का अच्छा परिचय दिया है। भारतीय संस्कृति और जातीय आदर्शों की अभिव्यक्ति पार्वती में सुन्दर ढंग से हुई है। पार्वती भारतीय नारी का आदर्श प्रस्तुत करती हुई इस भू पर ही स्वर्ग की अवतारणा में समर्थ दिखाई देती है:—

"तपो ज्योति से पूत उमा-सी उज्ज्वल नारी,
स्नेह शक्ति से बना सहज नर को त्रिपुरारी;
गृह-गृह में शिव वास दिव्य कैलाश बनाती,
भू में कृति-स्मिति-दृष्टि-कृपा से स्वर्ग खिलाती[1]।।"

रश्मिरथी
(रचनाकाल—सन् १९५७)

महारथी कर्ण महाभारत का एक महत्वशाली चरित्र है। पाण्डवों के पक्षपाती संस्कृत के परवर्ती कवियों ने जहाँ अर्जुन, युधिष्ठिर और भीम को लेकर अनेक काव्य-कृतियाँ प्रस्तुत कीं, वहाँ कर्ण के उज्ज्वल चरित्र की ओर उनका विशेष ध्यान नहीं गया। दुर्योधन का साथी और सूतपुत्र तथा कुन्ती का कानीन पुत्र होने के कारण धर्म और वर्ण-व्यवस्था के समर्थक संस्कृत के कवियों ने कर्ण के अद्‌भुत शौर्य, त्याग और मित्र-प्रेम से प्रभावित होकर भी उसे अपनी रचनाओं में नायक के पद पर प्रतिष्ठित करने का साहस नहीं किया। आज के युग की मानवतावादी विचारधाराओं से प्रभावित होकर हिन्दी के कवियों का ध्यान संस्कृत-साहित्य के उपेक्षित चरित्रों की ओर आकृष्ट हुआ है। इसके परिणामस्वरूप श्री आनन्दकुमार जैसे वर्तमान कवियों ने अंगराज जैसे काव्यों में कर्ण को एक स्वतन्त्र नायक के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। महाभारत के इसी महान् किन्तु उपेक्षित चरित्र को श्री रामधारीसिंह दिनकर ने 'रश्मिरथी' में गौरवान्वित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

रश्मिरथी का कथानक सात सर्गों में विभक्त है। इसमें कर्ण के बाल्यकाल से

---

१. पार्वती, सर्ग २५, पृ० ५२४

लेकर युद्ध में अर्जुन द्वारा उसके वध तक की कथा वर्णित है। मूलकथा मुख्यतया महाभारत के आधार पर कही गई है किन्तु कर्णचरित्र-सम्बन्धी महाभारत की कथावस्तु की यहाँ केवल पुनरावृत्ति नहीं हुई है। यत्र-तत्र कवि ने कथावस्तु में संशोधन करते हुए उसे अपने युग के अनुकूल नये साँचे में ढालने का प्रयत्न भी किया है। रश्मिरथी में कथावस्तु का विकास स्वाभाविक ढंग से हुआ है। यहाँ कथावस्तु के प्रवाह में वे मोड़ नहीं हैं जोकि महाकाव्य में आवश्यक माने जाते हैं।

चरित्रचित्रण की दृष्टि से कवि को रश्मिरथी में पर्याप्त सफलता मिली है। इसमें कर्ण और कुन्ती इन दो चरित्रों पर ही कवि ने विशेष प्रकाश डाला है। कर्ण के चरित्र में असीम गुरुभक्ति, आदर्श मैत्री, अद्भुत शौर्य, उच्चकोटि की दानशीलता और महान् त्याग आदि गुणों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। कुन्ती के हृदय में कर्ण के प्रति वात्सल्य की अवतारणा हृदयहारी बन पड़ी है। महाभारत की अपेक्षा रश्मिरथी में कुन्ती अधिक कोमल और उदार हृदय को लिए हुए एक ममतालु माता के रूप में अधिक निखर आई है। यहाँ उसने पश्चाताप द्वारा अपना कलंक धो डाला है :—

"अब भी मन पर है खिची अग्नि की रेखा,
त्यागते समय मैंने तुझको जब देखा,
पेटिका-बीच मैं डाल रही थी तुझको,
टुक-टुक तू कैसे ताक रहा था मुझको।
वह टुकुर-टुकुर कातर अवलोकन तेरा,
औ शिलाभूत सर्पिणी सदृश मन मेरा,
ये दोनों ही सालते रहे मुझको,
रे कर्ण! सुनाऊँ व्यथा कहाँ तक तुझको[1]।।"

श्री आनन्दकुमार का अंगराज में युधिष्ठिर और द्रौपदी के चरित्र को गिरा कर कर्ण को ऊपर उठाने का प्रयत्न हिन्दूजाति के श्रद्धालु हृदय को आघात पहुँचाता है किन्तु रश्मिरथी में युधिष्ठिर और द्रौपदी के चरित्र के गौरव की पूर्णतया रक्षा हुई है। यहाँ कर्ण-जैसे उज्ज्वल चरित्र के सम्पर्क में आकर दुर्योधन भी सुयोधन हो गया है। रूढ़िवादी अभिजात वर्ग द्वारा तिरस्कृत कर्ण के प्रति दुर्योधन ने उदारता दिखाते हुए उसे अंग देश का राजा बनाकर अपनी गुणग्राहिता का परिचय दिया है :—

"करना क्या अपमान ठीक है इस अनमोल रतन का,
मानवता की इस विभूति का, धरती के इस धन का?
बिना राज्य यदि नहीं वीरता का इसको अधिकार,
तो मेरी यह खुली घोषणा सुने सकल संसार।
अंगदेश का मुकुट कर्ण के मस्तक पर धरता हूँ,
एक राज्य इस महावीर के हित अर्पित करता हूँ[2]।।"

१. रश्मिरथी, सर्ग ५, पृ० ६४
२. रश्मिरथी, सर्ग १, पृष्ठ ६

रश्मिरथी में कवि ने प्रकृति के कतिपय भव्य चित्र भी प्रस्तुत किए हैं। इस कृति में प्रकृति के महाकाव्योचित विस्तृत और रसात्मक वर्णन के लिए पर्याप्त अवकाश था किन्तु कविहृदय यहाँ प्रकृतिचित्रण में अधिक नहीं रमा है। परशुधर के आश्रम का वर्णन परम्परागत होते हुए भी मनोरम और सजीव है। पंचम सर्ग में कर्ण और कुन्ती के मिलन-प्रसंग में रात्रि का संश्लिष्ट चित्र इन शब्दों में अंकित हुआ है :—

"अम्बर पर मोती-गुथे चिकुर फैला कर,
अंजन उँड़ेल सारे जग को नहला कर,
साड़ी में टाँके हुए अनन्त सितारे,
थी घूम रही तिमिरांचल निशा पसारे।
थी दिशा स्तब्ध, नीरव समस्त अग-जग था,
कुंजों में अब बोलता न कोई खग था,
झिल्ली अपना स्वर कभी-कभी भरती थी,
जल में जब-तब मछली छप-छप करती थी[1] ॥"

रश्मिरथी में वीररस का निर्वाह अच्छा हुआ है। दिनकर वीररस के सफल कवि माने जाते हैं। इस रचना में भी उन्हें कर्ण-जैसे वीर चरित्र के अनुकूल वीररस की व्यंजना में पर्याप्त सफलता मिली है। कर्ण और अर्जुन के युद्ध-प्रसंग में वीररस का परिपाक अच्छा हुआ है। जैसे :—

"क्या धमकाता है काल ? अरे,
आ जा मुट्ठी में बन्द करूँ।
छुट्टी पाऊँ, तुझको समाप्त
कर दूँ, निज को स्वच्छन्द करूँ।
ओ शल्य ! हयों को तेज करो,
ले चलो उड़ाकर शीघ्र वहाँ,
गोविन्द-पार्थ के साथ डटे हों,
चुन कर सारे वीर जहाँ[2] ॥"

रश्मिरथी की भाषा विषयानुकूल, प्रवाहमयी और प्रांजल है। कवि ने दुरूह संस्कृतगर्भित भाषा को न अपनाकर सीधी-सादी जनभाषा का प्रयोग किया है। उसमें भरती के शब्दों का अभाव है। अरबी-फ़ारसी के प्रचलित शब्दों को भी यत्र-तत्र उसमें स्थान मिला है। मुहावरों के प्रयोग में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। भाषा सामान्य तथा वाच्यार्थप्रधान होकर प्रसादगुण को लिए हुए है किन्तु ओजगुण को भी उसमें पर्याप्त स्थान मिला है। भाषा में स्वाभाविकता और भावों को हृदयंगम कराने की क्षमता है। अलंकार-विधान में भी कहीं अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है। अलंकारों में से सादृश्य-

१. रश्मिरथी, सर्ग ५, पृष्ठ ६३
२. रश्मिरथी, सर्ग ७, पृष्ठ १६८

मूलक, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि का प्रयोग अधिक हुआ है। अलंकार अधिकतर काव्य के सौन्दर्य की वृद्धि करते हुए भावाभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध होते हैं।

द्वापर के कर्ण के जीवन से सम्बन्ध रखने पर भी रश्मिरथी में आज के युग की छाप स्पष्ट दीख पड़ती है। आज का युग दलितों और उपेक्षितों के उत्थान का युग है। आज मनुष्य-निर्मित जाति-पाँति का भेद मिटने जा रहा है और उसके स्थान पर विश्वजनीन मानवता की प्रतिष्ठा हो रही है। आज के मानव की उच्चता या नीचता की कसौटी कुल या जाति नहीं, अपितु वास्तविक मानवीय गुण हैं। जाति-पाँति के भेदभाव को मिटा कर रूढ़िवादी समाज के प्रति विद्रोह और मूक पीड़ितों के उद्धार की भावना कर्ण के चरित्र में मुखरित हो उठी है :—

"मैं उनका आदर्श कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे,
पूछेगा जग किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे।
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा,
मन में लिए उमंग जिन्हें चिरकाल कलपना होगा।
मैं उनका आदर्श, किन्तु जो तनिक न घबरायेंगे,
निज चरित्र-बल से समाज में पद विशिष्ट पायेंगे।
सिंहासन ही नहीं, स्वर्ग भी जिन्हें देख नत होगा,
धर्म-हेतु धन, धाम लुटा देना जिनका व्रत होगा[1]॥"

वस्तुतः कर्ण के चरित्र को उठाने में कवि का नई मानवता की प्रतिष्ठा का प्रयास लक्षित होता है।

दिनकर के कुरुक्षेत्र की अपेक्षा रश्मिरथी महाकाव्य की परिधि के अधिक समीप आता है किन्तु कथावस्तु की व्यापकता और वैविध्यपूर्ण जीवन के सर्वांगीण चित्रण के अभाव में हम इस कृति को महाकाव्य न कहकर एक उत्कृष्ट प्रबन्धकाव्य ही स्वीकार करते हैं।

मीराँ

(रचनाकाल—सन् १९५७)

श्री परमेश्वर द्विरेफ ने मीरां महाकाव्य में राजस्थान की प्रसिद्ध कृष्णभक्त रमणी मीरां की जीवन-गाथा को एक महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। कथावस्तु का विभाजन तेरह सर्गों में किया गया है। बाल्यावस्था में मीरां की कृष्ण में अनुरक्ति, भाई जयमल, बाबा राव दूदा और सखियों के सम्पर्क में उसके जीवन का विकास, भोजराज के साथ उसका विवाह और ससुराल के लिए उसकी विदाई, भोजराज का देहावसान, मीरां की विरहदशा, दीनदुखियों और अछूतों के उपकार में निरत मीरां

१. रश्मिरथी, सर्ग ४, पृष्ठ ६७

का सेवाव्रत और कृष्णभक्ति में लीन होकर उसका विष पीकर भी निरापद रहना, मीराँ के जीवन की इन प्रमुख घटनाओं को द्विरेफ जी ने एक क्रमबद्ध कथानक के रूप में सँजोया है। ऐतिहासिक कथानक से सम्बन्धित विवादास्पद प्रसंगों को कवि ने इस रचना में स्थान नहीं दिया है। मीराँ के बचपन से लेकर उसके विवाह तथा पतिदेव के देहावसान तक की घटनाओं में सम्बन्ध-निर्वाह कुछ अच्छा हुआ है पर उसके पश्चात् कथानक में गतिशीलता बहुत कम दिखाई देती है। कथावस्तु के प्रवाह में कई स्थलों पर शिथिलता आ गई है।

मीराँ के चरित्रांकन में द्विरेफ जी को पर्याप्त सफलता मिली है। उसके चरित्र में कृष्णभक्ति का विकास स्वाभाविक ढंग से हुआ है। मीराँ की चिन्तनशील प्रकृति उसकी बाल्यक्रीड़ाओं में ही प्रकाश में आने लगती है। जैसेः—

"आँगन में रजसंकुल भू पर
बालिका एक लघु लघु सुन्दर
चुपचाप मौन निस्पन्दित स्वर
ज्यों वीणा
साधक का ज्यों आराधित मन
ज्यों कवि का लोकोत्तर चिन्तन
त्यों दीप-शिखा-सी नत, क्रीड़न-
तल्लीना[1]।"

अपनी माता तथा राव दूदा से प्रेरणा पाकर बचपन में ही मीराँ के हृदय में भक्ति का अंकुर पल्लवित होने लगता है। पड़ोस की एक लड़की के विवाह में मीराँ की माँ ने उसे बताया कि उसका भावी पति वृन्दावन-विहारी, गिरिधर नागर है। तभी से मीराँ गिरिधर नागर को अपने हृदय में स्थान दे देती है और प्रतिक्षण उसी के चिन्तन में लीन दिखाई देती है। उसने बचपन में ही अपने प्रियतम को पहचान लिया है। अपने आराध्य-देव की पूजा में निरत बालिका मीराँ का सजीव चित्र कवि ने ऐसी पंक्तियों में अंकित किया हैः—

"हरी भरी दूर्वा दोने में
फूलों का संचय कर लाती
मधुमय फल पक्वान्न आदि से
फिर गिरिधर के भोग लगाती
इस छोटी सी ही दुलहिन ने
अपना प्रिय पहचान लिया है
जगजीवन क्या है, इसने तो
इसी आयु में जान लिया है[2]।"

---

१. मीराँ, सर्ग १, पृ० १
२. मीराँ, सर्ग १, पृ० ३६

इस प्रकार मीराँ के हृदय में बाल्यकाल में ही भक्ति के जो संस्कार जम चुके थे वे विवाहोपरान्त उसकी वैधव्य-दशा में और भी दृढ़ता प्राप्त कर लेते हैं। मीराँ के चरित्र में कृष्णभक्ति के साथ-साथ संगीत, चित्र और काव्य-कला में उसकी अभिरुचि, अहिंसा, आत्मसंयम, देशभक्ति, दीनदुखियों के प्रति उसके हृदय की सहानुभूति, दया और सेवा-भाव आदि अन्य विशेषताओं की अभिव्यक्ति भी सुन्दर ढंग से हुई है। मीराँ के हृदय के संस्कारों तथा भावों का क्रमिक विकास मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर दिखाने की चेष्टा की गई है। बाल्य से यौवन में प्रवेश करते हुए जहाँ मीराँ के अंगों का सौन्दर्य निरख आता है, वहाँ उसके हृदय में यौवनसुलभ लज्जा, गाम्भीर्य, प्रियमिलन के लिए औत्सुक्य आदि भावों का विकास भी होने लगता है:—

"ऐसी बातों में चाव हुआ
वर्तुल कन्दुक से स्तन कर्कश
उभरे वक्षस्थल पर समरस
पलकें नीची मन्थर मन्थर
चलने का मनहर भाव हुआ
वह अब चुपचाप लजाती है
उसकी मुस्कानें मधु-भीनी
अधरों में ही सीमित झीनी
प्रिय के अनुराग-सनी चंचल
बाहर कम आती जाती है[1]।"

विवाह के समय पतिगृह के लिए विदा होते समय मीराँ के हृदय की उथल-पुथल का मार्मिक चित्र इन पंक्तियों में अंकित हुआ है:—

"एक ओर खड़ा हुआ था मातृकुल परिवार
दूसरे थे, वहन की जो ले चुके पतवार।
खींचता पीछे निरन्तर जन्म भू का स्नेह,
धर्म आवश्यक पहुँचना किन्तु पति के गेह[2]।।"

'गिरिधर नागर' को हृदय में स्थान देने पर भी मीराँ पति के प्रति अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होती। वह एक सती-साध्वी गृहिणी के रूप में अपने रुग्ण पति की सेवा में निरत दिखाई देती है:—

"पीती जल भी न जरा हो जाती सन्ध्या,
पति-सेवा में तल्लीन, धन्य वह वन्ध्या।
निशिदिन शय्या के पास मौन रहती थी,
भावों की सरिता में तृण सी बहती थी[3]।।"

१. मीरां, सर्ग ४, पृ० ६६
२. मीरां, सर्ग ५, पृ० ७६
३. मीरां, सर्ग ६, पृ० १५३

पति की मृत्यु के पश्चात् मीराँ का कृष्णविषयक प्रेम अधिक उदात्त और गम्भीर रूप धारण कर लेता है। यही प्रेम उसे जनसेवा की ओर प्रवृत्त करता है और मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों का सामना करने की अद्‌भुत शक्ति प्रदान करता है। वह बन्धन-मुक्त सिंहिनी के समान अपने विलक्षण साहस, धैर्य और कर्तव्यनिष्ठा से अपने विरोधियों को हतप्रभ बना देती है:—

"पिंजड़े की सीमा-कारा से सिंहिनी मुक्त
उसकी दहाड़ से हुआ अधिप संभीति-युक्त।
बहनेवाली धारा को कोई सका रोक ?
हत्यारा था चुप, गरज रहा जो ताल ठोंक[1] ।।"

'मीराँ' महाकाव्य में कवि का ध्यान मीराँ के चरित्र की ओर अधिक रहा है। इसलिए मीराँ के चरित्र की विशेषताओं को प्रकाश में लाने का विशेष प्रयास किया गया है, अन्य चरित्रों का समुचित विकास इस कृति में नहीं हो सका है। फिर भी पुत्री के भविष्य के विषय में मीराँ के माता-पिता की चिन्ता, रावदूदा का वात्सल्य, सखियों की हास्यप्रिय मनोवृत्ति, भोजराज की विलासिता तथा आखेटप्रियता आदि चारित्रिक विशेषताओं की व्यंजना यत्र-तत्र सुन्दर बन पड़ी है।

वस्तुवर्णन तथा प्रकृतिचित्रण में कवि का पर्याप्त वर्णनकौशल झलकता है। मीराँ के साथ सखियों के मधुर वाग्विनोद, मीराँ के नखशिख-सौन्दर्य, भोजराज और मीराँ के प्रथम मिलन तथा मीराँ की विरहदशा का वर्णन पर्याप्त सजीवता लिए हुए है। द्विरेफ जी ने प्रकृति के अनेक भव्य चित्र भी इस कृति में खींचे हैं। पंचम सर्ग में पितृ-गृह से मीराँ की विदाई के प्रसंग में मार्ग में आनेवाले विविध प्राकृतिक दृश्यों तथा वर्षा-कालीन प्राकृतिक शोभा के वर्णन में कवि की प्रकृतिपर्यवेक्षण शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। उद्यान की शोभा का यथार्थ चित्र ऐसी पंक्तियों में खींचा गया है:—

"पवन के संकेत पर थे नाचते मृदुपात,
अंशुओं के साथ मुस्काते नवल जलजात।
हरे भरे प्रसन्न तरु की छाँह का सुख और,
झुरमुटों में कर रहे विश्राम सुन्दर मोर ।।

× × ×

घोंसलों में गुनगुनाते विहग-शिशु सुकुमार,
मुक्त विस्तृत व्योम, सुरभित मन्द मन्द बयार।
दूर कुछ ही दीखता पल्वल अकृत्रिम शान्त,
थी घनी छाया वटों की दूर दूर सुखान्त[2] ।।"

---

१. मीराँ, सर्ग १३, पृ० २६३
२. मीराँ, सर्ग ५, पृ० ८२

मीराँ में प्राकृतिक वर्णन कहीं आलम्बन रूप में, कहीं उद्दीपन विभाव के रूप में और कहीं आलंकारिक रूप में किया गया है। दशम सर्ग में उद्दीपन विभाव के रूप में प्रकृति मीराँ के हृदय की व्यथा को तीव्र बनाती हुई दृष्टिगत होती है। जैसेः—

"मत पपीहा, प्रिय कहाँ कह !
मधुर जीवन की कहानी
हृदय की अभिलाष मंजुल
शूल बन कर वेदना की
चुभ रही है तीक्ष्ण रह रह
सरल मन को बना व्याकुल
घन निराशा-हृदय नभ में
ला, हृदय को चीर दुर्दम
तड़ित उठती है भयावह[1]।"

कहीं-कहीं प्रकृति को मानवीय रूप देने में भी कवि ने अच्छा कौशल दिखाया है। जैसेः—

"रजनी की झिलमिल झिलमिल
साड़ी के अवगुंठन को
रजनी-पति चुपके चुपके
खोले जब पुलकित मन हो
जब मुद्रित कुमुद-कलाएँ
उठ जातीं अँगड़ाई ले
जब बार बार मँडराते
मधुकर गुंजन-वीणा ले[2]।"

'मीराँ' महाकाव्य में विप्रलम्भ शृंगार का चित्रण अच्छा हुआ है। विवाह के पश्चात् भोजराज के साथ मीराँ के प्रथम समागम के वर्णन में संयोगशृंगार की व्यंजना के लिए अच्छा अवसर था किन्तु मीराँ की भक्तिप्रवणता और चिन्तनशील प्रकृति की रक्षा करते हुए कवि ने यहाँ संयोग शृंगार के स्थूल चित्र अंकित करना उचित नहीं समझा है। इतना होते हुए भी संयोगशृंगार के कतिपय संयत और उदात्त चित्र इस प्रसंग में चित्रित किए गए हैं। जैसेः—

"देखो. यह भिखमंगा शंकर
तेरे अभाव में रोता है।
आओ, लक्ष्मी, इन्दिरा हँसो !
यह विष्णु अंक में सोता है।

१. मीराँ, सर्ग १०, पृ० १८०
२. मीराँ, सर्ग १०, पृ० १८३

कह कर यों प्रिय ने अपना तन,
उनके घुटनों पर डाल दिया।
यह हँसी जरा, क्रोधित सी थी,
उनका तन त्वरित सँभाल लिया[१] ॥"

भोजराज के देहावसान का दृश्य संक्षिप्त होने पर भी बहुत ही मार्मिक है। यहाँ करुणरस की व्यंजना अच्छी हुई है। जैसे:—

"सब परिजन रहे हताश, पिता, माँ, भाई,
हो गए कुँवर निर्जीव मृत्यु जब आई।
टूटा साँसों का तार क्षीण जो अटका,
मीराँ चिल्लाई, सिर धरती पर पटका[२] ॥"

विप्रलम्भ शृंगार और करुण के साथ ही इस रचना में वात्सल्य और वीररस की छटा भी देखने को मिलती है। प्रथम सर्ग में बाल्यक्रीड़ा में निरत मीराँ मातृहृदय में वात्सल्य का संचार करती है और कहीं-कहीं उसकी ओज भरी उक्तियों में उत्साह की व्यंजना भी पाई जाती है।

'मीराँ' में प्रसादगुणमयी, सरल, भावपूर्ण भाषा को स्थान दिया गया है। इसकी भाषा में भावों को व्यक्त करने की क्षमता पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। कहीं-कहीं उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की योजना तथा उपयुक्त मुहावरों के प्रयोग से कवि की भाषा का सौन्दर्य निखर आया है। जैसे :—

"अन्धकार के महाविवर से
साँय-साँय की ध्वनि आती थी
मानों जग की गहन कालिमा
सिर धुन-धुन कर पछताती थी
थकी हुई थी कान्त-पार्श्व में
वह शय्या पर पग पसार कर
लेट गई अभिराम कुंज में
ज्यों हरिणी सुध-बुध विसार कर[३] ।"

"कूक रही है फुदक-फुदक कर
अभिलाषा कोकिल मतवाली
दो हृदयों में जगमग-जगमग
जली आज है प्रेम-दिवाली

---

१. मीराँ, सर्ग ७, पृ० १२६
२. मीराँ, सर्ग ६, पृ० १६८
३. मीराँ, सर्ग २, पृ० २२

चीर-चीर कर तिमिर निराशा
स्वर्णिल शिव अभिनव किरणों से
नवल प्रेम के उदयाचल पर
उदय मनोरम मरीचि-माली
दो हृदयों में जगमग जगमग
जली आज है प्रेम-दिवाली[1]।"

"नाम मीरां, नीरजा की मुकुल का अभिराम
बाल रवि की अंशुओं के जाल-सा छविधाम
फेन-सा उज्ज्वल, मराल-कुमार-चंचु-समान
मुखर पावस-जलधारों का सप्तरंगा गान[2]।"

मुहावरों के प्रयोग में भी यत्र-तत्र कविकौशल दृष्टिगत होता है। कतिपय उदाहरण देखिए :—

"पानी फेर दिया जावेगा
यों ही इसकी भी इच्छा पर[3]।"

"यह सब कुछ जाने बैठी है
हाथी के दांत दिखाने के
हैं और, और ही खाने के[4]।"

"देव ने भी दे दिया आशीष, अपना प्यार
अब तुम्हारी घी भरी पांचों, तुम्हीं आधार[5]।'

"देखो जी, छेड़ रहे हो फिर
पहले तुम बात बनाते हो
फिर भांति-भांति का विनय लिए
भीगी बिल्ली बन जाते हो[6]।"

कवि की भाषा सामान्यतया सरलता, सुबोधता और नैसर्गिक सौन्दर्य को लिए हुए है पर कहीं-कहीं—विशेषकर एकादश सर्ग में—कवि ने समासबहुला, संस्कृतगर्भित कृत्रिम शैली को भी स्थान दिया है। ऐसे स्थलों पर भाषा अपने सहज सौन्दर्य को खो देती है। जैसे :—

---

१. मीरां, सर्ग ४, पृ० ७६
२. मीरां, सर्ग ५, पृ० ६१
३. मीरां, सर्ग २, पृ० २८
४. मीरां, सर्ग ४ पृ० ७३
५. मीरां, सर्ग ५, पृ० ८६
६. मीरां, सर्ग ७, पृ० १२७

"मुक्त समुत्थित वृन्त कान्त सजलान्त विवर्द्धित
किसलय-चंचल-अंचल-तल-खग-शिशु संस्पर्द्धित
विस्तृत सुरभित अभ्र-श्वास चल मुक्त चतुर्दिक्
नवल-नीलिमा-दृश्य-लीन खेचर-कुल स्वर्गिक[1] ।"

'मीराँ' महाकाव्य में कवि ने राजस्थान की तत्कालीन सामाजिक दशा पर अच्छा प्रकाश डाला है। समाज में दहेज-प्रथा, नारी की पराधीनता और अछूतों की शोचनीय दशा की ओर कवि ने अनेक स्थलों पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। पर ऐसे प्रसंगों में कवित्व का अंश कम और उपदेशात्मकता तथा नीरसता अधिक दृष्टिगत होती है। जैसे :—

"एकमात्र कन्या-विवाह में
बिक जाता है हरा-भरा घर
सब स्वाहा कर देने पर भी
वर वालों को स्वाद नहीं पर[2] ।"

"नारी तो नर की दासी है
नर के टुकड़ों पर पलती है
नर के इंगित पर जीवन भर
कठपुतली की ज्यों चलती है
चक्की, चूल्हा, चौका बर्तन
स्त्री के जीवन की माया है
सन्तान-जनन का यंत्र, पुरुष
की अनुगामी वह छाया है[3] ।"

"तुम कहते हो सो ठीक पथिक !
युवती बोली, वह साभिमान
तुम नीचे जन, काले, कुरूप
मैं नहीं करूँगी नीर-दान[4] ।"

महाकाव्य की दृष्टि से 'मीराँ' में कतिपय त्रुटियाँ भी वर्तमान हैं। इस कृति में कथावस्तु के प्रवाह में कई स्थलों पर शिथिलता आ गई है। विविध वर्णनों के बीच कथा-वस्तु का वेग अवरुद्ध-सा दिखाई देता है। वैविध्यपूर्ण जीवन का सर्वांगीण चित्रण भी इसमें नहीं हो सका है। इसमें महाकाव्योचित घटनाविस्तार न होने के कारण जीवन के विविध

१. मीराँ, सर्ग ११, पृ० २११
२. मीराँ, सर्ग २, पृ० २६
३. मीराँ, सर्ग ७, पृ० १२२
४. मीराँ, सर्ग १२, पृ० २२६

चीर-चीर कर तिमिर निराशा
स्वर्णिल शिव अभिनव किरणों से
नवल प्रेम के उदयाचल पर
उदय मनोरम मरीचि-माली
दो हृदयों मे जगमग जगमग
जली आज है प्रेम-दिवाली[१] ।"

"नाम मीरां, नीरजा की मुकुल का अभिराम
वाल रवि की अंशुओं के जाल-सा छविधाम
फेन-सा उज्ज्वल, मराल-कुमार-चंचु-समान
मुखर पावस-जलधारों का सप्तरंगा गान[२] ।"

मुहावरों के प्रयोग में भी यत्र-तत्र कविकौशल दृष्टिगत होता है। कतिपय उदाहरण देखिए :—

"पानी फेर दिया जावेगा
यों ही इसकी भी इच्छा पर[३] ।"
"यह सब कुछ जाने बैठी है
हाथी के दांत दिखाने के
हैं और, और ही खाने के[४] ।"
"देव ने भी दे दिया आशीष, अपना प्यार
अब तुम्हारी घी भरी पाँचों, तुम्हीं आधार[५] ।'

"देखो जी, छेड़ रहे हो फिर
पहले तुम बात बनाते हो
फिर भांति-भांति का विनय लिए
भीगी बिल्ली वन जाते हो[६] ।"

कवि की भाषा सामान्यतया सरलता, सुबोधता और नैसर्गिक सौन्दर्य को लिए हुए है पर कहीं-कहीं—विशेषकर एकादश सर्ग में—कवि ने समासबहुला, संस्कृतगर्भित कृत्रिम शैली को भी स्थान दिया है। ऐसे स्थलों पर भाषा अपने सहज सौन्दर्य को खो बैठी है। जैसे :—

१. मीरां, सर्ग ४, पृ० ७६
२. मीरां, सर्ग ५, पृ० ६१
३. मीरां, सर्ग २, पृ० २८
४. मीरां, सर्ग ४ पृ० ७३
५. मीरां, सर्ग ५, पृ० ८६
६. मीरां, सर्ग ७, पृ० १२७

"मुक्त समुत्थित वृन्त कान्त सजलान्त विवर्द्धित
किसलय-चंचल-अंचल-तल-खग-शिशु संस्पर्द्धित
विस्तृत सुरभित अभ्र-श्वास चल मुक्त चतुर्दिक्
नवल-नीलिमा-दृश्य-लीन खेचर-कुल स्वर्गिक[1] ।"

'मीराँ' महाकाव्य में कवि ने राजस्थान की तत्कालीन सामाजिक दशा पर अच्छा प्रकाश डाला है। समाज में दहेज-प्रथा, नारी की पराधीनता और अछूतों की शोचनीय दशा की ओर कवि ने अनेक स्थलों पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। पर ऐसे प्रसंगों में कवित्व का अंश कम और उपदेशात्मकता तथा नीरसता अधिक दृष्टिगत होती है। जैसे :—

"एकमात्र कन्या-विवाह में
बिक जाता है हरा-भरा घर
सब स्वाहा कर देने पर भी
वर वालों को स्वाद नहीं पर[2] ।"

"नारी तो नर की दासी है
नर के टुकड़ों पर पलती है
नर के इंगित पर जीवन भर
कठपुतली की ज्यों चलती है
चक्की, चूल्हा, चौका वर्तन
स्त्री के जीवन की माया है
सन्तान-जनन का यंत्र, पुरुष
की अनुगामी वह छाया है[3] ।"

"तुम कहते हो सो ठीक पथिक !
युवती बोली, वह साभिमान
तुम नीचे जन, काले, कुरूप
मैं नहीं करूँगी नीर-दान[4] ।"

महाकाव्य की दृष्टि से 'मीराँ' में कतिपय त्रुटियाँ भी वर्तमान हैं। इस कृति में कथावस्तु के प्रवाह में कई स्थलों पर शिथिलता आ गई है। विविध वर्णनों के बीच कथा-वस्तु का वेग अवरुद्ध-सा दिखाई देता है। वैविध्यपूर्ण जीवन का सर्वांगीण चित्रण भी इसमें नहीं हो सका है। इसमें महाकाव्योचित घटनाविस्तार न होने के कारण जीवन के विविध

---

१. मीराँ, सर्ग ११, पृ० २११
२. मीराँ, सर्ग २, पृ० २६
३. मीराँ, सर्ग ७, पृ० १२२
४. मीराँ, सर्ग १२, पृ० २२६

अलंकृत किया है। अलंकारों की यत्नसाध्य योजना भी यत्र-तत्र हुई है किन्तु अधिकांश अलंकार भावोद्रेक में सहायक ही सिद्ध होते हैं। उपर्युक्त अलंकारों के कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं:—

उपमा:— "तीन-तीन अंगुल पै कोटियाँ धनुष की,
कामिनी की भ्रू-लता की भाँति गति शील है[1]।"
"हस्तिनापुर में प्रभात की किरण आई।
दीख पड़ी पंचशर तर्जनी-सी उत्थिता[2]
"कुछ दूर पत्थरों से ऐसी पटी भूमि
जैसे वह वन का कठोर वक्षस्थल
घास उगी ऐसी जैसे वह रोम-र।
कुछ बेलें फैलीं जैसे उभरी शिराएँ

मालोपमा:—"शब्दहीन शून्य में विचार-र[illegible]
काल के पटल पर स्पृ[illegible]
चेतना में व्यक्त हुई, [illegible]
सत्य के भी सत्य में चली प्र[illegible]
दृष्टि एकलव्य
"जैसे सिन्धु-शीश पर झंझा
जैसे बादलों के [illegible]
जैसे वीर-[illegible]
जैसे व्योम-भा[illegible]
वैसे सींक पर मान[illegible]

रूपक:—"आधी रात बीती
जग-शिशु को सुला[illegible]
उसको निहारती
अपने सहस्र [illegible]

उत्प्रेक्षा: —"राज-महिषी की
स्वर्ण-मंच मानों

---

१. एकलव्य, साधना, पृ० २०
२. एकलव्य, प्रदर्शन, पृ० ६
३. एकलव्य, साधना, पृ० १
४. एकलव्य, साधना, पृ०
५. एकलव्य, दर्शन, पृ० १४
६. एकलव्य, संकल्प, पृ० १
७. एकलव्य, प्रदर्शन, पृ० ६६

"विहगों के वृन्द उड़े विपुल निनाद से,
वृक्ष-वृक्ष से, समीप ऊँचे वृक्ष-वृक्ष में।
मानों कल गान कर एकलव्य कीर्ति का,
परिहास करते थे पाण्डु पाण्डु-पुत्रों का [1]।"

'एकलव्य' में भाषाशैलीगत कतिपय त्रुटियाँ सहृदय पाठकों को खटकनेवाली सिद्ध होती हैं। यत्र-तत्र संस्कृत के व्याकरण और काव्यशास्त्र-सम्बन्धी अप्रस्तुत-योजना भावो-द्दीप्ति में सहायक होने के स्थान पर भावों में दुरूहता उत्पन्न करती है। जैसे:—

"मानों प्रातिपदिकों और प्रत्ययों के मध्य,
लोप होने वाले सभी इत्संज्ञक वर्ण हों[2]।"
"पार्थ ने प्रणाम किया, मस्तक झुका दिया,
जैसे वर्ण के समक्ष झुके मात्रा ह्रस्व की [3]।"
"वर्ण हैं अलग, किन्तु जब मिल जाते हैं,
सन्धि में धवल और एक रूप पाते हैं[4]।"
"जैसे स्वर-सन्धि में आदेश पररूप हो[5]।"
"जैसे 'कुहोश्चु' बने लिट् के अभ्यास में[6]।"
"जैसे साधना औ साध्य के दो तट हैं खुले हुए,
दोनों ही के बीच में है सन्धिरेख गुरु की[7]।"
"एक से अनेक और हों अनेक एक से,
पूरी वर्णमाला की अघोष ध्वनि एक है[8]।"
"या कि व्याकरण में निबद्ध गूढ़-सूत्र हैं[9]।"
"बद्ध गोधांगुलि त्राण, पूर्ण तूण कार्मुक,
सहित संचारियों के जैसे वीररस हो[10]।"
"जैसे वंशस्थ की प्रतिज्ञा इन्द्रवज्रा-सी
सुन कर सदैव शार्दूलविक्रीडित हो[11]।"

एकलव्य, द्वन्द्व, पृ० २५६
एकलव्य, प्रदर्शन, पृ० १०२
२. एकलव्य, प्रदर्शन, पृ० १०८
३. एकलव्य, प्रदर्शन, पृ० ११८
४. एकलव्य, आत्मनिवेदन, पृ० १२२
५. एकलव्य, आत्मनिवेदन, पृ० १३६
६. एकलव्य, धारणा, पृ० २०६
७. एकलव्य, साधना, पृ० २०५
८. एकलव्य, साधना, पृ० २४८
९. एकलव्य, लाघव, पृ० १०८
१०. एकलव्य, प्रदर्शन, पृ० १४१
एकलव्य, धारणा, पृ०

"जैसे तीस रात्रियों में आए एक पूर्णिमा,
या कि जन-भाषा मध्य मंजु अलंकार हो।
या जैसे निर्वेद में प्रकट शान्त रस हो,
आश्रय-विहीन लता में खिला प्रसून हो[1]।"

ऐसे स्थलों पर कवि ने व्याकरण तथा काव्यशास्त्र-विषयक ज्ञान दिखाने की चेष्टा की है। एकलव्य की माता के वियोगवर्णन में विरह की शास्त्रीय दस दशाओं का चित्रण सहज नहीं, यत्नसाध्य ही प्रतीत होता है। गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा आदि शब्दों का प्रयोग होने के कारण यहाँ स्वशब्दवाचत्व दोष आ गया है। इसी प्रकार निम्नोद्धृत पंक्तियों में वर्मा जी ने जानबूझ कर अपनी रचनाओं की नामावली प्रस्तुत करने का प्रयास किया है:—

"शिशिर के पीले पत्र सूखने के पूर्व ही,
देना चाहते हैं 'रूप-रंग' 'ऋतुराज' को,
एक 'ध्रुवतारिका' में 'कौमुदी-महोत्सव',
चाहती 'रजत-रश्मि' देखो इस साज को[2]।"
'अंजलि' में मेरी 'रूपराशि' मत देखना,
ऐसी 'चित्र रेखा' खिची जीवन में तप की।
मेरी 'चन्द्रकिरण' में कहाँ आकाश-गंगा,
सांस में समाई शक्ति विद्युत्-तड़प की[3]।"

एकलव्य में वर्मा जी ने गुरु द्रोण और एकलव्य के चरित्र की व्याख्या आर्य और अनार्य (निषाद) संस्कृति, राजनीति और समाज के संदर्भ में मनोवैज्ञानिक ढंग से की है। जाति और वर्गगत भेदभाव को मिटाने में प्रयत्नशील आज के युग की मानवतावादी विचारधाराओं तथा अछूतोद्धार और शिक्षाप्रचार-सम्बन्धी आधुनिक समस्याओं को भी इस कृति में समुचित स्थान प्राप्त हुआ है।

महाकाव्य के परम्परागत शास्त्रीय लक्षणों का पूर्ण निर्वाह एकलव्य में नहीं हो पाया है। वर्मा जी ने एकलव्य को एक महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न अवश्य किया है, जैसा कि उन्होंने 'आमुख' में स्वयं स्वीकार किया है:—

"एकलव्य ने जिस आचरण का परिचय दिया है, वह किसी ऊच्चकुल के व्यक्ति के आचरण के लिए भी आदर्श है। वह अनार्य नहीं; आर्य है, क्योंकि उसमें शील का प्राधान्य है। यहाँ उसमें महाकाव्य के नायक बनने की क्षमता है। भले ही वह 'सुर' अथवा 'सद्वंश' में उत्पन्न 'क्षत्रिय' नहीं है[4]।"

१. एकलव्य, दक्षिणा, पृ० २८०
२. एकलव्य, धारणा, पृ० १३७
३. एकलव्य, धारणा, पृ० १३८
४. [illegible]

आज के युग में महाकाव्य के नायक की महानता का मानदंड बदल गया है, इसलिए वर्मा जी का एकलव्य-जैसे निषाद-पुत्र को महाकाव्य में नायक का पद देना अनुचित नहीं; पर एकलव्य-सम्बन्धी इस सीमित कथानक को लेकर एक उत्कृष्ट महाकाव्य की रचना में लेखक को सफलता नहीं मिल सकी। एकलव्य में महाकाव्योचित विषय की व्यापकता, वैविध्यपूर्ण जीवन की सर्वांगीण व्याख्या और रसात्मकता का अभाव ही दृष्टिगत होता है। इसलिए हम इसे महाकाव्य न मानकर एक सफल प्रबन्धकाव्य कहना ही उचित समझते हैं।

ऊर्मिला

(रचनाकाल—सन् १९५८)

युग-युग से उपेक्षिता उर्मिला की चरित्रगत विशेषताओं को प्रकाश में लाने तथा उसे एक महाकाव्य में प्रधान चरित्र के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास गुप्तजी के पश्चात् 'ऊर्मिला' में श्री बालकृष्ण शर्मा नवीन ने किया है। नवीन जी ने 'ऊर्मिला' में परम्परागत राम-कथा के केवल उन्हीं अंशों को चुना है जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध उर्मिला तथा उसके पति लक्ष्मण से है। 'ऊर्मिला' की कथावस्तु छः सर्गों में वर्णित है। उर्मिला को प्रमुख स्थान देने के लिए कवि ने परम्परागत राम-कथा से सम्बन्धित घटनाओं में नवीन उद्भावनाएँ भी की हैं। प्रथम सर्ग में जनकपुरी तथा जनक के प्रासादप्रांगण में बाल-केलि-निरत सीता और उर्मिला के बाल्य-काल का वर्णन कवि की अपनी सूझ है। द्वितीय सर्ग में अयोध्या के राजप्रासाद में देवर रिपुसूदन और ननद शान्ता के साथ उर्मिला का वाग्विनोद और लक्ष्मण-उर्मिला के प्रेमालापपूर्ण दाम्पत्य-जीवन का चित्रण भी मौलिकता को लिए हुए है। तृतीय सर्ग में राम-सीता के साथ लक्ष्मण का वनगमन-निर्णय-प्रसंग परम्परागत होकर भी कवि की मौलिक सृजन-शक्ति का परिचायक है। नवीन जी ने राम-कथा के राम-वनगमन-प्रसंग को नवदृष्टि से देखा है। 'ऊर्मिला' में राम-वनगमन-सम्बन्धी घटना की आर्य-संस्कृति के प्रसार के लिए एक महान् सांस्कृतिक यात्रा के रूप में व्याख्या की गई है। इसी प्रसंग में उर्मिला और लक्ष्मण का वनगमन-विषयक वार्तालाप और उर्मिला की अनुमति से लक्ष्मण का वनगमन-निश्चय कवि की प्रौढ़ कल्पना और नई सूझ का परिचय देता है। चतुर्थ तथा पंचम सर्ग में उर्मिला का विरह-वर्णन तथा षष्ठ सर्ग में अवध से लंका तक आर्य-संस्कृति का प्रसार, विभीषण की लंका के सिंहासन पर प्रतिष्ठा, पुष्पक विमान-द्वारा राम, सीता और लक्ष्मण का अयोध्या के लिए प्रस्थान, मार्ग में देवर-भाभी का मधुर परिहास और अन्त में उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन जैसे प्रसंग भी पर्याप्त मौलिकता लिए हुए हैं। इस प्रकार वाल्मीकि और तुलसी ने जिन प्रसंगों की उपेक्षा की है, नवीन जी ने उन्हें 'ऊर्मिला' में मौलिक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

जहाँ तक कथावस्तु के विकास का सम्बन्ध है, 'ऊर्मिला' की कथावस्तु में प्रबन्ध-

काव्योचित घटना-विस्तार, विविध प्रसंगों में सम्बन्धनिर्वाह और कथानक में धारा-वाहिकता नहीं पाई जाती। प्रथम तीन सर्गों में तो कथावस्तु का निर्वाह कुछ अच्छा हुआ है, किन्तु अन्तिम तीन सर्गों में कथासूत्र छिन्न-भिन्न हो गया है। चतुर्थ और पंचम सर्ग में केवल विरह-वर्णन को स्थान दिया गया है, उनमें घटनाओं का सर्वथा अभाव है। पंचम सर्ग में व्रजभाषा को अपनाते हुए कवि ने दोहा और सोरठा छन्द को स्थान दिया है। यहाँ तो प्रबन्धात्मकता सर्वथा लुप्त हो गई है।

उर्मिला के चरित्रांकन में नवीन जी को विशेष सफलता मिली है। उसके चरित्र का विकास स्वाभाविक ढंग से हुआ है। बचपने में बहन सीता को उसकी क्रीड़ासहचरी के रूप में प्रस्तुत करके कवि ने उर्मिला के चरित्र के स्वाभाविक विकास के लिए उपयुक्त वातावरण की सृष्टि की है। बचपन में माता की गोद में ही उर्मिला अपने त्यागमय चरित्र के अनुकूल शिक्षा प्राप्त करती है :—

"किन्तु कहानी सुनकर मन में तुम दुख क्यों करती हो ?
बातों से प्रेरित होकर क्यों आहें तुम भरती हो ?
आर्य बालिका है वह ही जो दुख के आ जाने पर,
पर्वत-तुल्य अचल रहती है, घोर घटा छाने पर[1]।"

उर्मिला बचपन में ही गंभीर विषयों के प्रति जिज्ञासा व्यक्त करती हुई माता से प्रश्न पूछती है। वस्तुतः उर्मिला के चरित्र के निर्माण में माता-पिता का विशेष हाथ दिखाई देता है।

विवाह के पश्चात् उर्मिला अयोध्या के राजप्रासाद में देवर रिपुसूदन और ननद शान्ता के साथ मधुर परिहास में हाथ बँटाती हुई अपने हृदय की कोमलता, भावुकता और वाक्चातुर्य का परिचय देती है। अयोध्या के राजमहल में वह एक आदर्श वधू के रूप में केवल अपने पति लक्ष्मण के ही नहीं, सुमित्रा और कौशल्या आदि माताओं के हृदय में भी सम्मानित पद प्राप्त कर लेती है। राम-सीता के साथ लक्ष्मण के वनगमन-प्रस्ताव को सुनकर उर्मिला की अधीरता का मार्मिक चित्र ऐसे शब्दों में अंकित हुआ है :—

"करुण-कहानी हिय-अकुलानी,
छानी-मानी नहीं रही,
अकुलाती आंखड़ियों से वह,
पानी-पानी बनी बही;

मथित हिचकियां, वचन-दीनता—
आ, कुछ संग देने आईं,
निपट धीरता ने, संयम ने
अपनी सुध-बुध बिसराई;

1. उर्मिला, सर्ग १, १५८

मन-मानस की मदिर हिलोरें
उमड़-उमड़ बढ़-बढ़ आईं,
कढ़ आईं आहें बरबस-सी,
करुणा-सरिता चढ़ धाई[1] ।"

उर्मिला को नवीन जी ने एक सरलहृदया, भावुक अबला के रूप में ही नहीं, बुद्धिमती वीर नारी के रूप में भी चित्रित किया है। वह दशरथ की राम-वनगमन-विषयक नीति की तर्क-सम्मत आलोचना करती हुई अपनी विवेकबुद्धि का परिचय देती है :—

"कह दो आज पिता दशरथ से
कि यह अधर्म नहीं होगा,
कह दो, लक्ष्मण के रहते यह
यह घोर कुकर्म नहीं होगा;
राज नहीं कैकेयी का यह,
दशरथ का न स्वराज यहाँ,
जन-गण-मन-रंजन कर्ता ही
होता है अधिराज यहाँ[2] ।"

उर्मिला लक्ष्मण के वनगमन के समय सुध-बुध नहीं खोती, बल्कि सीता को भी धीरज बँधाती है और अपनी स्मृति बनाए रखने तथा लक्ष्मण की देख-रेख के लिए सीता से निवेदन करती है :—

"जीजी, कभी-कभी घन वन में
स्मरण मुझे भी कर लेना,
कभी-कभी अपने देवर के
हिय में मम स्मृति भर देना;
आर्य राम के श्रीचरणों में
करना नित मेरा वन्दन,
तनिक सम्हाले रखना, हे अति
उग्र सुमित्रा के नन्दन[3] ।"

उर्मिला के चरित्र में गंभीरता, त्याग, धैर्य, साहस, सहिष्णुता और कर्तव्यनिष्ठा का सुन्दर सामंजस्य कवि ने दिखाया है। उसका लक्ष्मण-विषयक प्रेम भौतिक स्तर से बहुत ऊपर उठकर आध्यात्मिक रूप धारण कर लेता है। उसकी विरहदशा के चित्रण में उसके हृदय की सच्ची अनुभूति ही व्यक्त हुई है। प्रिय की बाट जोहती हुई विरह-विधुरा उर्मिला की दशा का हृदयस्पर्शी चित्र यहाँ अंकित हुआ है :—

---

१. ऊर्मिला, सर्ग ३, २०
२. ऊर्मिला, सर्ग ३, १४९
३. ऊर्मिला, सर्ग ३, २२९

"पक्ष्म-लोम सम्मार्जनी, लोचन झारी पूर्ण।
झारत, सींचत रहत नित, पंथ मृत्तिका चूर्ण ॥
द्वार-देहरी पै धरे, चिर अनुराग-प्रदीप।
कब ते उत्कंठा ललकि, बैठी द्वार समीप[1] ॥"

लक्ष्मण के चरित्रचित्रण में भी कवि ने पर्याप्त मौलिकता दिखाई है। यहाँ लक्ष्मण के चरित्र का विकास एक कठोर साधना-निरत, भ्रातृ-भक्त वीर के रूप में ही नहीं, उर्मिला के आदर्श पति के रूप में भी दिखाया गया है। मानस तथा साकेत में लक्ष्मण के चरित्र में भ्रातृ-प्रेम और वीरता को ही प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है किन्तु 'ऊर्मिला' में लक्ष्मण की भायप-भक्ति के साथ-साथ अपनी सहचरी उर्मिला के प्रति उनके प्रेम और कर्तव्य की अभिव्यक्ति अधिक सुन्दर बन पड़ी है। यहाँ लक्ष्मण वनगमन से पूर्व उर्मिला को सारी परिस्थिति से परिचित कराते हैं और उर्मिला की अनुमति पाकर ही वन को प्रस्थान करना उचित समझते हैं :—

"बस, इतना ही कहो, सलौनो,
फिर मैं सब कुछ कर लूंगा,
फिर तो वन का घोर तिमिर दुख
मैं क्षण भर में हर लूंगा;
    मुझे और कुछ नहीं चाहिए,
    मैं हूँ एक सुभट प्रहरी,
    बस, मुझको दे दो तुम अपनी
    स्मिति-रेखा यह अश्रु-भरी[2] ।"

'ऊर्मिला' में कैकेयी के प्रति लक्ष्मण के आदरभाव और श्रद्धा की भी समुचित रक्षा हुई है। राम के वनगमन के मूल में वे कैकेयी के स्वार्थ को नहीं, आर्यसंस्कृति-प्रसार-विषयक दूरदर्शिता को ही देखते हैं:—

"आर्यों के उत्तर-पथ-आगत
वैभव से वे परिचित हैं।
किन्तु आर्य-विस्तार विन्ध्य की
ओर बहुत ही परिमित है;
रह-रह कर कैकेयी को यह
दक्षिण-पथ ललचाता है
बहुत दिनों से विन्ध्य-विजय का
सपना उन्हें सताता है

१. ऊर्मिला, सर्ग ५, २६४-२६५

इसीलिए, रानी, उनने यह
ऐसी युक्ति मिलाई है,
निज सपना सच्चा करने की
घटिका वे ले आई हैं[1] ।"

एक कर्तव्यपरायण वीर पुत्र के रूप में लक्ष्मण सुमित्रा को स्वयं कर्तव्यपालन का विश्वास दिलाते हैं—

"माँ, देखोगी : दूध तुम्हारा
नहीं लजाएगा लक्ष्मण,
देकर अपने प्राण करेगा
वह आदर्शों का रक्षण,
जिसके बन्धु राम हों, जिसकी—
पूज्य सुमित्रा महतारी,
धिक् है वह, यदि प्राण-मोह में
पड़, बन जाए अविचारी[2] ।"

लंका से लौटते हुए देवर-भाभी के मधुर परिहास में कठोर लक्ष्मण की कोमल प्रकृति का परिचय मिलता है:—

"बहन-बहन सब मिल बैठी हैं
बन दे—रानी—जेठानी
अब औरों की गुजर कहाँ ? क्यों–
है न ठीक, भाभी रानी[3] ?"

'ऊर्मिला' में कवि का ध्यान नायिका उर्मिला और नायक लक्ष्मण की ओर अधिक रहा है। इसलिए राम और सीता के चरित्र का क्रमिक विकास इस रचना में नहीं दिखाया जा सका है। उर्मिला के चरित्र की महानता के समक्ष राम और सीता दोनों नत-मस्तक हो जाते हैं। सीता उर्मिला के बलिदान की प्रशंसा इन शब्दों में करती है:—

"मैं लज्जा से गड़ जाती हूँ,
देख तुम्हारा यह बलिदान,
कितना आत्मनिमज्जन गहरा !
क्या ऊँचा बलिदान-विधान[4] !"

मर्यादा-पुरुषोत्तम राम भी उर्मिला के आत्मत्याग से प्रभावित होकर अपने आप को संभालने में असमर्थ दीख पड़ते हैं:—

१. ऊर्मिला, सर्ग ३, १८५
२. ऊर्मिला, सर्ग ३, ३३८
३. ऊर्मिला, सर्ग ६, १५५
४. ऊर्मिला, सर्ग ३, २१७

"प्राची दिशा वधूटी के सम श्री ऊर्मिला वधू के लोचन,
कुछ-कुछ उन्मीलित हैं; उनमें छाए हैं लक्ष्मण, रवि-रोचन,
अभी आंख के ओझल हैं वे, यथा प्रात से पूर्व दिवाकर,
आ पहुँचा आलोक उर्मिला के कपोल के फुल्ल कमल-सर [1]।"

शृंगाररस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का चित्रण 'ऊर्मिला' में अच्छा हुआ है। उर्मिला और लक्ष्मण के संयोग का भावपूर्ण चित्र ऐसी पंक्तियों में चित्रित हुआ है:—

"ऊर्मिला विहँस उठी, जब सुनी—
लखन की प्यार-पगी यह बात,
होगए कुछ आरक्त कपोल,
लाज से सकुच गए सब गात [2]।"

शृंगाररस वर्णन में कहीं-कहीं अनुभावों की योजना भी मनोवैज्ञानिक ढंग से की गई है। जैसे:—

"भाषा थकी, हृदय धड़के, औ'
फड़के अधरों के पुट वे,
कण्ठ रुद्ध, मन क्षुब्ध हुआ है,
रहे शब्द सब घुट-घुट वे;
आंखें मिचीं, खिचीं आहें, औ'
सिहरीं तन - रोमावलियाँ,
श्री ऊर्मिला-नयन की ढरकीं,
लखन-चरण में अंजलियां[3]।"

'ऊर्मिला' में शृंगार रस आरम्भ में शारीरिक, स्थूल होकर भी अन्त में सर्वथा सूक्ष्म, आध्यात्मिक हो गया है।

नवीन जी ने 'ऊर्मिला' में प्रौढ़, भावपूर्ण और अलंकृत भाषा को स्थान दिया है। प्रसादगुण-प्रधान होकर उनकी भाषा भाव-व्यंजना में समर्थ दीख पड़ती है। प्रसादगुण-मयी सशक्त भाषा का उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है:—

"झिल-मिल झिल-मिल सकल जग लगा,
तिरता - सा संसार लगा;
कुछ कम्पित - सी हुई पुतलियाँ,
अस्थिर सब व्यापार लगा;

---

१. ऊर्मिला, सर्ग २, ७२
२. ऊर्मिला, सर्ग २, ३८
३. ऊर्मिला, सर्ग ३, ७

धुआँ - धुआँ - सा कुछ उठ आया,
कुछ मोती - से बिखर पड़े;
कुछ आ पहुँचे युग कपोल तक,
कुछ नयनों के द्वार अड़े[1] ।"

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति आदि सादृश्यमूलक अलंकारों की योजना भी कवि ने सुन्दर ढंग से की है। अधिकांश अलंकार भावोद्रेक में सहायक प्रतीत होते हैं। रूपक के कई सुन्दर उदाहरण इस रचना में पाये जाते हैं। जैसेः—

"श्वास - रज्जु, वनगमन - मथानी,
भाजन हृदय प्रतीत हुआ;
व्यथा - मथित अन्तर का, नासा–
रन्ध्रों से, नवनीत चुआ[2] ।"

"खूब ठीक तुम कहती हो है—
अवधि - उदधि गम्भीर गहन,
पर, तव तपश्चरण नौका है,
श्रद्धा है पतवार वहन !
लक्ष्मण भैया की संस्मृति है,
केवट, आशा घोर पवन;
अवधि - अन्त है, इस नौका का,
तटवर्त्ती विश्राम भवन[3] ।"

"प्राची सों दिन-मणि मिले, मिट्यो विरह-दुख द्वन्द्व,
विकसे जन-गण-हिय-कमल, विलसे मन-मकरन्द ।
प्रकृति किरण-जल अमल में छल छल उठी नहाय,
नील - गगन - अम्बर पहिरि, लहराई हरषाय[4] ।"

साकेत और ऊर्मिला

साकेत और 'ऊर्मिला' इन दोनों कृतियों की मूल-प्रेरणा, प्रतिपाद्य विषय और उद्देश्य एक ही है। दोनों में उर्मिला के चरित्र की महानता को प्रकाश में लाने की चेष्टा की गई है। पूर्ववर्ती रचना होने के कारण साकेत का 'ऊर्मिला' पर प्रभाव संभव हो सकता है। साकेत और 'ऊर्मिला' की तुलना से यह सिद्ध होता है कि 'ऊर्मिला' पर साकेत का थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य पड़ा है। पर नवीन जी ने कहीं भी साकेत का अन्धानुकरण नहीं किया है। दोनों कृतियों में उर्मिला-लक्ष्मण का दाम्पत्य-जीवन, राम-वनगमन के

---

१. ऊर्मिला, सर्ग ३, २३
२. ऊर्मिला, सर्ग ३, २४
३, ऊर्मिला, सर्ग ३, २४२
४. ऊर्मिला, सर्ग ५, १३३-१३४

समय उर्मिला की स्थिति, राम की वनयात्रा का सांस्कृतिक महत्त्व, उर्मिला का विरह और अन्त में उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन आदि प्रसंगों में बहुत-कुछ साम्य दृष्टिगोचर होता है, पर कहीं भी नवीन जी ने मौलिकता के सृजन के विना ही साकेत की शब्दावली या भावधाराओं का अनुसरण नहीं किया है। विविध प्रसंगों में भावसाम्य के होते हुए भी 'ऊर्मिला' में पर्याप्त मौलिकता वर्तमान है। जहाँ साकेत में प्रबन्धात्मकता 'ऊर्मिला' की अपेक्षा अधिक है, वहाँ 'ऊर्मिला' में उर्मिला और लक्ष्मण को आदि से लेकर अन्त तक प्रधानता देने और उनके चरित्र की विशेषताओं को प्रकाश में लाने में नवीन जी को अधिक सफलता मिली है। 'ऊर्मिला' में लक्ष्मण और उर्मिला दोनों नायक-नायिका के रूप में ऊपर उठे हुए प्रतीत होते हैं। निम्नोद्धृत कतिपय उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि साकेत और 'ऊर्मिला' के कई प्रसंगों में विषय-साम्य के होने पर भी नवीन जी ने अपनी स्वतंत्र काव्य-प्रतिभा का ही परिचय दिया है:—

साकेत— "हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये,
और बोले—'एक परिरम्भण प्रिये!'
सिमिट-सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया।
किन्तु घाते में उसे प्रिय ने किया,
आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया[1]!"

ऊर्मिला— "रखा लक्ष्मण ने मस्तक आन—
उर्मिला की जंघा पर, और—
मूंद कर नेत्र बढ़ा दीं भुजा,
प्रियतमा की ग्रीवा की ओर;
डोर अरुणी व्रीड़ा की, रम्य,
रमण के सुरझ गए सब तार,
थकित क्रीड़ा ऐसे झुक रही—
मेघ ज्यों झुक आवें दो-चार[2]।"

× × ×

साकेत— "नाचो मयूर, नाचो कपोत के जोड़े,
नाचो कुरंग, तुम लो उड़ान के तोड़े।
गाओ दिवि, चातक, चटक, भृङ्ग भय छोड़े,
वैदेही के वनवास-वर्ष हैं थोड़े[3]।"

१. साकेत, सर्ग १, पृ० ३०
२. ऊर्मिला, सर्ग २, ३५
३. साकेत, सर्ग ८, पृ० १६०

तारकवध
(रचनाकाल—सन् १९५८)

श्री गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश-द्वारा रचित तारकवध का हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका कथानक उन्नीस सर्गों में विभक्त है। तारकवध में गिरीश जी ने शिव-पार्वती के पुत्र कार्त्तिकेय-द्वारा तारकासुर के वध से सम्बन्धित प्राचीन पौराणिक कथानक को नवीन रूप में प्रस्तुत किया है। इसी प्राचीन कथानक को लेकर संस्कृत में कालिदास ने कुमारसंभव और हिन्दी में श्री रामानन्द तिवारी ने पार्वती की रचना की है। इन पूर्ववर्ती दोनों महाकाव्यों में देवताओं के सेनानी कार्त्तिकेय के हिंसात्मक अस्त्रों के प्रयोग-द्वारा तारकासुर का वध दिखाया गया है। गिरीश जी ने कार्त्तिकेय-द्वारा तारकासुर के वध की कथा को मानव-जीवन में दैवी और आसुरी वृत्तियों के बीच होने वाले एक चिरन्तन संघर्ष के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया है। तारकवध में कार्त्तिकेय के मानव-अवतार शृंगी ऋषि मानवता के प्रतीक हैं; उनकी सहधर्मिणी शान्ता मानव-प्रेम और करुणा की प्रतीक है और तारक मानव की आसुरी वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। गिरीश जी ने इस रचना में कार्त्तिकेय-द्वारा हिंसात्मक अस्त्रों से तारक का वध न करा कर शृंगी ऋषि-द्वारा अहिंसात्मक प्रयोगों से तारकासुर का हृदय-परिवर्तन कराते हुए इस प्राचीन कथानक को आज की युगभावना के अनुरूप एक मनोरम रूपक में परिणत कर दिया है। उन्होंने देव, दानव और मनुष्य को एक ही परम सत्य के त्रिगुणात्मक रूपों में चित्रित करते हुए उनके समन्वय-द्वारा मानव-जीवन की पूर्णता प्रतिपादित की है। मानव-जीवन में दानव सर्वथा निन्दनीय या त्याज्य नहीं है, अपितु जीवन के समुचित विकास में उसका अस्तित्व आवश्यक है। दानव हमारी घृणा या क्रोध का पात्र नहीं, प्रेम और करुणा का अधिकारी है:—

"जहाँ हँसेगे लोग वहीं रोना भी होगा।
रस-खेती के हेतु बीज बोना भी होगा।
हँसना-रोना एक तत्त्व केवल दो काया।
जीवन लेकर सीख यही जगती में आया।
घोषित करदे सृष्टि-स्वाद का कारण दानव—
जिसे घृणा का पात्र बताते निर्जर, मानव।
दानवता से प्राण मिला जगती की गति को।
उसने ही उत्फुल्ल किया साधक की मति को[१]।"

तारकवध में कवि ने मानव-जीवन में देवत्व और दानवत्व के समन्वय-द्वारा मानव-सभ्यता और संस्कृति की जटिल और गंभीर समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते

१. तारकवध, प्रवेश, ४००-४१०

हुए मानवजाति के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। गिरीश जी ने तारकवध के प्राचीन निष्क्रिय कथानक को गाँधीयुग के जीवन-दर्शन का सुदृढ़ आधार देकर उसे नव चेतना से अनुप्राणित किया है। प्रस्तुत रचना में कथानक का विकास स्वाभाविक ढंग से हुआ है। शृंगी ऋषि और तारक से सम्बन्धित मुख्य कथा के साथ विविध घटनाओं का सम्बन्ध-निर्वाह अच्छा बन पड़ा है।

तारकवध के पात्रों के चरित्रचित्रण में पर्याप्त सजीवता और स्वाभाविकता दृष्टिगत होती है। शृंगी ऋषि और दशरथ-तनया शान्ता को इस रचना में क्रमशः नायक और नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कार्त्तिकेय विविध योनियों में भ्रमण करता हुआ विभाण्डक मुनि के पुत्र शृंगी ऋषि के रूप में जन्म लेता है। शृंगी ऋषि मानव-सृष्टि के कल्याण की इच्छा से दक्षिण भारत में स्थित एक आश्रम में निवास करते हुए अद्वैत-भावना-विशिष्ट साधना में प्रवृत्त होते हैं। वे केवल अपने आश्रम की सुख-वृद्धि से सन्तुष्ट न होकर सम्पूर्ण जगत् को तारकासुर के प्रभाव से निर्मुक्त करके सुखी बनाना चाहते हैं। वे अपनी जीवन-सहचरी शान्ता के विरह में व्याकुल दृष्टिगत होते हैं। अपनी सहधर्मिणी के रूप में शान्ता का सहयोग पाकर शृंगी ऋषि तारकासुर के हृदय-परिवर्तन-द्वारा उसके प्रभाव से सम्पूर्ण जगत् को निर्मुक्त करने में सफल होते हैं। उनके चरित्र में उदारता, तेज, विशुद्ध प्रेम और लोककल्याण की भावना को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। वे शरीर से जितने सुन्दर हैं, हृदय से उतने ही उदार भी। कवि ने उनके सौन्दर्य के रमणीय चित्र ऐसे पद्यों में अंकित किए हैं:—

"गोरे तन में फूट रही थी नभ आभा अवदात।
मानों अगणित मणियों की छवि से हो वह प्रतिभात।
अथवा बाल तरणि-किरणों से रच के मानव गात।
प्रेषित किया विधाता ने हो न्यारा रुचिर प्रभात[1]।"

वास्तव में शृंगी ऋषि दानव को देव बना कर इसी पृथ्वी पर स्वर्ग की अवतारणा में सफल होते हैं:—

"भू पर ही जो स्वर्ग ला सके निज विक्रम से।
दानव को भी देव बना पाये जो श्रम से।
वह शान्ता-प्राणेश षडानन-मनुज रूप धर—
शृंगी ऋषि निज विरह मुझे भी दे मानस हर[2]।"

शान्ता के चरित्रांकन में कवि ने विशेष कौशल दिखाया है। दशरथ-तनया शान्ता सृष्टिकार की दुहिता-स्वरूपा शारदा का प्रतिनिधित्व करती है। कवि ने उसे शृंगी ऋषि को लोक-कल्याण की ओर प्रवृत्त कराने वाली प्रेरक शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है।

---

१. तारकवध, सर्ग ४, १००-११०
२. तारकवध, प्रवेश, २९०-३००

तारकवध

(रचनाकाल—सन् १९५८)

श्री गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश-द्वारा रचित तारकवध का हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसका कथानक उन्नीस सर्गों में विभक्त है। तारकवध में गिरीश जी ने शिव-पार्वती के पुत्र कार्त्तिकेय-द्वारा तारकासुर के वध से सम्बन्धित प्राचीन पौराणिक कथानक को नवीन रूप में प्रस्तुत किया है। उसी प्राचीन कथानक को लेकर संस्कृत में कालिदास ने कुमारसंभव और हिन्दी में श्री रामानन्द तिवारी ने पार्वती की रचना की है। इन पूर्ववर्ती दोनों महाकाव्यों में देवताओं के सेनानी कार्त्तिकेय के हिंसात्मक अस्त्रों के प्रयोग-द्वारा तारकासुर का वध दिखाया गया है। गिरीश जी ने कार्त्तिकेय-द्वारा तारकासुर के वध की कथा को मानव-जीवन में दैवी और आसुरी वृत्तियों के बीच होने वाले एक चिरन्तन संघर्ष के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया है। तारकवध में कार्त्तिकेय के मानव-अवतार शृंगी ऋषि मानवता के प्रतीक हैं; उनकी सहधर्मिणी शान्ता मानव-प्रेम और करुणा की प्रतीक है और तारक मानव की आसुरी वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। गिरीश जी ने इस रचना में कार्त्तिकेय-द्वारा हिंसात्मक अस्त्रों से तारक का वध न करा कर शृंगी ऋषि-द्वारा अहिंसात्मक प्रयोगों से तारकासुर का हृदय-परिवर्तन कराते हुए इस प्राचीन कथानक को आज की युगभावना के अनुरूप एक मनोरम रूपक में परिणत कर दिया है। उन्होंने देव, दानव और मनुष्य को एक ही परम सत्य के त्रिगुणात्मक रूपों में चित्रित करते हुए उनके समन्वय-द्वारा मानव-जीवन की पूर्णता प्रतिपादित की है। मानव-जीवन में दानव सर्वथा निन्दनीय या त्याज्य नहीं है, अपितु जीवन के समुचित विकास में उसका अस्तित्व आवश्यक है। दानव हमारी घृणा या क्रोध का पात्र नहीं, प्रेम और करुणा का अधिकारी है:—

"जहाँ हँसेगे लोग वहीं रोना भी होगा।
रस-खेती के हेतु बीज बोना भी होगा।
हँसना-रोना एक तत्त्व केवल दो काया।
जीवन लेकर सीख यही जगती में आया।
घोषित करदे सृष्टि-स्वाद का कारण दानव—
जिसे घृणा का पात्र बताते निर्जर, मानव।
दानवता से प्राण मिला जगती को गति को।
उसने ही उत्फुल्ल किया साधक की मति को[1]।"

तारकवध में कवि ने मानव-जीवन में देवत्व और दानवत्व के समन्वय-द्वारा मानव-सभ्यता और संस्कृति की जटिल और गंभीर समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते

---

१. तारकवध, प्रवेश, ४००-४१०

तारकवध में शृंगार, शान्त और वीर इन तीनों रसों का निर्वाह अच्छा हुआ है। शृंगाररस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का चित्रण कवि ने सफलतापूर्वक किया है। अपने प्रिय शृंगी ऋषि को पाकर शान्ता के हृदय में रतिभाव के जाग्रत हो जाने पर संयोग शृंगार के अनुभावों और संचारीभावों की व्यंजना इन पंक्तियों में मनोवैज्ञानिक ढंग से हुई है:—

"आँखों में बस एक रूप था प्राणनाथ का रूप।
मिटे सभी जब उनमें उसका डेरा पड़ा अनूप।
हृदय प्राण उर भीतर था जो रोम-रोम में व्याप्त।
उसकी ही साकार मूर्ति को किया दृगों ने प्राप्त।
लोचन में अविराम भरा जल, पुलकमयी थी देह।
उतावली, फिर परम शिथिलता में निमग्न था नेह।
आगे चल पीछे आते थे चरण-कमल सुकुमार।
सह पाते थे नहीं कामना, लज्जा का गुरु भार[1]॥"

गिरीश जी ने तारकवध में प्रौढ़, प्रांजल और बोधगम्य भाषा का प्रयोग किया है। अलंकारों के प्रयोग से उनकी भाषा का सौन्दर्य निखर आया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा जैसे सादृश्यमूलक अलंकारों के प्रयोग में कवि की मनोवृत्ति अधिक रमी है। चमत्कारविधायक शब्दालंकारों के प्रति उन्होंने अधिक मोह नहीं दिखाया है। अप्रस्तुत-योजना में मुख्यतया परम्परागत शैली का ही अनुसरण किया गया है। अधिकांश अलंकारों का प्रयोग श्रमसाध्य न होकर स्वाभाविकता लिए हुए है। जैसे:—

"घुँघराली अलकों से आवृत विकसित वदन विलोक।
भ्रम होता था राहु-व्यथित शशि आया तज नभ-लोक[2]।"
"आनन ओर लटक आयी थी अलकों की लट एक।
लायी थी सकलंक चन्द्रमा धरती पर कर टेक[3]।"
"वदन ओर आते थे भौंरे प्रेमिक, रसिक अपार।
एक हाथ से उन्हें वारती थी बाला सुकुमार।
किसको किसको कहें, कीर था पागल बना महान।
अरुण अधर पर जाने क्यों था, तन-मन से कुरबान[4]।"

तारकवध को गिरीश जी ने एक रहस्यवादी महाकाव्य स्वीकार किया है। इसमें व्यक्ति ही नहीं, सम्पूर्ण समाज परम सत्य में विलय के लिए उन्मुख दिखाई देता है।

---

१. तारकवध, सर्ग ७, २८०-३००
२. तारकवध, सर्ग ४, ४०-५०
३. तारकवध, सर्ग ४, २६०-३००
४. तारकवध, सर्ग ४, ३००-३१०.

प्रेम, दया, करुणा, उदारता, सहिष्णुता आदि नारीसुलभ उदात्त गुणों से उसका हृदय परिपूर्ण है। उसमें बाह्य सौन्दर्य और आन्तरिक गुणों का विलक्षण समन्वय दृष्टिगत होता है। कवि ने शान्ता के मनोरम सौन्दर्य का उद्घाटन कई स्थलों पर सफलतापूर्वक किया है। जैसे:—

"एक शान्त एकान्त कुंज में गहे विटप की डाल।
शोभा की साकार मूर्ति सी थी वह खड़ी रसाल।
नीली साड़ी में कंचन सा तन था यों प्रतिभात।
कालिन्दी की धारा में ज्यों स्नान-निरत हो प्रात[1]।"

शान्ता के हृदय में अपने प्रिय शृंगी ऋषि के लिए अनन्य प्रेम है। यह प्रेम शान्ता और शृंगी ऋषि दोनों को लोककल्याण की ओर अग्रसर करता है। नायक-नायिका के अतिरिक्त शंकर, पार्वती, रति, दशरथ, नारद और तारक की चरित्रगत विशेषताओं की अभिव्यक्ति में भी गिरीश जी को पर्याप्त सफलता मिली है।

प्राकृतिक दृश्यों के अनेक मनोरम चित्र तारकवध में वर्तमान हैं। शृंगी ऋषि के आश्रम के वर्णन में प्रकृति के सौन्दर्य का उद्घाटन सुन्दर ढंग से हुआ है। ग्रीष्म, पावस, शरद, वसन्त आदि के वर्णन भी पर्याप्त सजीवता लिए हुए हैं। अष्टम सर्ग में पावस और उन्नीसवें सर्ग में वसन्त ऋतु के वर्णन में प्रकृति का मनोरम रूप आंखों के सामने आ जाता है। वसन्त का हृदयग्राही चित्र कवि ने इन पंक्तियों में अंकित किया है:—

"पहन मौर दूलह वन आये तरु रसाल बौराये।
मंजुल लतिका-जयमाला-हित मोदित शीश नवाये।
वेदोच्चार किया मधुकर ने गान पिकी ने गाया।
यों परिणय मधुराज-सभा में दोनों का हो आया॥
मंजु उषा ने अधर-लालिमा अधिक निराली पायी।
तप के घाम तरणि-किरणों में सरल रसिकता आयी।
सन्ध्या बड़ी सलोनी दीखी रजनी बड़ी रसीली।
मधु में कलित कलाधर आये छवि ले नवल, नशीली[2]॥"

कहीं-कहीं प्रकृतिवर्णन में नीरस नामावली प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है किन्तु ऐसे स्थल तारकवध में अधिक नहीं हैं। एक उदाहरण लीजिए:—

"कहीं आम्र मंजरियां मंजुल, कहीं फालसे, लीची।
कहीं अनार, सन्तरे सुन्दर, पांति-पांति रस-सींची।
नारंगी, अंगूर कहीं मृदु पके पुनीत पपीते।
भांति-भांति के फल से तरुगण लसे बड़े मनचीते[3]॥"

---

१. तारकवध, सर्ग ४, २८०-३००
२. तारकवध, सर्ग १९, १०-२०
३. तारकवध, सर्ग १९, ४०-५०

सेनानी महारथी कर्ण के परम्परागत चरित्र को अपनी प्रखर काव्य-प्रतिभा-द्वारा अधिक प्रभावशाली तथा आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया है। सेनापति कर्ण एक अधूरी काव्य-कृति है; इसमें महारथी कर्ण के चरित्र का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत नहीं हो सका है। इतना होते हुए भी प्रस्तुत रचना में इस महान् चरित्र की अनुकरणीय उदारता, अद्भुत शौर्य और आदर्श मैत्री आदि विशेषताओं को मौलिक ढंग से आलोकित करने में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। अधूरी होने पर भी इस रचना में मिश्र जी की काव्य-प्रतिभा का उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है।

सेनापति कर्ण में कुल पाँच सर्ग हैं :—(१) मन्त्रणा, (२) चिन्ता, (३) सृष्टि-धर्म, (४) विषाद और (५) अर्घ्यदान। काव्य का आरम्भ युद्धभूमि में द्रोणाचार्य की मृत्यु के पश्चात् युद्ध-शिविर में कौरवों की मन्त्रणा से होता है। कर्ण का युद्ध में अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा करना, कर्ण के अद्भुत शौर्य से आतंकित पाण्डवों की चिन्ता, हिडिम्बा का अपने पुत्र घटोत्कच को अपने पिता भीम तथा अन्य पाण्डवों की सहायता के लिए प्रेरित करना, अर्जुन और कर्ण के बीच होनेवाले युद्ध के भयावह परिणाम से आशंकित कुन्ती का शरशय्यासीन भीष्म से युद्ध को रोकने की प्रार्थना करना, कर्ण का कुन्ती को आश्वासन देना, घटोत्कच का पाण्डवों के शिविर में पहुँचकर उनकी ओर से कौरवों के साथ युद्ध करने के लिए प्रस्तुत होना, कृपाचार्य-द्वारा कर्ण का कौरव-सेनापति के रूप में अभिषेक और द्रौपदी के रोकने पर भी घटोत्कच का कर्ण के साथ युद्ध के लिए तैयार होना, आदि कर्ण के चरित्र से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं को ही इस रचना में प्रमुख स्थान दिया गया है। अर्जुन और कर्ण के रणभूमि में आने से पूर्व ही भीमपुत्र घटोत्कच की रणसज्जा में इस काव्य के अन्तिम सर्ग की समाप्ति हो जाती है। महाभारत का अनुसरण करते हुए भी कवि ने कथावस्तु में अनेक मौलिक प्रसंगों की सृष्टि की है। द्रौपदी-घटोत्कच-सम्वाद और भीष्म के समक्ष ममतामयी माता के रूप में कुन्ती का कर्ण की जन्मकथा एवं अपनी दुर्बलता का वर्णन जैसे प्रसंग कवि की मौलिक कल्पना-शक्ति के परिचायक हैं। मिश्र जी ने महारथी कर्ण के चरित्र को प्रधानता देते हुए महाभारत के परम्परागत कथानक को अधिक हृदयग्राही बनाने का प्रयत्न किया है। कथावस्तु से सम्बन्धित विविध घटनाओं में अन्विति सुन्दर ढंग से हुई है।

पात्रों के चरित्रांकन में मिश्र जी को पर्याप्त सफलता मिली है। सेनापति कर्ण को उन्होंने नायक के पद पर प्रतिष्ठित किया है। पाण्डव तथा कौरव दोनों पक्ष उसके महिमा-मय चरित्र से प्रभावित दीख पड़ते हैं। इस अधूरी रचना में कर्ण के चरित्र का सर्वांगीण विकास सम्भव न होने पर भी उसके शौर्य, दानशीलता, मित्रप्रेम और आत्माभिमान आदि गुणों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक और मनोहर ढंग से हुई है। मिश्र जी ने कृपाचार्य के शब्दों में कर्ण के चरित्र की विशेषताओं पर इस प्रकार प्रकाश डाला है :—

"सिद्ध तुमने है किया निश्चय ही नर का
पौरुष है पूज्य, जन्मदोष मिट जाता है

देवत्व और दानवत्व में समन्वय की प्रतिष्ठा द्वारा सम्पूर्ण जगत् के उस ब्रह्ममय परम-सत्य में विलय की ओर कवि ने कई स्थलों पर संकेत किया है। जैसे:—

"महाशक्ति का रुद्र देव में जब लय होगा।
जब उसकी अविराम वेदना का क्षय होगा।
पायेंगे सब विलय देव, दानव औ मानव।
पायेगा अनिवार्य जगत का भेद पराभव[1] ॥"

तारकवध में आज के युग की अनेक समस्याओं को स्थान दिया गया है। उस पर वर्तमान युग की गांधीवादी और साम्यवादी विचारधाराओं का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। अहिंसा-द्वारा दानवेन्द्र तारक के हृदय-परिवर्तन के प्रयत्न में गांधीवाद की अहिंसा प्रतिबिम्बित दिखाई देती है। शोणितनगर में पूंजीपतियों और श्रमिकों के जीवन में वैषम्य का चित्रण आज के युग की साम्यवादी विचारधाराओं के अनुकूल ही हुआ हुआ है :—

"शोणितनगर समृद्धि-केन्द्र था ख्यात जगत में।
किन्तु श्रमिक दीनता न वह थी ज्ञात जगत में।
पूंजीपतियों संग वहाँ कंगाल दिखाये।
बोझिल तोंदों संग वहीं कंकाल दिखाये।
श्रमिकों के सरदार नित्य संघर्ष निरत थे।
अधिकारों के हेतु यत्न करते अविरत थे।
कहते थे ललकार श्रमिक-शोणित कर शोषण।
शोणितनगर महान पा रहा अघमय पोषण[2]।"

× × ×

परिशिष्ट

सेनापति कर्ण

(रचनाकाल—सन् १९५८)

महाभारत के महामहिम चरित्र महारथी कर्ण ने वर्तमान युग के अनेक महाकाव्य-कारों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। श्री आनन्दकुमार ने अंगराज और श्री रामधारीसिंह दिनकर ने रश्मिरथी में इस महान् चरित्र को महाकाव्य के नायक के पद पर प्रतिष्ठित करके गौरवान्वित किया है। इन दो महाकाव्यों की रचना के पश्चात् महारथी कर्ण के जीवन पर आधारित एक अन्य महाकाव्य सेनापति कर्ण के रूप में श्री लक्ष्मी-नारायण मिश्र ने प्रस्तुत किया है। सेनापति कर्ण में मिश्र जी ने महाभारत के प्रसिद्ध

१. तारकवध, सर्ग ८, ५९०-६००
२. तारकवध, सर्ग [illegible]

सेनानी महारथी कर्ण के परम्परागत चरित्र को अपनी प्रखर काव्य-प्रतिभा-द्वारा अधिक प्रभावशाली तथा आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया है। सेनापति कर्ण एक अधूरी काव्य-कृति है; इसमें महारथी कर्ण के चरित्र का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत नहीं हो सका है। इतना होते हुए भी प्रस्तुत रचना में इस महान् चरित्र की अनुकरणीय उदारता, अद्भुत शौर्य और आदर्श मैत्री आदि विशेषताओं को मौलिक ढंग से आलोकित करने में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। अधूरी होने पर भी इस रचना में मिश्र जी की काव्य-प्रतिभा का उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है।

सेनापति कर्ण में कुल पाँच सर्ग हैं :—(१) मन्त्रणा, (२) चिन्ता, (३) सृष्टि-धर्म, (४) विषाद और (५) अर्घ्यदान। काव्य का आरम्भ युद्धभूमि में द्रोणाचार्य की मृत्यु के पश्चात् युद्ध-शिविर में कौरवों की मन्त्रणा से होता है। कर्ण का युद्ध में अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा करना, कर्ण के अद्भुत शौर्य से आतंकित पाण्डवों की चिन्ता, हिडिम्बा का अपने पुत्र घटोत्कच को अपने पिता भीम तथा अन्य पाण्डवों की सहायता के लिए प्रेरित करना, अर्जुन और कर्ण के बीच होनेवाले युद्ध के भयावह परिणाम से आशंकित कुन्ती का शरशय्यासीन भीष्म से युद्ध को रोकने की प्रार्थना करना, कर्ण का कुन्ती को आश्वासन देना, घटोत्कच का पाण्डवों के शिविर में पहुँचकर उनकी ओर से कौरवों के साथ युद्ध करने के लिए प्रस्तुत होना, कृपाचार्य-द्वारा कर्ण का कौरव-सेनापति के रूप में अभिषेक और द्रौपदी के रोकने पर भी घटोत्कच का कर्ण के साथ युद्ध के लिए तैयार होना, आदि कर्ण के चरित्र से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं को ही इस रचना में प्रमुख स्थान दिया गया है। अर्जुन और कर्ण के रणभूमि में आने से पूर्व ही भीमपुत्र घटोत्कच की रणसज्जा में इस काव्य के अन्तिम सर्ग की समाप्ति हो जाती है। महाभारत का अनुसरण करते हुए भी कवि ने कथावस्तु में अनेक मौलिक प्रसंगों की सृष्टि की है। द्रौपदी-घटोत्कच-सम्वाद और भीष्म के समक्ष ममतामयी माता के रूप में कुन्ती का कर्ण की जन्मकथा एवं अपनी दुर्बलता का वर्णन जैसे प्रसंग कवि की मौलिक कल्पना-शक्ति के परिचायक हैं। मिश्र जी ने महारथी कर्ण के चरित्र को प्रधानता देते हुए महाभारत के परम्परागत कथानक को अधिक हृदयग्राही बनाने का प्रयत्न किया है। कथावस्तु से सम्बन्धित विविध घटनाओं में अन्विति सुन्दर ढंग से हुई है।

पात्रों के चरित्रांकन में मिश्र जी को पर्याप्त सफलता मिली है। सेनापति कर्ण को उन्होंने नायक के पद पर प्रतिष्ठित किया है। पाण्डव तथा कौरव दोनों पक्ष उसके महिमामय चरित्र से प्रभावित दीख पड़ते हैं। इस अधूरी रचना में कर्ण के चरित्र का सर्वांगीण विकास सम्भव न होने पर भी उसके शौर्य, दानशीलता, मित्रप्रेम और आत्माभिमान आदि गुणों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक और मनोहर ढंग से हुई है। मिश्र जी ने कृपाचार्य के शब्दों में कर्ण के चरित्र की विशेषताओं पर इस प्रकार प्रकाश डाला है :—

"सिद्ध तुमने है किया निश्चय ही नर का
पौरुष है पूज्य, जन्मदोष मिट जाता है

कर्म की विभूति से मिटाया दोष तुमने
शस्त्र से, दया से, दान, तप और सत्य से।
वीरमणि और दानमणि इस जग के
तुम ही अकेले वृष देवता भी तुम से
दान ले चुके हैं महादानी, मांगता हूं मैं[1]।"

राधा और कुन्ती के प्रति उसकी मातृभक्ति और सामान्यतया नारी-जाति के प्र
उसका आदरभाव ऐसे शब्दों में व्यक्त होता है :—

"पूजनीया मेरी हो सदैव, जाति नारी की
मातृभाव से ही पूजता मैं रहा, श्वास है
जब तक शरीर में सदैव मातृभाव से
पूजता रहूंगा महिमा की निधि नारी को[2]।"

कर्ण को ऊपर उठाने के लिए मिश्र जी ने पाण्डवों के चरित्र को गिराना आवश्य
नहीं समझा है। युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम और द्रौपदी के चरित्र की परम्परागत महान
की उन्होंने पूर्णतया रक्षा की है। भीम, घटोत्कच, द्रौपदी और कुन्ती के चरित्र का विक
भी अच्छा हुआ है। महाभारत की अपेक्षा वे यहां अधिक सजीव और हृदयग्राही दृष्टि
होते हैं। घटोत्कच की पितृभक्ति, उसके प्रति द्रौपदी के वात्सल्य और कर्ण के प्रति कु
की ममता की अभिव्यक्ति यहां मनोवैज्ञानिक ढंग से हुई है। भीमपुत्र घटोत्कच को पाव
द्रौपदी के हृदय का प्रेम इन शब्दों में उमड़ आता है :—

"कृष्णा उठी और उसे अंक से लगाती सी
बोली 'वत्स! निर्भय बनी हूं तुम्हें देख के
लोक में नहीं है कहीं कोई जोकि तुम से
रण में टिकेगा बली बल से तुम्हारे ही
आज हत होगा वसुसेन, पाण्डुपुत्रों का
संकट टलेगा जानती हूं पर फिर भी
चित्त चाहता नहीं भेजूं तुम्हें रण में।
जननी तुम्हारी सती दानवेन्द्र बाला ने
पुत्र-मोह छोड़कर भेजा तुम्हें रण में[3]।"

इसीप्रकार ममतामयी माता के रूप में कुन्ती का हृदयस्पर्शी चित्र ऐसी पंक्ति
अंकित हुआ है:—

---

१. सेनापति कर्ण, अर्घ्यदान, पृ० १६१
२. सेनापति कर्ण, सृष्टिधर्म, पृ० १२८
३. सेनापति कर्ण, अर्घ्यदान, पृ० २०४

"कहकर झुका जो वीर कुन्ती के चरण में;
रोने लगी जननी अधीरा मर्मभेद के
आँसू चले, फूटी ध्वनि वेदना की जिससे !
रोने लगे देख जिसे तारे व्योमतल के,
होकर द्रवित मन्द जिससे समीर भी
बहने लगा जो, गई सींची आप धरती
आँसुओं से, सृष्टि यथा मोह में द्रवित हो[1] ।"

विविध परिस्थितियों में मानव-हृदय की विभिन्न दशाओं का चित्रण कई स्थलों पर मनोवैज्ञानिकता लिए हुए है। शत्रुओं के प्रति प्रतिशोध की भावना से विक्षुब्धहृदया द्रौपदी की सजीव मूर्ति ऐसे शब्दों में प्रस्तुत की गई है:—

"काँपती हो जैसे विष उगल भुजंगिनी,
आहत हो किम्वा बिधी सिंहनी हो शर से
लोटती धरा में, मर्म हाथ से दबाती सी
अंगों को समेट पड़ी भूतल में द्रौपदी
फैली अलकावली धरा में, शीश जिसमें
छिप गया किम्वा शशि डूबा तम सिन्धु में[2] ।"

सेनापति कर्ण में यत्र-तत्र प्रकृति के मनोरम चित्र भी मिश्र जी ने सफलता के साथ खींचे हैं। मानवीय रूप में प्रकृतिचित्रण कई स्थलों पर सुन्दर बन पड़ा है। जैसे:—

"कामिनी निशा के ये कपोल स्वेदबिन्दु से
झलक रहे हैं नतवदना निशीथिनी,
बंकिम भ्रूपात से निशापति को देख के
सकुच रही है पल-पल में विनोदिनी।
पाया है अभी तो दान, प्रेम का, प्रणय का,
यामिनी ने हिमकर से, रतिश्रम भार से,
शिथिल शरीर, मुक्त वेणी, केशराशि में
मुकुलित नयनवाली, लज्जा में विभोर सी
मूँद रही आँखें मंजु, नींद में यों श्रम से[3] ।"

प्रस्तुत रचना में वीररस को प्रमुख स्थान मिला है। वीररस का परिपाक इस में अच्छा हुआ है। कहीं-कहीं वीररस के अनुभावों की योजना भी सुन्दर बन पड़ी है। जैसे:—

---

१. सेनापति कर्ण, सृष्टिधर्म, पृ० १३०
२. सेनापति कर्ण, अर्घ्यदान, पृ० २०२
३. सेनापति कर्ण, सृष्टिधर्म, पृ० ६८

"हिला कालपृष्ठ कर में;
चाम कर कांपा, चढ़ी प्रत्यंचा धनुष की,
रोषपूर्ण आंखें हुईं निर्निमेष पलकें,
खिंच उठीं भौंहें, वक्र रन्ध्र नासिका के वे
हिलने लगे यों पद्म हिलता ज्यों निशि में।
बन्दी कर मधुरस लोभी मधुकर को।
खींच कर दारुण पिनाक खड़ा हो गया
वीर, महाकाल ज्यों खड़ा हो सृष्टिलय में[1]।"

मिश्र जी ने सेनापति कर्ण की रचना अमित्राक्षर स्वच्छन्द छन्दों में की है। इसमें कवि ने भावपूर्ण प्रवाहमयी प्रांजल भाषा को स्थान दिया है। अलंकारों की योजना में स्वाभाविकता और भावोद्रेक की क्षमता वर्तमान है। पात्रों के कथोपकथन भावपूर्ण और सजीव हैं। उनमें नाटकीय छटा पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है।

इस प्रकार सेनापति कर्ण एक उत्कृष्ट काव्यकृति सिद्ध होती है। अपने इस अपूर्ण रूप में इसे एक सफल महाकाव्य स्वीकार करना उचित नहीं है। हां, इसमें कोई सन्देह नहीं कि महान् चरित्रों की सृष्टि, मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना, चरित्रचित्रण-कौशल और भाषाशैली की उत्कृष्टता जैसे महाकाव्य के तत्त्वों का निर्वाह इस अधूरी रचना में भी अच्छा हुआ है।

---

१. सेनापति कर्ण, मन्त्रणा, पृ० ४६

तथाकथित महाकाव्य

"हिला कालपृष्ठ कर में;
वाम कर कांपा, चढ़ी प्रत्यंचा धनुष की,
रोषपूर्ण आंखें हुईं निर्निमेष पलकें,
खिंच उठीं भौंहें, वक्र रन्ध्र नासिका के वे
हिलने लगे यों पद्म हिलता ज्यों निशि में।
बन्दी कर मधुरस लोभी मधुकर को।
खींच कर दारुण पिनाक खड़ा हो गया
वीर, महाकाल ज्यों खड़ा हो सृष्टिलय में[1]।"

मिश्र जी ने सेनापति कर्ण की रचना अमित्राक्षर स्वच्छन्द छन्दों में की है। इसमें कवि ने भावपूर्ण प्रवाहमयी प्रांजल भाषा को स्थान दिया है। अलंकारों की योजना में स्वाभाविकता और भावोद्रेक की क्षमता वर्तमान है। पात्रों के कथोपकथन भावपूर्ण और सजीव हैं। उनमें नाटकीय छटा पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है।

इस प्रकार सेनापति कर्ण एक उत्कृष्ट काव्यकृति सिद्ध होती है। अपने इस अपूर्ण रूप में इसे एक सफल महाकाव्य स्वीकार करना उचित नहीं है। हां, इसमें कोई सन्देह नहीं कि महान् चरित्रों की सृष्टि, मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना, चरित्रचित्रण-कौशल और भाषाशैली की उत्कृष्टता जैसे महाकाव्य के तत्त्वों का निर्वाह इस अधूरी रचना में भी अच्छा हुआ है।

---

१. सेनापति कर्ण, मन्त्रणा, पृ० ४६

तथाकथित महाकाव्य

: १२ :

तथाकथित महाकाव्य

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में अनेक ऐसी कृतियाँ उपलब्ध होती हैं जिनको उनके लेखकों तथा कतिपय विद्वानों ने महाकाव्य स्वीकार किया है। महाकाव्य के वाह्य स्वरूप-सम्बन्धी कतिपय सामान्य लक्षणों का निर्वाह होने पर भी हम ऐसी रचनाओं को महाकाव्यों की श्रेणी में स्थान नहीं दे सकते। सर्ग-संख्या और छन्द-योजना आदि से सम्बन्ध रखने वाले कुछ लक्षणों का निर्वाह होने के कारण ऐसी रचनाओं को महाकाव्य कह दिया गया है पर वास्तव में महाकाव्य के शाश्वत और अनिवार्य लक्षणों का पालन इनमें नहीं हुआ है। इसलिए हम इन कृतियों का महाकाव्यत्व स्वीकार नहीं कर सकते। इस अध्याय में हम ऐसे तथाकथित महाकाव्यों की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत करते हैं।

रामचरित-चिन्तामणि

(रचनाकाल—सन् १९२०)

रामचरित-चिन्तामणि की रचना श्रीरामचरित उपाध्याय ने की है। यह द्विवेदी-युग की देन है। हरिऔध के प्रियप्रवास के साहित्य-क्षेत्र में आने के पश्चात् इसकी रचना हुई। प्रियप्रवास के समान इसमें भी संस्कृतगर्भित खड़ीबोली को स्थान दिया गया है किन्तु हरिऔध की तरह कवि ने अमित्राक्षर वर्णिक वृत्तों को न अपना कर मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के मित्राक्षर छन्दों में इसकी रचना की है।

उपाध्याय जी ने परम्परागत रामकथा को इस काव्य का विषय बनाया है। इस का कथानक पच्चीस सर्गों में विभक्त है। कथानक का मुख्य आधार वाल्मीकि-रामायण तथा रामचरित-मानस है। यह कथानक मानस की अपेक्षा वाल्मीकि-रामायण के अधिक निकट है। वाल्मीकि-रामायण की तरह इस रचना में राम का जन्म, सीता के साथ उनका विवाह, राम-वनगमन, सीतापहरण, राम-द्वारा रावण-वध, सीता-सहित राम का अयोध्या में आगमन, सीता-परित्याग, लव-कुश-जन्म, राम-द्वारा अश्वमेध का आयोजन और लव-कुश की अपने पिता राम से भेंट आदि राम के जीवन से सम्बन्धित सारी घटनाएँ वर्णित हैं।

संस्कृत के आचार्यों-द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य-सम्बन्धी लक्षणों का अनुसरण करते हुए उपाध्याय जी ने रामचरित-चिन्तामणि की रचना की है। लोकविश्रुत कथानक, उस

का सर्गों में विभाजन, धीरोदात्तगुण-समन्वित नायक और महाकाव्योचित विविध प्रसंगों एवं प्राकृतिक दृश्यो का वर्णन आदि महाकाव्य के स्वरूप-विधायक अनेक तत्व इस में वर्तमान हैं। पर जब हम महाकाव्य के स्थायी और विशिष्ट सिद्धान्तों के आधार पर इस रचना की समीक्षा करते हैं तब हमें इस के महाकाव्यत्व में सन्देह होता है। महाकाव्य-सम्बन्धी अनेक दोषों के वर्तमान होने के कारण हम रामचरित-चिन्तामणि को महाकाव्यों की श्रेणी मे स्थान नही दे सकते।

रामचरित-चिन्तामणि का कथानक सुसंगठित नही है। यहां मुख्यकथा और प्रासंगिक घटनाओ मे अन्विति नही दिखाई देती। कवि ने कही प्रसंगों को बहुत संक्षिप्त करके चलता कर दिया है। चरित्रचित्रण में भी कवि को सफलता नही मिली है। राम को कवि ने ईश्वर के अवतार के रूप मे अपनाया है पर उनके चरित्र का विकास स्वाभाविक ढंग से नही हो पाया है। राम के आदर्श चरित्र में उनकी मातृ-पितृ-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम और सती सीता के सतीत्व में उनका अटल विश्वास आदि गुणों का निर्वाह नही हो पाया है। कही वे पिता को उपदेश देते हैं और कही राज्य के खो जाने से पश्चा-ताप प्रकट करते हुए दीख पड़ते हैं। एक महाकाव्य के नायक में जो उच्च आदर्श अपेक्षित हैं, उनका समुचित विकास राम के चरित्र में नही हो सका है। यदि केवल इसी रचना के आधार पर राम के चरित्र का चित्र उपस्थित किया जाय तो वह बहुत ही विकृत और असंगत होगा। इसीप्रकार सीता, भरत और लक्ष्मण आदि अन्य पात्रों की व्यक्ति-गत विशेपताओं के क्रमिक विकास को दिखाने में भी कवि को सफलता नही मिली है।

रामचरित-चिन्तामणि में स्थल-स्थल पर नीरसता और उपदेशात्मकता दृष्टि-गोचर होती है। महाकाव्य में सर्वत्र रसात्मक, कवित्वमय प्रसंगों की आशा तो नही की जा सकती, फिर भी कम से कम उसके मार्मिक अंशों में अविच्छिन्न रसप्रवाह और उच्च-कोटि का काव्य-सौन्दर्य अवश्य होना चाहिए। प्रस्तुत रचना मे कथानक के मार्मिक अंशों को पहचानने और उनमे सौन्दर्य-सृजन की चेष्टा कवि ने नहीं की है। वाल्मीकि-रामायण तथा रामचरित-मानस मे जो प्रसग महाकाव्योचित कवित्व और रसात्मकता लिए हुए हैं, वे इस कृति में नीरस और प्रभावशून्य दृष्टिगत होते हैं। सीता-स्वयंवर, रामवन-गमन, दशरथ-मरण, भरत-मिलाप, सीता-परित्याग जैसे प्रभावशाली प्रसंगों की ओर कवि ने बहुत कम ध्यान दिया है।

इसीप्रकार रामचरित-चिन्तामणि में प्रकृतिवर्णन भी कोई विशेष महत्व नही रखता। ग्रीष्म, वर्षा, शरद आदि ऋतुओं तथा अन्य प्राकृतिक दृश्यों के जो चित्र यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं, उनमे महाकाव्योचित मनोरमता और गांभीर्य का अभाव है। प्रकृति-वर्णन में कहीं-कहीं उपदेशात्मकता आ गई है और कही अलंकारसम्बन्धी पाण्डित्य-प्रदर्शन की चेष्टा भी दिखाई देती है। उपाध्याय जी का अधिकांश प्रकृतिवर्णन परम्परा-गत है। आलम्बनरूप में प्रकृति के भव्य चित्रों का यहाँ अभाव ही है। उद्दीपनविभाव के रूप में भी प्रकृतिवर्णन रसोद्रेक में सहायक सिद्ध नहीं होता।

उपाध्याय जी की भाषा-शैली में भी महाकाव्योचित गरिमा का अभाव है। अलंकारों के प्रयोग में अस्वाभाविकता वर्तमान है। कई स्थलों पर यमक और अनुप्रास की यत्नसाध्य योजना काव्य के सहज सौन्दर्य को क्षति पहुँचाती है।

श्रीरामचन्द्रोदय-काव्य

(रचनाकाल—सन् १९३७)

श्री रामनाथ ज्योतिषी-द्वारा रचित श्रीरामचन्द्रोदय काव्य की रचना व्रजभाषा में हुई है। सन् १९३७ में व्रजभाषा का सर्वश्रेष्ठ काव्य स्वीकृत होने पर इसके रचयिता को २००० रुपये का देव-पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है। परम्परागत रामकथा पर आधारित यह काव्य सोलह कलाओं में विभक्त है। इसकी प्रथम आठ कलाओं में राम के जन्म से लेकर मिथिला में सीता के पाणिग्रहण के पश्चात् अयोध्या में आगमन तक की कथा कही गई है। अन्तिम आठ कलाओं में राम-सीता की अष्टयामचर्या, षट्-ऋतु-वर्णन, वर्णाश्रम-व्यवस्था, राजनीति, साधारण नीति, कवि-परिचय, देव-वन्दना आदि विविध विषयों का समावेश है।

लोकविश्रुत कथानक, धीरोदात्त नायक, शृंगाररस की प्रधानता और विविध वर्णन जैसे महाकाव्य-विषयक कतिपय तत्वों का निर्वाह होने पर भी श्रीरामचन्द्रोदय काव्य को महाकाव्यों की परिधि में स्थान नहीं दिया जा सकता। इसमें महाकाव्योचित प्रवन्धात्मकता का अभाव है। कथानक के विविध अंगों में समुचित सामंजस्य नहीं दिखाई देता। इसकी प्रथम आठ कलाओं में कथावस्तु का थोड़ा-बहुत निर्वाह हुआ भी है परन्तु अन्तिम आठ कलाओं में तो प्रवन्धात्मकता सर्वथा लुप्त हो गई है। उनमें मुक्तक-काव्य की छाया लक्षित होती है। कथासूत्र स्थल-स्थल पर छिन्न-भिन्न सा दृष्टिगत होता है।

चरित्रचित्रण में भी कवि को सफलता नहीं मिली है। राम और सीता-जैसे आदर्श नायक-नायिका को कवि ने साधारण प्रेमी और प्रेमिका के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित किया है। उनके चरित्र में स्वाभाविकता की रक्षा नहीं होने पाई है। जनक की पुष्पवाटिका में राम के सौन्दर्य पर मुग्ध होने वाली सीता का चित्रण एक साधारण प्रेयसी के रूप में इस प्रकार हुआ है :—

"संग सखीन के लाज भरी छलकी वह प्रीति प्रतीति समूली।
नैन जके से थके रहिगे अँग अंगन जोतिसी वाटिका फूली॥
वात अजान की भांति करै तन कौ तनकौ न सँभार अतूली।
राम सुजान की देख छटा सुधि जानकी, जान की, जानकी भूली[1] ॥"

इसी प्रकार धनुषयज्ञ-प्रसंग में राम की मुखज्योति से प्रभावित नरनारियों की दशा का वर्णन स्वाभाविक न होकर अतिरंजित और कृत्रिम-सा हो गया है :—

---

१. श्रीरामचन्द्रोदय-काव्य, कला ५, पृ० ९७

"वीरता की जोति-सी विलोकि प्रभु आनन पै,
हियरे नृपालन के धरकि-धरकि उठे।
नारिन विचारिन की कंचुकी किनारिन के,
चारौं बंद आपु ही तें तरकि-तरकि उठे॥
छरकि-छरकि उठे सुजन सनेही सबै,
राम भुज-दंड दोउ परकि-परकि उठे।
दरकि-दरकि उठे चाप अंग संकित ह्वै,
मंजुल सिया के नैन फरकि-फरकि उठे[1]॥"

श्रीरामचन्द्रोदय-काव्य में अयोध्या, सरयू, गंगा, जनकपुरी, अमराइयों तथा वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा आदि छः ऋतुओं के वर्णन प्रचुर मात्रा में वर्तमान हैं किन्तु उनमें महाकाव्योचित गरिमा और रोचकता का अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। इन वर्णनों में कहीं-कहीं कवि की उत्कृष्ट कल्पनाशक्ति का परिचय अवश्य मिलता है। जनक की अमराई में वसन्त-शोभा का एक मनोरम चित्र यहां अंकित हुआ है :—

"कोकिला कलापैं कुंज पुंजन अलापैं बैठि,
ग्रीषम की तापैं कहूँ रंचक लखावै ना।
पल्लवित लोनी लता फूलन सो लहराति,
गुंजरत भौंर भरि अनत सिधावै ना॥
सुरभित सघन निकुंजन में बैठि-बैठि,
पच्छी, मृगमाला भूलि चित्त विचलावै ना।
'जोतिसी' सोहाई या विदेह अमराई छांड़ि,
भैया लखौ लखन वसंत कहुँ जावै ना[2]॥"

कवि ने रीतिकालीन शृंगारी कवियों की परम्परागत शैली का अनुसरण किया है। रामकथा का आश्रय लेकर कवि को अपनी शृंगारी मनोवृत्ति, कवित्व-शक्ति और पाण्डित्य के प्रदर्शन का यत्र-तत्र अच्छा अवसर मिला है।

हल्दीघाटी
(रचनाकाल—सन् १९३९)

हल्दीघाटी की रचना श्री श्यामनारायण पाण्डेय ने की है। इसमें मेवाड़केसरी राणा प्रताप के जीवन से सम्बन्धित युद्ध-घटनाओं का वर्णन है। हल्दीघाटी के युद्ध को प्रधानता मिलने के कारण इस काव्य का नामकरण हल्दीघाटी किया गया है। इसका कथा-

१. श्रीरामचन्द्रोदय-काव्य, कला ६ पृ० ११३
२. श्रीरामचन्द्रोदय-काव्य कला ५, पृ० ८१

नक सत्रह सर्गों में विभक्त है। राणा प्रताप के समाधि-स्थल को देखकर कवि को हल्दीघाटी की रचना की प्रेरणा प्राप्त हुई है। कवि ने स्वयं इसे 'वीररस-प्रधान आदि महाकाव्य' स्वीकार किया है। वस्तुतः कवि ने हल्दीघाटी को महाकाव्य के परम्परागत शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह होने के कारण नहीं, अपितु इसमें वीरशिरोमणि राणा प्रताप जैसे महान् चरित्र की जीवनगाथा का वर्णन होने के कारण इसे महाकाव्य स्वीकार किया है। शास्त्रीय दृष्टि से इस रचना के महाकाव्यत्व में कवि ने स्वयं सन्देह प्रकट किया है :—

'महान् ! इन्हीं कतिपय घटनाओं को मैंने कविता का रूप दिया है। यह खंडकाव्य है अथवा महाकाव्य, इसमें सन्देह है, लेकिन तू तो निःसन्देह महाकाव्य है। तेरे जीवन की एक-एक घटना संसार के लिए आदर्श है और हिन्दुत्व के लिए गर्व की वस्तु[1]।'

महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों की कसौटी पर हल्दीघाटी एक सफल महाकाव्य सिद्ध नहीं होता। इसे हम महाकाव्य न कह कर एक साधारण कोटि का प्रबन्धकाव्य ही स्वीकार करते हैं। इसमें कथावस्तु के विविध प्रसंगों में महाकाव्योचित सम्बन्ध-निर्वाह नहीं हो पाया है। विभिन्न घटनाओं के वर्णन में मुक्तककाव्य की सी झलक दृष्टिगोचर होती है। इस रचना में नायक (राणाप्रताप) को आदि से लेकर अन्त तक सभी सर्गो में प्रधानता नहीं दी गई है। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ सर्ग का सम्बन्ध मानसिंह और अकबर से है, उनमें प्रताप का उल्लेख तक नहीं हुआ है। हल्दीघाटी में कवि ने राणा प्रताप के जीवन की युद्ध से सम्बन्धित घटनाओं को ही अपनाया है और उनके जीवन के अन्य पहलुओं की उपेक्षा की है। इसलिए इस रचना में महाकाव्योचित जीवन का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत नहीं हो सका है।

इस प्रकार महाकाव्य की दृष्टि से एक सफल रचना न होने पर भी हल्दीघाटी के विविध इतिवृत्तात्मक प्रसंगों के बीच अनेक कवित्वमय स्थल वर्तमान हैं। वीररस का परिपाक इसमें अच्छा हुआ है। प्रकृति के कतिपय प्रभावशाली चित्र भी यत्र-तत्र अंकित किए गए हैं। सावन के प्रभात का चित्र इन शब्दों में खींचा गया है :—

"सावन का हरित प्रभात रहा, अम्बर पर थी घनघोर घटा।
फहरा कर पंख थिरकते थे, मन हरती थी वन-मोर-छटा॥
पड़ रही फुही झींसी झिन-झिन, पर्वत की हरी वनाली पर।
'पी कहाँ!' पपीहा बोल रहा, तरु-तरु की डाली-डाली पर॥
वारिद के उर में दमक-दमक, तड़-तड़ बिजली थी तड़क रही।
रह-रह कर जल था बरस रहा, रणधीर भुजा थी फड़क रही[2]।"

कवि की भाषा भी सजीव, मुहावरेदार, ओजस्विनी और प्रवाहमयी है। उर्दू की मरसिया-पद्धति से प्रभावित होने के कारण हल्दीघाटी की भाषा-शैली में पर्याप्त आकर्षण

---

१. हल्दीघाटी, भूमिका, पृ० २२
२. हल्दीघाटी, सर्ग ११, पृ० ११४

और रोचकता दृष्टिगत होती है। पर इन विशेषताओं के होते हुए भी कथावस्तु की सुसम्बद्ध योजना, जीवन का सर्वांगसम्पन्न चित्रण और रसात्मकता आदि महाकाव्य-विषयक प्रमुख तत्वों के अभाव में हम हल्दीघाटी को महाकाव्यों में स्थान नहीं दे सकते।

श्रीकृष्णचरित-मानस
(रचनाकाल—सन् १९४१)

श्रीकृष्णचरित-मानस की रचना श्री प्रद्युम्न दुगा ने की है। रामचरितमानस की भाषा-शैली का अनुसरण करते हुए लेखक ने श्रीकृष्ण के चरित्र को इस काव्य का विषय बनाया है। श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बन्धित श्रीमद्भागवत, महाभारत, गीता और सूर-सागर आदि विविध रचनाओं के आधार पर इसके कथानक का निर्माण किया गया है। इसमें कवि ने श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण चरित्र पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। यहां श्रीकृष्ण को हम व्रजजनों के प्रेमी एक आदर्श महापुरुष, असुरसंहारक वीर, राजनीति-कुशल नेता और धर्मसंस्थापक आदि विविध रूपों में देखते हैं।

रामचरितमानस के समान यह कृति भी सात काण्डों में विभक्त है और दोहा-चौपाई वाली शैली को इसमें स्थान दिया गया है। कथावस्तु की योजना और भाषा-शैली में यह रचना श्रीद्वारकाप्रसाद मिश्र-कृत कृष्णायन से मिलती-जुलती है। पूर्ववर्ती रचना होने के कारण संभवतः मिश्र जी को कृष्णायन की रचना में इससे प्रेरणा मिली हो, पर इन दोनों कृतियों की तुलना से यही सिद्ध होता है कि कृष्णायनकार ने कहीं भी श्रीकृष्ण-चरित-मानस का अन्धानुकरण नहीं किया है।

श्रीकृष्णचरित-मानस की गणना महाकाव्यों में नहीं की जा सकती। इसे हम एक साधारण श्रेणी का वर्णनात्मक प्रबन्धकाव्य कहना उचित समझते हैं। इसमें महाकाव्यो-चित चरित्रचित्रण-कुशलता, रसात्मकता, वर्णन-विविधता और भाषा-शैली की गरिमा दृष्टिगोचर नहीं होती। कवि ने कृष्ण के जीवन के विविध पक्षों पर समुचित प्रकाश डालने का प्रयत्न अवश्य किया है, किन्तु इस रचना के संकुचित क्षेत्र के अन्दर कृष्ण के चरित्र का सर्वांगीण विकास संभव नहीं हो सका है। उनके जीवन से सम्बन्धित सारी घटनाएँ संक्षेप से इतिवृत्तात्मक ढंग से कही गई हैं। विविध परिस्थितियों में विभिन्न पात्रों की मनोदशाओं के मनोवैज्ञानिक चित्रण की ओर कवि का ध्यान बहुत कम गया है। कवि ने कथावस्तु के मर्मस्पर्शी अंशों को पहचानने की चेष्टा भी नहीं की है। फलतः अनेक प्रभावशाली, मार्मिक प्रसंगों में भी जहां-तहां नीरसता आ गई है। श्रीकृष्ण का मथुरा-गमन, उद्धव-गोपी-सम्वाद, रुक्मिणी-परिणय, द्रौपदी-स्वयंवर, सुदामा-कृष्ण-मिलन और दुःशासन-द्वारा द्रौपदी-चीरहरण जैसे मार्मिक प्रसंग भी नीरस और विवरणात्मक प्रतीत होते हैं। श्रीकृष्णचरित-मानस के व्यापक कथानक में कवि को विविध प्रसंगों और प्राकृतिक दृश्यों के हृदयग्राही वर्णन के लिए अच्छा अवसर मिल सकता था किन्तु कवि

का मन ऐसे वर्णनों में बहुत कम गया है। कहीं-कहीं तो कवि की वस्तुपरिगणनवाली भद्दी प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। जैसे:—

"बीज अनाज कंद फल मेवा। वस्त्र अस्त्र अरु शस्त्रन सेवा ॥
बर्तन भाँडा और खिलौना। मोती मुक्ता चांदी सोना ॥
लोहा ताँबा पीतल काँसा। रेशम चामर नमक कपासा ॥
काठ पाठ अरु शहद रसाला। शक्कर नरियल माल मसाला ॥
पशु पक्षी हय गऊ सुहाई। जाहि और आवहि समुदाई[1] ॥"

श्रीकृष्णचरित-मानस की भाषा भी प्रौढ़ और परिमार्जित नहीं है। रामचरित-मानस की तरह कवि ने इस रचना में अवधी भाषा को अपनाया है, किन्तु अवधी पर उनका समुचित अधिकार सिद्ध नहीं होता। स्थल-स्थल पर उसमें ब्रज, खड़ी-बोली और संस्कृत के शब्दों का सम्मिश्रण दृष्टिगत होता है। भाषा की शुद्धता का ध्यान न रखकर कहीं-कहीं शब्दों को तोड़-मरोड़ कर मनमाना रूप दे दिया गया है। इस रचना में धार्मिक भावना की प्रधानता है, और उसमें इसका काव्यसौन्दर्य उभरने नहीं पाया है।

श्रीकृष्णचरित-मानस पर महाभारत, गीता, सूरसागर आदि का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। अपनी कथावस्तु के पुनर्निर्माण में कवि इन पूर्ववर्ती रचनाओं का आभारी है ही, कहीं-कहीं उनकी शब्दावली और भावधाराओं का अनुकरण भी कवि ने किया है। जैसे:—

गीता:— "वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही[2] ॥"

श्रीकृष्णचरितमानस:—"फटे पुराने वस्त्र मलीने। त्यागि लोग तनु धरहिं नवीने ॥
ऐसे ही यह आतमा, त्यागि पुरानी देह।
करत प्रवेश नये तनहिं, बदलहिं जिमि जन गेह[3] ॥"

कुरुक्षेत्र
(रचनाकाल—सन् १९४३)

कुरुक्षेत्र श्री रामधारीसिंह दिनकर की सप्त-सर्गबद्ध काव्यकृति है। इसमें महाभारत के युधिष्ठिर-भीष्म-सम्वाद को आधार मानकर कवि ने युद्ध की समस्या पर मार्मिक भाव और विचार प्रकट किए हैं। यह एक चिन्तनप्रधान कविता है। इसमें युद्ध के औचित्य और अनौचित्य के सम्बन्ध में कवि का शंकाकुल हृदय मस्तिष्क के स्तर पर

---

१. श्रीकृष्णचरित-मानस, पंचम-काण्ड, पृ० १७२
२. गीता, अध्याय २, २२
३. श्रीकृष्णचरित-मानस, सप्तम-काण्ड, पृ० २७५

चढ़ कर बोलता है। युधिष्ठिर अहिंसा के प्रतीक हैं। वे युद्ध के अन्त में विजयी होकर भी युद्ध से विरक्त दीख पड़ते हैं। युद्ध में होने वाले भयावह रक्तपात से विजयी युधिष्ठिर के हृदय में युद्ध के प्रति तीव्र ग्लानि उत्पन्न हो जाती है:—

"कृष्ण कहते हैं, युद्ध अनघ है, किन्तु, मेरे
प्राण जलते हैं पल पल परिताप से;
लगता मुझे है, क्यों मनुष्य बच पाता नहीं
दह्यमान इस पुराचीन अभिशाप से ?
और महाभारत की बात क्या ? गिराये गये
जहां छल-छद्म से वरेण्य वीर आप से,
अभिमन्यु-वध औ सुयोधन का वध हाय,
हम में बचा है यहां कौन, किस पाप से[1] ?"

दूसरी ओर भीष्म न्याय-भावना के प्रतीक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। वे अन्याय के अन्त के लिए युद्ध को आवश्यक समझते हैं:—

"जानता हूँ किन्तु जीने के लिए
चाहिए अंगार-जैसी वीरता,
पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है
जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर।
युद्ध को तुम निन्द्य कहते हो मगर,
जब तलक हैं उठ रहीं चिनगारियां
भिन्न स्वार्थों के कुलिश-संघर्ष की,
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है[2]।"

इस प्रकार कुरुक्षेत्र में भी यदि एक ओर युधिष्ठिर के हृदय की ग्लानि की अभिव्यक्ति-द्वारा कवि ने युद्ध के विपक्ष में तर्कपूर्ण युक्तियां प्रस्तुत की हैं तो दूसरी ओर भीष्म के शब्दों में युद्ध का समर्थन भी सबल युक्तियों द्वारा किया है। जहां युधिष्ठिर का निर्वेद आंशिक सत्य को लिए हुए है, वहाँ भीष्म की युद्ध-नीति भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है।

युधिष्ठिर के शब्दों में अहिंसा की सार्थकता स्वीकार करते हुए भी दिनकर अन्त में भीष्म की युद्ध-नीति से सहमत दीख पड़ते हैं और अन्याय के दमन के लिए युद्ध का औचित्य सिद्ध करते हैं। उनके मत में युद्ध मानव-समाज की विकारमयी वृत्तियों का परिणाम है। वह प्राकृतिक विकारों का विस्फोट है, उसे कोई रोक नहीं सकता। युद्ध का दायित्व किसी एक व्यक्ति या जाति पर नहीं, वह तो अनेक व्यक्तियों और जातियों

---

१. कुरुक्षेत्र, सर्ग २, पृ० १०
२. कुरुक्षेत्र, सर्ग २, पृ० १७

के हृदय में सुलगती हुई अग्नि का महान् और अनिवार्य प्रकोप है। कवि की दृष्टि में युद्ध नैतिक-अनैतिक स्तर से ऊपर है। ज्वलन्त प्रतिशोध की भावना ही युद्ध के औचित्य की कसौटी है[1]।

दिनकर के विचार में तप, करुणा, क्षमा, विनय और त्याग आदि व्यक्ति के धर्म हैं, समुदाय के नहीं। जब समुदाय का प्रश्न सामने आता है तब अन्याय के अन्त के लिए युद्ध करना मनुष्य का कर्तव्य बन जाता है:—

"व्यक्ति का है धर्म, तप, करुणा, क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी, त्याग भी,
किन्तु, उठता प्रश्न जब समुदाय का
भूलना पड़ता हमें तप त्याग को[2]।"

युद्ध की समस्या पर विचार करता हुआ कुरुक्षेत्र का कवि अन्त में द्वापर के महाभारत को छोड़कर वर्तमान युग की विषमताओं में युद्ध के कारणों को खोज निकालता है। पूंजीपति और श्रमजीवी, शोपक और शोषित के जीवन में वैषम्य को देख दिनकर सामाजिक विषमताओं के विरुद्ध आवाज उठाते हुए शोषित वर्ग को युद्ध के लिए निमंत्रित करते हैं। उनकी दृष्टि में जब तक यह विषमता दूर न होगी, तब तक संसार में शांति की स्थापना नहीं हो सकेगी:—

"जब तक मनुज-मनुज का यह
सुख-भोग नहीं सम होगा,
शमित न होगा कोलाहल,
संघर्ष नहीं कम होगा[3]।"

दिनकर वर्तमान युग के कवि हैं। कुरुक्षेत्र में आज के युग की पुकार भी सुनाई देती है। वर्तमान युग की अतिशय बुद्धिवादिता में दिनकर की आस्था नहीं है। उन्होंने इच्छा, ज्ञान और कर्म में सन्तुलन के अभाव को आज की विषमता का सबसे प्रबल कारण माना है। जब तक इन तीनों का समुचित समन्वय न होगा, संसार में सुख और शान्ति की प्रतिष्ठा असम्भव है।

कुरुक्षेत्र में कवि ने युद्ध के सामयिक रूप को न लेकर उसके चिरन्तन रूप को ही अपनाया है। युद्ध को उन्होंने मानववादी दृष्टि से देखा है, राजनैतिक या सैद्धान्तिक दृष्टि से नहीं। युद्ध-जैसी एक विश्वजनीन समस्या को कुरुक्षेत्र में एक सुन्दर प्रबन्धकाव्य का रूप दिया गया है। इसकी रचना प्राचीन पृष्ठभूमि पर आधारित अवश्य है पर साथ ही

---

१. पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर।
—कुरुक्षेत्र, सर्ग २, पृ० १७

२. कुरुक्षेत्र, सर्ग २, पृ० १८

३. कुरुक्षेत्र, सर्ग ७, पृ० १०३

इसमें नवयुग के प्रश्नों और जीवनदर्शन को पर्याप्त स्थान मिला है। महाभारत के युधिष्ठिर और भीष्म जैसे पात्रों को कवि ने आज के युग की नवदृष्टि से देखा है।

कुरुक्षेत्र को हम एक विचारप्रधान प्रबन्धकाव्य कह सकते हैं, महाकाव्यों की परिधि में उसे स्थान देना समीचीन नहीं है। उसकी कथावस्तु में महाकाव्योचित व्यापकता नहीं है। युद्ध के प्रश्न को छोड़कर जीवन के अन्य व्यापक प्रश्नों को उसमें स्थान नहीं मिला है। घटनाओं की विविधता, अविच्छिन्न कथाप्रवाह, चरित्रचित्रण और वर्णन-विस्तार जैसे महाकाव्योचित तत्वों का कुरुक्षेत्र में अभाव ही दिखाई देता है।

आर्यावर्त

(रचनाकाल—सन् १९४३)

श्री मोहनलाल महतो द्वारा रचित आर्यावर्त तेरह सर्गों में विभक्त है। इसमें महाराज पृथ्वीराज और चन्द कवि के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन है। कवि ने पृथ्वीराज के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली कतिपय ऐतिहासिक घटनाओं को कल्पना का रंग देकर अधिक हृदयग्राही और प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न किया है। बंगला के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के मेघनाद-वध से प्रभावित होकर श्री मोहनलाल महतो ने भी आर्यावर्त की रचना अमित्राक्षर स्वच्छन्द छन्दों में की है। आर्यावर्त के विविध प्रसंगों में भी यत्र-तत्र मेघनाद-वध की छाया लक्षित होती है। मेघनाद-वध के प्रारम्भ में जिस प्रकार सरस्वती की वन्दना की गई है इसी प्रकार आर्यावर्त में काली-स्तवन को स्थान दिया गया है। आर्यावर्त की संयोगिता भी वीररमणी के रूप में मेघनाद-वध की प्रमीला से प्रभावित दीख पड़ती है।

आर्यावर्त में आधुनिक युग की नवचेतना की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। राष्ट्रीय विचारों और आर्य-संस्कृति के उदात्त आदर्शों को इस रचना में प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। वस्तुवर्णन में भी पर्याप्त गम्भीरता है। अनेक स्थलों पर इसमें उच्चकोटि का काव्यसौन्दर्य भी देखने को मिलता है। रीतिबद्ध महाकाव्यों की परम्परागत भाषा-शैली का अनुसरण न करके कवि ने आर्यावर्त में नवीन प्रगतिशील दृष्टिकोण को अपनाया है।

उपर्युक्त विशेषताओं के होते हुए भी आर्यावर्त को हम महाकाव्यों की श्रेणी में स्थान नहीं दे सकते। श्री रामदहिन मिश्र ने भी आर्यावर्त की भूमिका में इस रचना का महाकाव्यत्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया है पर महाकाव्य के कतिपय प्रमुख लक्षणों का निर्वाह न होने के कारण हम इसे महाकाव्य नहीं मान सकते। महाकाव्य की दृष्टि से आर्यावर्त में सबसे पहली त्रुटि यह है कि इसमें नायक को महाकाव्योचित प्राधान्य तथा महत्व नहीं मिला है। इसका नायक चन्द कवि है किन्तु अधिकांश सर्गों में उसको प्रमुखता

नहीं मिल सकी है। दूसरे, चौथे, आठवें और नवें सर्ग में चन्द का कहीं उल्लेख नहीं है। अन्य सर्गों में भी उसे महाकाव्योचित गौरव नहीं मिल सका है। एक सफल महाकाव्य के नायक के समान चन्द विविध परिस्थितियों में कठिनाइयों का सामना करता हुआ अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता हुआ नहीं दिखाई देता।

महाकाव्य की दृष्टि से आर्यावर्त में दूसरी त्रुटि चरित्रचित्रणगत अस्वाभाविकता है। इसमें सभी पात्र उच्चकोटि के दिखाए गए हैं। गोरी और जयचन्द के चरित्र में भी बुराइयों का अभाव दिखाई देता है। विभिन्न परिस्थितियों में पात्रों की मनोदशाओं का वैविध्यपूर्ण चित्रण आर्यावर्त में नहीं हो पाया है। आर्यावर्त की तीसरी त्रुटि यह है कि कवि उसमें जीवन का महाकाव्योचित व्यापक और सर्वांगसम्पन्न चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हुआ है।

जौहर

(रचनाकाल—सन् १९४५)

श्री श्यामनारायण पाण्डेय-द्वारा रचित जौहर इक्कीस चिनगारियों में विभक्त एक प्रबन्धकाव्य है। जिस प्रकार हल्दीघाटी में कवि ने राणा प्रताप के चरित्र की महत्ता प्रदर्शित की है, उसी प्रकार जौहर में सतीशिरोमणि वीरनारी पद्मिनी के सतीत्व और बलिदान का चित्र अंकित किया गया है। जौहर की कथावस्तु संक्षेप में इस प्रकार है :—

'चित्तौड़ के रावल रतनसिंह की वीर पत्नी पद्मिनी के अनुपम सौंदर्य पर मुग्ध होकर अलाउद्दीन खिलजी उसे हस्तगत करना चाहता है। एक दिन आखेट करते हुए रतनसिंह को अलाउद्दीन के गुप्तचर पकड़ लेते हैं। अलाउद्दीन रतनसिंह को कारागृह में बन्दी बना लेता है। रानी पद्मिनी डोलियों के अन्दर सहेलियों तथा कहारों के वेश में राजपूत वीरों की सहायता से रतनसिंह को बन्दीगृह से छुड़ाने में समर्थ होती है। खिलजी-सेना के साथ गोरा-बादल के नेतृत्व में राजपूत वीरों का युद्ध होता है और अन्त में खिलजी-सेना बुरी तरह परास्त होती है। अलाउद्दीन शक्ति संचित करके अपने वीर सैनिकों सहित चित्तौड़ पर आक्रमण करता है। अलाउद्दीन की विशाल सेना और भीषण तोपों के समक्ष सैकड़ों राजपूत वीर युद्धभूमि में वीरगति प्राप्त करते हैं। चित्तौड़ को शत्रुसेना से घिरा देख और राजपूतों की पराजय निश्चित समझ पद्मिनी और अन्य राजपूत-स्त्रियाँ अपने बच्चों सहित धधकती चिता पर जलकर जौहर-व्रत का पालन करती हुई अपने सतीत्व का परिचय देती हैं। अलाउद्दीन चित्तौड़ में प्रवेश करके उन्मत्त की भाँति अपनी हृदयेश्वरी पद्मिनी को ढूँढ़ने का यत्न करता है। जलती हुई चिताओं का भयावह दृश्य देख वह मूर्च्छित हो जाता है और उसके सैनिक उसे मूर्च्छितावस्था में ही दिल्ली ले जाते हैं। अलाउद्दीन की यह विजय सौ-सौ हार से भी बुरी सिद्ध होती है।'

जौहर में वीर और करुण रस का निर्वाह अच्छा हुआ है। खिलजी-सेना के साथ

गोरा-बादल जैसे राजपूत वीरों के युद्ध के वर्णन में वीररस की अच्छी व्यंजना हुई है। रानी पद्मिनी तथा अन्य राजपूत-स्त्रियों के चिता पर जलने का दृश्य बहुत ही हृदयद्रावक है। उसमें करुणरस की छटा देखने को मिलती है। इस रचना में प्रकृतिचित्रण भी बहुत सुन्दर और प्रभावशाली बन पड़ा है। चन्द्रोदय, तमसाच्छन्न रात्रि, ग्रीष्म और वसन्त आदि के मनोरम चित्र कवि ने यत्र-तत्र प्रस्तुत किए हैं। चन्द्रोदय का एक भव्य चित्र देखिए :—

"नीरव थी रात धरा पर, विधु सुधा उँड़ेल रहा था।
नभ के आंगन में हँस-हँस, तारों से खेल रहा था॥
शशि की मुस्कान प्रभा से, गिरि पर उजियाली छायी।
कण चमक रहे हीरों-से, रजनी थी दूध नहाई॥
वह उतर गगन से आया, सरिता-सरिता सर-सर में।
चांदी-सी चमकीं लहरें, वह फूला लहर-लहर में[1]॥"

जौहर में भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार लक्षित होता है। भाषा भावानुसारिणी, मुहावरेदार और प्रवाहमयी है। छन्दों की योजना भी विषय के अनुकूल दिखाई देती है

जौहर में उपर्युक्त विशेषताओं के होते हुए भी महाकाव्य की दृष्टि से अनेक दोष दिखाई देते हैं। इसमें पद्मिनी, रतनसिंह, और अलाउद्दीन जैसे प्रमुख पात्रों के चरित्र का विकास स्वाभाविक ढंग से नहीं हुआ है। आखेट करते समय पद्मिनी के चितारोहण-सम्बन्धी भविष्यवाणी सुनकर पत्नी के भावी वियोग की आशंका से रतनसिंह का मूर्च्छित होकर गिर पड़ना[2] चिता पर जलने के लिए तैयार पद्मिनी के हृदय में रतिभाव का उदय[3] तथा चित्तौड़ के किले में चारों ओर बिखरी पड़ी लाशों के बीच खड़े अलाउद्दीन के हृदय में कामवासना की तृप्ति के लिए पद्मिनी को प्राप्त करने की विकलता[4] अस्वाभाविक प्रतीत होती है। रतनसिंह के चरित्र में उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं और दुर्बलताओं को उभारने में कवि को सफलता नहीं मिली है। जौहर में अनेक स्थलों पर नीरसता और इति-

---

१. जौहर, चिनगारी ७, पृ० ३४

२. विरह पद्मिनी का कानों से सुनकर हय पर रह न सका वह।
गिरा तुरत मूर्च्छित भूतल पर, विरह-वेदना सह न सका वह॥
—जौहर, चिनगारी ४, पृ० २१

३. उसे सजाकर सहेलियों ने, रखा सामने मुकुर विमल।
देख ललित शृंगार हुई वह, रतन-मिलन के लिए विकल॥
—जौहर, चिनगारी १५, पृ० ८६

४. बोल उठा मां से अभिमानी, कहां पद्मिनी रानी है।
मुझे महल का पता बता दो, मेरी विकल जवानी है॥
—जौहर, चिनगारी २०, पृ० ११२

वृत्तात्मकता वर्तमान है। कतिपय प्रसंगों में वीर और करुण रस की सुन्दर व्यंजना होने पर भी इस रचना में महाकाव्योचित रसात्मकता नहीं दिखाई देती। पद्मिनी और रतनसिंह के जीवन से सम्बन्धित इस काव्य में जीवन के विविध अंगों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न नहीं किया गया है। इस प्रकार जौहर में महाकाव्योचित समग्र जीवन का चित्रण भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

कवि ने जौहर की रचना महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों को ध्यान में रखकर अवश्य की है और स्वयं इसे 'वीर-करुण-रस-सिक्त अद्वितीय महाकाव्य' भी माना है, पर उपर्युक्त त्रुटियों के अस्तित्व में हम जौहर को महाकाव्य न कह कर एक प्रबन्ध-काव्य ही स्वीकार करते हैं।

महामानव
(रचनाकाल—सन् १९४६)

श्री ठाकुरप्रसादसिंह-द्वारा रचित महामानव पन्द्रह सर्गों में विभक्त है। महात्मा गाँधी के जीवन की कुछ प्रमुख घटनाओं को लेकर इस काव्य की रचना की गई है। लेखक ने इस रचना को महाकाव्य न कह कर 'जन-जागरण की महागाथा' स्वीकार किया है। महाकाव्य की दृष्टि से समीक्षा करने पर इस रचना में कई दोष दिखाई देते हैं और इसलिए हम इसकी गणना महाकाव्यों में नहीं कर सकते।

महामानव के कथानक में सुनिश्चित आयोजन और सम्बन्ध-निर्वाह दृष्टिगत नहीं होता। गाँधी जी के चरित्र की विशेषताओं के उद्घाटन में भी कवि को सफलता नहीं मिली है। गाँधी जी के चरित्रचित्रण में जीवन के विविध पक्षों और स्वरूपों के उद्घाटन का अच्छा अवसर कवि को मिल सकता था, किन्तु गाँधी जी के जीवन से सम्बन्धित जिन घटनाओं को कवि ने इस रचना में स्थान दिया है वे जीवन का सर्वांग-सम्पन्न चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं है। कथानक के मार्मिक अंशों की ओर भी कवि का ध्यान बहुत कम गया है। महाकाव्योचित वस्तुवर्णन और प्रकृतिचित्रण का भी इसमें अभाव ही दिखाई देता हैं। महात्मा गांधी जैसे महान् चरित्र को नायक के रूप में अपनाकर भी उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभा के अभाव में महामानवकार को महाकाव्योचित काव्य-सौन्दर्य और रसात्मकता की सृष्टि में सफलता नहीं मिल सकी है।

इस प्रकार कथानकगत विशृंखलता, चरित्रचित्रण की अस्वाभाविकता और रसात्मक स्थलों की उपेक्षा के कारण महाकाव्य की दृष्टि से महामानव एक सफल रचना सिद्ध नहीं होती।

विक्रमादित्य

(रचनाकाल–सन् १६४७)

नूरजहाँ के पश्चात् श्री गुरुभक्तसिंह ने विक्रमादित्य की रचना की। महाकाव्य के स्वरूपविधायक कतिपय तत्वों का समावेश होने पर भी विक्रमादित्य की गणना महाकाव्यों में नहीं की जा सकती। विक्रमादित्य में विश्वविजयी, भारत-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन है। इस रचना का मुख्य आधार संस्कृत का 'देवी-चन्द्रगुप्त' नाटक है। इसमें चन्द्रगुप्त को नायक तथा ध्रुवदेवी को नायिका का स्थान दिया गया है। इसका कथानक ४४ भागों में विभक्त है। ध्रुवदेवी नेपाल-नरेश की दुहिता और चन्द्रगुप्त के बड़े भाई रामगुप्त की विवाहिता पत्नी है। वह विवाह से पूर्व स्वयंवर में चन्द्रगुप्त को अपना पति चुन चुकी थी, किन्तु रामगुप्त ने नेपाल-नरेश को ध्रुवदेवी के साथ अपना विवाह करने के लिए बाध्य किया। फलतः ध्रुवदेवी की इच्छा के विरुद्ध उसका विवाह रामगुप्त से ही हो जाता है। विवाह के अनन्तर भी ध्रुवदेवी चन्द्रगुप्त से प्रेम करती है। चन्द्रगुप्त भ्रातृजाया को अपनाना अपनी मान-मर्यादा के विरुद्ध समझ कर ध्रुवदेवी के प्रेम-प्रस्ताव को ठुकरा देता है। इससे ध्रुवदेवी के हृदय को तीव्र आघात पहुँचता है। फलतः देशविद्रोही का आरोप लगाकर चन्द्रगुप्त को देश से निर्वासित कर दिया जाता है। रामगुप्त विलासी जीवन विताता हुआ राज्य-कार्य की उपेक्षा करता है। इसी अवसर पर क्षत्रप और शक देश पर आक्रमण करते हैं। ध्रुवदेवी बड़े साहस और धैर्य के साथ परिस्थिति का सामना करती है। वह सेनासहित युद्ध में भाग लेती हुई चन्द्रगुप्त को देश की स्थिति सँभालने के लिए प्रेरित करती है। रोगाक्रान्त सम्राट् रामगुप्त चन्द्रगुप्त को राजमुकुट पहना कर मृत्यु की गोद में सो जाता है। साम्राज्ञी ध्रुवदेवी का सहयोग पाकर चन्द्रगुप्त शत्रुओं के दमन और पतनोन्मुख भारत-साम्राज्य के पुनरुत्थान में समर्थ होता है।

विक्रमादित्य के कथानक में वह धारावाहिकता नहीं है जोकि एक सफल महाकाव्य में होनी चाहिए। यत्र-तत्र पात्रों के विस्तृत कथोपकथन कथा की गति में वाधा डालते हुए दीख पड़ते हैं। चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी-विषयक मुख्य कथानक के साथ क्षत्रपकुमारी वीणा और वीरसेन-सम्बन्धी कथा की अन्विति भलीभांति नहीं हो पाई है। चरित्रचित्रण में भी स्वाभाविकता की रक्षा नहीं हुई है। ध्रुवदेवी का चन्द्रगुप्त-विषयक प्रेम एकांगी है। आरम्भ मे वह एक विलासिनी के रूप में अंकित हुई है, जवकि अन्त मे वह एक राष्ट्रनिर्मात्री वीरांगना के रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है। चन्द्रगुप्त जैसे निस्पृह, वीर, कर्तव्यनिष्ठ और आदर्श नायक का विधवा भ्रातृजाया ध्रुवस्वामिनी को अपनी प्रेयसी के रूप में अपनाना समाज की मर्यादा के विरुद्ध प्रतीत होता है। रामगुप्त विलासी, कामुक और दुर्बल चरित्र है। मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए

उसके मुख से चन्द्रगुप्त के प्रति अपनी विवाहिता पत्नी के सम्बन्ध में ऐसे शब्द शोभा नहीं देते:—

"स्वयंवर-वरित तुम्हारी वाम,
क्षमा हो, लौटाता है राम,
भेंट यह निधि तुमको है भूप,
सौंपता हूं मणि सरस अनूप,
महादेवी का पकड़ो हाथ,
छोड़ना मत तुम इनका साथ,
बने यह साम्राज्ञी सिरमौर,
नहीं कुछ इच्छा मेरी ओर,
रमा यह पा तुम बनो निहाल,
मुझे वह बुला रहा है काल[1]।"

प्रकृतिचित्रण नूरजहाँ की तरह विक्रमादित्य में भी कई स्थलों पर अच्छा बन पड़ा है। इन पंक्तियों में प्रातःकाल का सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है:—

"बाल हंस ने नील नीड़ से, जग कर तोले अपने पर,
हँसी प्रकृति, स्वागत में खग-कुल नाच उठा मंगल गा कर,
अन्तरिक्ष पट से दिग्वधुओं ने विनोद से लख उस ओर,
इंगित ही से बता दिया, था छिपा जहाँ अरुणा चितचोर[2]।"

विक्रमादित्य में शृंगाररस की प्रधानता है। वीर, हास्य, करुण आदि अन्य रसों का भी निर्वाह इसमें अच्छा हुआ है। इसकी भाषा सरस, सरल और मुहावरेदार है। इसमें कई स्थलों पर कवि की उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है। यह रचना काव्य और नाटक का सम्मिश्रित रूप हमारे सामने प्रस्तुत करती है। संक्षेप में नाटकोचित संवादों की प्रचुरता, कथानक के प्रवाह में शिथिलता और चन्द्रगुप्त जैसे आदर्श नायक की भारतीय मर्यादा के विरुद्ध विधवा भ्रातृजाया के साथ सम्बन्ध-स्थापना जैसे दोष विक्रमादित्य के महाकाव्यत्व को क्षति पहुँचाते हैं। इसलिए हम विक्रमादित्य को महाकाव्य न मानकर एक संवादात्मक प्रबन्धकाव्य ही स्वीकार करते हैं।

---

१. विक्रमादित्य, भाग २६, पृ० १५२-१५३
२. विक्रमादित्य, भाग २, पृ० ८

जननायक
(रचनाकाल—सन् १९४९)

जननायक श्री रघुवीरशरण मित्र द्वारा रचित एक चरितकाव्य है। इसमें कुल ३१ सर्ग हैं। यह कृति महात्मा गांधी की आत्मकथा पर आधारित है। कवि ने इसमें गांधी जी की जीवनी को एक महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कथा-वस्तु का सर्गों में विभाजन, ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण, प्रत्येक सर्ग में मुख्यतया एक ही छन्द का प्रयोग और सर्ग के अन्त में छन्दपरिवर्तन, लोकविश्रुत कथावस्तु का धीरोदात्त-गुणों से युक्त नायक (महात्मा गांधी) से सम्बन्ध आदि महाकाव्य के बाह्यस्वरूप-सम्बन्धी परम्परागत लक्षणों का अनुसरण भी इस कृति में हुआ है। पर इन कतिपय लक्षणों का निर्वाह होने पर भी इस रचना को महाकाव्य नहीं कहा जा सकता।

जननायक में मौलिकता का अभाव है, यह वास्तव में गांधी जी की आत्मकथा का छन्दोबद्ध रूपान्तर है। वर्तमान युग के महापुरुष गांधी जी के जीवन को कवि ने इस काव्य का विषय बनाया है। विषय की अर्वाचीनता के कारण इसमें कविकल्पना को यथेच्छ विहार करने का अवसर नहीं मिला है। यहां इतिवृत्तात्मकता और ऐतिहासिकता प्रचुर परिमाण में पाई जाती है। महाकाव्योचित रसात्मकता का इसमें अभाव ही है। अनेक स्थलों पर नीरस उपदेशात्मकता वर्तमान है। मद्यपान और मांसाहार की निन्दा तथा सत्संग और ब्रह्मचर्य की महिमा आदि के वर्णन में उपदेशात्मकता अधिक दृष्टिगत होती है। कामिनी के मोह-पाश में बँधे मनुष्य की दुर्दशा का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है :—

"यौवन की जंजीर डालकर, नारी नचा दिया करती है।
एक मधुर मुस्कान हृदय को, बरबस खींच लिया करती है॥
तृप्ति नहीं तेरी मनुष्य ! यह, प्यास नहीं बुझती पी पी कर।
अन्त पिपासा ही जायेगा, चाहे जितनी पी जीवन भर[1] ॥"

कथानक के मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना में भी कवि को सफलता नहीं मिली है। गांधी जी का अफ्रीका के लिए प्रस्थान, सत्याग्रह, कारागार-जीवन, कस्तूरबा की मृत्यु जैसे प्रसंग अधिक प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी बन सकते थे, किन्तु कवि की लेखनी से ऐसा नहीं हो पाया है। विविध प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में न तो महाकाव्योचित विस्तार ही देखने को मिलता है और न सरसता और सजीवता ही।

चरित्रचित्रण में मनोवैज्ञानिक शैली को न अपनाकर कवि ने विवरणात्मक शैली को प्रधानता दी है। बाल्यावस्था में ही कस्तूरबा के साथ विवाह हो जाने पर गांधी

---

१. जननायक सर्ग ३, पृ० ४१

जी जैसे भावी जननायक का एक सामान्य कामातुर प्रेमी के रूप में चित्रण अस्वाभाविक ही प्रतीत होता है :—

"प्रतिपल मोम से मन में रस की चाह बनी रहती थी।
कब हो रात्रि मिलूँ कब 'बा' से, मन की कली यही कहती थी।।
बात किया करते पत्नी से, सोने नहीं दिया करते थे।
मन के उजियाले दीपक को, मन्दा नहीं किया करते थे[1] ।।"

इसी प्रकार गांधी जी की हत्या के प्रसंग में बापू का इस प्रकार मुस्कराना तत्कालीन गंभीर परिस्थिति और मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं बैठता :—

"किन्तु एक पागल हिन्दू ने, चुपके से पिस्तौल निकाला।
देख उसे मुस्काये बापू, वह मीठी मुस्कान उजाला।।
खून देख उसकी आँखों में, खिला हुआ था कमल फाग सा।
वह उन्मत्त भयानक बन कर, लाल लाल हो गया आग सा[2] ।।"

जननायक में महाकाव्योचित उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति और शैलीगत गंभीरता तथा रमणीयता का अभाव ही दृष्टिगत होता है।

जगदालोक
(रचनाकाल—सन् १९५२)

जगदालोक की रचना ठाकुर गोपालशरणसिंह ने की है। इसमें महात्मा गांधी के जीवन की प्रमुख घटनाओं को एक प्रबन्धकाव्य का रूप दिया गया है। इसकी कथा-वस्तु बीस सर्गों में वर्णित है। काव्य का प्रारम्भ हिमालय के वर्णन के साथ शिव और पार्वती के संभाषण से होता है। परतन्त्र भारत की स्वाधीनता के विषय में चिन्तित पार्वती के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् शंकर महात्मा गांधी के जन्म की ओर संकेत करते हैं :—

"लेगा जन्म भारत में, कोई दिव्यात्मा नर।
होगा फिर स्वाधीन देश यह, उसका सम्बल पाकर[3] ।।"

प्रस्तुत रचना में गांधीजी का जन्म, उनकी शिक्षा, इंगलैण्ड-यात्रा, बैरिस्टर बन कर भारत को लौटना, दक्षिण अफ्रीका जाकर वहाँ प्रवासी भारतीय जनता की दशा को सुधारने के लिए सत्याग्रह-संग्राम छेड़ना, अफ्रीका से लौटकर भारत में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ करना, कारागार में उनका बन्दी बनाया जाना,

---

१. जननायक, सर्ग २, पृ० ३१
२, जननायक, सर्ग ३१, पृ० ५५८
३. जगदालोक, सर्ग १, पृ० २५

भारत-विभाजन, स्वतन्त्रता-प्राप्ति, हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक संघर्ष, शरणार्थियों की दुर्दशा, महात्मा जी का साम्प्रदायिक उपद्रवों को शान्त करने का प्रयत्न, गांधीजी की हत्या, शोकप्रदर्शन और गांधीजी के शव का दाहसंस्कार आदि घटनाएँ वर्णित हैं।

जगदालोक के कतिपय प्रसंगों में उच्चकोटि का काव्य-सौन्दर्य वर्तमान है। गांधी जी के सत्याग्रह-आन्दोलन के वर्णन में पर्याप्त सजीवता है। इस प्रकार उनकी हत्या और उसके पश्चात् जनता के शोक का वर्णन भी बहुत मार्मिक और प्रभावशाली शब्दों में किया गया है[1]। प्रकृति के कतिपय सुन्दर चित्र भी इसमें वर्तमान हैं। हिमालय का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है :—

"सरिताएँ उसके शरीर का, करती हैं प्रक्षालन।
प्रकृति वधू करती है उसका, मृदुल करों से मंडन॥
उसके शिखरों पर करती हैं, रवि शशि किरणें नर्तन।
अगणित झरने उसे सुनाते, हैं मनोज्ञ मृदु गायन[2]॥"

इसी प्रकार चन्द्रमा की शोभा का रमणीय चित्र इन शब्दों में अंकित हुआ है :—

"सुर-वाला के आनन सा, नभदर्पण में प्रतिविम्वित।
सुन्दर सुधांशु अम्वर में, था प्रभा-पद्म सा विकसित॥
वह राशि-राशि रत्नावलि, करता था भू पर वितरित।
उसकी उदारता पर थे, नक्षत्र व्योम के विस्मित[3]॥"

महाकाव्य के कथानक, नायक, सर्गसंख्या, प्रकृतिचित्रण आदि से सम्बन्ध रखने वाले कतिपय लक्षणों का निर्वाह होने पर भी जगदालोक को हम महाकाव्य नहीं मान सकते। इसकी कथावस्तु की योजना सुसंगठित नहीं है। गाँधी जी के जीवन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण घटनाओं में महाकाव्योचित शृंखलाबद्धता नहीं दिखाई देती। द्वितीय सर्ग के कतिपय पद्यों में ही महात्मा जी के जन्म, शिक्षा, इँगलैण्ड-गमन, अफ्रीका-यात्रा और अफ्रीका में सत्याग्रह आदि अनेक प्रमुख घटनाओं का संक्षेप से उल्लेख कर दिया गया है। वैविध्यपूर्ण मानव-जीवन की अभिव्यक्ति इस रचना में नहीं हो पाई है। सम्पूर्ण कृति में केवल महात्मा गांधी के जीवन के कुछ पहलुओं पर ही प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया

---

१. छिपी गगन में शीघ्र अशुभ सन्ध्या की लाली।
इसने सबको लगी शोक की रजनी व्याली॥
तुहिन अश्रु से भीग गया अवनी का अंचल।
क्रन्दन करने लगीं सिन्धु में लहरें चंचल॥
—जगदालोक, सर्ग १८, पृ० ३१०

२. जगदालोक, सर्ग १, पृ० १

३. जगदालोक, सर्ग ६, पृ० ९७

है। उनके चरित्र में सत्यप्रियता, अहिंसा, दया, उदारता आदि विशेषताओं की अभिव्यक्ति भी स्वाभाविक ढंग से नहीं हो पाई है। महाकाव्योचित रसात्मक स्थलों की भी जगदालोक में न्यूनता है।

देवार्चन

(रचनाकाल—सन् १९५२)

गोस्वामी तुलसीदास की जीवन-गाथा के आधार पर श्री करील जी ने देवार्चन की रचना की है। लेखक ने स्वयं इसे राष्ट्रभाषा का एक महाकाव्य स्वीकार किया है। देवार्चन की कथावस्तु १७ सर्गो में वर्णित है। तुलसीदास की रचनाओं में उपलब्ध होने वाली सामग्री तथा जनश्रुतियों के आधार पर लेखक ने तुलसीदास के जीवन-वृत्त के पुनर्निर्माण की चेष्टा की है। तुलसीदास की जीवनी को काव्योचित रूप देने के लिए कतिपय नवीन घटनाओं और पात्रों की उद्भावना भी की गई है। देवार्चन की कथा संक्षेप में इस प्रकार है:—

बचपन में ही माता-पिता का स्वर्गवास हो जाने पर रामबचन (तुलसीदास का बचपन का नाम) का पालन-पोषण कविकल्पित धर्म-पिता चिन्तामणि और धर्म-माता कमला करते हैं। कुछ ही दिन पश्चात् धर्ममाता कमला का वात-व्याधि से देहावसान हो जाने पर चिन्तामणि के एक मित्र की पत्नी भारती रामबचन की देखरेख का भार अपने ऊपर ले लेती है। एक दिन अचानक गाँव में बाढ़ आ जाती है और गंगा की बढ़ती हुई लहरें भारती और रामबचन को बहा कर ले जाती हैं। साधुओं का एक दल गंटातट पर मूर्च्छितावस्था में पड़े रामबचन की रक्षा करता है। मातृपितृ-विहीन यह बालक साधुओं के साथ इधर-उधर भटकता हुआ एक दिन काशी में प्रसिद्ध विद्वान सन्यासी शेष सनातन के आश्रम में पहुंच जाता है। यहां विद्याभ्यास करता हुआ यह बालक विद्वन्मंडली में 'श्रीपंडित' नाम से ख्याति प्राप्त कर लेता है। रामबचन के धर्मपिता चिन्तामणि एक शास्त्रार्थ में भाग लेने काशी पहुँचते हैं। वहां रामबचन से उनकी भेंट होती है और वे रामबचन को अपने साथ लेकर अपने गाँव लौट आते हैं। कुछ दिन पश्चात् रामबचन (श्रीपंडित) का रत्ना से विवाह हो जाता है। रत्ना के गर्भ से श्रीपंडित का तारक नामक एक पुत्र उत्पन्न होता है। तारक शैशव में ही शीतला से पीड़ित हो जाता है। इसी अवसर पर गुरुदेव शेष सनातन का निमन्त्रण पाकर श्रीपंडित अपने पुत्र तारक को रुग्णावस्था में ही छोड़ कर भारतीय पंडित-परिषद् के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए काशी के लिए प्रस्थान करते हैं। काशी में पंडित-परिषद् के अधिवेशन में श्रीपंडित अपनी विद्वत्ता से अन्य विद्वानों को चकित कर देते हैं। शीतला के प्रकोप से तारक की मृत्यु का समाचार पाकर श्रीपंडित घर लौट आते हैं। उनकी पत्नी तारक के निधन पर मायके चली जाती है। श्रीपंडित भी अर्धरात्रि में गंगा पार करके पत्नी से मिलने के लिए अपने

पहुँच जाते हैं। पति को देखकर पुत्र-शोकाकुल रत्ना विलखने लगती है। श्रीपंडित रत्ना को सान्त्वना देते हैं और रत्ना पुत्रशोक से विह्वल होकर पति की गोद में गिर पड़ती है। ऐसी स्थिति में श्रीपंडित का मन चंचल हो उठता है। पुत्र-शोकाकुल पत्नी को पति की वासनाभरी चेष्टाएँ अरुचिकर प्रतीत होती हैं। वह चुभने वाले, तीव्र शब्दों में पति को धिक्कारती है। स्त्री के मर्मभेदी शब्दों को सुन कर श्रीपंडित के हृदय में ग्लानि उत्पन्न हो जाती है और वे शीघ्र ही शयनकक्ष से बाहर निकल कर पत्नी को सदा के लिए छोड़कर संसार से विरक्त हो जाते हैं। अब वे राम की भक्ति में लीन होकर इधर-उधर घूमते हुए काशी में शेष सनातन के पास पहुँच जाते हैं। शेष सनातन विद्वन्मंडली के समक्ष श्रीपंडित को दीक्षा देकर उनका नाम तुलसीदास रख देते हैं।

एक दिन गंगा-तट पर एक कुटिया में अब्दुर्रहीम खानखाना तुलसीदास से भेंट करते हैं और भेंट के पश्चात् तुलसी की विरह-विधुरा पत्नी रत्ना को पत्र-द्वारा सान्त्वना प्रदान करते हैं। सारे देश में भ्रमण करते हुए तुलसीदास रामचरितमानस की रचना समाप्त करते हैं। इधर-उधर घूमते हुए एक दिन रत्ना को देखने की इच्छा से तुलसीदास सन्यासी के वेश में अपने गाँव पहुँचते हैं। रत्ना भिक्षा देने के लिए द्वार पर आती है और आवाज से अपने पति को पहचान लेती है। भिक्षा का थाल रत्ना के हाथों से छूटकर गिर जाता है। सन्यासी 'रघुपति राघव राजा राम, पतित-पावन सीताराम' कहता हुआ अन्तर्धान हो जाता है।

देवार्चन की रचना महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों को ध्यान में रखकर की गई है। उसके कथानक का १७ सर्गों में विभाजन, महाकवि तुलसीदास की नायक के पद पर प्रतिष्ठा, भारतीय ग्राम्य-जीवन, विजयादशमी, होली आदि पर्वों तथा वर्षा, शरद् आदि ऋतुओं का विशद वर्णन और प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग आदि विशेषताएँ महाकाव्य की परम्पर गत परिपाटी के अनुकूल ही दृष्टिगोचर होती हैं। पर महाकाव्य के स्वरूप-विधायक इन कतिपय तत्वों का समावेश होने पर भी देवार्चन की गणना महाकाव्यों में नहीं की जा सकती। श्री करील जी ने देवार्चन में महाकाव्य का ढांचा तो अवश्य प्रस्तुत किया है किन्तु उसमें महाकाव्योचित प्राण-प्रतिष्ठा करने में वे सफल नहीं हुए हैं। महाकाव्य में जो रसात्मकता अपेक्षित है उसका देवार्चन में अभाव ही है। इसके अधिकांश प्रसंग नीरस और कवित्वहीन प्रतीत होते हैं। रत्ना और तुलसीदास के गार्हस्थ्य-जीवन का चित्रण, तुलसीदास का गृहत्याग, और सन्यासी के वेश में उनकी रत्ना से अन्तिम भेंट जैसे मर्मस्पर्शी प्रसंगों में भी महाकाव्योचित सरसता लाने में कवि सफल नहीं हुआ है। देवार्चन के कथानक में भी महाकाव्योचित धारावाहिकता नहीं दिखाई देती। तुलसीदास के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कवि की कतिपय उद्भावनाएँ इतिहास और जनश्रुति से मेल नहीं खातीं। तुलसी के पुत्र तारक की कल्पना जनश्रुति पर आधारित है पर उस की मृत्यु पर शोकाकुल रत्ना का कामातुर पति को फटकारना जनश्रुति और इतिहास-सम्मत सिद्ध नहीं होता। जनश्रुति के अनुसार तो तुलसी अपनी पत्नी में बुरी तरह आसक्त

थे और उसके मायके चले जाने पर तुलसी स्वयं भी उसके पीछे-पीछे अपने ससुराल पहुँच गए[१]। पर देवार्चन में कविकल्पित पुत्र तारक की मृत्यु की सूचना पाकर काशी से लौट आने पर वे पत्नी के मायके चले जाने के कुछ दिन पश्चात् उसके पास पहुँचते हैं। देवार्चन से तुलसीदास के चरित्र का विकास स्वाभाविक ढंग से नहीं हो पाया है। जो तुलसीदास काशी से गुरुदेव शेष सनातन का निमंत्रण पाते ही अपनी पत्नी तथा बीमार बच्चे को छोड-कर काशी के लिए प्रस्थान करके अपनी कर्तव्यपरायणता का परिचय देते हैं[२], उनका पु.. के निधन पर शोकाकुल पत्नी के साथ एक कामान्ध पुरुष का-सा व्यवहार पाठकों के हृदय को खटकनेवाला सिद्ध होता है[३]। इसी प्रकार काशी में पंडित-परिषद् के अधिवेशन में तुलसी के विस्तृत व्याख्यान में उपदेशात्मकता और नीरसता आ गई है। वह रामचरित-मानस के रचयिता एक महाकवि की विलक्षण प्रतिभा के अनुरूप नहीं दिखाई देता।

इस प्रकार महाकाव्य की दृष्टि से देवार्चन में अनेक त्रुटियाँ दिखाई देती हैं। इस रचना में कहीं-कहीं कवि की उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति का परिचय अवश्य मिलता है। उदा-हरण के लिए सन्ध्या का भव्य चित्र कवि ने इन पंक्तियों में अंकित किया है :—

"अपनी कंचन काया में त्रिभुवन की सम्पत्ति समेटे।
रवि की राग-भरी किरणों में सुन्दरता का सार लपेटे॥
वन-बागों की रूप-राशि में अपना अंचल-पट फैलाती।
उतरी सन्ध्या नीलगगन से मंगलमय अनुराग लुटाती[४]॥"

पर ऐसे कवित्वमय स्थलों की संख्या देवार्चन में अधिक नहीं है। श्री करील जी का तुलसी के जीवन-वृत्त को महाकाव्योचित रूप देने का प्रयास प्रशंसनीय अवश्य है, किन्तु महाकाव्योचित महती काव्य-प्रतिभा के अभाव में उन्हें इस प्रयास में सफलता नहीं मिल सकी है।

झाँसी की रानी

(रचनाकाल—सन् १९५५)

श्री श्यामनारायणप्रसाद-कृत 'झांसी की रानी' में इतिहासप्रसिद्ध वीरांगना, झाँसी की रानी, लक्ष्मीबाई की जीवन-गाथा वर्णित है। इसकी कथावस्तु तेईस खण्डों में विभक्त है। प्रथम बाईस खण्डों को 'हुंकार' नाम दिया गया है किन्तु अन्तिम खण्ड

१. लाज न लागत आपको, दौरे आएहु साथ।
धिक्-धिक् ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥
२. देखिए—देवार्चन, सर्ग ७, ५४-५५
३. देखिए—देवार्चन, सर्ग ११, १०९-१११
४. देखिए—देवार्चन, सर्ग, १, १

को 'महाप्रस्थान' कहा गया है। इस रचना में मोरोपन्त की कन्या मन्नूबाई के रूप में लक्ष्मीबाई के बचपन, नाना साहब के साथ उसके अस्त्र-शस्त्राभ्यास, झाँसी के राजा गंगाधर राव के साथ उसके विवाह, झाँसी की रानी के रूप में उसका सारी सेना को रणशिक्षा देना तथा सैनिकों को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करना, अंगरेजों के साथ उसके विविध युद्धों तथा अन्त में युद्ध में घायल होकर बाबा गंगादास के आश्रम में उसकी मृत्यु का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। 'झाँसी की रानी' की कथावस्तु में विविध घटनाओं के बीच सम्बन्ध-निर्वाह तो अच्छा हुआ है किन्तु उनमें महाकाव्योचित विस्तार तथा व्यापकता नहीं दिखाई देती। कथावस्तु में वैविध्य-पूर्ण जीवन का चित्र प्रस्तुत करने की क्षमता नहीं है।

प्रस्तुत काव्य में लक्ष्मीबाई की चारित्रिक विशेषताओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। उसके चरित्र में शौर्य, साहस, निर्भीकता, आत्मबल, देशप्रेम और आत्मबलिदान को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। बचपन में ही वह अपने अद्भुत साहस, अदम्य उत्साह और वीर-बालोचित, शौर्य का परिचय देने लगती है। असि-चालन, अश्वारोहण और सैन्य-संचालन आदि में वह बाल्यावस्था में ही निपुणता प्राप्त कर लेती है। वीर-बालक नाना साहब के साथ वीर-बाला के अनुरूप विविध क्रीड़ाओं में निरत मन्नूबाई (लक्ष्मी बाई) का चित्र ऐसी पंक्तियों में खींचा गया है:—

"वह मनू विहँस आगे-आगे,
घोड़े की वाग सँभाल चली।
पीछे नाना साहब की भी,
वीरों-सी नाहर चाल चली॥
वे स्वतन्त्रता के वीर व्रती,
भावी भारत के लाल चले।
सुषमा-मण्डित प्रासादों से,
हँसते बालक तत्काल चले॥
घोड़े को रोक मनू बोली,
नाना साहब अब रुक जाओ।
लो रोक राव साहब! भाला,
आगे न बढ़ो तुम रुक जाओ॥
देखूंगी किसका वाजि आज,
विजयी होता है चालों में?
पर्वत के उन्नत शिखरों पर,
बरछी भाले, करवालों में[1]?"

---

१. झाँसी की रानी, दूसरी हुंकार, पृ० ४९-५०

युद्धक्षेत्र में झाँसी की रानी की वीरता और रणकौशल की व्यंजना भी अच्छी हुई है। जैसे:—

"तलवार किधर कब उठती थी,
कब किधर छपाछप करती थी।
यह भी अरिदल को ज्ञात न था,
कब किधर लपालप करती थी॥
केवल इतना ही कह पाते थे,
रानी आई रानी आई।
तब तक सिर धड़ से अलग लोट,
भू पर कहता रानी आई॥
जब तक घोड़े की टापों की,
ध्वनि ही अरिदल सुन पाता था।
तब तक रानी का खड्ग तुरत,
बन मृत्यु शीश पर आता था॥
दाएँ-बाएँ दो हाथों से,
रानी थी रिपु-सिर काट रही।
स्वातन्त्र्य-भवन की नई नींव,
थी शत्रु-मुण्ड से पाट रही[1]॥"

लक्ष्मीबाई के चरित्र में वीरभाव को ही प्रधानता दी गई है पर इसके साथ ही उसके हृदय की देशभक्ति, स्वातन्त्र्य-प्रियता और दीन-दुखियों के प्रति दया आदि उदात्त गुणों पर भी यत्र-तत्र प्रकाश डाला गया है। अपने जीवन के साथी, रणभूमि में घायल, मरणासन्न, स्वामिभक्त घोड़े के प्रति रानी के हृदय का स्नेह और शोक इन शब्दों में उमड़ पड़ता है:—

"रो रही थी बैठ रानी,
बाल-साथी रो रहा था।
स्वामि-भक्ति प्रतीक निश्चल,
भूमि रज पर सो रहा था॥
प्राण-रक्षक मौन हो,
साकार जग से जा रहा था।
व्योम में धूमिल निराला,
अभ्र छाता जा रहा था॥
वाजि का मुँह चूम कर रानी बिलख कर कह रही थी,
हे सखे, मुझको दिखा दो कीर्ति की उज्ज्वल निशानी।

१. झाँसी की रानी, बाईसवीं हुंकार, पृ० २९४-२९५

माँ-बहन की माँग का सिन्दूर धोकर हँस रही है,
इन नरेशों की अभी मायामयी यह री जवानी[1] ॥"

प्राकृतिक दृश्यों के विविध वर्णनों को भी 'झाँसी की रानी' में यथेष्ट स्थान दिया गया है। सूर्योदय, सूर्यास्त, तमसाच्छन्न रात्रि, राका रजनी, पावस, शरद, वसन्त आदि ऋतुओं के कतिपय चित्र 'झाँसी की रानी' में चित्रित हुए हैं। प्रात:कालीन शोभा का चित्रण ऐसे पद्यों में सुन्दर बन पड़ा है:—

"प्राची के स्वर्णिम अंचल पर,
बालक रवि था खेल रहा।
शान्ति-सुधा में विमल प्रभा वह,
विहँस-विहँस था घोल रहा॥
तरु-तरु के रंजित मस्तक पर,
खगकुल बैठा बोल रहा।
मधु से सिक्त सघन वन-वन में
मलय वायु था डोल रहा[2] ॥"

विविध प्राकृतिक दृश्यों और विभिन्न घटनाओं के बीच सामंजस्य दिखाने में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। प्रथम हुंकार के अन्त में शारदी ज्योत्स्ना का चित्रण बालिका 'मनू' के जन्मोत्सव के, चतुर्थ हुंकार में प्रात:कालीन शोभा तथा पशु-पक्षियों के उल्लास का वर्णन झाँसी की रानी के विवाहोत्सव के और 'महाप्रस्थान'-प्रसंग में सूर्यास्त-वर्णन रानी की अन्तिम विदाई के अनुकूल ही सिद्ध होता है। कहीं-कहीं कवि ने प्रकृति में मानवीय व्यापारों और चेष्टाओं का आरोप भी सफलता के साथ किया है। जैसे:—

"खुल गया प्राची का प्रासाद,
विहँसने लगे हेममय द्वार।
दमकने लगा छटा के साथ,
उषा के उर का अरुणिम हार॥
सँभाले एक हाथ से हार,
दूसरे से लज्जा का भार।
खड़ी नभ पनघट पर साकार,
देखता था उसको संसार॥
खींचतीं सखी दिशाएँ मौन,
पकड़कर स्वर्ण-डोर की छोर।
निकलने लगा स्वर्णमय कलश,
हुआ जग क्षण में आत्मविभोर[3] ॥"

---

१. झाँसी की रानी, अठारहवीं हुंकार, पृ० २४५-२४६
२. झाँसी की रानी, सातवीं हुंकार, पृ० ११३
३. झाँसी की रानी, चौथी हुंकार, पृ० ७९-८०

'झाँसी की रानी' में वीररस की प्रधानता है। युद्ध-प्रसंगों में वीररस की व्यंजना अच्छी हुई है। जैसे :—

"इसलिए बढ़ो, चिन्ता न करो,
रंचक इन नश्वर प्राणों की।
वैरी की छाती पर गरजो,
कुछ भीति न हो अरि-त्राणों की।।
अरि की तोपों के मुँह में ही,
विकराल बाहु दो अभी डाल।
अपनी सेना के सम्मुख अब,
रुक जाये आ कर महाकाल[1]।।"

वीररस के अनुकूल अनुभावों की योजना भी कहीं-कहीं सुन्दर बन पड़ी है :—

"लग गई हृदय में रिपु-गोली,
सो गए भूमि के आँचल पर।
लिख दी मारुत ने वीर-कथा,
तरु-तरु के कम्पित दल-दल पर।।
यह सुनकर रानी उछल पड़ी,
सिंहनी-सदृश वह तड़प उठी।
अरि-हृदय-रक्त की प्यासी असि,
लेकर बिजली सम कड़क उठी[2]।।"

इस रचना में कवि ने सीधी-सादी ओजस्विनी और प्रवाहमयी भाषा को स्थान दिया है। कहीं-कहीं समुचित अलंकारों के प्रयोग से भाषा का सौन्दर्य निखर आया है। जैसे :—

"गगनचुम्बी भवनों के केतु,
उड़ रहे थे अविरल अविराम।
अरुण का हर कर वे प्रस्वेद,
व्यंजन झल कर देते विश्राम।।
मेघमालाओं का कर स्पर्श,
धवल प्रासादों का कलकण्ठ।
जान पड़ता था ऐसा दिव्य
शम्भु-तन पर हो नीला कण्ठ[3]।।"

---

१. झाँसी की रानी, बीसवीं हुंकार पृ० २६४
२. झाँसी की रानी, पन्द्रहवीं हुंकार पृ० २१६
३. झाँसी की रानी, चौथी हुंकार, पृ० ८१

मुहावरों का प्रयोग भी कहीं-कहीं अच्छा हुआ है। जैसे :—

"निज प्राण हथेली पर लेकर,
वन, सरिता, अगम पहाड़ों में[1] ॥"
"अब उधर हमारी सेना की
आशा पर पानी आज फिरा[2] ॥"
"अरि की आंखों में धूल झोंक
भारत को पुन: जगाना था[3] ॥"

भाषा में विविध भावों को व्यक्त करने की क्षमता पर्याप्त है। सीधी-सादी किन्तु ओजस्विनी भाषा में रणभूमि की सजीव मूर्ति खड़ी करने में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है।

उपर्युक्त विशेषताओं के होते हुए भी 'झाँसी की रानी' में महाकाव्य की दृष्टि से अनेक त्रुटियाँ वर्तमान हैं। इसकी कथावस्तु में मानव-जीवन के विविध पक्षों को आत्मसात् करने की क्षमता नहीं है। लक्ष्मीबाई के वीरतापूर्ण चरित्र को ही इस रचना में प्रमुख स्थान दिया गया है। महाकाव्योचित विविध चरित्रों की सृष्टि इसमें नहीं हो सकी है। महाकाव्योचित रसात्मकता भी इसमें बहुत कम मात्रा में वर्तमान है। इसमें मार्मिक प्रसंगों की न्यूनता और इतिवृत्तात्मक प्रसंगों की प्रचुरता है। इसकी भाषा-शैली में भी महाकाव्योचित्त प्रौढ़ता तथा गम्भीरता नहीं पाई जाती। इसलिए 'झाँसी की रानी' को हम महाकाव्यों की श्रेणी में स्थान न देकर एक वर्णनात्मक प्रबन्धकाव्य कहना ही उचित समझते हैं।

परिशिष्ट

युगस्रष्टा : प्रेमचन्द

(रचनाकाल—सन् १९५९)

मीराँ महाकाव्य की रचना के पश्चात् श्री परमेश्वर द्विरेफ ने हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध कथाकार प्रेमचन्द के जीवन-वृत्त को लेकर 'युगस्रष्टा : प्रेमचन्द' नामक एक दूसरा महाकाव्य प्रस्तुत किया है। 'युगस्रष्टा-प्रेमचन्द' को द्विरेफ जी ने स्वयं महाकाव्य कहा है। इस रचना में कुल आठ सर्ग हैं। प्रेमचन्द के पिता की मृत्यु के पश्चात् श्मशान-भूमि में प्रेमचन्द-द्वारा उनके दाहसंस्कार के मर्मस्पर्शी दृश्य से इस काव्य का आरम्भ किया गया है। पिता के देहावसान के अनन्तर बाल्यावस्था में ही परिवार के पालन-पोषण का भार वहन

---

१. झाँसी की रानी, परिचय, पृ० ८
२. झाँसी की रानी, बाईसवीं हुंकार, पृ० ३००
३. झाँसी की रानी, नवीं हुंकार, पृ० १३३

करते हुए भी मनोयोग और उत्साह के साथ विद्याभ्यास करना, धनाभाव के कारण अनेक कठिनाइयों का सामना करना और सामाजिक जीवन के कटु अनुभवों को अपनी कहानियों तथा उपन्यासों में व्यक्त करते हुए अकाल में ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देना आदि प्रेमचन्द के जीवन की कतिपय प्रमुख घटनाओं को इस काव्य में स्थान दिया गया है।

वस्तुतः द्विरेफ जी की इस कृति में महाकाव्योचित घटना-विस्तार नहीं है। प्रेमचन्द जी के जीवन की विविध घटनाओं का एक सुसंगठित कथानक के रूप में सांगोपांग क्रमवद्ध वर्णन इस रचना में उपलब्ध नहीं होता। प्रेमचन्द के जीवन का सहारा लेकर शोषक और शोषित के जीवन की विषमताओं, सामाजिक रूढ़ियों एवं कुप्रथाओं और ग्रामवासियों के जीवन की अच्छाइयों तथा बुराइयों के सजीव चित्र प्रस्तुत करने में लेखक की दृष्टि अधिक रमी है। कथावस्तु की उपेक्षा कई स्थलों पर हुई है। विविध वर्णनों के बीच कथा-सूत्र टूटा हुआ-सा दृष्टिगत होता है, विशेषकर चतुर्थ और पंचम सर्ग में तो कथा-सूत्र को पकड़ना कठिन प्रतीत होता है।

'युगस्रष्टा : प्रेमचन्द' में चरित्रचित्रण भी अच्छा नहीं हुआ है। प्रेमचन्द के चरित्र की विशेषताओं पर पूरा प्रकाश डालने में द्विरेफ जी को सफलता नहीं मिली है। कठिन परिस्थितियों में प्रेमचन्द के हृदय की विविध दशाओं के चित्रण की ओर कवि का ध्यान बहुत कम गया है। प्रेमचन्द जी के संघर्षमय जीवन के कतिपय स्थूल चित्र ही इस कृति में देखने को मिलते हैं। जैसे:—

"तिमिर है चारों ओर अगाध
दीप जलता छोटा-सा मन्द
जग रहा कौन यहाँ इस काल
जब कि जग की आँखें हैं बन्द ?
चलो, देखें चलकर हम पास
अरे, यह तो है धनपत राय,
यहाँ ऐसे तम में चुपचाप
अधिक चिन्तित यह क्यों है हाय ?[1]"

"चार आने गज से ज्यादा न
पहन पा सका अभी तक वस्त्र
सम्मिलित इसका सभी कुटुम्ब
रहा 'गुल्ली-डंडा' ही अस्त्र
सदा 'अँवरा पुल' का मजबूत
लिया चमरोधा जूता मोल

१. युगस्रष्टा : प्रेमचन्द, सर्ग ३, पृष्ठ ३९

के सूक्ष्म विश्लेषण-द्वारा कवि ने अपनी व्यापक अनुभूति और सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचय दिया है। एकलीज, यूलीसिस, हेलेन और पेनीलोप-जैसे पात्रों के चरित्र में मानव-स्वभाव-सुलभ गुण और दोष दोनों का समन्वय दिखाया गया है। एकलीज में वीरता, सत्यवादिता और उदारता के साथ-साथ क्रोध और क्रूरता भी दिखाई देती है। यूलीसिस साहसी, धैर्यशाली, आत्माभिमानी और सहिष्णु होता हुआ भी स्त्री के समक्ष दुर्बल और भीरु दृष्टिगोचर होता है। हेलेन में लोकविश्रुत सौन्दर्य और गुणों के होते हुए भी चारित्रिक बल और पावनता की कमी है। पेनीलोप बुद्धिमती, पतिव्रता और चरित्रशालिनी होकर भी दुर्बलता लिए हुए है। होमर का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। उसकी भाषा प्रसंगानुकूल, सशक्त, प्रवाहमयी और प्रसादगुण से युक्त है। अलंकारों की योजना में होमर सिद्धहस्त है। उसकी उपमाएं सुन्दर, सरल और स्वाभाविक हैं। उनमें कहीं भी जान-बूझ कर पाण्डित्य-प्रदर्शन की चेष्टा नहीं दिखाई देती। वे काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि और भावव्यंजना में सहायक सिद्ध होते हैं। होमर के ये दोनों महाकाव्य उदात्त भावनाओं और गंभीर विचारों से ओत-प्रोत हैं। इनमें विलक्षण वर्णनशक्ति और प्रबन्धकौशल दृष्टिगोचर होता है। रामायण और महाभारत की भाँति होमर के इलियड और ओडिसी भी पश्चात्कालीन अनेक महाकाव्यकारों को प्रेरणा प्रदान करते रहे हैं।

इनियड

इनियड लैटिन-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य माना जाता है। इसके रचयिता वर्जिल (Vergil) रोम के प्रसिद्ध सम्राट् आगस्टस के अमात्यों में से एक थे। इटली की एक प्राचीन ऐतिहासिक कथा को लेकर इनियड की रचना हुई है। ट्रोजन महायुद्ध का वीर योद्धा एनियास इसका नायक है। ट्राय के पतन के पश्चात् एनियास पूर्व की ओर यात्रा करता हुआ अफ्रीका के समुद्री तट पर कार्थेज नगर में पहुँच जाता है। वहाँ कार्थेज की महारानी डीडो से उसका परिचय होता है। डीडो को वह अपनी सारी कहानी सुनाता है। डीडो उस पर आसक्त हो जाती है। इसी अवसर पर एनियास को दैवी आज्ञा होती है कि उसे शीघ्र ही कार्थेज को छोड़कर इटली की ओर प्रस्थान कर देना चाहिए। दैवी आज्ञा के अनुसार एनियास चुपचाप इटली के लिए प्रस्थान की तैयारी कर लेता है। डीडो यह समाचार पाकर अधीर हो उठती है। एनियास दैवी आज्ञा का उल्लंघन अनुचित समझ इटली की ओर चल पड़ता है। डीडो निराश होकर उसकी तलवार से आत्महत्या कर लेती है। एनियास इटली के पश्चिमी तट पर पहुँच जाता है। वहाँ से देवी सीबिल के साथ नरक की यात्रा करता हुआ वह नरक में डीडो और स्वर्ग में अपने पिता की मृतात्मा से भेंट करता है। मृतात्माओं के लोक से विदा होकर एनियास टाइबर नदी के तट पर स्थित सम्राट् लेटीनस की राजधानी में पहुँच जाता है। वहाँ लेटीनस की परमसुन्दरी पुत्री लेविनिया से उसका विवाह होने के पश्चात् वह सुखमय जीवन व्यतीत करता है।

वर्जिल पर होमर का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। होमर के ओडिसी की हल्की-सी झलक इनियड में लक्षित होती है। इनियड में रोम की प्राचीन सभ्यता पूर्ण रूप में प्रति-

विम्बित हुई है। उसमें रोम के प्राचीन वीरपुरुषों की रोमांचकारी वीरगाथाओं का हृदयग्राही वर्णन मिलता है और रोम के ऐश्वर्यमय जीवन के मनोरम चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। देशभक्ति इनियड में कूट-कूट कर भरी पड़ी है। वर्जिल के प्रकृति-चित्र भी प्रौढ़ता और सजीवता लिए हुए हैं। एक कृषक परिवार में उत्पन्न होकर वर्जिल के जीवन का अधिकांश समय प्रकृति की रमणीय गोद में व्यतीत हुआ था, इसलिए प्रकृति के अनन्त वैभव और सौन्दर्य के उद्‌घाटन में उसकी दृष्टि अधिक रमी है। इनियड में देवी-देवताओं और मृतात्माओं को विशेष स्थान दिया गया है। होमर की तरह वर्जिल ने भी मानव को अदृष्ट (नियति) के हाथ का खिलौना स्वीकार किया है। पात्रों के चरित्रांकन में वर्जिल को होमर के समान सफलता नहीं मिली है। इनियड का चरित्रचित्रण साधारण कोटि का है। हाँ, डीडो के चरित्र की विशेषताओं के विश्लेषण में वर्जिल को पर्याप्त सफलता मिली है।

होमर के इलियड और ओडिसी का समकक्ष न होकर भी इनियड एक उच्चकोटि का महाकाव्य है। वर्जिल के पश्चात्कालीन पाश्चात्य महाकाव्यकारों ने इनियड को आदर्श कृति स्वीकार किया है। उनके महाकाव्यों का आधार इनियड ही सिद्ध होता है।

डिवाइन कामेडी

डिवाइन कामेडी इटली के महाकवि दान्ते का प्रसिद्ध महाकाव्य है। पाश्चात्य साहित्य में दान्ते को होमर और वर्जिल का समकक्ष महाकवि माना जाता है। दान्ते अठारह वर्ष की अवस्था में अपनी समवयस्क रूपवती कुमारी बीट्रिस पर मुग्ध हो जाता है। विवाह के पश्चात् पैंतीस वर्ष की अवस्था में बीट्रिस की मृत्यु हो जाती है और दान्ते का जीवन अन्धकारमय हो जाता है। अपनी प्रेयसी बीट्रिस को लेकर और अपने नैराश्य-मय जीवन से प्रेरणा प्राप्त करके दान्ते ने डिवाइन कामेडी की रचना की है। दान्ते स्वयं इस महाकाव्य का नायक और उसकी प्रियतमा बीट्रिस नायिका है। इसकी कथा तीन खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में नरक का, द्वितीय में पापक्षय-भूमि और तीसरे में स्वर्ग के दृश्य दिखाये गये हैं। प्रथम खण्ड में कवि एक बीहड़ वन में यात्रा करता है। पथभ्रष्ट होकर अनेक संकटों और कठिनाइयों का सामना करता हुआ वह अपने को निस्सहाय अवस्था में पाता है। इसी अवसर पर उसे वर्जिल की आत्मा के दिव्य दर्शन होते हैं। वह वर्जिल से सत्यपथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा प्राप्त करता है। द्वितीय खण्ड में कवि पश्चाताप की आँच में अपने को भस्म करके उज्ज्वल रूप धारण कर लेता है। तृतीय खण्ड में उसकी अपनी प्रेयसी बीट्रिस से भेंट होती है और उसकी सहायता से कवि स्वर्ग में अनन्त शक्ति के दर्शन में समर्थ होता है।

वस्तुतः डिवाइन कामेडी में दान्ते के जीवन के संघर्ष, नैराश्य और अनुताप का इतिहास चित्रित है। इसका कथानक गूढ़, गम्भीर और रहस्यमय है। चरित्रचित्रण में मनोवैज्ञानिकता और दार्शनिकता है। जीवन की मार्मिक अनुभूतियों, सुकुमार कल्पनाओं

और उदात्त भावनाओं का विशद चित्रण इस कृति में हुआ है। दान्ते ने वर्जिल को अपना पथप्रदर्शक और गुरु स्वीकार किया है।

पैराडाइज़ लास्ट

मिल्टन के पैराडाइज़ लास्ट को अंग्रेजी-साहित्य में एक उच्चकोटि का महाकाव्य माना जाता है। इसमें ईश्वर के विरुद्ध शैतान के विद्रोह, शैतान के षड्यन्त्र से आदि-पिता आदम और आद्या जननी ईव के पतन और अन्त में ईश्वर के अवतार ईसा-द्वारा उनके उद्धार की कथा है। स्वर्ग में ईश्वरीय आदेशों की उपेक्षा करने के कारण शैतान स्वर्ग से निकाल दिया जाता है। वह मानव की सद्वृत्तियों का नाश करने के लिए पृथ्वी पर आ जाता है। वहाँ सुखमय सन्तुष्ट जीवन बिताते हुए आदम और ईव की सुखशान्ति को नष्ट करने का वह दृढ़ संकल्प कर लेता है। साँप के रूप में इसी शैतान की प्रेरणा से ईव ईश्वर-द्वारा निषिद्ध ज्ञान का फल खा लेती है। ईव के प्रति अगाध प्रेम होने के कारण आदम भी उस फल को चख लेता है। अन्त में उन दोनों में कामवासना जाग उठती है। इसी फल के दुष्प्रभाव से वे दोनों पतन और नाश की ओर अग्रसर होते हैं। आदम और ईव दोनों पश्चाताप करते हुए दुखमय जीवन बिताते हैं। अन्त में सहानुभूति प्रकट करते हुए ईश्वर-पुत्र ईसा उन्हें उद्धार का मार्ग दिखाते हैं।

पैराडाइज़ लास्ट में मिल्टन ने अपने युग की धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों के सजीव चित्र प्रस्तुत किए हैं। जातीय भावनाओं और आदर्शों को उन्होंने अपनी लोकोत्तर प्रतिभा-द्वारा चमत्कृत किया है। आदिमानव के मूलविकास, दैवी और आसुरी शक्तियों का संघर्ष और ईश्वरीय न्याय का उद्घाटन कवि ने बड़े कौशल से किया है। आदम और ईव से सम्बन्धित प्राचीन ऐतिहासिक कथानक को कवि ने अपनी अद्भुत कल्पना-शक्ति से अधिक प्रभावशाली और रोचक बनाया है। इस रचना में कवित्व और दार्शनिकता, कल्पना और इतिहास का सुन्दर सामंजस्य दिखाई देता है। कथानक कहीं तीव्र और कहीं मन्थर गति से आगे बढ़ता है पर उसका तारतम्य कहीं टूटता नहीं है। आदि-पुरुष आदम और आद्या नारी ईव का चरित्रचित्रण स्वाभाविक ढंग से हुआ है। उनका प्रारम्भिक जीवन अत्यन्त सरल, निष्कपट और सन्तुष्ट है। वे एक दूसरे के प्रति निश्छल प्रेम धारण करते हुए प्रकृति और ईश्वरीय सत्ता का अनुसरण करते हैं। ईश्वर के आदेश की उपेक्षा करके ज्ञान का फल चखने के पश्चात् उनका जीवन जटिल और संघर्षमय हो जाता है। आदम और ईव अपनी जातिगत विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। आदम पुरुष है, उसमें विवेक और पुरुषार्थ का प्राधान्य है। ईव नारी-स्वभाव-सुलभ चंचलता, भावुकता और सुकुमारता लिए हुए है। यदि आदम शक्ति और सामर्थ्य का प्रतीक है तो ईव सौन्दर्य, कोमलता और मधुरिमा की प्रतिमा है।

मिल्टन की भाषा परिष्कृत और प्रौढ़ है। कवि की विचारधाराओं में गम्भीरता के कारण भाषा में दुरूहता आ गई है। उनके काव्य में उदात्त भावों और गम्भीर विचारों की

प्रचुरता है। पैराडाइज लास्ट में मिल्टन ने होमर और दान्ते की काव्यशैली का अनुसरण किया है पर भाव-गाम्भीर्य और भाषा की दुरूहता के कारण उनकी कृति अधिक लोकप्रिय न हो सकी।

पाश्चात्य साहित्य में उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त अन्य कई महाकाव्यों की सृष्टि हुई किन्तु वे सब साधारण कोटि के महाकाव्य सिद्ध होते हैं। इलियड और ओडिसी-जैसे महाकाव्यों से उनकी तुलना नहीं हो सकती।



परिशिष्ट—२

साकेत और अन्य विविध कवि

साकेत की अन्य कृतियों के साथ तुलना करते हुए हम यह बता चुके हैं कि साकेत में गुप्त जी अपने पूर्ववर्ती कवियों से कहाँ तक प्रभावित हैं। यहाँ हम तुलना के लिए कुछ अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥"

—गीता, अध्याय, २, ४७

"फल की चिन्ता नहीं, धर्म की हमको धुन है।
मर क्या, अमर अधीन हमारे कर्मों के हैं॥"

—साकेत, सर्ग १२, पृ० ३१२

× × ×

"विरमत विरमत सख्यो नलिनीदलतालवृन्तपवनेन।
हृदयगतोऽयं वह्निर्झटिति कदाचिज्ज्वलयत्येव॥"

—सुभाषित-रत्न-भाण्डागार, बम्बई, सं० १९८५, पृ० ११६

"ठहर अरी, इस हृदय में लगी विरह की आग।
तालवृन्त से और भी धधक उठेगी जाग॥"

—साकेत, सर्ग ९, पृ० २१०

× × ×

"कतन वेदन मोहि देसि मदना।
हर नहि बला, मोहि जुवति जना॥
विभुति-भूषन नहिं, चानन क रेनू।
बघछाल नहि, मोरा नेतक बसनू॥
नहिं मोरा जटाभार, चिकुर क बेनी।
सुरसरि नहि मोरा, कुसुम क श्रेनी॥
चाँदन क बिन्दु मोरा, नहिं इन्दु छोटा।
ललाट पावक नहिं, सिंदुर क फोटा॥
नहिं मोरा कालकूट, मृगमद चारु।
फनपति नहि मोरा मुकुता हारु॥
भनइ विद्यापति सुन देव कामा।
एक पए दूखन नाम मोरा बामा॥"

—विद्यापति—पदावली, ४२

"मुझे फूल मत मारो।
मैं बाला अबला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।

× × ×

बल हो तो सिन्दूर-बिन्दु यह, यह हरनेत्र निहारो॥
रूप-दर्प कन्दर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो।
लो, यह मेरी चरणधूलि उस रति के सिर पर धारो॥"

—साकेत, सर्ग ६, पृ० २२७

"लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल।
लाली देखन में गई, मैं भी हो गई लाल॥"

—हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृ० २५४

"निरखती सखी, आज मैं जहाँ,
दयित-दीप्ति ही दीखती वहाँ।"

—साकेत, सर्ग ६, पृ० २४१

× × ×

भलेहि पेम है कठिन दुहेला। दुइ जग तरा पेम जेइ खेला।
दुख भीतर जो पेम मधु राखा। जग नहिं मरन सहै जो चाखा॥"

—जायसी-ग्रन्थावली, राजासुआ-संवाद-खंड, दो० ७

"प्रियतम के गौरव ने लघुता दी है मुझे, रहें दिन भारी।
सखि, इस कटुता में भी मधुर-स्मृति की मिठास, मैं बलिहारी॥"

—साकेत, सर्ग ६, पृ० २१०

× × ×

"यह तन जारौं छार कै, कहौं कि 'पवन! उड़ाव'।
मकु तेहि मारग उड़ि परै कंत धरैं जहं पांव॥"

—जायसी-ग्रन्थावली, नागमती-विरह-खंड, दो० २

"बीच-बीच में उन्हें देख लूं मैं झुरमुट की ओट।
जब वे निकल जायं तब लेटूं उसी धूल में लोट॥"

—साकेत, सर्ग ६, पृ० २२५

× × ×

"आजु रैनि नहिं नींद परी।
जागत गनत गगन के तारे रसना रटत गोविन्द हरी॥"

—सूरसागर, दशम-स्कन्ध, ३००४

"हाय, न आया स्वप्न भी, और गई यह रात।
सखि, उडुगण भी उड़ चले, अब क्या गिनूं प्रभात?"

—साकेत, सर्ग ६, पृ० २०७

× ×

"निसदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पैं जब तें स्याम सिधारे॥
दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ, उर कपोल भए कारे।
कंचुकि पट सूखत नहिं सजनी, उर बिच बहत पनारे॥
सूरदास प्रभु अंबु बढ़्यो है गोकुल लेहु उबारे।
कह लौं कहौं स्यामघन सुन्दर विकल होत अति भारे॥"

—सूरसागर, दशम-स्कन्ध, ३२३६

"शिशिर, न फिर गिरि वन में।
जितना मांगे पतझड़ दूंगी, मैं इस निज नन्दन में।
कितना कम्प तुझे चाहिए, ले मेरे इस तन में।
सखी कह रही, पाण्डुरता का क्या अभाव आनन में ?"

—साकेत, सर्ग ६, पृ० २२४

× × ×

"रहिमन अँसुवा नयन ढरि, जिय दुख प्रकट करेइ।
जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कहि देइ॥"

—रहीम-रत्नावली, दोहावली, १६५

"अपना पानी भी नहीं रखता अपनी बात,
अपनी ही आंखें उसे ढाल रहीं दिन-रात।
जना देते हैं सभी अजान,
स्वजनि, रोता है मेरा गान।"

—साकेत, सर्ग ६, पृ० २३४

× × ×

नयन सलोने अधर मधु, कहि रहीम घटि कौन।
मीठो भावे लोन पर, अरु मीठे पर लौन॥"

—रहीम-रत्नावली, दोहावली, ११२

"मधु हँसने में, लवण रुदन में, रहे न कोई भूल में,
मौज किन्तु मँझधार बीच है किंवा है वह कूल में ?"

—साकेत, सर्ग ६, पृ० २३३

× × ×

"रहिमन चुप ह्वै बैठिये, देखि दिनन को फेर।
जब नीके दिन आइहैं, बनत न लगिहै बेर॥"

— रहीम-रत्नावली, दोहावली, १८०

"री, आवेगा फिर भी बसन्त,
जैसे मेरे प्रिय प्रेमवन्त।

दुःखों का भी है एक अन्त,
हो रहिये दुर्दिन देख मूक।
ओ कोइल, यह कौन कूक?"

—साकेत, सर्ग ६, पृ० २३२

× × ×

"If winter comes, can spring be far behind?"

—P. B. Shelley—Ode to the west wind.

"श्लाघनीय हैं एक से, दोनों ही द्युतिमन्त,
जो वसन्त का आदि है, वही शिशिर का अन्त।"

—साकेत, सर्ग ६, पृ० २२६

"अमी हलाहल मद भरे, सेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥"

—रसलीन

"वलि तुम्हारी एक बाँकी दृष्टि पर,
मर रही है, जी रही है सृष्टि भर?"

—साकेत, सर्ग १, पृ० २३

× × ×

"मैं बरजी कै बार तू इत कित लेति करोट।
पंखुरी लगें गुलाब की परिहै गात खरोट॥"

—बिहारी-सतसई, २५६

"नाइन, रहने दे तू, तेल नहीं चाहिये मुझे तेरा,
तनु चाहे रूखा हो, मन तो सुस्नेहपूर्ण है मेरा।"

—साकेत, सर्ग ६, पृ० २२१

× × ×

"पलनु प्रकटि वरुनीनु वढ़ि नहिं कपोल ठहरात।
अँसुवा परि छतिया छिनकु छनछनाइ छिपि जात॥"

—बिहारी-सतसई, ५६६

"बूंदियों को भी आज इस तनुस्पर्श का ताप,
उठती हैं वे भाप-सी गिर कर अपने आप।"

—साकेत, सर्ग ६, पृ० २१२

× × ×

"करके मीड़े कुसुम-लौं गई विरह कुम्हिलाइ।
सदा समीपिनि सखिनु हूँ नीठि पिछानी जाइ॥"

"मुख-कान्ति पड़ी पीली-पीली आँखें अशान्त नीली नीली ।
क्या हाय यही वह कृश काया, या उसकी शेष सूक्ष्म छाया ।।"

—साकेत, सर्ग ६, पृ० ११५

× × ×

"वाम बाँह फरकति मिलै जौं हरि जीवन मूरि।
तौ तोहीं सौं भेंटिहौं, राखि दाहिनी दूरि ।।"

—बिहारी-सतसई, ५७२

"आजा, मेरी निंदिया गूंगी,
आ, मैं सिर आंखों पर लेकर चन्दखिलौना दूंगी।
प्रिय के आने पर आवेगी,
अर्द्धचन्द्र ही तो पावेगी ।
पर यदि आज उन्हें लावेगी तो तुझ से ही लूंगी।"

—साकेत, सर्ग ६, पृ० २०६

× × ×

"मानहुँ विधितन अच्छ-छवि स्वच्छ राखिवै काज ।
दृग-पग पोंछन कौं करे भूषन पायंदाज ।।"

—बिहारी-सतसई, ४१३

"वहाँ लय, यहाँ प्रलय सुविशाल, दृष्टि में दर्शनार्थ धोती ।"

—साकेत, सर्ग ९, पृ० २३४

× × ×

"दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि 'शंकर' को ।"

—नाथूराम शंकर, कामना

"करुणा-कंजारण्य-रवे गुणरत्नाकर आदि कवे,
कविता-पितः, कृपा वर दो, भावराशि मुझ में भर दो ।।"

—साकेत, सर्ग ४, पृ० ७२

× × ×

"सौ सौ, शूर लक्ष्मण पड़े हैं जहाँ पृथ्वी पे,
नीरव पड़े हैं वहीं सीतापति, आँखों से
अविरल अश्रुजल बह कर वेग से
भ्रातृ-रक्त-संग मिल पृथ्वी को भिगोता है,
वह गिरि-गात्र पर गैरिक से मिल के
गिरता है पृथ्वी पर निर्झर का नीर ज्यों।"

—मेघनाद-वध, चिरगाँव (झाँसी), सं० २००८, पृ० ३६४

"राम शिविर में,—शरद्घनों में नीलाचल से,
भीग रहे हैं उत्स-रूप आंखों से जल-से ।

धातुराग-से पड़े अंक लक्ष्मण उनके,
बीत रहे हैं हाय, कल्प जैसे क्षण उनके।"

—साकेत, सर्ग १२, पृ० ३१६

× × ×

"इन्द्र-नीलमणि महाचषक था
सोम-सहित उलटा लटका।"

—कामायनी, आशा सर्ग, पृ० २४

"उस विराट आलोडन में, ग्रह
तारा बुद-बुद से लगते।
प्रखर प्रलय पावस में जगमग,
ज्योति-रिंगणों से जगते॥"

—कामयानी, चिन्ता सर्ग, पृ० १७

"किसने मेरी स्मृति को बना दिया है निशीथ में मतवाला।
नीलम के प्याले में बुद्बुद देकर उफन रही वह हाला॥"

—साकेत, सर्ग ६, पृ० २१८

तारक-चिन्ह-दुकूलिनी पी-पीकर मधु मात्र,
उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाधर-पात्र।

—साकेत, सर्ग ६, पृ० २२०

× × ×

"कहो कौन हो दमयन्ती-सी तुम तरु के नीचे सोई?
हाय तुम्हें भी त्याग गया क्या, अलि, नल-सा निष्ठुर कोई।
पीले पत्तों की शय्या पर तुम विरक्ति सी, मूर्च्छा सी,
विजन विपिन में कौन पड़ी हो विरह-मलिन, दुखविधुरा-सी॥"

—पन्त-पल्लव (सं० २००५), छाया, पृ० ५५

"कहीं सहज तरुतले कुसुम-शय्या बनी,
ऊँघ रही है पड़ी जहाँ छाया घनी,
घुस धीरे से किरण लोल दल-पुंज में,
जगा रही है उसे हिलाकर कुंज में।
किन्तु वहाँ से उठा चाहती वह नहीं,
कुछ करवट सी पलट, लेटती है वहीं।"

—साकेत, सर्ग ५, पृ० ११०

× × ×

"क्या पूजा क्या अर्चन रे?
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे?

मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे ?
पदरज को धोने उमड़े आते लोचन में जल कण रे ?"

—महादेवी—नीरजा, सं० २०१३, प्रयाग, पृ० ६३

"मानव-मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप।"

—साकेत, सर्ग ६, पृ १६५

× × ×

"तारे तो ये नहीं मेरी आहों से रात को।
सूराख पड़ गये हैं तमाम आसमान में॥"

—मीरतक़ी

"नैश गगन के गात्र में पड़े फफोले हाय,
तो क्या अरी न आह भी करूँ आज निरुपाय ?"

—साकेत सर्ग ६, पृ० २२०

उपर्युद्धृत पद्यों की परस्पर तुलना से यह निश्चित होता है कि साकेत में कहीं-कहीं अन्य कवियों के भावों को कवि ने अपनाया है। पर साकेतकार ने जहाँ-कहीं भी अपने पूर्ववर्ती कवियों की भावधाराओं को लिया है, वहाँ अपनी अद्भुत प्रतिभा से उन्हें नवीन और मौलिक रूप देने में सफलता प्राप्त की है।

परिशिष्ट—३

बंगला के महाकाव्य

(१) कृत्तिवास-कृत रामायण

जिस प्रकार वाल्मीकि-रामायण और महाभारत हिन्दी के अधिकांश महाकाव्य-कारों के प्रेरणा-स्रोत बने रहे हैं, इसी प्रकार बंगला में भी इन दोनों कृतियों को आधार मानकर अनेक महाकाव्यों की रचना हुई। वाल्मीकि-रामायण का अनुसरण करते हुए श्री कृत्तिवास ओझा ने बंगला में रामायण की रचना की। कृत्तिवास की रामायण बंगला का प्राचीनतम महाकाव्य है। वाल्मीकि-रामायण की तरह यह भी सात काण्डों में विभक्त है। कृत्तिवास वैष्णव भक्त थे, उन्होंने राम को वैष्णव भक्तों की दृष्टि से देखा है। उनके राम विष्णु के अवतार हैं। वे देवता नहीं, देवोपम हैं। कृत्तिवास के समय में बंगाल वैष्णव धर्म के प्रचार का प्रमुख केन्द्र बन चुका था। इसीलिए कृत्तिवास के राम तत्कालीन वैष्णवी भावना से प्रभावित दीख पड़ते हैं। वाल्मीकि के राम शूरवीर, शक्तिशाली और कहीं-कहीं कठोर भी दृष्टिगत होते हैं, पर कृत्तिवास के राम वैष्णवी भावना के अनुरूप कोमलता, माधुर्य, प्रेम और दया को लिए हुए हैं। इसी प्रकार लक्ष्मण, भरत, सीता और कौशल्या आदि अनेक पात्रों के चरित्रांकन में भी कृत्तिवास ने पर्याप्त मौलिकता दिखाई है। लक्ष्मण के भ्रातृ-प्रेम, भरत की भायप-भक्ति, सीता के लज्जावनत माधुर्य और कौशल्या के शोक की अभिव्यक्ति कृत्तिवास की रामायण में बहुत सुन्दर ढंग से हुई है। कथावस्तु के संगठन, वर्णन-विशेषता और रसपरिपाक की दृष्टि से भी कृत्तिवास की रामायण एक उच्चकोटि का महाकाव्य सिद्ध होता है। रामायण की रचना-द्वारा कृत्तिवास ने तत्कालीन समस्याओं के समाधान का प्रयत्न भी किया है। राम-द्वारा शक्ति-पूजा कराते हुए उन्होंने वैष्णवों और शाक्तों के बीच बढ़ते हुए भेदभाव को दूर करने की चेष्टा की है। तुलसी के समान कृत्तिवास के भक्त-हृदय ने भी राम के विरोधी राक्षसों के हृदय में राम-भक्ति की प्रतिष्ठा की है।

(२) काशीरामदास-कृत महाभारत

श्री काशीरामदास-कृत महाभारत भी बंगला के महाकाव्यों में प्रमुख स्थान रखता है। कृत्तिवास की तरह काशीरामदास भी वैष्णव कवि हैं, पर उनके हृदय में उदारता अधिक है। उन्होंने कृष्ण के अतिरिक्त अन्य देवताओं के प्रति भी नम्रता और श्रद्धा दिखलाई है। अपनी कृति के आरम्भ में उन्होंने काली के चरणों में नतमस्तक हो उससे कृष्ण-भक्ति की याचना की है। उनका महाभारत संस्कृत के महाभारत का कोरा अनुवाद नहीं है। उसमें अनेक स्थलों पर कवि की मौलिक सृजन-शक्ति का यथेष्ट परिचय मिलता है। उन्होंने अपने महाभारत में संस्कृत के महाभारत की लगभग सम्पूर्ण कथा को स्थान दिया है। नल-दमयन्ती, अर्जुन-उर्वशी और दुष्यन्त-शकुन्तला-जैसे उपाख्यानों को भी

काशीरामदास ने अपनी कृति में स्थान दिया है। इस रचना में कवि की उच्चकोटि की काव्य-प्रतिभा का परिचय मिलता है। काशीरामदास के महाभारत में सभी रसों को स्थान मिला है, पर वीर और शृंगार के चित्रण में उन्हें अधिक सफलता मिली है। उनका वर्णन-कौशल और भाषा-सौष्ठव भी महाकाव्योचित गरिमा को लिए हुए है। उनके वर्णन स्वाभाविक और सजीव हैं। युद्ध-क्षेत्र के सजीव चित्र अंकित करने में उनका विशेष कौशल झलकता है। रणभूमि से भागते हुए सैनिकों का वर्णन बहुत ही हृदयग्राही बन पड़ा है। उनकी भाषा प्रवाहमयी और भावानुसारिणी है। उनकी रचना में अलंकारों का प्रयोग भी स्वाभाविकता लिए हुए है। भावों की बलि देकर अलंकारों की योजना कवि ने कहीं नहीं की है। काशीरामदास ने अपने महाभारत में जातीय भावनाओं और आदर्शों की व्यंजना सुन्दर ढंग से की है। वे वास्तव में कृत्तिवास की तरह बंगला समाज के प्रतिनिधि कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं।

(३) आलावाल-कृत पद्मावती

आलावाल एक मुसलमान कवि थे। वे संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। अलंकार-शास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विविध विषयों का उन्हें अच्छा ज्ञान था। उन्होंने हिन्दी के प्रसिद्ध सूफ़ी कवि मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत का अनुसरण करते हुए बंगला में पद्मावती की रचना की। पद्मावती में जायसी के पद्मावत का अक्षरशः अनुवाद नहीं किया गया है। आलावाल ने राजा रतनसेन और पद्मावती की कहानी में यत्र-तत्र परि-वर्तन और नवीन उद्भावनाएँ भी प्रस्तुत की हैं। अपनी रचना के आरम्भ में उन्होंने कथावस्तु का संक्षिप्त सार दिया है किन्तु जायसी के पद्मावत में ऐसा नहीं दिखाई देता। विरह और विवाह का वर्णन भी आलावाल ने मौलिक ढंग से किया है। जायसी के पद्मा-वत में देवपाल-द्वारा युद्ध में रतनसेन की मृत्यु दिखाई गई है पर आलावाल की रचना में मुसलमानों के हाथ युद्ध-क्षेत्र में घायल हो जाने के कई मास पश्चात् रतनसेन की मृत्यु होती है। वस्तुतः आलावाल ने अपनी कृति का अन्त मुसलमानों के अभ्युदय में नहीं, हिन्दुओं की नैतिक विजय में दिखा कर हिन्दुओं के गौरव की रक्षा की है। भावव्यंजना, वर्णन-कौशल और भाषा-शैली के सौष्ठव की दृष्टि से भी आलावाल की कृति की गणना महाकाव्यों में की जा सकती है।

जायसी के पद्मावत के आधार पर निर्मित होने पर भी आलावाल ने पद्मावती में अनेक स्थलों पर मौलिक सौन्दर्य की सृष्टि की है। अनेक प्रसंगों में छाया-मात्र का अवलंबन करते हुए भी कवि ने उन्हें अधिक हृदयग्राही और मौलिक बनाने का प्रयास किया है। पद्मावती में उनकी उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति और विविध विषयों के असाधारण ज्ञान का परिचय मिलता है। नायक-नायिका के प्रेम-वर्णन में उन्होंने अपने अलंकारशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान की अभिव्यक्ति की है।

(४) माइकेल मधुसूदन-कृत मेघनाद-वध

माइकेल मधुसूदन दत्त के मेघनाद-वध का बंगला के आधुनिक महाकाव्यों में

प्रमुख स्थान है। मेघनाद-वध ९ सर्गों में विभक्त है। उसकी रचना अमित्राक्षर छन्दों में की गई है। उसमें चिरतिरस्कृत रावण और मेघनाद-जैसे राक्षसों को सहानुभूति प्रदान करते हुए कवि ने उन्हें मानवीय रूप में प्रस्तुत किया है। राम और लक्ष्मण के परम्परागत आदर्श चरित्र को कवि ने इस रचना में गिरा दिया है। राम के चरित्र में भीरुता, दीनता और दुर्बलता का चित्रण करके माइकेल ने हिन्दुजाति के परम्परागत आदर्शों को क्षति अवश्य पहुँचाई है, पर काव्यकला की दृष्टि से मेघनाद-वध एक उत्कृष्ट रचना सिद्ध होती है। इसकी कथावस्तु में महाकाव्योचित धारावाहिकता है। कवि की वर्णनशक्ति असाधारण है। विविध वर्णनों में माधुर्य और गम्भीरता है। जिस विषय का कवि ने वर्णन किया है, उसका सजीव चित्र आँखों के सामने झूलने लगता है। वीर और करुणरस का परिपाक मेघनाद-वध में बहुत सुन्दर बन पड़ा है। रावण, मेघनाद और प्रमीला-जैसे पात्रों के चरित्रांकन में कवि को आशातीत सफलता मिली है। रावण अतुल बल-शाली, परम प्रतापी, वीर होने के साथ-साथ एक स्नेहवान् पिता, प्रतापी सम्राट् और श्रद्धालु भक्त भी हैं। मेघनाद-वध के नायक मेघनाद के चरित्र में उसकी निर्भीकता, पितृ-भक्ति और पत्नी-प्रेम की मनोहर अभिव्यक्ति हुई है। प्रमीला के चरित्र में शौर्य और प्रेम, कठोरता और कोमलता का अद्भुत समन्वय दृष्टिगत होता है। वह एक वीरांगना और आदर्श कुल-वधू के रूप में हमारे सामने आती है। अपने पति मेघनाद के युद्ध से लौटने में विलम्ब हो जाने पर अश्रुपूर्णलोचना प्रमीला की व्याकुलता का हृदयग्राही चित्र इन शब्दों में अंकित हुआ है:—

"जाती कभी मन्दिर के भीतर है सुन्दरी,
आती फिर बाहर है व्याकुल वियोगिनी,
होती कातरा है ज्यों कपोती शून्य नीड़ में,
चढ़ कर उच्च गृह-चूड़ा पर चंचला,
दूर लंका-ओर कभी एक दृष्टि लाती है,
अविरल अश्रु-जल अंचल से पोंछ के।"

—मेघनाद-वध (हिन्दी-अनुवाद), सर्ग ३, पृ० २२४

वस्तुत: मेघनाद-वध में प्रमीला का चरित्र मधुसूदन की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि है। प्रमीला के चरित्रचित्रण में पाश्चात्य कवियों से प्रेरणा पाकर भी माइकेल ने भार-तीय आदर्शों के अनुसार उसके चरित्र का निर्माण किया है। काशीरामदास के महाभारत की प्रमीला से माइकेल प्रभावित दीख पड़ते हैं। मेघनाद-वध पर होमर और मिल्टन-जैसे पाश्चात्य कवियों का भी प्रभाव अनेक स्थलों पर दिखाई देता है।

(५) हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय-कृत वृत्तसंहार

हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय का वृत्र-संहार भी वंगला का एक उत्कृष्ट महा-काव्य है। माइकेल मधुसूदन और हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय दोनों समकालीन कवि थे।

दोनों की कृतियों पर पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव पड़ा है। पर जहाँ माइकेल के मेघनाद-वध में भारतीय आदर्शों के प्रति कवि के विद्रोह की भावना प्रस्फुटित हुई है, वहाँ वृत्र-संहार में हेमचन्द्र ने पाश्चात्य काव्यशैली से प्रभावित होकर भी भारतीय आदर्शों की रक्षा की है। वृत्र-संहार का बाह्यस्वरूप पाश्चात्य ढंग का होने पर भी उसकी आत्मा विशुद्ध भारतीय है। उसकी रचना अमित्राक्षर स्वच्छन्द छन्दों में की गई है। देवताओं-द्वारा वृत्रासुर के संहार से सम्बन्धित इसका पौराणिक कथानक महाकाव्योचित व्यापकता को लिए हुए है। इसकी कथावस्तु सुसंगठित और प्रवाहमयी है। इस पौराणिक कथानक के अन्दर हेमचन्द्र की सुदूरप्रसारिणी कल्पना को यथेच्छ विहार करने का अवसर मिला है। वृत्र-संहार में कवि की अद्भुत वर्णनशक्ति का परिचय मिलता है। युद्धों के वर्णन बहुत सजीव और हृदयहारी हैं। इसमें वीररस की प्रधानता है। चरित्र-चित्रण भी इस रचना में अच्छा हुआ है। पुरुष-चरित्र की अपेक्षा नारी-चरित्र के अंकन में हेमचन्द्र को अधिक सफलता मिली है। पुरुष-चरित्रों में अलौकिकता और अति-मानवीयता वर्तमान है किन्तु उनके नारी-चरित्र मुख्यतया मानवीय गुणों से समृद्ध हैं। शची के चरित्र में आत्मगौरव, स्वातन्त्र्यप्रियता, दृढ़ता और करुणा की सुन्दर अभि-व्यक्ति हुई है। वृत्र-पत्नी ऐन्द्रिला का चरित्र गर्व, निष्ठुरता, कौटिल्य और छलना से परिपूर्ण है। इन्दुबाला हेमचन्द्र की भव्य सृष्टि है। उसके चरित्र में सुकुमारता, प्रेम और पातिव्रत्य की व्यंजना अच्छी हुई है। वृत्रसंहार के पुरुष-चरित्रों में वृत्रासुर, रुद्रपीड और जयन्त मुख्य हैं। वृत्र असाधारण वीरता, पौरुष और दृढ़ता आदि गुणों से युक्त होने पर भी ऐन्द्रिला के समक्ष दुर्बल दिखाई देता है। रुद्रपीड आत्माभिमानी, अतुल-पराक्रमी, आदर्श वीर होने पर भी अपनी माता ऐन्द्रिला के अनुरोध से वीर-जननी शची को लांछित करने में तनिक भी संकोच नहीं करता है। यही उसके चरित्र की सबसे बड़ी दुर्बलता है। इन्द्रपुत्र जयन्त का चरित्र भी वृत्र-संहार में महामहिम और उज्ज्वल दिखाया गया है। उसकी मातृ-भक्ति प्रशंसनीय है। हेमचन्द्र ने माइकेल की तरह असुरों के प्रति अनुचित पक्षपात दिखाकर देवों के प्रति अन्याय नहीं किया है।

वृत्रसंहार का पौराणिक कथानक नवयुग की चेतना से अनुप्राणित है। देशभक्ति, स्वातन्त्र्यप्रेम, आत्मगौरव आदि नवयुग की भावनाओं की अभिव्यक्ति उसमें स्थान-स्थान पर हुई है। वृत्रासुर के आतंक से पीड़ित पातालपुरी में छिपे हुए देवताओं के प्रति सेनानी स्कन्द के इन शब्दों में स्वाधीनता और आत्मगौरव की भावना प्रस्फुटित हुई है:—

"धिक् देव घृणा-शुन्य अक्षुब्ध-हृदये,
एत दिन आछ एइ अन्धतम पुरे।
देवत्व, ऐश्वर्य, सुधा, स्वर्ग, तेयागिया,
दासत्वेर कलंकते ललाट उजली।"

जहाँ मेघनाद-वध में माइकेल ने पाश्चात्य नियतिवाद से प्रभावित होकर नियति के क्रूर हाथों द्वारा रावण की पराजय दिखाई है, वहाँ वृत्रसंहार में हेमचन्द्र ने देवशक्ति

के समक्ष बलदृप्त असुरों का पराभव अंकित किया है। हेमचन्द्र जातीय आदर्शों की रक्षा में पूर्णतया समर्थ हुए हैं।

उपर्युक्त महाकाव्यों के अतिरिक्त माइकेल-कृत तिलोत्तमा-संभव, नवीनचन्द्र सेन-कृत पलासी का युद्ध और कुरुक्षेत्र आदि अन्य कई सर्गवद्ध रचनाएँ बंगला साहित्य में उपलव्ध होती हैं किन्तु उनमें महाकाव्योचित विषय की व्यापकता नहीं दिखाई देती। हिन्दी-साहित्य की हल्दीघाटी और कुरुक्षेत्र-जैसी रचनाओं की तरह हम उन्हें महाकाव्यों की श्रेणी में स्थान देना उचित नहीं समझते।

परिशिष्ट—४

सहायक ग्रन्थों की सूची

हिन्दी

१. अपभ्रंश-साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़, दिल्ली, प्रथम संस्करण
२. आचार्य केशवदास, डा० हीरालाल दीक्षित, लखनऊ प्रथम संस्करण
३. आधुनिक काव्यधारा, डा० केसरीनारायण शुक्ल, लखनऊ, सं० २००७
४. आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत, डा० केसरीनारायण शुक्ल, काशी, सं० २००४
५. आधुनिक साहित्य, नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रयाग, सं० २००७
६. आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास, डा० कृष्णलाल, प्रयाग, सं० १९९९
७. आधुनिक हिन्दी-साहित्य की भूमिका, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रयाग, सन् १९५२
८. आलोचना—इतिहास तथा सिद्धान्त, एस० पी० खत्री, दिल्ली, प्रथम संस्करण
९. ऊर्मिला, बालकृष्ण शर्मा नवीन, दिल्ली, सन् १९५८
१०. एकलव्य, डा० रामकुमार वर्मा, इलाहाबाद, सं० २०१५
११. कबीर-ग्रन्थावली, नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी, पाँचवाँ संस्करण
१२. कबीर-साहित्य की परख, परशुराम चतुर्वेदी, प्रयाग, प्रथम संस्करण
१३. कवितावली, टीकाकार लाला भगवानदीन, इलाहाबाद, सं० २००६
१४. कवि प्रसाद, रामरतन भटनागर, प्रयाग, द्वितीय संस्करण
१५. कवि प्रसाद की काव्यसाधना, रामनाथ सुमन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण
१६. कामायनी, जयशंकरप्रसाद, इलाहाबाद, अष्टम संस्करण
१७. कामायनी-अनुशीलन, रामलालसिंह, इलाहाबाद, सं० २००२
१८. कामायनी-दर्शन, कन्हैयालाल सहल और विजयेन्द्र स्नातक, दिल्ली, प्रथम संस्करण
१९. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, डा० द्वारिकाप्रसाद, आगरा, सन् १९५८
२०. काव्य के रूप, गुलाबराय, दिल्ली, प्रथम संस्करण
२१. काव्यदर्पण, रामदहिन मिश्र, पटना, प्रथम संस्करण
२२. काव्यरूपों के मूल स्रोत और उनका विकास, डा० शकुन्तला दूबे, वाराणसी, सन् १९५८
२३. कुरुक्षेत्र, रामधारीसिंह दिनकर, पटना, तृतीय संस्करण
२४. कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत, केशवनारायणसिंह, आगरा, प्रथम संस्करण

२५. कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत, डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित, आगरा, सन् १९५८
२६. कृष्णायन, द्वारकाप्रसाद मिश्र, लखनऊ, सं० २००२
२७. केशव-कौमुदी, (रामचन्द्रिका), लाला भगवानदीन, इलाहाबाद, षष्ठ संस्करण
२८. केशवदास: एक अध्ययन, रामरतन भटनागर, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
२९. खड़ी बोली के गौरवग्रन्थ, विश्वम्भर मानव, प्रयाग, प्रथम संस्करण
३०. गुप्त जी की कला, डा० सत्येन्द्र, आगरा, चतुर्थ संस्करण
३१. गुप्त जी की कृतियाँ, श्यामनन्दनप्रसादसिंह, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
३२. घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा, डा० मनोहरलाल गौड़, काशी, सं० २००५
३३. घनानन्द-कवित्त, सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बनारस, सं० २०००
३४. चन्दवरदायी और उनका काव्य, डा० विपिनविहारी त्रिवेदी, इलाहाबाद, सन् १९५२
३५. जननायक, रघुवीरशरण मित्र, मेरठ, सन् १९४९
३६. जयभारत, मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, सं० २००९
३७. जयशंकरप्रसाद (चिन्तन व काव्य), डा० इन्द्रनाथ मदान, जालन्धर, प्रथम संस्करण
३८. जयशंकरप्रसाद, नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रयाग, तृतीय संस्करण
३९. जायसी-ग्रन्थावली, सं० रामचन्द्र शुक्ल, काशी, सं० २००६
४०. जौहर, श्यामनारायण पाण्डेय, काशी, सं० २००२
४१. झाँसी की रानी, श्यामनारायणप्रसाद, बनारस, सन् १९५४
४२. तारक-वध, गिरिजादत्त शुक्ल, 'गिरीश', इलाहाबाद, सन् १९५८
४३. तुलसीदास, डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग, सन् १९५३
४४. तुलसीदास और उनका युग, डा० राजपति दीक्षित, काशी, प्रथम संस्करण
४५. देवार्चन, करील, साहित्यरत्न भण्डार, आगरा, सं० २००९
४६. दैत्यवंश, हरदयालुसिंह, प्रयाग, सं० १९९७
४७. नन्ददास-ग्रन्थावली, व्रजरत्नदास, काशी, सं० २००६
४८. नूरजहाँ, गुरुभक्तसिंह, आजमगढ़, ग्यारहवाँ संस्करण
४९. पद्मावत, व्याख्याकार डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, चिरगाँव, सं० २०१२
५०. पद्मावत का काव्य-सौन्दर्य, शिवसहाय पाठक, बम्बई, सन् १९५६
५१. पार्वती, रामानन्द तिवारी, कोटा, सन् १९५५
५२. पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त, लीलाधर गुप्त, प्रयाग, प्रथम संस्करण
५३. पृथ्वीराजरासो, नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी, प्रथम संस्करण

५४. पृथ्वीराजरासो, भाग १, सं० मोहनसिंह, उदयपुर, सं० २०११
५५. प्रकृति और काव्य, रघुवंश, प्रयाग, सं० २००५
५६. प्रसाद और उसका साहित्य, विनोदशंकर व्यास, बनारस, तीसरा संस्करण
५७. प्रसाद का काव्य, डा० प्रेमशंकर, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
५८. प्रियप्रवास, अयोध्यासिंह उपाध्याय, बनारस, सं० २००६
५९. प्रियप्रवास-दर्शन, लालधर त्रिपाठी, बनारस, प्रथम संस्करण
६०. बिहारी की वाग्विभूति, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बनारस, सं० १९५३
६१. बिहारी-रत्नाकर, जगन्नाथदास रत्नाकर, बनारस, सन् १९५१
६२. बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य, डा० प्रतिपालसिंह, दिल्ली, प्रथम संस्करण
६३. भ्रमरगीत-सार, रामचन्द्र शुक्ल, काशी, चतुर्थ संस्करण
६४. भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, किशोरीलाल गुप्त, बनारस, सन् १९५६
६५. मलिक मुहम्मद जायसी, डा० कमलकुल श्रेष्ठ, प्रयाग, प्रथम संस्करण
६६. महाकवि केशवदास, चन्द्रबली पाण्डेय, ग्वालियर, प्रथम संस्करण
६७. महाकवि हरिऔध, गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', प्रयाग, सं० २००३
६८. महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास, धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, प्रयाग, प्रथम संस्करण
६९. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, डा० उदयभानसिंह, लखनऊ, प्रथम संस्कर
७०. मीराँ, परमेश्वर द्विरेफ, वाराणसी, सन् १९
७१. मेघनाद-वध, हिन्दी-अनुवाद मैथिलीशर
७२. मैथिलीशरण गुप्त: कवि और भारतीय
डा
७३. रश्मिरथी, रामधारीसिंह दिनकर, प
७४. रहीम-रत्नावली, सं० मायाशंकर या
७५. राम-कथा (उत्पत्ति और विकास)
७६. रामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरख
७७. वर्द्धमान, अनूप शर्मा, काशी, सन्
७८. विचार और निष्कर्ष, वासुदेव, दिल
७९. विचार और विश्लेषण, डा० नगेन
८०. विदेशों के महाकाव्य, अनुवादक ग
८१. विद्यापति की पदावली, रामवृक्ष बे
८२. संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो

८४. संस्कृत-साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, बनारस, सन् १९५३
८५. समीक्षा के सिद्धान्त, डा० सत्येन्द्र, दिल्ली, सन् १९५२
८६. समीक्षा-शास्त्र, सीताराम चतुर्वेदी, काशी, सं० २०१०
८७. साकेत, मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, सं० २००५
८८. साकेत : एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, दिल्ली, प्रथम संस्करण
८९. साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, कन्हैयालाल सहल, चिरगाँव, सं० २००७
९०. साकेत-दर्शन, त्रिलोचन पाण्डेय, आगरा, सं० २०१२
९१. साकेत-सन्त, डा० बलदेवप्रसाद मिश्र, दिल्ली, सं० २००३
९२. साहित्य की परख, शिवदानसिंह चौहान, इलाहाबाद, सन् १९४८
९३. साहित्य-चिन्ता, डा० देवराज, दिल्ली, सन् १९५०
९४. साहित्य-दर्शन, शचीरानी गुर्टू, दिल्ली, सन् १९५०
९५. साहित्य-विवेचन, क्षेमेन्द्र सुमन तथा योगेन्द्रकुमार मल्लिक, दिल्ली, प्रथम संस्करण
९६. सिद्धान्त और अध्ययन, गुलाबराय, दिल्ली, दूसरा संस्करण
९७. सिद्धार्थ, अनूपशर्मा, बम्बई, सन् १९५३
९८. सूफ़ी महाकवि जायसी, डा० जयदेव, अलीगढ़, प्रथम संस्करण
९९. सूर की काव्यकला, डा० मनमोहन गौतम, दिल्ली, प्रथम संस्करण
१००. सूरदास, ब्रजेश्वर वर्मा, प्रयाग, सन् १९५०
१०१. सूरसागर, सं० नन्ददुलारे वाजपेयी, काशी, सं० २००५
१०२. सूरसौरभ, मुन्शीराम शर्मा, कानपुर, सन् १९४९
१०३. हल्दीघाटी, श्यामनारायण पाण्डेय, प्रयाग, सं० १९९६
१०४. हिन्दी-काव्य में प्रकृतिचित्रण, डा० किरणकुमारी गुप्ता, प्रयाग, प्रथम संस्करण
१०५. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, डा० भगीरथ मिश्र, लखनऊ, प्रथम संस्करण
१०६. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, नामवरसिंह, इलाहाबाद, सन् १९५४
१०७. हिन्दी प्रेमगाथा-काव्य-संग्रह, गणेशप्रसाद द्विवेदी, प्रयाग, प्रथम संस्करण
१०८. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, डा० शम्भूनाथसिंह, वाराणसी, सन् १९५६
१०९. हिन्दी में भ्रमरगीत-काव्य और उसकी परम्परा, डा० स्नेहलता श्रीवास्तव, अलीगढ़, प्रथम संस्करण
११०. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पटना, प्रथम संस्करण

५४. पृथ्वीराजरासो, भाग १, सं० मोहनसिंह, उदयपुर, सं० २०११
५५. प्रकृति और काव्य, रघुवंश, प्रयाग, सं० २००५
५६. प्रसाद और उसका साहित्य, विनोदशंकर व्यास, बनारस, तीसरा संस्करण
५७. प्रसाद का काव्य, डा० प्रेमशंकर, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
५८. प्रियप्रवास, अयोध्यासिंह उपाध्याय, बनारस, सं० २००६
५९. प्रियप्रवास-दर्शन, लालधर त्रिपाठी, बनारस, प्रथम संस्करण
६०. बिहारी की वाग्विभूति, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बनारस, सं० १९५३
६१. बिहारी-रत्नाकर, जगन्नाथदास रत्नाकर, बनारस, सन् १९५१
६२. बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य, डा० प्रतिपालसिंह, दिल्ली, प्रथम संस्करण
६३. भ्रमरगीत-सार, रामचन्द्र शुक्ल, काशी, चतुर्थ संस्करण
६४. भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, किशोरीलाल गुप्त, बनारस, सन् १९५६
६५. मलिक मुहम्मद जायसी, डा० कमलकुल श्रेष्ठ, प्रयाग, प्रथम संस्करण
६६. महाकवि केशवदास, चन्द्रबली पाण्डेय, ग्वालियर, प्रथम संस्करण
६७. महाकवि हरिऔध, गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', प्रयाग, सं० २००३
६८. महकवि हरिऔध का प्रियप्रवास, धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, प्रयाग, प्रथम संस्करण
६९. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, डा० उदयभानुसिंह, लखनऊ, प्रथम संस्करण
७०. मीराँ, परमेश्वर द्विरेफ, वाराणसी, सन् १९५७
७१. मेघनाद-वध, हिन्दी-अनुवाद मैथिलीशरण गुप्त, चिरगांव, सं० २००८
७२. मैथिलीशरण गुप्त: कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, डा० उमाकान्त, दिल्ली, प्रथम संस्करण
७३. रश्मिरथी, रामधारीसिंह दिनकर, पटना, सन् १९५५
७४. रहीम-रत्नावली, सं० मायाशंकर याज्ञिक, काशी, सं० १९८५
७५. राम-कथा (उत्पत्ति और विकास) कामिल बुल्के, प्रयाग, सन् १९५०
७६. रामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१०
७७. वर्द्धमान, अनूप शर्मा, काशी, सन् १९५१
७८. विचार और निष्कर्ष, वासुदेव, दिल्ली, प्रथम संस्करण
७९. विचार और विश्लेषण, डा० नगेन्द्र, दिल्ली, प्रथम संस्करण
८०. विदेशों के महाकाव्य, अनुवादक गोपीकृष्ण, प्रयाग, सन् १९४६
८१. विद्यापति की पदावली, रामवृक्ष बेनीपुरी, पटना, द्वितीय संस्करण
८२. संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो, सं० हजारीप्रसाद द्विवेदी और नामवरसिंह, प्रयाग, द्वितीय संस्करण
८३. संस्कृत-साहित्य का इतिहास, वी० वरदाचार्य, अनुवादक डा० कपिलदेव द्विवेदी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण

८४. संस्कृत-साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, बनारस, सन् १९५३
८५. समीक्षा के सिद्धान्त, डा० सत्येन्द्र, दिल्ली, सन् १९५२
८६. समीक्षा-शास्त्र, सीताराम चतुर्वेदी, काशी, सं० २०१०
८७. साकेत, मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, सं० २००५
८८. साकेत : एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, दिल्ली, प्रथम संस्करण
८९. साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, कन्हैयालाल सहल, चिरगाँव, सं० २००७
९०. साकेत-दर्शन, त्रिलोचन पाण्डेय, आगरा, सं० २०१२
९१. साकेत-सन्त, डा० बलदेवप्रसाद मिश्र, दिल्ली, सं० २००३
९२. साहित्य की परख, शिवदानसिंह चौहान, इलाहाबाद, सन् १९४८
९३. साहित्य-चिन्ता, डा० देवराज, दिल्ली, सन् १९५०
९४. साहित्य-दर्शन, शचीरानी गुर्टू, दिल्ली, सन् १९५०
९५. साहित्य-विवेचन, क्षेमेन्द्र सुमन तथा योगेन्द्रकुमार मल्लिक, दिल्ली, प्रथम संस्करण
९६. सिद्धान्त और अध्ययन, गुलाबराय, दिल्ली, दूसरा संस्करण
९७. सिद्धार्थ, अनूपशर्मा, बम्बई, सन् १९५३
९८. सूफ़ी महाकवि जायसी, डा० जयदेव, अलीगढ़, प्रथम संस्करण
९९. सूर की काव्यकला, डा० मनमोहन गौतम, दिल्ली, प्रथम संस्करण
१००. सूरदास, ब्रजेश्वर वर्मा, प्रयाग, सन् १९५०
१०१. सूरसागर, सं० नन्ददुलारे वाजपेयी, काशी, सं० २००५
१०२. सूरसौरभ, मुन्शीराम शर्मा, कानपुर, सन् १९४९
१०३. हल्दीघाटी, श्यामनारायण पाण्डेय, प्रयाग, सं० १९९६
१०४. हिन्दी-काव्य में प्रकृतिचित्रण, डा० किरणकुमारी गुप्ता, प्रयाग, प्रथम संस्करण
१०५. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, डा० भगीरथ मिश्र, लखनऊ, प्रथम संस्करण
१०६. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, नामवरसिंह, इलाहाबाद, सन् १९५४
१०७. हिन्दी प्रेमगाथा-काव्य-संग्रह, गणेशप्रसाद द्विवेदी, प्रयाग, प्रथम संस्करण
१०८. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, डा० शम्भूनाथसिंह, वाराणसी, सन् १९५६
१०९. हिन्दी में भ्रमरगीत-काव्य और उसकी परम्परा, डा० स्नेहलता श्रीवास्तव, अलीगढ़, प्रथम संस्करण
११०. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पटना, प्रथम संस्करण

१११. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, प्रयाग, प्रथम संस्करण
११२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, काशी, नवाँ संस्करण
११३. हिन्दी-साहित्य का उद्भव और विकास, रामबहोरी शुक्ल तथा भगीरथ मिश्र, प्रयाग, सन् १९५६
११४. हिन्दी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, डा० सूर्यकान्त, लाहौर, प्रथम संस्करण

संस्कृत

१. अध्यात्म-रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २००९
२. काव्यप्रकाश, मम्मट, हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, काशी, सन् १९२६
३. काव्यादर्श, दण्डी, कलकत्ता, सं० १८८२
४. काव्यालंकार, भामह, बनारस, सं० १८८५
५. काव्यालंकार, रुद्रट, काव्यमाला २, बम्बई, सं० १८८६
६. किरातार्जुनीय, भारवि, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९४२
७. कुमारसंभव, कालिदास, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सन् १९४६
८. छन्दोग्य उपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर, द्वितीय संस्करण, सं० २०११
९. तैत्तिरीय उपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर, चतुर्थ संस्करण, सं० २००९
१०. दशरूपक, धनंजय, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९४७
११. नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, शक सं० १९४३
१२. नैषधीयचरित, श्रीहर्ष, सं० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल, देहरादून, सन् १९५१
१३. महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर, प्रथम संस्करण
१४. प्रसन्नराघव, जयदेव, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, शाके १८४३
१५. मेघदूत, कालिदास, सं० एम० आर० काले, बम्बई, सन् १९४७
१६. रघुवंश, कालिदास, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई सन्, १९४८
१७. रसगंगाधर, पंडितराज जगन्नाथ, बम्बई, सं० १८८८
१८. वाल्मीकि-रामायण, अनु० द्वारकाप्रसाद शर्मा, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
१९. शतपथ ब्राह्मण, सं० चन्द्रधर शर्मा, काशी, सं० १९९४
२०. शिवसूत्र-विमर्शिनी, श्रीनगर, सन् १९११
२१. शिशुपालवध, माघ, सं० दुर्गाप्रसाद तथा शिवदत्त, बम्बई, सन् १९४०
२२. श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर, दसवाँ संस्करण
२३. श्रीमद्भागवत, गीताप्रेस, गोरखपुर, प्रथम संस्करण
२४. श्वेताश्वतरोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर, तृतीय संस्करण
२५. साहित्य-दर्पण, विश्वनाथ, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९१५
२६. हनुमन्नाटक, संकलित दामोदर मिश्र, बनारस, सन् १९४४

अंग्रेजी

1. A Histoiy of Indian Literature—M. Winternitz, Vol. I, Calcutta, 1927
2. A History of Sanskrit Literature —A. B. Keith, London, 1948
3. A History of Sanskrit Literature—A. A. Macdonell, London, 1913
4. A History of Sanskrit Literature—S. N. Das Gupta & S. K. Dc, Calcutta, 1947
5. An Introduction to the study of Literature—W. H. Hudson, U. S. A, 1921
6. Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art—Translation by Butcher, 4th Edition, London, 1907
7. Aristotle's Poetics—Demetrius, Everyman's Library, London, 1943
8. English Epic & Heroic Poetry—W. M. Dixon, London, 1912
9. Thc Epic : an Essay—Abercrombie, London, 1922
10. Epic and Romance—W. P. Ker., London, 1908
11. Studies in the History of Sanskrit Poeties—S. K. De., London, 1925

पत्र-पत्रिकाएँ

१. आलोचना, जुलाई, सन् १९५२
२. आलोचना, इतिहास-विशेषांक, अक्टूबर, सन् १९५२
३. आलोचना, अक्टूबर, सन् १९५४
४. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, वर्ष ४६, सं० १९९८
५. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, वर्ष ५८, सं० २००९
६. विशाल-भारत, भाग ३८, अंक ४ जुलाई, सन् १९४६
७. सरस्वती, दिसम्बर, सन् १९०३